भारतवर्ष

का

नागरिक जीवन और प्रशासन

लेखक—

ज्योति प्रसाद सूद एम० ए०

अध्यक्ष, राजनीति-विभाग

मेरठ कॉलिज, मेरठ

रचयिता—

Elements of Political Science Introduction to Philosophy, Govt of Great Britain Govt of U S A U S S R and Switzerland, Govt of France, etc

अनुवादक—

श्री० राममूर्ति सिंह एम० ए०

क्वीन्स कॉलिज, बनारस

श्री० ओंकार सिंह 'निर्भय' एम० ए०

प्रकाशक—

जय प्रकाश नाथ एण्ड को०

पुस्तक-विक्रेता और प्रकाशक

मेरठ

१९५०

मूल्य ६)

सजिल्द ६॥)

आमुख

विद्यार्थियों और जनता के समक्ष अपनी पुस्तक 'India Her Civic Life and Administration' का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करते समय मुझे हर्ष है।

पुस्तक के पहिले सात अध्यायों का, अंग्रेजी संस्करण से, प्राय: ज्यों का त्यों हिन्दी अनुवाद है जिसे मेरे मित्र, क्वीन्स कॉलिज बनारस के अध्यापक, श्री राममूर्त्ति सिंह जी एम० ए० ने किया है।

आठवाँ अध्याय भी प्राय अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी म रूपान्तर है। १९१९ ई० और १९३५ ई० के गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया ऐक्टों से सम्बन्धित अध्यायों का पुनरावृत्ति करते समय उन्हे बहुत सक्षिप्त कर दिया गया है। २६ जनवरी १९५० से आरम्भ होने वाले नये सविधान के बारे में कुछ नये अध्याय जोड़े गये हैं। आधुनिक सशोधनों के अनुसार स्थानीय स्वशासन सम्बन्धी अध्याय मे आंशिक परिवर्तन किया गया है। देशी रियासतों की व्यवस्था म आमूल उत्क्रान्ति के कारण तत्सम्बन्धी अध्याय को नये ढग से लिखना पड़ा है। पुस्तक के इस भाग का हिन्दी अनुवाद मेरे प्रिय विद्यार्थी ओंकारसिंह निर्भय एम० ए० ने किया है।

समय के अभाव के कारण यह कार्य दो पृथक् व्यक्तियों को सौंपना पड़ा, ऐसा परिस्थितियों में यह अवर्जनीय हो गया। मै अपने इन दोनों मित्रों का बहुत आभारी हूँ जिन्हें अनुवाद का काम शीघ्र समाप्त करने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ा।

प्रूफ सशोधन म सहायता के लिए श्री कृष्णलाल शर्मा बी० ए० और श्री शिवकुमार माथुर एम० एस-सी० भी धन्यवाद के पात्र हैं।

विजय मन्दिर,
सिविल लाइस, मेरठ।
जुलाई १९५०

ज्योति प्रसाद सूद

विषय-सूची

द्वितीय भाग

प्रथम भाग

नागरिक जीवन

चुनी पुस्तक-सूची (Select Bibliography)

ऐन्ड्रूज, सी० एफ०	दी ट्रू इण्डिया, दी राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ इण्डियन नेशनल कांग्रेस, महात्मा गाँधीज आइडियाज
एनी बेसेंट	इण्डिया, ए नेशन, हाऊ इण्डिया रॉट हर फ्रीडम
अन्सारी, शौकतउल्लाह	पाकिस्तान
अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन	दी कम्यूनल ट्रैंगिल इन इण्डिया
बैनर्जी, एस० एन०	ए नेशन इन दी मेकिंग
बेनी प्रसाद	हिंदू मुस्लिम क्वेश्चन, कम्यूनल सटिलमेन्ट
ब्रेल्सफार्ड	सब्जेक्ट इण्डिया
कजिंस, मिसेज मार्गरेट	इण्डियन वुमनहुड टुडे
कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, रामकृष्ण सेन्टेनरी वोल्यूम	
कमिंग	मॉडर्न इण्डिया, पॉलिटिकल इण्डिया
फारकुहार	मॉडर्न रिलीजस मूवमन्ट्स इन इण्डिया
ग्रिसवल्ड	इनमाइट्स इन्टू मॉडर्न हिन्दुइज्म
गुरमुख निहालसिंह	लेंडमार्क्स इन इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवेलपमन्ट
हुमायूँ कबीर	मुस्लिम पॉलिटिक्स
इण्डियन इयर बुक	
जथार एण्ड बेरी	इण्डियन इकोनॉमिक्स
कृष्ण, बी०	दी प्रॉब्लेम आफ माइनॉरिटीज
कुन्नी कानन	सिविलाइजेशन ऐट वे
मेह्यू	एजूकेशन इन इण्डिया
मजुमदार, ए० सी०	इण्डियन नेशनल इवॉल्यूशन
नेहरू, जवाहरलाल	ऑटोबायोग्रेफी, डिस्कवरी ऑफ इण्डिया
निवेदिता	दि वेब ऑफ इण्डियन लाइफ

'दी सोशल प्रॉबलेम इन इण्डिया', 'एजुकेशन इन इण्डिया' तथा 'दी इकोनॉमिक बैकग्राउण्ड' पर ऑक्सफर्ड पैम्फलेट्स

ओ'मैली	मॉडर्न इण्डिया एण्ड दी वेस्ट
पट्टाभि सीतारमैया	हिस्ट्री ऑफ इण्डियन नेशनल कांग्रेस
रमन, टी० ए०	इण्डिया
रोम्याँ रोलाँ	दी प्राफेट्स ऑफ न्यू इण्डिया
शार्दूलसिंह कवीश्वर	नॉन वायलेन्ट नॉन कोआपरेशन
स्मिथ, विलफ्रेड कैन्टीन	मॉडर्न इस्लाम इन इण्डिया
जकरिया	रिनेसेंट इण्डिया

भारतीय जीवन को समझने में स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द तथा महात्मा गाँधी की पुस्तकें तथा लेख विद्यार्थियों को सहायक सिद्ध होंगे।

भारतवर्ष

का

नागरिक जीवन और प्रशासन

अध्याय १

नागरिक जीवन की सामान्य भूमिका

परिचय— नागरिकता का अर्थ केवल राज्य के प्रति भक्ति, उसके सदस्य के रूप में अधिकारों का उपभोग तथा कर्त्तव्यों का पालन ही नहीं है बल्कि समाज के नागरिक और राजनैतिक जीवन में सक्रिय तथा बुद्धिपूर्ण भाग तथा राष्ट्रीय प्रश्नों के निराकरण में अपना व्यक्तिगत निर्णय भी है। यों राज्य के सभी वयस्क सदस्य अपनी सदस्यता से लाभ उठाते हैं तथा राज्य के प्रति अपनी कृतज्ञता भी प्रकट करते हैं लेकिन कुछ थोड़े ही लोग ऐसे हैं जो विभिन्न समस्याओं के निराकरण में अपना योग दे पाते हैं। इसका कारण यह है कि समाज के साधारण नागरिक और राजनैतिक जीवन में भाग लेने का अर्थ है उसके सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, शिक्षात्मक तथा राजनैतिक वातावरण पर प्रभाव डालने वाली दशाओं तथा पहलुओं का ज्ञान, जो थोड़े ही लोगों के पास होता है। इसलिए इस पुस्तक का उद्देश्य है भारतीय विद्यार्थियों तथा कार्यकर्त्ताओं को उन धाराओं तथा पहलुओं के विषय में थोड़ी जानकारी प्रदान करना जो हमारे नागरिक तथा राजनैतिक जीवन के स्वरूप को स्थिर करते हैं।

इस अध्याय में हम भौगोलिक दशा का, जिसने लोगों के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है, वर्णन करेंगे और साथ ही उस आधारभूत एकता पर भी प्रकाश डालेंगे जिसे जाति, धर्म, वर्ण, भाषा, रीति रिवाज तथा तौर-तरीकों की विविधता से प्रभावित होने वाले लोग भूल जाते हैं। भारत तथा पाकिस्तान नाम के दो राजनैतिक टुकड़ों में देश का विभाजन हो जाने से हमारा कार्य कठिनतर हो गया है क्योंकि कुछ सिद्धान्त विभाजन के पूर्व वाले पूरे भारत पर ही लागू होते हैं और दोनों राज्यों में से किसी एक पर अलग से घटित करने पर उनकी महत्ता कम हो जाती है। अविभाजित भारत की प्राकृतिक सीमायें निश्चित थीं और वह संसार के सबसे अच्छे भौगोलिक भू-भागों में गिना जाता था।

भारत तथा पाकिस्तान दोनों की सम्मिलित पूर्वी तथा पश्चिमी सीमायें कृत्रिम, अप्राकृतिक तथा अस्थिर हैं। उनका प्रभाव सीमा के निकट तथा समूचे देश में रहने वाले लोगों, सभी पर पड़ेगा। विभाजन का देश के आर्थिक जीवन पर भी बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है और प्रत्येक राज्य के लिए ऐसी समस्याएँ पैदा हो गई हैं जिनकी पहिले कभी कल्पना भी नहीं थी।

प्राकृतिक दशा— देश के जीवन पर जिन आधारमूल तथ्यों का प्रभाव पड़ता है उनमें उसका बृहत् विस्तार भी है। कुछ तुलनाएँ हमें देश की विस्तार की कल्पना करा देंगी। अविभाजित भारत का क्षेत्रफल १५,८१,४१० वर्ग मील था जो ग्रेट ब्रिटेन के क्षेत्रफल का बीस गुना तथा रूस को निकाल कर सारे यूरोप के क्षेत्रफल के बराबर है। यह संयुक्त राज्य अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया के भी तीन-पाँचवें भाग के लगभग है। रूस को छोड़कर कोई भी यूरोपीय देश मद्रास प्रान्त से बड़ा नहीं है तथा हालैंड और स्विटज़रलैंड जैसे कुछ छोटे देश तो गोरखपुर जैसे बड़े जिले से भी बड़े नहीं हैं। आप एक रात रेल में यात्रा करके फ्रान्स, इंगलैंड या इटली की एक ओर से दूसरी ओर जा सकते हैं किन्तु भारत के एक किनारे से दूसरे किनारे तक जाने में चार-पाँच दिन लग जायेंगे। काश्मीर के सबसे उत्तरी बिन्दु से लेकर कुमारी अन्तरीप के सबसे दक्षिणी छोर तक की लम्बाई २००० मील है, आसाम के सबसे पूर्वी स्थान से सिन्ध के सबसे पश्चिमी स्थान तक की चौड़ाई २३०० मील है। उत्तर में देश हिमालय की शृङ्खलाओं से जो टेढ़ी तलवार की भाँति घूमी हुई हैं, घिरा हुआ है और इस प्रकार उत्तर में पूरी किलेबन्दी-सी हो जाती है। पूर्व तथा पश्चिम में देश का अधिकांश भाग सागर से घिरा हुआ है। उसकी पूर्वी स्थल-सीमा पहाड़ी है जिसमें बहुत ही थोड़े और दुस्तर मार्ग हैं। उसकी पश्चिमोत्तर स्थल सीमा पर भी पहाड़ी शृङ्खलाएँ हैं जिनमें खैबर, कुर्रम, टोची तथा गोमल के प्रसिद्ध दर्रे हैं जिन्होंने समय-समय पर विदेशी आक्रमणकारियों को देश में आने का मार्ग दिया है। देश की इन प्राकृतिक सीमाओं का उसके इतिहास पर बड़ा गहरा राजनैतिक प्रभाव पड़ा है। उत्तरी तथा पूर्वी* आक्रमणों से अधिकतर भारत मुक्त रहा है। आक्रमणकारी पश्चिमोत्तर दिशा से ही आये हैं जहाँ पहाड़ी दर्रे आक्रमण के लिए सरल किन्तु बचाव के लिए दुर्गम हैं। देश के विभाजन से इस स्थिति में बड़ा अन्तर पड़ गया है। पूर्वी पंजाब को पश्चिमी पाकिस्तान तथा पश्चिमी बंगाल को पूर्वी पाकिस्तान से अलग करने वाली कोई पहाड़ी दीवार नहीं है। विभाजित भारत की स्थल-सीमाओं की रक्षा का प्रश्न आज पहिले की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन हो गया है। परिणामस्वरूप रक्षा की समस्या देश की आर्थिक सामर्थ्य से परे हो गयी है। प्राचीन

---

* १९४१ की गर्मी में मनीपुर राज्य पर जापानियों का आक्रमण इस नियम का अपवाद है।

काल में भारत समुद्र के रास्ते आक्रमणों से सुरक्षित था, किन्तु जल पर नाव चलाने की कला तथा यूरोपीय राष्ट्रों की सामुद्रिक शक्ति के विकास के साथ-साथ उस पर विभिन्न आक्रमणों को बाढ़-सी आ गयी जिसका अन्त भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना में हुआ।

चारों ओर से प्राकृतिक सीमाओं द्वारा घिरे इस विस्तृत भू-भाग में पृथ्वी पर पाई जाने वाली सभी प्रकार की जलवायु तथा भूमि सुलभ है। उत्तर, उत्तर-पूर्व तथा पश्चिमोत्तर के पहाड़ी प्रदेश शीतकाल में बहुत ही ठडे रहते हैं तथा खूब जल वृष्टि होती है। यहाँ लकडी, चाय, ऊन तथा अन्य पहाडी वस्तुएँ पैदा होती हैं। सिन्ध, गगा तथा उनकी सहायक नदियों द्वारा सींचा हुआ सिन्ध गगा का मैदान गर्मियो मे बहुत गर्म तथा सर्दियों में ठडा हो जाता है। यहाँ भी पर्याप्त वर्षा होता है किन्तु पूर्व से पश्चिम ज्यों-ज्यों बढते जाइए वर्षा की मात्रा कम होती जाती है। इस मैदान की भूमि बहुत उपजाऊ है— शायद ससार मे सबसे अधिक। यह मैदान भारत का बखार है, जहाँ गेहूँ, मक्का, जौ, चावल, जूट, अफीम, गन्ना तथा अन्य फसलें होती हैं। भारत की दो तिहाई जन-सख्या इसी मैदान मे रहती है। इस मैदान के दक्षिण-पश्चिम में राजस्थान का गर्म मैदान है, जहाँ वर्षा की कमी के कारण हरियाली का घोर अभाव है। दक्षिण में दक्षिणी पठार सतपुडा तथा विन्ध्य पहाडों से उत्तर मे तथा पूर्वी तथा पश्चिमी घाटो से पूर्व और पश्चिम मे घिरा हुआ है। इस पठार की जलवायु कम विषम किन्तु सिन्ध-गगा के मैदान से अधिक समशीतोष्ण है। यहाँ की भूमि लाल या काली है किन्तु पर्याप्त उपजाऊ है। पश्चिमी घाट तथा समुद्र के बीच मे सॅकरा तटीय भू-भाग है जहाँ पर्याप्त वर्षा होती है और नारियल तथा मसाले इत्यादि की पैदावार होती है। पूर्वी घाट तथा समुद्र के बीच भी एक भू भाग है जो पश्चिमी घाट के भू-भाग से अधिक चौडा और उपजाऊ है। इसमे चावल, मक्का तथा अन्य मोटे अनाज होते हैं।

दक्षिणी पठार सिन्ध गगा के मैदान से नीचे पहाडों की एक श्रेणी द्वारा विभाजित है; उसकी भिन्न प्राकृतिक स्थिति का दक्षिण के राजनैतिक इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा है; फिर भी, हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक सारा देश भौगोलिक दृष्टि से एक अविभाज्य भूखड है। सतपुडा और विन्ध्य पर्वत न तो इतने लम्बे ही हैं न इतने ऊँचे कि उत्तर और दक्षिण भारत के आदान-प्रदान में वे बाधा पहुँचा सके। वे गगा के उपजाऊ मैदान को दक्षिणी भू भाग से इस प्रकार अलग नहीं करते जैसे हिमालय तिब्बत को भारत से या हिन्दूकुश अफगानिस्तान को अलग कर देता है। यूरोप की भौगोलिक भिन्नता, भारत की भौगोलिक एकता से एकदम विपरीत है। भारत का कोई भी भाग एक दूसरे से उस प्रकार अलग नहीं है जैसे आइबेरिया का डमरू मध्य फ्रान्स से पिरेनीज द्वारा अलग है, जैसे नार्वे स्वीडेन शेष प्रमुख भूखंडों

से समुद्र द्वारा या जिस प्रकार कोरिन्थ की शृङ्खला से ग्रीस बलकान से अलग हो गया है। ये प्राकृतिक सीमाएँ यूरोप म विभिन्न राष्ट्रों के निर्माण का कारण हुई हैं और इस प्रकार इन्होंने यूरोप को एक महाद्वीप बना दिया है, न कि एक देश। भारत म लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने म यूरोप की भाँति कोई कठिनाई नहीं पड़ी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि लोगों म कभी कोई मूल भूत विरोध या अन्तर नहीं रहा है और इसी लिए एक राष्ट्रीय सभ्यता एव संस्कृति का विकास हुआ है। इस प्रकार भौगोलिक एकता देश की एक प्रमुख विशेषता है। इसकी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता क विषय म दूसरे प्रकरण म प्रकाश डाला जायगा।

किन्तु, जैसा कि ऊपर प्रदर्शित किया जा चुका है, पाकिस्तान की स्थापना से इस भौगोलिक एकता का विनाश हो चुका है। भारत और पाकिस्तान एक दूसरे को विदेशी राष्ट्र समझते हैं, मनुष्यों और वस्तुओं के आवागमन में वे सभी रुकावटें और कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं जो एक दूसरे से बिल्कुल अलग राष्ट्रों के बीच उठानी पड़ती हैं। भूतकाल म पूर्वी या पश्चिमी पजाब या पूर्वी या पश्चिमी बगाल क निवासियों में कोई अन्तर नहीं था। वे सभी पजाबी या बगाली थे। आज उनकी स्वाभाविक एकता तथा सद्भावनाओं का विनाश हो चुका है, पश्चिमी पजाब के लोगों को पूर्वी पजाब क निवासियों से अपने को एकदम भिन्न तथा अपने को दूसरे राष्ट्र का नागरिक समझने की शिक्षा दी जा रही है। बगाल का भी यही हाल है। मनुष्य की प्रवृत्तियों ने प्रकृति की विभूतियों को नष्ट करने की ठान रक्खी है। मनुष्य विजयी होगा या प्रकृति, यह भविष्य के गर्भ में है। विश्वास नहीं होता कि मनुष्य प्रकृति की धारा को सदैव क लिये कैसे बदल देगा।

देश की तटीय रेखा के विषय म भी कुछ शब्द जोड़ देना उपयुक्त होगा। अविभाजित भारत की सामुद्रिक सीमा ५००० मील लम्बी थी। इसका एक छोटा हिस्सा पाकिस्तान म चला गया है, फिर भी भारत की सामुद्रिक सीमा पर्याप्त लम्बी है, गो देश के विस्तार की तुलना म छोटी है। समुद्र म खाड़ियों या उससे होकर अन्दर आने के रास्ते बहुत कम हैं और इसी लिए प्राकृतिक और अच्छे बन्दरगाह भी बहुत कम हैं। बम्बई और गोआ, यही दो प्राकृतिक बन्दरगाह हैं। मद्रास और विजगापट्टम के बन्दरगाह बनाये गये हैं। पूर्वी किनारे पर समद्र किनारे के निकट बहुत छिछला है, इसलिए बड़े सामुद्रिक जहाजों को किनारे से कुछ दूर ही लगर डालना पड़ता है जिसका सामुद्रिक आवागमन पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

भौगोलिक-पृष्ठ भूमि के इस बहुत छोटे विवेचन को समाप्त करने से पहले भारत नाम का नव-निर्मित राजनैतिक इकाई की स्थल-सीमाओं तथा क्षेत्रफल के विषय में कुछ शब्द जोड़ देना आवश्यक प्रतीत होता है।

पंजाब दो भागों में विभाजित हो गया है। रावलपिंडी और मुल्तान का पूरा प्रदेश तथा लाहौर प्रदेश के गुजरानवाला, शेखूपुरा और स्यालकोट जिले, पश्चिमी पंजाब सूबे में रक्खे गये हैं और अब यही भू भाग पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त सिन्ध, बिलोचिस्तान तथा कुछ भारतीय राज्यों के साथ पश्चिमी पाकिस्तान बन गया है। अविभाजित पंजाब के शेष भाग अर्थात् अम्बाला और जालन्धर का पूरा प्रदेश तथा लाहौर प्रदेश का अमृतसर जिला पूर्वी पंजाब में रक्खे गये हैं और अब यह मिल कर भारत का एक भाग हैं। लाहौर प्रदेश के गुरदासपुर और लाहौर जिले, पूर्वी तथा पश्चिमी पंजाब के सूबों में विभाजित कर दिये गये हैं। इसी प्रकार बंगाल भी, पूर्वी तथा पश्चिमी बंगाल के दो भागों में बँट गया है। पूर्वी बंगाल में चिटगाँव और ढाका का पूरा प्रदेश तथा रंगपुर, बोगरा, राजशाही, पबना और खुलना जिले सम्मिलित हैं। आसाम के सिलहट जिले का एक बड़ा भाग पूर्वी बंगाल के नव-निर्मित सूबे में मिला दिया गया है। पश्चिमी बंगाल के सूबे में, जो भारतीय संघ का एक भाग है, बर्दवान का पूरा प्रदेश कलकत्ता, २४ परगना, मुर्शिदाबाद और दार्जिलिंग सम्मिलित हैं। नदिया, जैसोर, दिनाजपुर, जलपाईगुडी और मालदा जिले दोनों प्रान्तों में विभाजित कर दिये गये हैं। पाकिस्तान का पूरा क्षेत्रफल लगभग ३६१,२१८ वर्ग मील और भारत का १,०५५,६२१ वर्ग मील* है। विभाजन का परिणाम यह हुआ है कि सिंध-गंगा का मैदान जो पूर्व में बंगाल की खाडी से पश्चिम में अफगानिस्तान की सीमा तक २,००० मील से भी अधिक लम्बा था अब दो या तीन भागों में विभाजित हो गया है जिसके पूर्वी तथा पश्चिमी छोर पाकिस्तान में हैं तथा बीच का भाग भारत में रह गया है। गेहूँ के कुछ सर्वोत्तम क्षेत्र पाकिस्तान में पड गये हैं जिसके कारण भारत को खाद्यान्न की कमी पड गई है। जूट के क्षेत्र भी पाकिस्तान ही में हैं। इससे कलकत्ते के जूट-उद्योग को बडा धक्का लगा है। रुई के लिए भी भारत को पाकिस्तान का मुँह देखना पडता है। दूसरी ओर पाकिस्तान के पास थोडा या बिलकुल ही कोयला नहीं है और उसके पास शक्कर और कपडे की भी बहुत कमी है। इस प्रकार विभाजन से दोनों देशों की आर्थिक स्थिति बुरी तरह प्रभावित हुई है।

भारत के निवासी— देश का वृहत् विस्तार इसकी विशाल जन संख्या का पालन करता है। चीन को छोड कर संसार के किसी भी देश की जन-संख्या इससे बड़ी नहीं है। संयुक्त-राज्य अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया जैसे देश भारत से क्षेत्रफल में बडे हैं किन्तु जन-संख्या की दृष्टि से कहीं छोटे हैं। अन्तिम जन गणना की रिपोर्ट के अनुसार समूचे भारत की जन-संख्या ३८६ करोड़ अनुमान की जाती थी जिसमें से लगभग ३०८ करोड भारत में और लगभग ८१ करोड़ पाकिस्तान में हैं। मनुष्यों के इतने बडे समुदाय में, जो सारी मानव जाति का ⅕ भाग है, जातीय तथा अन्य विविधताएँ अवश्यम्भावी हैं। कदाचित् रूस को छोड़कर विश्व में कहीं भी इतनी

---

* देखिये, इण्डिया एण्ड पाकिस्तान इयर बुक १९४८, पृष्ठ ६।

जातीय विभिन्नता नहीं पायी जाती जितनी भारत में। उत्तर-पश्चिम से उतरने वाली प्रारम्भिक आर्य जातियों से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक धावा मारने वाले मुस्लिम फिरकों तक, आक्रमणकारियों की अनवरत लहरों ने लोगों के ऊपर अपनी अपनी छाप छोड़ रक्खी है। वर्तमान समय में भारत के निवासी निम्न-लिखित जातियो के मिश्रण हैं: द्रविड, भारतीय आर्य, मगोल, सिथियन, तुर्क, पारसी, और, कुछ लोगों के अनुसार, यूनानी भी।

यो यहाँ के जन-समुदाय के किसी भी अ श के लिए जातिगत पवित्रता का दावा नहीं किया जा सकता, फिर भी हम साधारणतया कह सकते हैं कि—

(१) पजाब, काश्मीर तथा राजस्थान के निवासी भारतीय आर्य हैं। वे उन्हा आर्यों के वशज हैं जो पश्चिमोत्तर दिशा से देश म सबसे पहले आये और जिन्होंने आदि वासिया को पूर्व तथा दक्षिण की ओर खदेड दिया।

(२) उत्तर-प्रदेश, राजस्थान के कुछ भाग तथा बिहार के निवासी द्रविड आर्य हैं। वे आर्यों तथा द्रविडों के मिश्रण हैं लेकिन आर्य तत्व की प्रधानता है।

(३) बगाल तथा बिहार के कुछ भागों के लोग मगोल द्रविड हैं।

(४) महाराष्ट्र तथा पश्चिमी भारत के दूसरे भागो क लोग सिथियन-द्रविड हैं।

(५) मद्रास, हैदराबाद तथा मध्यभारत के कुछ भागा के लोग प्रधानतया द्रविड़ हैं।

(६) बिलोचिस्तान तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के बिलोची तथा अफगान, तुर्क ईरानी हैं।

(७) आसाम म मगोल हैं।

(८) आदिवासियो की सख्या २५$\frac{1}{2}$ लाख है और वे पूरी जन-सख्या के ६$\frac{1}{2}$ % हैं।

आधुनिक युग मे यूरोपीय रक्त का भी सम्मिश्रण हुआ है। आग्ल-भारतीय (Anglo Indian) नाम की एक नई जाति बन गई है। स्पष्ट है कि भारत की मुख्य जातियाँ आर्य, द्रविड़ तथा मगोल हैं और उनके सम्मिश्रण से अन्य छोटी जातियों की उत्पत्ति हुई है। साधारणतया आर्य ऊँचे तथा स्वच्छ वर्ण के, द्रविड काले तथा गहरे रंग के और मगोल पीले वर्ण, चिपटी नाक तथा गालों की उठी हड्डियों वाले होते हैं। वे वस्त्र तथा भोजन मे भी भिन्न होते हैं। लेकिन यह कहा जा सकता है कि भोजन तथा वस्त्र की भिन्नता जातिगत विशेषता से कहीं अधिक जलवायु तथा भूमि पर निर्भर है।

भारतीय राष्ट्र की यह जातीय अनेकता दु ख का कारण नहीं होनी चाहिए, उसके अभाव म हमारी सस्कृति का जो रूप होता, उससे वह आज कहीं अधिक

सम्पन्न, विविध, स्फूर्तिमयी तथा प्रभावोत्पादिनी है। ससार का कदाचित् ही कोई जन समुदाय है जो जातिगत एकता का दावा कर सके।

सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन या प्रभाव की दृष्टि से भारत-निवासियों की जातीय विभिन्नता से अधिक महत्वपूर्ण उनकी धार्मिक विविधता है। अपने इस देश म ससार के लगभग सभी प्रमुख धर्मों के अनुयायी हैं। हिन्दू, जो प्राचीन वैदिक धर्म के अनुयायी हैं, बौद्ध (मुख्यतया लका तथा बर्मा में हैं जो भारत के भाग नहीं हैं), जैन और सिक्ख जिनके धर्म मूल वैदिक धर्म की ही शाखाएँ हैं, सभी यहाँ हैं। इनके अतिरिक्त मुसलमान, ईसाई, पारसी तथा यहूदी भी यहाँ हैं। इनके अलावा अन्य जातीय-धर्म भी हैं।

१६४१ का जन गणना के अनुसार अविभाजित भारत म विभिन्न धर्मावलम्बियो की सम्मिलित सख्या निम्नलिखित है ३८,६६,६६,५२३ की सम्पूर्ण जन-सख्या में हिन्दुओं की सख्या २५,४६,३०,५०६ यानी सारी आबादी की ६५ ६३ %, मुसलमानों की सख्या ६,२०,५८,०६६ यानी पूरी आबादी की २३ ८१ %, सिक्खों की सख्या ५६,६१,४४७ यानी सम्पूर्ण आबादी की १ ४७ %, जैनियों की सख्या १४,४६,२८६ यानी सम्पूर्ण आबादी की ३७ %, बौद्धों की सख्या २,३२,००३, पारसियों की १,१४,८६०, भारतीय ईसाइयों की ६०,४०,६६५ यानी पूरी आबादी की १ ६३ %, आग्ल भारतीयों की १,४०,४२२, दूसरे ईसाइयों का १,३५,४६२, वन जातियों की २,५४,४१,४८६ यानी पूरी आबादी का ७ ५८ %, तथा अन्य धर्मों के अनुयायियों की सख्या सम्पूर्ण जन सख्या की ०२ % है।

२५,४६,३०,५०६ हिन्दुओं म से २०,६१,१७,३०६ सवर्ण हिन्दू हैं और ४,८८,१३,१८० 'अछूत' कहे जाने वाले हैं।

हिन्दुओं का मद्रास (८६ ७४ प्रतिशत), उत्तर प्रदेश (८३ २६ प्रतिशत), मध्य प्रदेश (७६·६२ प्रतिशत), बम्बई (७६ ४० प्रतिशत), बिहार (७२ ६६ प्रतिशत), तथा उडीसा (७८·२८ प्रतिशत) में बाहुल्य है। मुसलमान बगाल (५४ ७३ प्रतिशत), तथा पजाब (५७ ६७ प्रतिशत) म बहुसख्यक थ। सिन्ध (७० ७५ प्रतिशत) तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में भी (६१ ७० प्रतिशत) उनकी सख्या अधिक थी। सिक्ख अधिकतर पजाब म ही थ। सख्या में कम होते हुए भी उनका महत्त्व अधिक था। विभिन्न प्रान्तों म हिन्दुओं तथा मुसलमानों का यह विषम विभाजन बडे ही विकट देश व्यापी साम्प्रदायिक प्रश्न का कारण बना। पारसी तथा यहूदी केवल बम्बई नगर में सीमित थे।

विभिन्न धार्मिक विश्वासों तथा सम्प्रदायों का होना अपने तईं न तो अस्वाभाविक है और न अकल्याणकारी ही। इससे तो धार्मिक अनुभवों की विविधता और

सम्पन्नता तथा दृष्टिकोण की विशालता और सौहार्द के प्रसार का ही अनुमान होता है, किन्तु अपने देश म इन सबके बडे ही अशुभ और विनाशकारी परिणाम हुए हैं। डेढ़ सौ वर्षों से भी अधिक अंग्रेज शासकों का 'विभाजन तथा शासन' (Divide and rule) की नीति से हिन्दुओं, मुसलमानों और सिक्खों के बीच के पृथकत्व को और बढावा मिला और अन्त म द्वि राष्ट्र के सिद्धान्त (Two nation theory) का उत्पात्त हुई और देश भारत तथा पाकिस्तान म बॅट गया। विभाजन की उलट फेर म जो भयकर घटनाएँ घटीं उनकी कल्पना भी सम्भव नहीं है वर्णन की कौन कहे? दोनों ही देशों मे दोनों धर्मा के अनुयायियों द्वारा एक दूसरे पर अमानुषिक तथा भयकर अत्याचारों की (मनगढ़त भी) कथाओं द्वारा साम्प्रदायिक भावनाओं को और बल मिला और इसी कारण पश्चिमी पाकिस्तान तथा पूर्वी पजाब मे पाशविक कृत्यों की बाढ सी आ गई। परिणाम यह हुआ कि बडी ही कठिन और विषम परिस्थितियों म एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र के बीच पूरी पूरी जनसख्या की अदला बदली करनी पडी। इस कार्य म लाखों आदमी मरे तथा घायल हुए और मनुष्य के नैतिक स्वभाव का जो ह्रास हुआ उसका तो अनुमान भी सम्भव नहा है। लेकिन यहाँ हमारा दोनो देशों की जनसख्या पर विभाजन के प्रभाव से ही सम्बन्ध है। पश्चिमा पाकिस्तान म हिन्दुओं तथा सिक्खा का बहुत थोडी सख्या रह गयी है, वहाँ की पूरी जनसख्या में उनका अनुपात नगण्य है। उसी प्रकार, पूर्वी पजाब म मुसलमानों की सख्या नाममात्र है। पूर्वी बगाल से पश्चिमी बगाल में भी हिन्दू लाखों की सख्या म आये हैं। विभिन्न भारतीय प्रान्तों में मुसलमानों की निश्चित सख्या देना सरल नहीं, किन्तु कुछ प्रान्तो म आज उनकी सख्या विभाजन के पहले की तुलना में कम है। इतना तो सर्वमान्य है कि भारत म रहने वाले मुसलमानो का अनुपात पश्चिमी पाकिस्तान में रहने वाले हिन्दुओं तथा सिक्खों के अनुपात से बहुत अधिक है। पाकिस्तान में साम्प्रदायिक प्रश्न का हल अल्पसख्यकों के लगभग एकदम निष्कासन द्वारा ही हुआ है। भाग्यवश, भारत में यह स्थिति नहीं है। महात्मा गाधी के प्रभाव से भारत ने अपने लिए एक धर्म निरपेक्ष राज्य का आदर्श अपनाया है और मुसलमानों तथा अन्य धर्मावलम्बियों को उसने न्याय तथा रक्षा का वचन दिया है, और व्यवहार किया है।

व्यवसाय— भारत मुख्यतया गाँवों का देश है। इसका अर्थ यह है कि अधिकाश लोगों का व्यवसाय खेती है। अनुमान लगाया गया है कि ७१ प्रतिशत लोग अपनी जीविका खेती द्वारा चलाते हैं। हालाकि भारत का ससार के औद्योगिक देशों में आठवाँ नम्बर है, फिर भी सगठित उद्योगों म केवल एक प्रतिशत लोग लगे हुए हैं। लगभग १० % लोग छुटपुट उद्योगों या घरेलू उद्योग-धधों में, ६ प्रतिशत व्यापार में, दो प्रतिशत यातायात म और केवल एक प्रतिशत लोग सरकारी नौकरियों में लगे हुए हैं। जो लोग देश की दशा सुधारने का काम कर रहे हैं उनके लिए ये बातें बहुत

महत्त्व की हैं। जो योजना कृषि तथा अन्य छोटे उद्योग-धंधों में लगे ग्रामीण लोगों की सहायता नहीं करती वह जनता की दशा में सुधार नहीं कर सकती। केवल बड़े उद्योगों से जन-साधारण की दशा नहीं सुधर सकती।

भाषा— भारत में हमें जाति और धर्म की ही भिन्नता नहीं मिलती बल्कि बोली तथा लिखी जाने वाली भाषाओं में भी यहाँ बड़ी भिन्नता है। लिखी जाने वाली भाषाओं को छोड़कर भी देश में लगभग एक सौ पचास भाषाएँ बोली जाती हैं। यह कोई विलक्षण या आश्चर्यजनक बात नहीं है। इस तथ्य के कई कारण हैं। समय-समय पर यहाँ आने तथा बस जाने वाले विभिन्न आक्रमणकारी अपने साथ अपनी भाषा भी लाये। परिणामस्वरूप नई और मिश्रित भाषाओं की उत्पत्ति हुई। दूरी के साथ साथ भाषा में भी बदल जाने की प्रवृत्ति होती है। बोली जाने वाली मुख्य भाषाएँ हिन्दी, उर्दू, बंगला, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, तामिल, तेलगू, कनाडी, मलयालम हैं। ये दो प्रमुख वर्गों में रक्खी जा सकती हैं— भारतीय आर्य तथा द्रविड़। हिन्दी, बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी भारतीय-आर्य हैं और तामिल, तेलगू, कनाडी और मलयालम द्रविड़*। अंग्रेजी, जो ब्रिटिश शासन-काल में राज भाषा थी, अब भी ऊँचे पढ़े-लिखे लोगों द्वारा प्रयुक्त होती है। इन सभी भाषाओं में हिन्दी प्रमुख है क्योंकि अधिकांश लोगों के बोलने और समझने की यही भाषा है। यह उत्तर प्रदेश, मध्य भारत, मध्य प्रदेश, पूर्वी पंजाब तथा राजपूताने के कुछ भागों की भाषा है। बम्बई राज्य के लोगों की भाषा यह नहीं है, फिर भी गुजरात तथा बम्बई प्रान्त के अन्य भागों में लोग इसे समझ सकते हैं। इसे मद्रास तथा दक्षिणी भारत के अन्य लोग नहीं समझ सकते। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद से ही राष्ट्र भाषा का प्रश्न एक विकट प्रश्न बन गया था। देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी तथा देवनागरी तथा फारसी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दुस्तानी के समर्थकों में इस प्रश्न ने घोर विवाद का रूप धारण कर लिया था। सावधान-परिषद् ने आगे चलकर इस प्रश्न पर अपना निर्णय दे दिया। नागरी भारत की राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर ली गयी।

भाषाओं के विभाजन में एक या दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। भारत के राज्यों (प्रान्तों) का विभाजन भाषा के आधार पर नहीं हुआ है। बम्बई राज्य में तीन और मद्रास राज्य में चार विभिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं। उसी प्रकार मध्य प्रान्त (मध्य प्रदेश) के लोग कम से कम दो भाषाओं का प्रयोग करते हैं। भाषा के आधार पर प्रांतों अथवा राज्यों के विभाजन की माँग में यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है। दूसरी ओर, यद्यपि कुछ

---

* पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश में बोली जाने वाली पुश्तो तथा सिंध में बोली जाने वाली सिन्धी की ओर भी संकेत उपयुक्त होगा। ये आर्य भाषा की ईरानी शाखा में सम्मिलित हैं।

साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के लोग हिन्दी को हिन्दुत्व तथा उर्दू को इस्लाम से जोड़ते हैं, पर किसी मनुष्य के धार्मिक विश्वासों और अपने पड़ोसी से विचार विनिमय के लिए प्रयुक्त भाषा में कोई सम्बन्ध नहीं है। बंगाली मुसलमान वही बंगला बोलता है जो उसका हिन्दू पड़ोसी, यद्यपि वह भाषा संस्कृत से निकली हुई है। उसी प्रकार, मद्रास राज्य के मुसलमान भी अपने हिन्दू पड़ोसियों द्वारा व्यवहृत भाषा ही प्रयोग में लाते हैं। यह सत्य पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा सिन्ध के हिन्दुओं के साथ भी लागू होता है। जातीय दृष्टि से भी, बंगाली मुसलमान पंजाबी मुसलमान के, जिसकी न तो वह भाषा से परिचित है न परम्परा तथा रीति-रिवाजों से ही, अधिक निकट है। वेश-भूषा, भाषा, रहन सहन, रीति रिवाज तथा खान-पान के विचार से बंगाल के मुसलमान, मद्रास के मुसलमानों से भिन्न पड़ते हैं, और मद्रास के पंजाब से, इसी प्रकार अन्य भी। इस दृष्टि से भारतवासियों को हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, पारसी, ईसाई इत्यादि न कहकर बंगाली, पंजाबी, तामिल, महाराष्ट्री तथा गुजराती इत्यादि कहना अधिक समाचीन होगा। उत्तर-प्रदेश के भूतपूर्व गवर्नर सर हारकोर्ट बटलर का यह कहना कि 'वर्तमान भारत में विरोध का कारण उतना जातीय या भाषा सम्बन्धी नहीं है जितना धार्मिक,'* ठीक नहीं प्रतीत होता। यह बात तो केवल एक विचार का प्रतिपादक बनने की इच्छा से कही गई है।

भारत की मूलभूत एकता— बीते समय में हमारी स्वतन्त्रता की भावनाओं के कई विदेशी विरोधियों को, भारत के महाद्वीप के समान आकार, उसके निवासियों की जातीय विभिन्नता, धार्मिक तथा भाषा सम्बन्धी अन्तर— जिसने उसके निवासियों को अलग कर रक्खा है तथा देश के विभिन्न भागों में प्रचलित विभिन्न रीति रिवाजों की उपस्थिति ने यह अस्वीकार करने का अवसर दिया कि भारत एक देश और एक राष्ट्र है। उन्होंने इसे 'देशों का समूह' तथा 'अनेक छोटे देशों द्वारा निर्मित एक महाद्वीप' के रूप में प्रदर्शित किया। सर जान स्ट्रैची ने एक बार कहा था कि 'यूरोपीय विचारधारा के अनुसार प्राकृतिक, राजनैतिक या किसी भी प्रकार का एकता से सम्पन्न भारत नाम का कोई देश न है, न था।' विभाजन के पहले हमीं में से कुछ लोग बड़े जोर के साथ हिन्दुओं तथा मुसलमानों को भिन्न राष्ट्र के नागरिक कहते थे। वे भारत को एक देश और एक राष्ट्र नहीं मानते थे। इतिहास या तर्क में इस सिद्धान्त के लिए कोई स्थान न होते हुए भी देश की राजनैतिक दशा का विकास इस रूप में हुआ कि कांग्रेस के सामने भारत तथा पाकिस्तान के रूप में देश का विभाजन स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही न था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत एक राष्ट्र और एक देश नहीं था। भारत की मूलभूत एकता वाद विवाद या झगड़े से परे

* माडर्न इण्डिया, पृष्ठ ७ (सर जान कुमिंग द्वारा सम्पादित)

एक तथ्य है ; किसी भी मानवी निर्णय से इसकी सार्थकता निरर्थक नहीं ठहराई जा सकती। भारत सदैव एक रहा है और भविष्य में फिर वह एक होकर रहेगा।

यह मानना पडेगा कि भारत में जातीय एकता नहीं है। उसके निवासी विभिन्न जातियों के वंशज हैं, जिनमें प्रमुख आर्य, द्रविड़ तथा मंगोल हैं। उसमें धार्मिक *एकता भी नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, संसार के लगभग सभी धर्मों* के अनुयायी इस देश में रहते हैं। देश में विभिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं और बोलचाल की भाषाओं की संख्या तो सैकड़ों है। उसमें पंजाबी, बंगाली, राजपूत तथा मद्रासी जैसे एक दूसरे से भिन्न लोग रहते हैं। उसमें ऐसे रीति-रिवाजों का प्रचलन है *जो किसी भी दो प्रान्तों में एक से नहीं हैं। इस प्रत्यक्ष विभिन्नता* से प्रभावित किसी मनुष्य के लिए भारत की सार्वभौम एकता की बात मूर्खतापूर्ण नहीं तो और क्या होगी। हमारी धारणा है कि ऊपर से चाहे जो प्रतीत हो, इस विभिन्नता का भारत की सार्वभौम एकता से विरोध नहीं है।

किसी जाति की एकता उन विभिन्न उद्‌गमों से जन्म लेती है, जो उसके जीवन में एक दूसरे से इतने मिल गए होते हैं *कि अलग नहीं किये जा सकते*, फिर भी उनका अपना अस्तित्व और महत्त्व है। इन उद्‌गमों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक हैं, जातीय, धार्मिक तथा भाषा सम्बन्धी नहीं। ऐसे कई देशों का उदाहरण दिया जा सकता है जिन्होंने जातीय, धार्मिक तथा भाषा-सम्बन्धी विभिन्नता होते हुए भी राष्ट्रीय एकता प्राप्त की है। ब्रिटेन को ही ले लीजिए। उसके निवासी केल्ट, सैक्सन, डेन तथा नॉर्मन हैं। उनके पूर्वजों ने आपस में शताब्दियों तक युद्ध किया और एक दूसरे का विनाश किया। इंगलैंड और *स्कॉटलैंड एक दूसरे के कट्टर शत्रु थे और 'ट्वीड नदी से भी बढ़कर उनका विभाजन* रक्त की एक गहरी नदी द्वारा हुआ है।' लेकिन आज सैकड़ों वर्षों के युद्ध के पश्चात् भी वे एक ही सम्राट् के भक्त हैं। रॉबर्ट ब्रूस और वैलेस अंग्रेजों के विरुद्ध सदैव वीरता से लड़ते रहे किन्तु आज इन वीरों का अंग्रेजों को भी उतना ही गर्व है जितना स्कॉट लोगों को। जरमनी में रोमन कैथोलिकों और लूथर के अनुयायियों की शत्रुता के सामने तो हिन्दू-मुसलमानों का विरोध नहीं के बराबर है, फिर भी सभी जरमन, कैथोलिक तथा लूथर के अनुयायी, राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्राणित होकर एक शक्तिशाली राष्ट्र के सदस्य बन गए हैं। जातीय, धार्मिक और भाषा सम्बन्धी विरोधों से विनष्ट हो जाने पर भी स्विट्जरलैंड आज एक शक्तिशाली तथा सम्मिलित राष्ट्र का अनुपम उदाहरण है। संयुक्त राष्ट्र अमरिका से हमें एक और उपयुक्त उदाहरण मिलता है कि जातीय तथा धार्मिक एकता किसी भी जाति को राष्ट्र में परिणत करने के लिए अनिवार्य नहीं है। *जातीय एकता उसकी शुद्धता पर निर्भर है।* समाज-शास्त्र के ज्ञाता बताते हैं कि जातीय शुद्धता आज के संसार में स्वप्न के सिवाय और कुछ नहीं

है'। आज के सभ्य ससार के सामाजिक तथा राजनैतिक जावन म धर्म कोई महत्त्वपूर्ण अग नहीं रह गया है— धार्मिक सहिष्णुता की इस भावना को धन्यवाद है। इगलैंड, जरमनी, स्विट्जरलैंड, सयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा कनाडा मे जो सम्भव हुआ है वह भारत के लिए असम्भव नहीं घोषित किया जा सकता। भारतीय एकता खिलवाड मान कर केवल इसी लिए नहीं उपेक्षित की जा सकती कि उसमें जातीय एकता का अभाव है, या वहाँ कई भाषाएँ बोली जाती हैं या वहाँ अनेक धार्मिक विश्वास प्रचलित हैं। दूसरी ओर, भारत मे एकता के धार्मिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक स्रोतों की कमी नहीं है।

भारत ससार की सबसे अधिक स्पष्ट भौगोलिक टुकड़ियो मे से एक है। उसकी प्राकृतिक सीमाएँ— उत्तर, उत्तर पूर्व तथा पश्चिमोत्तर मे ऊँचे से ऊँचे पहाड तथा घने से घने जगल, पूर्व तथा पश्चिम म गहरा समुद्र— उसे बडे ही सुन्दर ढग से एशिया के अन्य भागों से अलग करता है। भारत तथा तिब्बत और चीन के बीच सभी प्रकार क सम्बन्धो म घोर रुकावटें डालने वाले हिमालय की भाँति भारत के भली-भाति सुरक्षित क्षेत्रफल के भीतर कोई भी ऐसा दुर्गम पर्वत या गहरी नदी नहीं है जो देश के एक भाग से दूसरे भाग के आवागमन को बन्द कर सके। यातायात के सस्ते साधनों की उपस्थिति तथा प्राकृतिक अडचनों क न होने के कारण देश को नपे तुले भागों म भी नहीं बाँटा जा सकता। जो कुछ पहले कहा जा चुका है, उसे दृष्टि म रखने पर इस विषय पर अधिक जोर देना आवश्यक नहीं है। प्रकृति ने भारत का निर्माण एक अविभाज्य भू भाग के रूप में किया है। यह एक प्रत्यक्ष सत्य है। इस भौगोलिक एकता के एक या दो परिणामों की ओर सकेत किया जा सकता है। यही परिणाम उस ऐतिहासिक सत्य के लिये मुख्यत. उत्तरदायी हैं कि प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक उसके सभी बडे शासकों ने सारे देश पर अपना शासन फैलाने का प्रयत्न किया। प्राचीन काल म चक्रवर्ती सम्राटो को देश की राजनैतिक एकता का ज्ञान था। मौर्यों, गुप्तों, पठान राजाओं, मुगल बादशाहों तथा अन्त म अग्रेजों द्वारा स्थापित साम्राज्य, सभी उसी तथ्य की सूचना देते हैं। कोई भी बडा राजा देश के किसी भी भाग को अलग या स्वतन्त्र सत्ता मान कर उसे अपनी महत्त्वाकाक्षा की परिधि के बाहर नहीं मानता था। यूरोप म जैसे स्वतन्त्र राज्य रहे हैं और हैं वैसे भारत मे नहीं बन सकते। यूरोप की भौगोलिक स्थिति उसे एक महाद्वीप बना देती है, भारत की भौगोलिक स्थिति उसकी ऐतिहासिक तथा राजनैतिक एकता का ज्ञान कराती है। हाँ, समय समय पर उसकी सीमा के भीतर स्वतन्त्र राज्य भी रहे हैं।

भौगोलिक एकता के ही कारण देश म आर्थिक एकता भी रही है। ब्रिटिश सरकार के लिये देश के एक भाग को दूसरे भाग से रेल, टेलीफान, टेलीग्राफ तथा सभी ऋतुओं मे काम आने वाली सडकों द्वारा जोड देना बडा सरल कार्य हो गया। वह बर्मा, चीन, तिब्बत तथा अन्य पडोसी देशों से उसी सरलतापूर्वक नहीं मिलाया जा

सका। प्राकृतिक कठिनाइयाँ अधिकतर अजेय होती हैं। इस तथ्य के तथा देश की बृहद् तटीय रेखा के कारण चुंगी तथा विनिमय की एक ही नीति देश के लिये अनिवार्य हो जाती है। औद्योगिक दृष्टि से कुछ प्रान्त देश के दूसरे भागों की कमी पूरा कर सकते हैं। और इस प्रकार देश संयुक्त राष्ट्र-अमेरिका की भाँति आत्म-निर्भर बन सकता है

भारत की भौगोलिक तथा ऐतिहासिक एकता से उसकी सांस्कृतिक एकता का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। सांस्कृतिक एकता का महत्त्व इतना अधिक है कि ओ'मैली (O'Malley) के अनुसार भारत एक संस्कृति का नाम है, किसी जाति या समुदाय* का नहीं। एक बंगाली, मद्रासी, या मराठा, एक पंजाबी या सिन्धी, या एक मुसलमान और एक हिन्दू, इनमें आपस में चाहे जितनी भिन्नता हो, भारत के सभी निवासियों में जीवन की एक ही व्यापक एकता प्रदर्शित होती है।

प्रसिद्ध जाति-शास्त्रवेत्ता (Anthropologist) सर हर्बर्ट रिसले द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि "भारत में उन सभी प्राकृतिक, सामाजिक, भाषा-सम्बन्धी, रीति रिवाजों की तथा धार्मिक विभिन्नताओं के बीच, जिनसे एक निरीक्षक प्रभावित होता है, हिमालय से लेकर कन्याकुमारी अन्तरीप तक नीचे बहती हुई एकता की एक स्पष्ट धारा देखी जा सकती है।" एक बंगाली, मद्रासी, मराठा, पंजाबी तथा उत्तर प्रदेश के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति के बीच अधिक समानता है बनिस्बत इनमें से किसी एक तथा चीन देश के एक चीनी जापान के एक जापानी या अफगानिस्तान के एक पठान के बीच। नीले तथा स्वच्छ जल वाले समुद्रों तथा हिम से ढके हिमालय के बीच रहने वाली सभी जातियाँ, उत्तरी-पूर्वी मंगोल तथा उत्तरी पश्चिमी सेमाइट जातियों की तुलना में साफ अलग हो जाती हैं। भारत की एक विशेषता है जिसने उन सभी पर अपनी छाप डाली है जो यहाँ आकर बस गये हैं चाहे वे किसी भी भू भाग से क्यों न आये रहे हों। भारत की यह विशेषता सचमुच एक विचित्र चीज है जिसके सृजन में अनेक तत्वों ने योग दिया है। उनमें से सब से प्रमुख हैं आर्य आदर्श एवं विचारधारा, जिनसे हमारे वर्तमान सांस्कृतिक मूल्यों का विकास हुआ है। हिन्दू और मुसलमान, ईसाई और पारसी, आर्य और द्रविड़, मंगोल तथा सीदियन आदि भारत में रहने वाली सभी जातियों में परिवार के प्रति वही प्रेम, पुत्र की माता पिता के प्रति वही श्रद्धा, माँ तथा नारी के प्रति वही आदर-भाव, सबसे अधिक [illegible] पाई जाती है। [illegible] महत्त्वपूर्ण बात देखी जाती है वह इस तथ्य की स्वीकृति है कि जीवन की प्रवृत्तियों एवं आत्मा के बीच एक नैतिक संघर्ष है जिसमें पहले को दूसरे का अनुयायी होना चाहिये। कौन

---

*सुकरात ने जो ग्रीस के विषय में कहा था वही भारत के विषय में भी कहा जा सकता है, अर्थात् "यह एक संस्कृति का नाम है, जाति का नहीं।"—माडर्न इंडिया ऐंड द वेस्ट, पृष्ठ ६।

भारतीय आत्मा की श्रेष्ठता को नहीं स्वीकार करता ? इसी कारण हमारे देश के व्यक्ति नैतिकता एव अनासक्ति को आसक्ति और अनुराग की तुलना में श्रेष्ठ समझते हैं। कोई कार्य करने के लिये अपने को नैतिक रूप से आनन्द पाने पर चाहे परिस्थितियाँ कितनी भी विकट क्यों न हों, वे कोई बहाना करके उससे बचने का विचार नहीं करते। वे जीवन में सादगी एव पूरी शक्ति से कार्य करने की भावना का भी बड़ा मूल्यवान् मानते हैं। वे महात्मा गाधी का उनके राजनैतिक विचारों के लिए नहीं बल्कि उनकी सरलता एव सत्यता के कारण आदर करते थे। स्वर्गीय श्री एण्ड्रूज का, जो लोगों के प्रेम के कारण दीनबन्धु कहे जाते थे, भारतीय हृदय में अपनी अथक सरलता एव सत्यता के ही कारण इतना आदर था।

यहाँ हम यह कहना चाहते हैं कि वर्तमान भारतीय सस्कृति को जिसके कुछ मूल्य ऊपर प्रदर्शित किये जा चुके हैं, हिन्दू सस्कृति नहीं कहना चाहिए। इसका आधार हिन्दू अवश्य है, लेकिन उसका जो रूप आज है, वह हिन्दू, मुस्लिम तथा पश्चिमी सभ्यताओं के सम्मिश्रण का परिणाम है। अपनी उन्नति की चरम सीमा की शताब्दियों में हिन्दू धर्म ने जिस सस्कृति को जन्म दिया वह बाद को उस सस्कृति से बहुत प्रभावित हुई जिसे मुसलमान अपने साथ लाये। हिन्दू तथा मुसलमानों का साथ साथ रह कर एक दूसरे की सस्कृति को कुछ भी प्रदान न करना, समाजशास्त्र के नियमों के घोर विरुद्ध होता। दादू, नानक, कबीर तथा अन्य सन्तों पर इस्लाम के 'एक-ईश्वरवाद' तथा मनुष्य के पारस्परिक भ्रातृ भाव के उदार सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव है। अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ को हिन्दू तथा मुस्लिम सभ्यताओं के समन्वय का सर्वोत्कृष्ट नमूना कहा जा सकता है। पिछले दो सौ वर्षों से पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से इसे एक नवीन दिशा मिली है। इन सम्पर्कों से हमारे यहाँ एक नवीन धार्मिक एव सास्कृतिक जागृति हुई जिसका सर्वोत्कृष्ट व्यक्तीकरण गाधी और टैगोर की शिक्षाओं में हुआ है। सारे भारत को एक बनाने वाली सार्वभौम सस्कृति की धारा पिछली कई शताब्दियों से अनवरत एव बडे ही महत्त्वपूर्ण ढङ्ग से बहती चली आ रही है और वह बड़ी शक्तिशालिनी, सम्पन्न एवं विविध है।

देश की जन-सख्या के सभी भागों ने एकस्वर से उत्तरदायी सरकार की स्थापना की मॉग की थी, यह तथ्य हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। राजनैतिक भावनाओं तथा त्याग की एकता ही एक जन समुदाय को राष्ट्र के रूप मे परिणत कर देती है। यह जानना बड़ा ही आह्लादकारी एव आश्चर्यपूर्ण है कि सभी प्रकार के लोगों ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का युद्ध कन्धे से कन्धा मिला कर किया है। देशभक्ति एव त्याग करने की शक्ति पर किसी एक जाति या गिरोह का एकाधिपत्य नहीं है, वह सभी में पाई जाती है। भारत की स्वतन्त्रता सबके प्रयास का फल है।

ऊपर दिए हुए विचारों से यह स्पष्ट है कि भारत एक देश है और भाषा के साधारण अर्थ के अनुसार भारतवासी एक ही राष्ट्र के नागरिक हैं। कुछ राजनीतिज्ञों

द्वारा समर्थित 'द्वि राष्ट्र सिद्धान्त' सत्य का विरोधी, दुष्टतापूर्ण तथा व्यवहार मे हानिकारक सिद्ध हुआ है। यह देश को अकथ हानि पहुँचा भी चुका है। हर्ष का विषय है कि भारत में रहने वाले मुस्लिम नागरिकों का इसमें विश्वास नहीं है और वे उस राज्य के प्रति पूरे स्वामिभक्त हैं जिसके वे सदस्य हैं।

यह स्वीकार करना पडेगा कि राष्ट्रीयता की भावना भारत में उतनी शक्तिशाली एवं उत्साहपूर्ण नहीं है जितनी यूरोप के देशों में। इसका विकास तो अभी हाल में ही हुआ है— *अभी एक शताब्दी भी नहीं हुई अखिल भारतीय कांग्रेस के जन्म के* साथ-साथ यह भी अवतीर्ण हुई। भूत में इसकी उन्नति में कई अड़चनें बाधक बनीं। उनमें से एक थी जनता का राजनैतिक अज्ञान, जो राष्ट्र के उत्थान के लिए कांग्रेस द्वारा किये गये कई राष्ट्रीय आन्दोलनों से कुछ-कुछ हटा है। दूसरी थी साम्राज्यवादी विदेशी शासकों की विभाजन द्वारा शासन की नीति। हिन्दू मुस्लिम विरोध, जिससे भारत की स्वतन्त्रता के विरोधियों ने इतना लाभ उठाया, विभाजन द्वारा शासन करने की इसी नीति का परिणाम है। यह विरोध धार्मिक तो है ही नहीं, सामाजिक या आर्थिक होने की जगह राजनैतिक अधिक है। विभाजन द्वारा लगाई गई अग्नि अब शान्त हो रही है। इस सम्बन्ध में और विचार हम आगे करेंगे।

अध्याय २

भारत का सामाजिक जीवन

सामान्य विशेषताएँ— भारतीय जीवन पर भौगोलिक परिस्थितियों का जो प्रभाव है उन पर विचार करने के बाद, हम अब उसके सामाजिक पहलू पर प्रकाश डालेंगे। आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक पहलुओं पर आगे के अध्यायों में विचार किया जायगा।

जाति, धर्म और भाषा की स्पष्ट विविधता के होते हुए भी जिस सार्वभौम एकता का अनुभव हम लोगों को हुआ उसके साथ-साथ रीति रिवाज, आचार व्यवहार तथा परम्परा की विभिन्नता में भी जीवन की एकता छिपी हुई है। और, यही है देश के सामाजिक जीवन की प्रमुख विशेषता। जिस प्रकार कुछ निरीक्षक मूलभूत एकता नहीं देख पाते या देखकर भी उस पर जोर नहीं देते और केवल जातीय तथा अन्य विभिन्नताओं पर ही ध्यान रखते हैं, उसी प्रकार वे हमारे सामाजिक जीवन की संकीर्णता और विभिन्नता से प्रभावित होकर रह जाते हैं, उसके नीचे बहती हुई एकता तथा एकरसता की धारा का दर्शन नहीं कर पाते। पहले विचार को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम भारत के भूतपूर्व गवर्नर-जनरल लॉर्ड डफरिन के विचार उद्धृत करते हैं— 'भारतीय जगत की सबसे बड़ी विशेषता है कदाचित् दो प्रबल राजनैतिक समुदायों में उसका विभाजन। ये समुदाय अपने धार्मिक विश्वासों, ऐतिहासिक परम्पराओं, सामाजिक व्यवस्था तथा स्वभावगत प्रवृत्तियों में एक दूसरे से दो ध्रुवों के समान अलग हैं। एक ओर हिन्दू अपने विभिन्न एवं अनेक देवी देवताओं में विश्वास, मूर्तियों तथा प्रतिमाओं से सुसज्जित मन्दिरों, गाय के प्रति अपने अगाध आस्था, अपने अनुल्लंघनीय जाति भेदों तथा विजेताओं के सामने घुटने टेक देने की अपनी प्रवृत्ति को लिये पड़ा है, दूसरी ओर है मुसलमानों का एक ईश्वर में विश्वास, उनकी कट्टर धर्मान्धता, पशु बलि में आस्था, उनकी सामाजिक एकता तथा उन स्वर्णिम दिनों की स्मृति जब दिल्ली के सम्राट बनकर वे हिमालय से कन्याकुमारी तक फैले हुए इस विशाल देश पर शासन करते थे।' यहाँ हमारा काम कोरी अतिशयोक्ति तथा तथ्यों के त्रुटिपूर्ण प्रदर्शन से भरे बने इस गद्यखंड की आलोचनात्मक परख तथा उसमें छिपे अधूरे सत्य का उद्‌घाटन करना नहीं है। यहाँ हम केवल इतना ही निर्देश कर देना चाहते हैं कि भूतपूर्व गवर्नर जनरल ने लाखों गाँवों में बसे वास्तविक भारत के हिन्दू-मुसलमानों के आपसी सम्बन्धों का भ्रमोत्पादक चित्रण किया है। गाँवों के हिन्दू-मुसलमानों के बीच हम इतना अन्तर नहीं पाते जितना लॉर्ड डफरिन ने दिखाया है। वास्तव में इतना अन्तर रह भी कैसे सकता है?

समाज-शास्त्र के नियमों का इतना भयंकर व्यतिरेक समाज नहीं है। इस सत्य द्वारा समूल खंडन हो जाता है कि भारतीय मुसलमानों में से एक बहुत बड़ी संख्या इस्लाम में दीक्षित हिन्दुओं की ही वंशज है और इन वंशजों में अब भी बहुत से हिन्दू-विचार, हिन्दू रस्म-रिवाज और रहन-सहन के ढंग प्रचलित हैं। बाहरी 'लेबिल' के बदल जाने से चरित्र और भावनाएँ कहाँ तक परिवर्तित हो जायँगी? धार्मिक विश्वासों तथा सामाजिक जीवन में कुछ विरोधों के होते हुए भी, हिन्दू-मुसलमान तथा अन्य जातियाँ जीवन की मूलभूत प्रेरणाओं में एकता ही प्रदर्शित करती हैं।

हमारे यहाँ हर समुदाय अपने जीवन में धर्म को समान महत्त्व देता है। यह कुछ ऊपरी, साधारण बात नहीं है: इसका कारण वास्तव में भारतीय जीवन की मूलभूत एकता है। भारत में हम धर्म को पश्चिम से अधिक महत्त्व देते हैं; हम इसे जीवन के किसी विशेष पहलू या क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखते और न किसी विशेष दिन को ही लॉर्ड (ईश्वर) का दिन मानते हैं जैसा कि पश्चिम वाले करते हैं। शैशवावस्था से लेकर मृत्यु तक तथा प्रातः से लेकर रात तक धर्म ही हमारे जीवन का पथ प्रदर्शक है। प्रत्येक हिन्दू से जीवन में सोलह-संस्कारों की पूर्ति की आशा की जाती है जिनमें अन्नप्राशन, विद्यारम्भ, मुंडन, यज्ञोपवीत और पाणिग्रहण मुख्य हैं। यम नियमों के प्रति भी लोगों की बड़ी आस्था है। माता-पिता का अभिवादन, प्रातः स्नान, प्रार्थना इत्यादि धार्मिक कृत्य समझे जाते हैं। हमारे भोजन वस्त्र, आचार तथा व्यवहारों पर धर्म का गहरा प्रभाव है। धर्म की इस व्यापकता का कारण यह है कि जीवन को चलाने वाली सभी सामाजिक संस्थाओं का आधार धार्मिक है। हिन्दू धर्म तथा इस्लाम दोनों ही सामाजिक तथा दोनों ही धार्मिक हैं। उनकी मूलभूत संस्थाएँ दोनों धार्मिक मूल्यों से अनुप्राणित एवं प्रतिष्ठित हैं। जीवन के भारतीय दृष्टिकोण में धर्म की प्रधानता का प्रमाण यह है कि राजनैतिक क्षेत्र तक में हमने धार्मिक तथा नैतिक भावनाओं को स्थान दिया है। गांधीजी के नेतृत्व में भारत ने यह विश्वास कर लिया है कि "बुरी राजनीति अच्छा धर्म नहीं बन सकती"। जीवन और धर्म को अलग-अलग समझने वाले अंग्रेजों तथा शेष संसार का महात्मा गांधी और भारत को समझने तथा उसका समर्थन करने में असफल होने का एक यह भी कारण है।

जीवन की साधारण रूप रेखा में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान नीचे के विचारों से भी प्रदर्शित होगा। भारतीय इतिहास में कदाचित् ही ऐसा कोई समय रहा होगा जब किसी न किसी रूप में धार्मिक आन्दोलन न हुआ हो। धर्म के सम्बन्ध में ही हिन्दू नेताओं की प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट विकास हुआ है। पिछली शताब्दी में हुए धार्मिक आन्दोलनों ने ही बाद की राष्ट्रीय जागृति के लिए पथ तैयार किया है। अपने देश में सामाजिक तथा धार्मिक सुधारकों का ध्यान आकर्षित करने वाली विभिन्न सामाजिक समस्याओं के साथ धार्मिक पृष्ठभूमि रही है। बाल-विवाह, विधवा विवाह और अस्पृश्यता-

निवारण जैसे समाज-सुधार के कार्यों के विरोधी तथा समर्थक अपने अपने विचारों की पुष्टि के लिए प्रमुख धार्मिक पुस्तकों का आश्रय लेते हैं। छूआछूत के प्रश्न पर महात्मा गाधी को भी पडितों से वाद-विवाद करना पडा था।

भारत के लोग धर्म पर बहुत जोर देते हैं, इस पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यह तो इस सत्य के साथ लिपटी एक स्वाभाविक बात है कि भारत के लोग अनिश्चित काल से आध्यात्मिक आदर्शों की खोज में रहे हैं। जिस प्रकार प्राचीन ग्रीस ने बुद्धि-वैभव का शङ्खनाद किया और इस दिशा में ससार के साहित्य को एक अमूल्य निधि प्रदान की, जिस प्रकार प्राचीन रोम ने नागरिक जीवन की उच्चता का जयघोष सुनाया और ससार के सामने राज्य-भक्ति का आदर्श रक्खा, उसी प्रकार प्राचीन भारत ने अपने को आध्यात्मिक आदर्शों की खोज में लगाया और मानव-जाति की सेवा में एक आध्यात्मिक दर्शन की भेंट की। विदेशी शासन के अनैतिक प्रभावों के बीच भी हम जीवन के इसी आध्यात्मिक दृष्टि-कोण के कारण जिसे हमने अतीत से विरासत के रूप में प्राप्त किया है, धार्मिक रह सके।

माता पिता, गुरुजन और बडों के प्रति श्रद्धा, सौजन्य तथा दूसरों के प्रति आदर, अतिथि-सत्कार तथा दानशीलता आदि भारतीय जीवन से सम्बन्धित गुण, सम्पूर्ण जीवन के प्रति व्यापक धार्मिक दृष्टिकोण के परिणाम हैं। हमें आज भी भारतीय राष्ट्र के सभी भागों में ये विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। हिमालय से कन्याकुमारी तथा ब्रह्मपुत्र से सिन्धु तक कोई कहीं भी जाय, उसे अतिथि-सत्कार एव उदारता की समान भावना की आशा रखनी चाहिए।

जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने, जिस पर हमने इतना जोर दिया है, एक दूसरे परिणाम पर भी दृष्टि डालनी चाहिए। इस परिणाम के अनुसार हम किसी व्यक्ति का मूल्य उसके भौतिक वैभव से नहीं, उसके चरित्र-धन से आँकते हैं। हमारे यहाँ धनी नहीं, गुणवान व्यक्ति का आदर होता आया है। हिन्दुओं में सबसे ऊँचे वर्ण के लोग ब्राह्मण रहे हैं जो धन की नहीं, ज्ञान एव सत्य की उपासना करते हैं। उसी प्रकार मुसलमान भी सासारिक वैभव से कहीं अधिक चारित्र्य को महत्त्व प्रदान करते हैं। उनमें सूफियों का बहुत ही अधिक आदर होता है। जहाँ कहीं भी चरित्र तथा अन्य गुण मिलते हैं हम उन्हें स्वीकार करते हैं और उनकी प्रशसा करते हैं। एक विदेशी भी, यदि वह गुणवान है तो, अपने ही देशवासियों की भाँति हमारी श्रद्धा का पात्र बनता है। स्वर्गीय दीनबन्धु ऐण्ड्रूज भारतवासियों द्वारा जिस प्रेम तथा आदर के साथ देखे जाते थे, वह इस बात का उदाहरण है।

किन्तु यह बडे दुःख के साथ स्वीकार करना पडता है कि आजकल विषम परिस्थितियों की विवशता से और अधिकतर विदेशी शासन के परिणामस्वरूप

जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण को भौतिकतावादी दृष्टिकोण हटाता चला जा रहा है। धार्मिक दृष्टिकोण के लुप्त होने का अर्थ है भारतीय सभ्यता और संस्कृति का अन्त। प्राचीन ग्रीस, सीरिया और यूनान के साथ मृत राष्ट्र न कहला कर भारत के जीवित रहने का यही कारण है कि लगातार आक्रमणों द्वारा उसके राजनैतिक शरीर के विनाश के बाद भी उसके आध्यात्मिक आदर्शों का अन्त नहीं हुआ। लेकिन आज हमारी सांस्कृतिक धारा की गति बहुत ही धीमी हो गई है और यदि हम पश्चिमी भौतिकवाद द्वारा हुए विनाश को रोकने के लिए कदम नहीं उठाते तो हमारी प्राचीन सभ्यता भी अन्य सभ्यताओं का रास्ता पकड़ेगी तथा नव-प्राप्त स्वतन्त्रता के होते हुए भी हजारों वर्ष पुरानी हमारी सभ्यता केवल अतीत की याद दिलाने के लिए रह जायगी।

हो सकता है कुछ ऐसे भी व्यक्ति हों जो धर्म को जीवन और व्यवहार का आधार बनाना निरर्थक समझें। उनकी धारणा है कि चूँकि धर्म उनके और ईश्वर के बीच एक व्यक्तिगत वस्तु है इसलिए व्यक्ति के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन पर धर्म का प्रभाव नहीं पड़ने देना चाहिए। उनके अनुसार राजनीति तथा सामाजिक सम्बन्धों पर धर्म के आक्रमण का अर्थ है समाज में वैमनस्य का बीज-वपन और उसका परस्पर-विरोधी टुकड़ों में विभाजन। अपने विचार की पुष्टि में वे हिन्दू-मुसलमानों के बीच के शर्मनाक झगड़ों का उदाहरण देते हैं। उनका कहना है कि धर्म भारत के सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन के लिए एक भयङ्कर अभिशाप है। हमारे जीवन तथा व्यवहार को स्थिर करने वाली सामाजिक संस्थाओं तथा नियमों में धार्मिकता का पुट होने के कारण ही हमारा सामाजिक जीवन एक अलग चीज बन गया है। हिन्दू मुसलमान के न साथ भोजन करता है और न उसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करता है। हिन्दू के रस्म-रिवाज और आचार-व्यवहार मुसलमानी रस्म रिवाज और आचार-व्यवहार से भिन्न हैं; पारसियों के सिक्खों से भिन्न हैं, इत्यादि। इसका परिणाम यह हुआ है, कि विभिन्न समुदायों के त्यौहार भी अलग-अलग हैं। हिन्दू विजयदशमी, दीपावली, जन्माष्टमी, होली और अन्य त्यौहार मानते हैं जब कि मुसलमान ईद, मुहर्रम आदि और ईसाई बड़ा दिन मनाते हैं। न केवल उनके त्यौहार ही एक दूसरे से भिन्न हैं बल्कि उन त्योहारों के मनाने के ढंग भी मूलतया भिन्न हैं। हिन्दू अपने त्यौहारों को मुसलमानों तथा ईसाइयों की तुलना में अधिक व्यक्तिगत ढंग से मनाते हैं। इससे भी बुरी बात तो यह है कि साम्प्रदायिक विरोध के कारण एक जन-समूह दूसरे जन-समूह के त्यौहारों में भाग ही नहीं लेता। आज हमबहुत थोड़े ही मुसलमानों को होली तथा कुछ ही हिन्दुओं को मुहर्रम में भाग लेते देखते हैं। ऐसा कोई राष्ट्रीय त्यौहार नहीं है जिसमें सभी भारतीय भाग लेकर आनन्द मना सकें। राजनीति में धर्म के आ जाने से हमारे राजनैतिक जीवन में विनाशकारी तत्व पैदा हो गये थे। साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्र उसी जहर का असर था। आगे बढ़कर सरकारी नौकरियों

और विद्यालयों तक में साम्प्रदायिकता की माँग प्रारम्भ हुई थी। इन तमाम माँगों का अन्त पाकिस्तान में हुआ। कुछ अंशों तक पृथक्त्व हमारे सामाजिक जीवन का एक ऐसी विशेषता है जो और कहीं नहीं पायी जाती। हममें सामाजिक जीवन की वह एकता नहीं है जो फ्रांस, इंगलैंड तथा जर्मनी जैसे देशों में देखने को मिलती है। और हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह जीवन में धर्म को प्रधानता देने का ही परिणाम है। लेकिन यह कहना समीचीन होगा कि ये सब दुष्परिणाम धर्म को प्रधानता देने के कारण नहीं बल्कि धर्म के मूलतत्वों के बजाय उसके बाह्य रूपों को ही प्रधानता देने के कारण हैं। यदि हम धर्म का अर्थ केवल एक ऐसी आन्तरिक भावना से लें जो जीवन का पथ प्रदर्शन करती है और उदात्त गुणों का समावेश करती है, लगाते हैं, और उसके कुछ बाह्य कृत्यों की पूर्ति से नहीं, तो यह असम्भव है कि धर्म कभी भी फूट और पृथक्त्व को प्रश्रय देगा। धार्मिक भावना की उपस्थिति के कारण नहीं बल्कि उसकी त्रुटिपूर्ण व्याख्या के कारण ही हम अनेक परेशानियाँ झेल रहे हैं। आज दुनिया को अपने सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन को आध्यात्मिक बनाने की आवश्यकता है। सारी मनुष्य जाति के लिए महात्मा गाधी का यही सदेश है। उनके अनुसार नैतिक और आध्यात्मिक विचारों से विमुख होकर राजनीति जीवन का हनन कर डालती है। इसी लिए उन्होंने स्वराज्य की प्राप्ति के लिए सत्यपूर्ण उपायों के प्रयोग का आदेश दिया था।

अपने देश के सामाजिक जीवन को प्रवाह तथा दिशा देने वाली सामाजिक संस्थाओं की परीक्षा करने के पहले उसके एक महत्वपूर्ण अंग पर ध्यान देना आवश्यक होगा। भारतीय समाज के निर्माण में व्यक्तियों का उतना हाथ नहीं है जितना समुदायों का। कोई व्यक्ति समाज में एक अलग इकाई बनकर नहीं बल्कि परिवार, जाति और ग्राम का सदस्य बनकर रहता है। अतीत में इन समुदायों में से किसी-न-किसी की सदस्यता के बाहर तो कदाचित् ही कोई रहता रहा हो। सामाजिक संगठन के नाम पर जो कुछ भी प्रतिबन्ध उस पर लगाये जाते थे उन्हीं के अनुसार उसका विकास होता था। समाज की उस व्यवस्था का बड़ी शीघ्रतापूर्वक पतन हो रहा है। शासन का वर्तमान रूप जिन सिद्धान्तों पर आधारित है उनसे उस सामाजिक व्यवस्था का मेल नहीं बैठता।

वर्ण-व्यवस्था, छुआछूत, परिवार, विवाह, पर्दा तथा धार्मिक कर्मकाण्ड का सतर्कतापूर्ण अध्ययन आवश्यक है। हम उनमें से प्रत्येक का अलग अलग विवेचन कर रहे हैं।

वर्ण-व्यवस्था— वर्ण-व्यवस्था हमारे सामाजिक संगठन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा उसे अन्य समाजों से अलग कर देने वाली विशेषता है। हालाँकि इसका विशेष सम्बन्ध हिन्दू सामाजिक व्यवस्था से है फिर भी इसे भारतीय कहा जा

सकता है क्योंकि मुसलमानों तथा ईसाइयों में भी कुछ-न-कुछ जातीय भेद पाये जाते हैं। इन धर्मों में दीक्षित होने वाले अपने नये चोले में भी पुराने जातीय विभेद लेते गए। इस संस्था का अध्ययन हम एक परिभाषा से प्रारम्भ करते हैं।

जाति की परिभाषा और उसका स्वरूप—/सर एडवर्ड ब्लट के अनुसार जाति ऐसे लोगों का समूह है या ऐसे समूहों का सम्मिश्रण है जो अपने ही जैसे लोगों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उनका एक ही नाम होता है; सदस्यता परम्परागत होती है; जन्म के साथ ही जाति निश्चित हो जाती है और जन्म ही जाति की सदस्यता का आधार होता है तथा सामाजिक आदान प्रदान के मामलों में जाति के सदस्यों पर कुछ कठोर बन्धन होते हैं। परम्परागत पेशा, गोत्र, या इन दोनों पर बन्धन समान रूप से लागू होते हैं। साधारणतः जाति का अर्थ है लोगों का एक सम्मिलित समुदाय। जाति की यह 'परिभाषा इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया' में दी गई परिभाषा की ही तरह है और अपने देश में जाति की क्रियाशीलता तथा व्यक्तिगत जीवन में उसके महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रकाश डालती है। इस परिभाषा के अनुसार जाति ऐसे लोगों का समूह है जिसकी सदस्यता जन्म के ही अनुसार निश्चित की जाती है। इसका यह अर्थ है कि वर्तमान जातियाँ परम्परागत हैं। कोई आदमी किसी जाति को चुनता नहीं; वह उसमें पैदा होता है और उसे बदल नहीं सकता। इस बन्धन के कारण यह व्यवस्था स्थावर हो जाती है और इस प्रकार लोग एक समूह से दूसरे समूह में नहीं जा सकते जो कभी-कभी सामाजिक प्रगति तथा न्याय की दृष्टि से बहुत आवश्यक हो सकता है। यह याद रखना चाहिए कि यद्यपि जाति और जन्म बहुत प्राचीन काल से एक दूसरे से बँधे हुए हैं फिर भी यह व्यवस्था अपनी प्रारम्भिक अवस्था में उतनी कठोर नहीं थी जितनी आज है। बहुत ही प्राचीन काल में जाति केवल जन्म पर ही नहीं बल्कि स्वभाव और गुण पर निर्भर थी। ब्राह्मण दूसरी जातियों से सतोगुण, क्षत्रिय रजोगुण और शूद्र तमोगुण के आधार पर अलग समझा जाता था। इस प्रकार वर्तमान व्यवस्था प्राचीन व्यवस्था से मूल रूप में अलग हो गई है। यही मूलभूत विरोध इसमें आ जाने वाले कई दुर्गुणों एवं अपूर्णताओं का कारण है।

इस परिभाषा के अनुसार, दूसरी ओर, जाति एक ही परम्परागत पेशा मानने वालों का एक समूह है। आधी शताब्दी पहले इस पहलू पर अधिक जोर था, किन्तु आज ऐसी बात नहीं है। एक ही जाति के लोग आज तरह तरह के पेशे कर रहे हैं—कुछ ब्राह्मण पुरोहित हैं, कुछ ज्योतिषी; कुछ जमींदार हैं और कुछ ने सरकारी नौकरियाँ कर ली हैं या विद्या-बुद्धि के दूसरे कामों में लगे हुए हैं। दूसरी पेशेवर जातियाँ, जैसे नाई, धोबी, जुलाहा, कुम्हार तथा गड़रिये इत्यादि भी केवल अपने परम्परागत पेशे ही नहीं करतीं, बल्कि उनमें से कितने लोग दूसरे पेशे कर लेते हैं। देश में प्रचलित नयी आर्थिक प्रवृत्तियों का यह प्रभाव हुआ है। लेकिन कुछ समय पहिले, जैसा कि इस परिभाषा से स्पष्ट है, जाति और पेशे में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस पहलू का

यहाँ एक और अर्थ भी समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जातियों की सख्या पेशों की सख्या से कहीं अधिक होनी चाहिए क्योंकि कुछ जातियों के कई टुकडे हैं। यह स्थिति प्राचीन आदर्श के विरुद्ध पड़ती है क्योंकि उसके अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, ये ही चार वर्ण होने चाहिएँ। आज सब मिलाकर लगभग तीन हजार छोटी बडी जातियाँ हैं। गुण तथा कर्तव्य के आधार पर समाज का चार प्रमुख भागों मे विभाजन ठीक था है और स्वाभाविक भी। विभाजन की किसी स्वाभाविक रेखा के बिना समाज को निश्चित समूहों मे बाँट देना ग़लत और नियम-विरुद्ध है। खत्रियों बनियों तथा कायस्थों, जाटों, गुजरों तथा त्यागियों, कोलियों तथा डोमों का विभाजन तर्कसंगत नहीं है और न जल्दी समझ म आने वाला है। हर पेशे की अलग जाति बना देना और लुहार, सुनार, बढ़ई, नाई, कसाई आदि का भिन्न-भिन्न जातियों में बाँट देना मूर्खता पूर्ण है। हिन्दू समाज म सघटन क अभाव का कारण जाति का इतने अधिक टुकड़ों में विभाजन ही है जिसका प्राचीन समय मे कोई अस्तित्व नहीं था। यह बताना बहुत कठिन है कि विभिन्न जातया और फिर उनमें भी उपजातियों की उत्पत्ति कैसे हुई।

तीसरे, सर एडवर्ड ब्लन्ट द्वारा दी हुई परिभाषा के अनुसार प्रत्येक जाति ऐसे लोगों का एक समूह है जो आपस ही में वैवाहिक सम्बन्ध आदि स्थापित करते हैं। इसका अर्थ यह है कि एक जाति का सदस्य अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकता— एक वैश्य को वैश्य से, ब्राह्मण को ब्राह्मण से, तथा एक कायस्थ को कायस्थ से ही विवाह करना पड़ेगा। यह व्यवस्था अन्तर्जातीय विवाह के विरुद्ध है। इस नियम का बड़ी कड़ाई से पालन होता है, आज भी अन्तर्जातीय विवाहों की सख्या बहुत थोडी है।

चौथे, एक सगठित तथा अविभाज्य जनसमूह को भी जाति की सज्ञा दी गई है। इसका अर्थ है कि एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों की अपेक्षा अपनी जाति के लोगों से अधिक मिलते हैं। एक वैश्य एक ब्राह्मण की बनिस्बत अपनी जाति के एक दूसरे व्यक्ति से अधिक सामान्य अनुभव करेगा। नियम, रीति रिवाज तथा आचार-विचार के कारण प्रत्येक जाति का अपना अपना ढग और नियम होता है और इसी कारण उनका अलग-अलग सघटन भी होता है।

अन्त म, सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र म प्रत्येक जाति के अपने सदस्यों पर कुछ बन्धन होते हैं। इन्हीं बन्धनों के अनुसार जाति के लोगों का खान-पान, वेश भूषा, शादी विवाह तथा जीवन के अन्य कार्य चलते हैं।

इस व्यवस्था की कुछ अन्य उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं जिनका ऊपर की परिभाषा मे समावेश नहीं है। प्रत्येक जाति अपनी तई एक जनतन्त्रात्मक सघटन है। जाति में भाईचारे का नाता है जिसमें सभी बराबर हैं, चाहे वे किसी भी स्थिति के

हो। व्यक्तिवाद तथा विदेशी शासन के अहितकर प्रभाव के कारण हिन्दू-समाज म ऊँचे स्तर के लोगों म समता तथा भाईचारे की इस भावना का लोप हो गया है, फिर भी, नीचे स्तर के लोगों में, जहाँ जाति-पंचायतें सभी सदस्यों को बराबर मानती हैं, यह भावना अब भी बाकी है। वैवाहिक भोज तथा अन्य अवसरों पर जाति के लोग बुलाये जाते हैं। बिरादरी के इस तथ्य म समानता की भावना आज भी बनी हुई है। प्रत्येक जाति म पारस्परिक सहानुभूति, सद्भाव तथा मेल जोल की भावना पायी जाती है। विवाह आदि के अवसरों पर बिरादरी के सभी सदस्य एक-दूसरे की सहायता करते हैं। विधवा, अनाथ और अन्य प्रकार के आश्रयहीन तथा अपंग लोग अक्सर जाति द्वारा सहायता प्राप्त करते हैं। कभी कभी जाति सभा योग्य विद्यार्थियों को छात्र वृत्ति इत्यादि भी देती है। पश्चिम में समाज या राज्य से जिन कर्त्तव्यों की आशा की जाती है वह अपने देश म जाति पूरा करती है।

आज की सामाजिक व्यवस्था का वर्णन करते समय प्राचीन व्यवस्था से उसके अन्तर के कुछ प्रमुख विचार रक्खे गये हैं। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मूलरूप में केवल चार ही जातियाँ थीं, जैसे विद्या की उपासना में लगे रहने वाले ब्राह्मण, बाहरी आक्रमणों से समाज की रक्षा करने वाले क्षत्रिय, आर्थिक क्षेत्र म प्रभुत्व रखने और धन उत्पन्न करने वाले वैश्य और अन्त म शूद्र जिनका मुख्य कर्त्तव्य था शेष तीन उच्च वर्णों की सेवा। इस प्रकार बुद्धि का प्रयोग करने वाले, लड़ने भिड़ने वाले, धन उत्पन्न करने वाले तथा हर समाज में पाये जाने वाले दासों या घरेलू सेवकों की अलग-अलग जातियाँ बन गई थीं। लेकिन आज हिन्दू समाज सैंकड़ों छोटे-छोटे टुकड़ों म बँट गया है। इन चार मूल जातियों का विभाजन गुण और स्वभाव की विशेषताओं के आधार पर हुआ था लेकिन आज गुण और जाति में बड़ा भेद है। इन भिन्नताओं में एक विचार और जोड़ा जा सकता है। पहिले, जाति द्वारा मनुष्य के कर्त्तव्यों का निश्चय होता था, उसके अधिकारों का नहीं। विद्या की उपासना करना ब्राह्मणों का कर्त्तव्य या धर्म था। उनके लिए धन या राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने की मनाही थी क्योंकि यह क्रम से वैश्यों तथा क्षत्रियों का कार्य था। उनका जीवन विनम्रता और आत्मसंयम का था और इस प्रकार वे जीवन के भौतिक सुखों और वैभवों से दूर रहते थे। इसी प्रकार अन्य वर्णों के कर्त्तव्य भी स्थिर हुए थे। जब तक प्रत्येक जाति अपने धर्म तथा कर्त्तव्यों का पालन करती रही, सब कुछ ठीक था और समाज समृद्धिशाली होता रहा। लेकिन जब ब्राह्मणों ने अपना कर्त्तव्य भुलाकर राजनैतिक शक्ति पानी चाही और सासारिक उन्नति करने की इच्छा की, क्षत्रिय अपना कर्त्तव्य भूलकर विद्या के कार्य में लग गये तथा वैश्य ब्राह्मणों के क्षेत्र में उतरने लगे, तभी से पतन प्रारम्भ हो गया। आज हिन्दू-समाज में हम जो बुराइयाँ देख रहे हैं वे जाति प्रथा के कारण नहीं बल्कि उस प्रथा की विकृति के कारण

पैदा हो गई हैं। इस समय वर्ण-व्यवस्था का केवल बाहरी ढाँचा रह गया है ; उसकी आत्मा तो समाप्त हो चुकी है।

इस व्यवस्था की एक और बुराई भी ध्यान देने योग्य है। प्राचीन काल में जाति व्यवस्था आश्रम धर्म नामक एक दूसरी व्यवस्था से सम्बन्धित थी, लेकिन आज वैसी चीज नहीं है। प्राचीन काल के लोगों ने चार वर्णों या जातियों की नहीं बल्कि पूरे वर्णाश्रम की व्यवस्था की थी। जीवन के चार आश्रमों म जाति केवल एक आश्रम के लिए थी। केवल गृहस्थ ही जाति-व्यवस्था के नियमों का पालन करते थे, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी की कोई जाति नहीं थी। आज जन्म से मृत्यु तक जाति बनी रहती है, इसी के अनुसार मनुष्य के भोजन, विवाह, पेशे, समाज में स्थान आदि सबका निर्णय होता है। यदि आज इस व्यवस्था ने अपनी उपयोगिता खो दी है और यह समाज का फोड़ा बन गया है तो इसका कारण इसका वही विकृत रूप है जिसे इसने अपने लम्बे जीवन में प्राप्त कर लिया है।

जाति-व्यवस्था के गुण— जाति-व्यवस्था को बुरा बताना तथा भारतीय राष्ट्र की अनेक बुराइयों के लिए इसी को दोषी ठहराना आज एक फैशन बन गया है। यदि यह इतनी ही बुरी चीज होती तो सदियों तक शायद जीवित न रहती और न अपने ऊपर विभिन्न समयों म हुए आघातों का ही सहन कर पाती। जाति ने विलक्षण जीवन शक्ति का परिचय दिया है, इसने उन जन-समूहों में भी प्रवेश करके अपना प्रभाव दिखाया है जिनमें इसका प्रचलन पहले नहीं था। इसलिए स्पष्ट है कि इसमें कुछ अच्छाइयाँ आवश्यक हैं।

आर्य जब पश्चिमोत्तर से भारत आये तो उन्हें देश के उन निवासियों से बड़ा संघर्ष करना पड़ा जिन्हें बाद में उन्होंने हराया। अफ्रीका की काली जातियों तथा आस्ट्रेलिया के निवासियों के साथ यूरोपवालों ने जिन तरीकों का अनुसरण किया उस प्रकार के तरीकों का प्रयोग करके हमारे पुरखों ने यहाँ के मूलनिवासियों को नहीं निकाला। उन्होंने अपनी समस्याओं के हल का दूसरा ही उपाय निकाला। उन्होंने अनार्यों को शूद्र वर्ग में परिणत कर दिया और उन्हें निम्न कार्य सौंप दिये। तीन उच्च वर्णों तथा शूद्रों के बीच के अन्तर का आधार कदाचित् व्यावहारिक ही है। देश के भीतर बाद में आने वाली नस्लों की अलग अलग जातियाँ बना दी गईं। बंगाल के राजवंशी और चांडाल, पंजाब और राजस्थान के जाट और मेव (Meos), उत्तर-प्रदेश के बुन्देल, बम्बई के माहर, मद्रास के नायर तथा देश के कुछ अन्य लोग भी बाहर से आने वाली नस्लों में से हैं जिनकी बाद म अलग-अलग जातियाँ बन गई थीं। हमारे पुरखों को बाहरी नस्लों के सम्बन्ध में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा।

इन समस्याओं में जाति-व्यवस्था का जन्म हुआ। समस्याओं के हल करने का ऐसा ढङ्ग उन सभी तरीकों से अच्छा है जिनका विभिन्न देशों के लोगों ने प्रयोग किया है।*

ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों के बीच भेद की उत्पत्ति दूसरी चीज है और उसका अर्थ भी दूसरा है। इसका आधार कदाचित् श्रम का विभाजन है जो आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त सुविधाजनक होता है। प्राचीन आदर्शों तथा धार्मिक परम्परा की रक्षा, सर्वोच्च सत्ता के विषय में सत्य की खोज और उसका प्रचार करने के लिए ब्राह्मण, शासन को कर्तव्य मान कर समाज की रक्षा के लिए क्षत्रिय, धन उत्पन्न करने तथा उसका वितरण करने के लिए वैश्य और अन्त में, निम्न कार्यों के सम्पादन के लिए शूद्र वर्ण की व्यवस्था कर देने से अधिक स्वाभाविक और क्या चीज हो सकती थी। श्रम का ऐसा विभाजन करने से समाज का सघटन अच्छी प्रकार होता है। इसी सिद्धान्त के कार्यरूप में परिणत होने के कारण कदाचित् विभिन्न पेशेवर जातियों की उत्पत्ति हुई। जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का यदि यह विवरण मान्य न भी हो तो भी यह सत्य है कि इस व्यवस्था से आर्थिक क्षेत्र में बड़ी सरलता होती है। किसी भी जाति या परिवार में किसी भी पेशे के परम्परागत बनने से, अनुकूल पारिवारिक वातावरण तथा पिता के स्नेह पूर्ण निरीक्षण में रह कर बच्चे उस पेशे में कुशलता तथा चतुरता आसानी से प्राप्त कर लेते हैं। यही कारण है कि प्राचीन पेशों तथा धन्धों में लगे रहने वाले लोग बड़े ही आश्चर्यजनक हस्त-कौशल का परिचय देते हैं। जाति व्यवस्था ही बहुत सीमा तक भारतीय दस्तकारों द्वारा बनाई वस्तुओं के शताब्दियों तक यूरोप में आदर पाने का कारण रही।

हमारे समाज में जाति-व्यवस्था का एक और अच्छा प्रभाव पड़ा है। इसने लोगों को अपने परम्परागत पेशों से सन्तुष्ट रक्खा है और कोई पेशा चुनने के लिए व्यर्थ की माथा-पच्ची से उन्हें बचाया है। खुली प्रतियोगिता (Free Competition) से उत्पन्न हुई बुराइयाँ पश्चिमी आर्थिक व्यवस्था में स्पष्ट दृष्टिगत हैं और इसी कारण वहाँ समाजवाद तथा कम्यूनिज्म की उत्पत्ति हुई। भारत में अभी हाल तक हम इन बुराइयों से अछूते थे। जाति-व्यवस्था का भारतीय जनता को यह कोई कम महत्व की देन नहीं है।

जाति-व्यवस्था ने ही हिन्दू समाज को इस्लाम के आक्रमणों से बचाया और उसे एकदम समाप्त हो जाने से बचा लिया। इसने ही हिन्दुओं में वह सघटन दिया जिसने समूची जनता को मुसलमान बनने से बचा लिया। फारस, अफगानिस्तान,

---

* 'अलग अलग सांस्कृतिक स्तरों की विभिन्न नस्लों के लोगों को एक ही समाज में सङ्गठित करने वाले ढङ्ग को सचमुच बड़ी सफलता मिली और इसका अत्यन्त सुन्दर परिणाम यह हुआ कि देश आपस में लड़ने वाली विभिन्न नस्लों के कारण अनेक टुकड़ों में विभाजित होने से बच गया।' —रमन इण्डिया, पृष्ठ २७।

मिस्र, सीरिया आदि इस्लाम के बढ़ते तूफान में समाप्त हो जाने वाले देशों के पास रक्षा तथा बचाव के लिए ऐसी कोई संस्था न थी। विभिन्न जातियों के लोग व्यक्तिगत रूप से कोई धर्म भले ही स्वीकार कर लें किन्तु इरादा करके सारी की सारी जाति का धर्म-परिवर्तन करने का प्रयत्न जाति की दृढ़ता के मारे असम्भव हो जाता है। इस बुरी तथा एकदम बेकार बताई जाने वाली व्यवस्था के प्रति हिन्दू बड़े ही कृतज्ञ हैं। आलोचक यह भूल जाते हैं कि इस व्यवस्था में पारस्परिक सद्भाव को प्रश्रय मिलता है तथा आपस में एक समानता के भाव की रक्षा होती है।

जाति-व्यवस्था के दुर्गुण— जाति-व्यवस्था ने हिन्दू-समाज को जहाँ बड़े लाभ पहुँचाये हैं वहीं उससे उत्पन्न हानियों ने उसके लाभों को फीका कर दिया है। इसने हमें जो सबसे बड़ी हानि पहुँचाई है वह है हमारी सर्वग्राही राष्ट्रीयता का सर्वनाश। इसी के कारण सामाजिक तथा राजनैतिक विरोधों का सूत्रपात हुआ और इसी लिए हिन्दू और भारतीय राष्ट्र कमजोर हो गये। इसने सामाजिक चेतना को बड़ा धक्का पहुँचाया है। और इसी लिए मुसलमानों में एकता तथा पारस्परिक संगठन की जो भावना है वह हिन्दुओं में नहीं है।

हमारे सामाजिक जीवन में जो पृथक्त्व है उसकी जिम्मेदार यही व्यवस्था है। एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों में न विवाह करते हैं और न खान पान का सम्बन्ध ही रखते हैं। विभिन्न जातियों के रस्म रिवाजों तथा आचार व्यवहार में बड़ा अन्तर रहता है। परिणाम यह होता है कि किसी भी बाहरी निरीक्षक की दृष्टि में भारत एक राष्ट्र नहीं बल्कि विभिन्न जातियों का समूह मात्र दिखाई देता है। इस प्रकार जाति व्यवस्था द्वारा उत्पन्न विभिन्नता संस्कृति की भीतरी एकता पर परदा डाल देती है।

यदि एक ओर इस व्यवस्था ने लोगों को एक दूसरे से मिलाया है तो दूसरी ओर इसने सामाजिक उन्नति में भयंकर रोड़ा भी अटकाया है। इसी के कारण लोग संकीर्ण विचार के, परिवर्तन के विरोधी तथा पुरानी लकीर के फकीर बन गये हैं। विचारों की यह संकीर्णता विशेषकर सामाजिक धार्मिक मामलों में देखी जाती है। किसी भी व्यक्ति के लिए अपनी विधवा लड़की का पुनर्विवाह, या प्रौढ़ता आने तक लड़की का विवाह रोक रखना सरल नहीं है। हर्ष की बात है कि इस विशेष क्षेत्र में रिवाज की कठोरता समाप्त हो रही है। फिर भी, यह सत्य है कि सामाजिक सुधार के रास्ते में जाति अभिशाप बनी हुई है।

इस व्यवस्था ने और भी कई तरह हिन्दू जाति को कमजोर बनाया है। इस्लाम या ईसाई धर्म की तरह हिन्दू धर्म धर्म-परिवर्तन कराने वाला धर्म नहीं है, हालाँकि इसमें आने के लिए मार्ग सबके लिए खुला है। जाति-व्यवस्था के ही कारण हिन्दू धर्म के लिए अपने धर्म में आये लोगों को मिलाना और उन्हें पचाना

कठिन हो जाता है। हिन्दू धर्म मे ऐसी कोई जाति नहीं है जिसमे ऐसे लोग मिला दिये जायँ। और, बिना किसी जाति मे मिलाये वे इसके सदस्य के रूप में कार्य नहीं कर सकते। आर्य-समाज मे भा, जा हिन्दुत्व का लड़ाका भाग है और जिसमें लोगों को अपने धर्म मे मिलाने की भी विशेषता है, यह कमी है। इसके अतिरिक्त विवाहादि के मामले में जाति का बन्धन लग जाने से राष्ट्र की सजीवता का बड़ा धक्का लगा है और दहेज देने की बुरी प्रथा का जन्म हुआ है। यदि एक जाति में पुरुष अधिक हैं और स्त्री कम या स्त्रियाँ अधिक हैं और पुरुष कम, तो एक दूसरे में विवाह करके आपस की कमी पूरी करना असम्भव हो गया है। इसी के कारण कुछ ऊँची जातियाँ शारीरिक श्रम और कुछ पेशों के करने में अपनी मान हानि समझती हैं और इस प्रकार उनकी आर्थिक उन्नति रुक जाती है।

जाति-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह— इसकी बहुत सा बुराइयों का कारण यह है कि अतीत काल मे इसके पाछे जो भावना था वह आज नहीं है। आज जाति व्यवस्था एक तमाशा बन गई है। इसलिए, यदि इसके विरुद्ध विद्रोह हुए हैं तो आश्चर्य की बात नहीं है। यह विद्रोह अधिकतर उन पढे लिखे लोगों द्वारा प्रारम्भ हुआ है जो पश्चिमी विचारों, भावों तथा वहाँ के आदर्शों से प्रभावित हुए हैं। ऐसे लोगों के ऊपर जाति व्यवस्था का प्रभाव कम होता जा रहा है जैसा कि नीचे लिखी बातों से स्पष्ट होगा :—

(१) बीते जमाने के किसी भी समय से अधिक आज अन्तर्जातीय विवाह हो रहे हैं। हालाँकि उनकी संख्या अभी बहुत कम है। 'जात-पाँत-तोड़क-मण्डल' नाम की एक संस्था जाति-व्यवस्था के विरुद्ध बड़ा जोरदार प्रचार करती रही है और उसने कई अन्तर्जातीय विवाह भी कराये हैं।

(२) खुले या छिपे रूप से खान-पान का भी बन्धन तोड़ा जा रहा है, लेकिन यह चीज अभी बहुत कम है। पढे लिखे व्यक्ति दूसरी जाति के साथ खाना खाने म कोई हिचक नहीं मानते और न नीची जाति के किसी आदमी द्वारा बनाया खाना खाने में ही उन्हें कोई आपत्ति होती है विशेष अवसरों पर अन्तर्जातीय खान-पान भी चलता है।

(३) भोजन, वस्त्र, यात्रा इत्यादि पर बन्धन ढीले पड़ते जा रहे हैं।

(४) एक या दो पीढ़ी पहिले पेशे तथा जाति के बारे में जितना संकोच था उतना अब नहीं है। अब पुत्र को पिता का ही पेशा अपनाने की आवश्यकता नहीं है; वह अक्सर नये नये क्षेत्र ढूढ़ता है।

(५) देश के कुछ भागों में 'नीची' जातियाँ अपनी उस नीची स्थिति के विरुद्ध विद्रोह करना प्रारम्भ कर रही हैं जिसे जाति-व्यवस्था ने दृढ़ कर दिया था। वे

ऊँची जातियों के साथ बराबरी का दावा करने लगी हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे ऊँची जातियों के सामाजिक रस्म-रिवाजों को भी अपनाने लगी हैं। पुराने नामों को बदल कर अब वे विभिन्न सम्बोधनों के साथ नये नये नाम भी रखने लगी हैं।

यह कहा जा सकता है कि बड़े शहरों तथा बड़ी जातियों मे अब जाति व्यवस्था खत्म हो रही है। गाँवों तथा 'नीची' जातियों मे अब भी इसका बड़ा जोर है। इसका कारण यह है कि शहरों मे रहने वाला पढ़ा-लिखा वर्ग पश्चिम के प्रभाव में आ गया है लेकिन गाँव मे अब भी निरक्षरता फैली हुई है और लोगों पर बाहरी दुनिया का अभी बहुत कम प्रभाव पड़ा है।

जाति व्यवस्था की सजीवता— जाति-व्यवस्था के विरुद्ध जो आघात हो रहे हैं वे नये जमाने में अब भी बहुत कमजोर हैं और उनका दायरा सीमित है। भविष्य में जाति का क्या स्वरूप होगा यह कहना कठिन है। इस व्यवस्था ने विचित्र जीवन शक्ति का परिचय दिया है। अतीत मे समय-समय पर हुए अपने ऊपर आक्रमणों को इस ने सफलतापूर्वक झेला है। गौतम बुद्ध ने इस व्यवस्था पर सबसे पहला आक्रमण किया था। उनके बहुत बाद कबीर तथा नानक जैसे साधुओं ने इसके विरुद्ध आवाज बुलन्द की। पिछली शताब्दी में ब्रह्म-समाज, प्रार्थना समाज तथा आर्य-समाज ने इसे निस्सार बताया। इस्लाम और ईसाई धर्म तो पूरे के पूरे इसके विरुद्ध हैं ही। इन आक्रमणों के होते हुए भी जाति अब भी जीवित है। यह सुधारवादी मतो में भी घुस गई है; यहाँ तक कि इस्लाम तथा ईसाई-धर्म भी अप्रभावित नहीं रह सके हैं। इन धर्मों में दीक्षित होने वाले हिन्दू अपने साथ जातीय विभेद भ लेते गये। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय चरित्र तथा बुद्धि मे जाति इतनी गहरी जम गई है कि फ्रान्स की क्रान्ति तथा अभी हाल में हुई रूसी क्रान्ति का प्रभाव भी इसे भारतीय भूमि से निकाल फेंकने मे सफल नहीं हो सका है।

जो लोग मानव-स्वभाव को समझते हैं उन्हें यह प्रतीत होगा कि जाति-व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकना असम्भव है। जो सम्भव है और जिसके लिए हमें प्रयत्नशील होना चाहिए वह है जाति व्यवस्था मे सुधार; उसका समूल विनाश नहीं। जो कुछ भी तर्क के विरुद्ध है, उसे छोड़ देना चाहिए, जो मानव-स्वभाव के अनुकूल है, उसे बचाना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि जहाँ कहीं भी कुछ आदमी समूहों में रहने लगेंगे वहीं किसी न-किसी प्रकार का 'जातीय' भेद-भाव उत्पन्न हो जायगा। इस प्रकार का भेद कहीं भी उत्पन्न हो सकता है। प्लेटो ने, जो संसार के बड़े से बड़े विद्वानों में हुआ है, अपने आदर्श समाज को चार भागों में बाँटा। उसका बँटवारा प्राचीन हिन्दू जाति-व्यवस्था के ही अनुरूप

है। हमें बुराइयों से बचते हुए चार वर्णों में बँटा हुई जाति व्यवस्था को उसके मूलरूप में स्वीकार करना चाहिए। जाति का आधार गुण और कर्म होना चाहिए, केवल परम्परा नहीं, जैसा कि वर्तमान व्यवस्था में है। हम जाति व्यवस्था के विरोधियों से यह पूछना चाहेंगे कि वे इसके स्थान की पूर्ति क्याकर करेंगे और अपने नये समाज को वह किस सिद्धान्त पर सगठित करेंगे। जब तक समाज सगठन की नई योजना हमारे सामने नहीं आ जातीं तब तक हम इस व्यवस्था को एकदम मिटा देने का अनुरोध नहीं स्वीकार कर सकते।

जातीय पचायतें— जाति-व्यवस्था के एक अप्रिय लक्षण 'छूआछूत' के निरीक्षण से पहले इसके एक महत्वपूर्ण अङ्ग 'जातीय पचायतों' पर प्रकाश डाल देना समीचीन होगा। जातीय अनुशासन तथा उसके नियमों-उपनियमों के लागू करने के ये ही कुछ परम्परागत तरीके हैं। एक जाति के सभी मामले जाति की पचायत के सामने पेश किए जाते थे और इसी के द्वारा उनका फैसला होता था। पचायत अपराधी पर जुर्माना कर सकती थी और उसे बिरादरी से भी निकाल सकती थी; वह किसी विवाह को अनुपयुक्त ठहरा सकती थी या किसी स्त्री को पुनर्विवाह की आज्ञा दे सकती थी। अंग्रेजी न्याय-व्यवस्था के विकास ने इस, किसी समय प्रमुख तथा लाभदायक, सस्था को बडा धक्का पहुँचाया। पाश्चात्य विचारों का भी इस पर बडा बुरा प्रभाव पडा। ऊँची जातियों के पढे लिखे सदस्यों द्वारा तो आजकल जाति पचायतों का निर्णय बहुत कम स्वीकार किया जाता है। सामाजिक तथा व्यक्तिगत मामलों में वे आत्म निर्णय के अधिकार का प्रयोग करते हैं। खान-पान, पेशे तथा सामाजिक सम्बन्धों के मामले में वे जातीय नियमों का खुल्लमखुल्ला उल्लङ्घन करते हैं। किन्तु 'नीची' जातियों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में जातीय पचायत अब भी जोर रखती है।

छूआछूत

इसकी प्रकृति— छूआछूत की व्यवस्था भी जिसके लिए हिन्दू-धर्म की टीका आलोचना की जाती है, लगभग उतनी ही पुरानी है जितनी जाति-व्यवस्था। जाति-व्यवस्था के प्रमुख चार वर्णों, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, को छोडकर देश के विभिन्न भागों में विभिन्न नामों सहित अनेक छोटी छोटी जातियाँ हैं जो सामूहिक रूप से 'अछूत' या 'जाति-बाहर' मानी जाती हैं। पजाब और उत्तर-प्रदेश में उन्हें भगी, चमार, कोली तथा डोम, बगाल में नामशूद्र, महाराष्ट्र में महार, मैसूर में वोक्कलिग तथा मलाबार में थिया (Thiyya) कहते हैं। अछूतों को कभी-कभी, किन्तु गलती से, दलित वर्ग भी कहते हैं क्योंकि इस शब्द का अर्थ विस्तृत है और उसमें वे वर्ग भी आ जाते हैं जो अछूत नहीं हैं, जैसे खटिक। दलित वर्ग की अनुमानित जन-सख्या भारत की कुल जन-सख्या की २० % है। महात्मा गाँधी उन्हें 'हरिजन' कहना अधिक पसन्द करते थे, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'ईश्वर के बन्दे'।

'अछूत' से स्पर्श किया हुआ कोई भी व्यक्ति या वस्तु गन्दी समझी जाने लगती है, इसी लिए उन्हें अछूत कहा जाता है। एक सवर्ण हिन्दू किसी अछूत का छुआ भोजन या पानी नहीं लेगा और उससे स्पर्श किये जाने पर उसे स्वयं नहाना पड़ेगा या पवित्र होने के लिए कुछ कृत्य करना पड़ेगा। दक्षिण भारत में छूआछूत का अर्थ 'निकट न आना' तक हो गया है। वहाँ ऐसी जातियाँ हैं जो सवर्णों की दृष्टि में वातावरण तक को गन्दा कर देती हैं, यानी उनकी उपस्थिति कुछ दूर तक वायु को भी दूषित कर देती है, इसलिए वे किसी सवर्ण हिन्दू के समीप निश्चित दूरी तक ही आ सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह दूरी सभी अछूत वर्गों के लिए एक सी नहीं है। कुछ ऐसे भी वर्ग हैं जिनकी केवल छाया उस वस्तु को दूषित कर देगी जिस पर वह पड़ती है। कुछ हरिजन किसी उच्च वर्ण के हिन्दू के ६० फीट की सीमा के अन्दर नहीं आ सकते। मद्रास के तिनेवली जिले में एक ऐसा भी वर्ग है जिसके सदस्यों को दिन में बाहर निकलने की आज्ञा ही नहीं है, वे अपने घर से केवल रात में ही बाहर निकल सकते हैं। वे इतने नीच समझे जाते हैं कि उनकी छाया या स्पर्श की तो बात ही क्या, उनका दिखाई पड़ जाना भी निषिद्ध माना जाता है। इस प्रकार उन्हें छूना या उनके निकट जाना ही नहीं मना है, बल्कि उन्हें देखना भी मना है। उत्तर भारत में ऐसी भीषणता नहीं है। ऐसी भयंकर छूआछूत दक्षिणी भारत तक ही सीमित है। दूसरी दृष्टियों से भी छूआछूत उत्तर भारत में उतनी बीहड़ नहीं है जितनी दक्षिण भारत में। इस्लाम के प्रभाव का भी इस अन्तर से कदाचित् कुछ सम्बन्ध है।

अछूतों की असमर्थताएँ— अछूतों का जीवन कठिन है। उन्हें जीवन में हीनता, दासता, मानसिक तथा नैतिक असमर्थता ही भोगनी है। जिसे वे बड़ा समझते हैं उसके सामने उनका जैसा व्यवहार होता है उसे देखकर यह प्रतीत होगा कि उनमें मनुष्योचित गौरव तथा आत्मसम्मान की भावना है ही नहीं और उन्होंने अपने को मनुष्यतर प्राणियों की श्रेणी में उतार दिया है। उनकी दयनीय दशा तथा पतन की गहराई का अनुमान नीचे दिये हुए दीनबन्धु एण्ड्रूज तथा महात्मा गांधी के व्यक्तिगत अनुभवों से किया जा सकता है :—

(1) 'मुझे स्मरण है कि जब मैं मलाबार में एक दीना अछूत स्त्री के पास गया तो मैंने देखा कि अपनी गोद में एक 'कंकाल' बच्चे को लिये वह अपने दूसरे मरभुखे बच्चों के साथ अपनी झोंपड़ी में सिमटी पड़ी थी। मुझे देखते ही वह डरावने स्वर में चिल्ला उठी, हालाँकि मैं भारतीय था, खादी पहने था और मुझे कोई अफसर समझने की गुंजाइश नहीं थी। वह इस भय से आक्रान्त थी कि मैं उसकी उपस्थिति से अपवित्र हो जाऊँगा और नाराज होकर इसके बदले में उसे सजा दूँगा। मैंने जब उसका भय से अभिभूत चेहरा देखा तो मुझे ऐसा धक्का लगा कि बहुत दिनों तक मुझे उसका वह रूप न भूला।'*

* Mahatma Gandhiji's Ideas by C F Andrews, page 104

(२) 'सब से अधिक निकट रेलवे स्टेशन के इकत्तीस मील की दूरी पर गोसपुर में बैठा जब मैं दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज से बातें कर रहा था, तो अपनी आधी झुकी कमर में केवल एक गन्दा चिथड़ा लपेटे एक अछूत हम लोगों के सामने झुका और दूसरी ओर उसने एक तिनका उठा कर अपने मुँह में रख लिया और दोनों हाथों को फैलाकर वह लेट गया। इसके बाद वह उठा; उसने हाथ जोड़े, तिनका मुँह के बाहर निकाला, उसे अपने बालों में लगाया और फिर जाने लगा।' मुँह में तिनका रखने का कारण पूछने पर उसने उत्तर दिया कि यह केवल 'महात्मा' का आदर करने के लिए किया गया था। महात्मा जी का सिर शर्म से नीचे झुक गया। 'इस आदर का मूल्य इतना अधिक था कि उसे बर्दाश्त करना मेरे लिए कठिन हो गया मेरी हिन्दू आत्मा को गहरी चोट पहुँची।'*

सवर्ण हिन्दुओं की कुछ ऐसी मान्यताएँ तथा रस्म-रिवाज हैं जिन्होंने अछूतों को उनकी इस दयनीय तथा दुःखभरी स्थिति तक पहुँचा दिया है। हम उन्हें अपने मन्दिरों में प्रवेश नहीं करने देते और न उनकी धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति का हमने कोई प्रबन्ध ही किया है। हमने उनकी रहने की जगह को अपनी बस्ती से दूर कर दिया है। यही नहीं, हम उनके बच्चों को अपने स्कूलों तक में नहीं घुसने देते। इस तरह तथा अन्य कई रूपों में वे धर्म के उस प्रभाव से दूर रखे जाते हैं जो मनुष्य को सभ्य बनाता है। उच्च वर्णों के निकट सम्पर्क में आने का उन्हें अवसर ही नहीं मिलता। जूठन उठाने के रिवाज तथा मरे जानवरों का माँस खाने की आदत के कारण उनकी दशा और भी दयनीय हो गई है। उनकी गरीबी भी वर्णन के परे है। उनकी गरीबी का सबसे बड़ा कारण यह है कि वे सबसे नीचे तथा सबसे कम आमदनी के पेशों में सीमित कर दिये गये हैं। निरक्षरता तथा अन्ध-विश्वास भी उनको पीस डालने वाली गरीबी के कारण हैं। जिस दशा में रहने के लिए वे बाध्य किये गये हैं उसके विशद चित्रण के लिए उनकी विविध असमर्थताओं का निर्देश आवश्यक है। ये असमर्थताएँ निम्नलिखित चार भागों में विभाजित की जा सकती हैं: सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक।

सामाजिक असमर्थताएँ— अछूतों की सामाजिक असमर्थताएँ अनेक तथा कई प्रकार की हैं। उनमें से कुछ का जिक्र हो चुका है, जैसे, उनके रहने के स्थान ऊँची जातियों की बस्तियों से एकदम अलग हैं। उनके निवास-स्थान गन्दे होते हैं और वहाँ पानी तथा रोशनी का भी कोई उचित प्रबन्ध नहीं रहता। उनके स्पर्श से आदमी तथा वस्तुएँ अपवित्र हो जाती हैं, इस मान्यता के कारण उनकी सामाजिक

---

* पृष्ठ ३० पर लिखी पुस्तक से उद्धृत।

असमर्थता बहुत बढ़ जाती है और इसका बड़ा भयंकर प्रभाव पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि वे सवर्ण हिन्दुओं के कुआ से पानी नहीं ले सकते, तालाबों में नहा नहीं सकते और अपने बच्चों को स्कूलों में अन्य बच्चों के साथ शिक्षा के लिए भेज नहीं सकते। शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ जहाँ थोड़ी और सीमित हों उस देश में इस अन्याय की कल्पना सहज ही में की जा सकती है। उनके निरक्षर तथा मूर्ख बने रहने का यह सबसे बड़ा कारण है। अनेक जगहों में गाँवों में उन्हें विवाह के अवसर पर अपने वर-वधू को पालकी में ले जाने की आज्ञा नहीं है, उनकी औरतों को सोने चादी के गहनों का प्रयोग करने की तथा पुरुषों को कमर से ऊपर वस्त्र पहनने की आज्ञा नहीं है। वे बेगार के लिए भी मजबूर किये जाते हैं। दक्षिण भारत के कुछ भागों में तो उन्हें कुछ सड़कों पर चलने तक की आज्ञा नहीं है। मद्रास राज्य के एक जिले में कलारों ने कुछ ऐसी आज्ञायें निकाल दी थीं और उनका पालन अछूतों के लिए आवश्यक कर दिया गया था। इन आज्ञाओं में यह भी था कि धूप या वर्षा से बचने के लिए वे छाते का प्रयोग न करें और न खाना बनाने के लिए वे मिट्टी के बर्तनों को छोड़कर अन्य बर्तनों का प्रयोग ही करें। ये आज्ञायें १९३०-३१ में निकाली गयी थीं।

धार्मिक असमर्थताएँ— इनके अनुसार अछूतों को धार्मिक पुस्तकें पढ़ने तथा मन्दिरों में घुसने की आज्ञा नहीं है। वे जनेऊ पहनने के भी अधिकारी नहीं हैं। इससे भी बुरी बात तो यह है कि हिन्दू समाज ने उनकी धार्मिक शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया है और उनकी आध्यात्मिक दशा की देख-भाल करने के लिए शिक्षक भी नियुक्त नहीं हैं। ईश्वर के इन उपेक्षित तथा परित्यक्त बच्चों की खोज-खबर केवल सन्यासियों ने ली है। उनके पतन में धार्मिक असमर्थताओं का कुछ कम हाथ नहीं है। किसी भी अन्य धर्म में इनकी बराबरी की चीज देखने को नहीं मिलेगी। अछूतों को मनुष्य के मूल अधिकारों से भी वञ्चित रक्खा गया है।

आर्थिक असमर्थताएँ— आर्थिक दृष्टि से भी अछूत सबसे गन्दे तथा सबसे कम लाभ वाले पेशे करने के लिए बाध्य किये गये हैं जैसे झाड़ू देना तथा चमड़ा साफ करना आदि। गाँवों में उनके पास अपनी भूमि नहीं रहती और भूमि के मालिकों द्वारा वे बहुत कम मजदूरी पर खेत में काम करने के लिए नौकर रख लिये जाते हैं। इस प्रकार वे सबसे नीची आर्थिक सतह पर हैं। उन्हें अधिकतर अन्य पेशों के करने की आज्ञा भी नहीं है और इस तरफ उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ और भी भीषण बन गई हैं।

राजनैतिक असमर्थताएँ— क्या इन भीषण बन्धनों के बीच रहने वाले किसी आदमी से राजनैतिक जीवन में हाथ बटाने की आशा की जा सकती है? पहिले अछूत के लिए ग्राम पचायत में कोई जगह न था राज्य में भी वह कोई पद नहीं

प्राप्त कर सकता था। प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं की स्थापना के पूर्व सदियों तक वोट देने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था।

ऊपर दिये हुए विवेचन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अछूत लोग मानव जाति के सबसे अधिक सताये जाने वाले लोगों में हैं और सवर्ण हिन्दू मनुष्यों में सबसे अधिक क्रूर तथा हृदयहीन व्यक्ति हैं। परन्तु कुछ ऐसी बातें हैं जो अछूतों की मुसीबतों तथा परेशानियों को कुछ कम कर देती हैं और यह भी प्रदर्शित करती हैं कि सवर्ण हिन्दू उतना हृदयहीन नहीं है जितना वह समझा जा सकता है। यदि अछूतों की गन्दी आदतों के कारण वे उन्हें अपने कुओं से पानी नहीं भरने देते थे तो वे पानी के लिए एक ऐसा हौज भी रखते थे जिसमें से नीची जातियाँ आवश्यकता के अनुसार पानी ले सकती थीं। यदि परम्परा से अछूत गन्दे पेशे करने के लिए ही बाध्य रहे तो उन्हें कुछ ऐसे अधिकार भी थे जिन्हें कोई छीन नहीं सकता था। खेत कटने के अवसर पर आटा दने वाले को अनाज का अपना भाग मिलता था और त्यौहारों के अवसर पर सभी नाच काम करने वालों को भोजन कराया जाता था। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवस्था को ठीक बतलाने के लिए यह सब कहा जा रहा है। तात्पर्य केवल यह है कि अपनी सेवाओं के बदले अछूतों को समाज ने कुछ न कुछ अधिकार भी दे रक्खे थे। यह दिखाना भी उचित होगा कि कुछ ऐसे धार्मिक कृत्य हैं जिनका सम्पादन या कभी-कभी प्रारम्भ भी नीची जाति के किसी व्यक्ति की अनुपस्थिति में नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत के कई भागों में किसी सवर्ण हिन्दू का शव तब तक नहीं जलाया जा सकता जब तक नीच जाति के किसी व्यक्ति द्वारा कभी लकड़ी उपलब्ध न हो जाय। इसी तरह बिना किसी अछूत के अर्घ्य दिए कुछ देवताओं को अर्पण या अर्घ्य नहीं दिया जा सकता।*

अस्पृश्यता-निवारण के आन्दोलन— हिंदुत्व के धवल नाम पर अस्पृश्यता सबसे बड़ा कलंक है। ईश्वर तथा मानवता के विरुद्ध यह पाप है। समाज का एक अंग इतना अधिक दबा दिया गया है कि उसके शरीर का स्पर्श ही अपवित्र बना देता है जिससे छुटकारा पाने के लिये स्नान की आवश्यकता पड़ती है मानवता के विरुद्ध इससे भी बड़ा पाप हो सकता है? धर्म के नाम पर इस व्यवस्था से चिपके रहना ईश्वर के विरुद्ध पाप है। इस पाप के लिए हिंदू भरपूर भोग चुके हैं। महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा था कि 'अस्पृश्यता के पाप के लिए क्या हम भोग नहीं चुके हैं? क्या जैसा हम लोगों ने बोया है वैसा काटा नहीं है? क्या हम लोगों ने डायर तथा ओडायर की नृशंसता अपने ही भाइयों के साथ नहीं दिखाई है? हम लोगों ने अछूतों को अलग कर रक्खा है और इसके बदले हम लोग ब्रिटिश उपनिवेशों में अलग कर

* अन्य उदाहरणों के लिए देखिए डाक्टर कुर्री घानन की 'सिविलाइज़ेशन एण्ड वे', अध्याय ५।

दिये गये हैं। हम उन्हें जनता के कुओं का उपभोग नहीं करने देते, हम उन्हें खाने के लिए अपना जूठन देते हैं। उनकी परछाई तक हमें अपवित्र कर देती है। यदि अछूत हमारे प्रति ऐसी अप्रिय भाषा का प्रयोग करते हैं जैसी हम अंग्रेजों के प्रति, तो इसमें आश्चर्य क्या है?* यह एक आशाप्रद लक्षण है कि अपने एक अंग के प्रति की गई गलता की भीषणता हिन्दू समाज समझने लगा है और इस भयानक फोड़े से अपनी रक्षा करने के लिए वह उत्सुक हो गया है। इसके निवारण का आन्दोलन तो अभी हाल ही में शुरू हुआ है। हिन्दुओं की सामाजिक तथा धार्मिक आत्मा इसे बहुत समय तक ईश्वर प्रदत्त विधान मानती रही। नीचता तथा पतन का जीवन बिताने के लिये भारतीय मानवता के एक अंश को लगातार बाध्य करते जाना बुरा नहीं समझा जाता था। ऐसा जीवन पूर्व जन्म में किये पापों का उपयुक्त दंड समझा जाता था। अछूत भी अपने साथ किये गये व्यवहार से सन्तुष्ट रहते थे गोया वे इससे अच्छे व्यवहार के अधिकारी ही नहीं थे। लेकिन यह सब अब बदल गया है। हिन्दू समाज अतीत में किये गये अपने बुरे कर्मों के प्रायश्चित्त में लगा हुआ है और अछूत अपना जीवन-स्तर तथा समाज में स्थान बढ़ाने में लग गया है।

यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इन दलित वर्गों के उत्थान का सक्रिय प्रयत्न ईसाई पादरियों ने किया जिन्होंने इनके बीच कार्य करके इन्हें हजारों की संख्या में अपने धर्म में दीक्षित कर लिया। ईसाई धर्म में दीक्षित इन व्यक्तियों ने अपनी गन्दी आदतें छोड़ दीं, उन्हें एक नया सम्मान मिला और वे ईसाई समाज के सभ्य सदस्य बन गये। इस दृष्टांत ने समझदार हिन्दुओं की निद्रा भंग की और अपने पददलित भाइयों की ओर उनकी कर्त्तव्य बुद्धि जाग्रत की। आर्य-समाज ने इनके उत्थान का बीड़ा उठाया और शुद्ध करने के कुछ धार्मिक कृत्यों के पश्चात् उन्हें अपने समाज में ले लेना प्रारम्भ कर दिया। बंगाल में ब्रह्म-समाज ने भी उनका जीवन स्तर ऊँचा करने के लिए बहुत प्रयत्न किया। कई हिन्दू समाज-सुधारकों ने अछूतों की आर्थिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति के लिए 'दलित वर्ग मिशन' स्थापित किये। १९०३ में स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले की एक वक्तृता में लोगों को इस बदले दृष्टिकोण का परिचय मिला था। अपनी इस वक्तृता में उन्होंने छूआछूत की इस व्यवस्था की भर्त्सना की थी और कहा था— 'यह व्यवहार कितना मूर्खतापूर्ण है कि जब तक अछूत हमारे धर्म में रहते हैं, हम उन्हें अपने घरों में नहीं आने देते और न उन्हें अपने में मिलने जुलने देते हैं लेकिन जब वे हमारा धर्म छोड़ कर हैट कोट पैन्ट पहन कर ईसाई बन जाते हैं, तो हम उनसे हाथ मिलाते हैं और उनका आदर करते हैं?' लेकिन हिन्दू समाज बहुत दिनों तक इस आन्दोलन को उपेक्षा की दृष्टि से देखता रहा। कई जगहों में तो कट्टर हिन्दुओं ने इसका सक्रिय विरोध

* 'यंग इण्डिया' जनवरी १९, १९२१।

लिया। विरोध की गहराई इस बात से आँकी जा सकती है कि १६१० में जनगणना के समय यह प्रस्ताव रक्खा गया कि अछूतों को हिन्दुओं के साथ नहीं गिनना चाहिए

महात्मा गाधी के नेतृत्व में अखिल भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने छूआछूत के निवारण को अपने कार्य-क्रम का एक प्रमुख अङ्ग बनाया। इससे हवा बहुत कुछ बदली। कई बार भाषण करते समय गाधी जी ने यह घोषित किया था कि भारतीयों की राजनैतिक हीनता उनके छूआछूत रूपी पाप का ही परिणाम है और इसी लिए वे अग्रेजी साम्राज्य मे 'जाति-बाहर' सदृश हो गये हैं। उन्होंने लोगों के सामने अपना यह विश्वास अक्सर प्रदर्शित किया था कि जब तक छूआछूत की बला लोगों के बीच से नहीं हट जाती तब तक स्वराज असम्भव है। उनके शब्द हैं कि 'जब हिन्दू जानबूझ कर सच्चे हृदय से, नीति के रूप मे नहीं बल्कि आत्म शुद्धि की भावना से, छूआछूत का विचार त्याग देंगे, तो उनका यह कार्य राष्ट्र का उचित कार्य करने की एक नई शक्ति देगा और इसलिए स्वराज की प्राप्ति म सहायक होगा। हममें एकता नहीं है इसलिए हम शक्तिहीन हैं। जब हम इन पाँच करोड अछूतों को अपना समझेंगे तो एकता का महत्व हमारी समझ में आयेगा। यह एक कार्य शायद हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न को भी सुलझा देगा, क्योंकि इसमें भी अस्पृश्यता का विष प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में काम कर रहा है। हिन्दुत्व की रक्षा के लिए यदि इस प्रकार की कृत्रिम दीवार की आवश्यकता है तो वह अवश्य ही कमजोर धर्म है। अहमदाबाद मे १३ अप्रैल, १६२१, के एक भाषण में गाँधी जी ने कहा था कि अछूतों का उद्धार तथा गोमाता की रक्षा ही उनकी प्रबल इच्छाओं म से दो ऐसी हैं जिन्होंने उन्हें जीवित रख छोड़ा था। 'इन दो इच्छाओं की पूर्ति में ही स्वराज है और मेरा अपना मोक्ष है।' इस बुराई के उन्मूलन मे उनके इस अनवरत प्रचार का गहरा असर पड़ा, किन्तु फिर भी जनता ने वास्तव में इसके विरुद्ध अपनी आवाज नहीं उठाई। इसके लिए और जोरदार कदम उठाने की आवश्यकता थी। १६३२ तथा १६३३ के महात्मा जी के दो बड़े उपवासों से यह कमी पूरा हुई। इन उपवासों के प्रभाव से जनता एकदम प्रभावित हो उठी और प्रश्न बौद्धिक धरातल से उठ कर भावनात्मक धरातल पर जा पहुँचा। ब्रिटिश भारत मे अनेक स्थानों पर अछूतों के लिए मन्दिर खोल दिए गए। इसके अतिरिक्त ट्रावनकोर तथा अन्य रियासतों ने अछूतों सहित सभी जातियों के लिए मन्दिर खुले रहने का आदेश निकाल दिया। सवर्ण हिन्दू इन लोगों की बस्तियों में जाकर गलियों में झाड़ू लगाते तथा उनकी सफाई करते थे, उनके बच्चों को नहलाते थे तथा अन्य रूपों से भी वे उन्हें अपना ही अग दिखाने की चेष्टा करते थे। बाद में महात्मा जी जब कभी दिल्ली जाते थे तो भगी कालोनी में ही ठहरते थे। इसका भी हिन्दू हृदय तथा मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ा।

इन लोगों की उन्नति तथा छूआछूत की समाप्ति के लिए आन्दोलन अब भी जारी है। इस महान् कार्य में अनेक समितियाँ लगी हुई हैं जिनमें सबसे प्रमुख महात्मा जी द्वारा स्वयं स्थापित की हुई 'हरिजन सेवक संघ' है। दूसरी है पंजाब के कुछ प्रमुख आर्य-समाजियों द्वारा चलाई गई 'दलित-उद्धार-सभा'। स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा स्थापित 'सरवेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी,' स्वर्गीय लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित 'सरवेण्ट्स ऑफ दि पीपुल सोसायटी' तथा अन्य कई दलित वर्ग मिशन कार्य कर रहे हैं। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण तो यह है कि अछूता में स्वयं एक चेतना आ गई है और वे अपनी स्थिति सुधारने में लगे हुए हैं। मद्रास में श्री राजगोपालाचारी के प्रधानमन्त्रित्व में कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल ने 'सिविल डिजेबिलिटीज रिमूवल एक्ट' तथा 'मलाबार टैम्पिल एन्ट्री एक्ट' पास किया था। हाल में ही बम्बई तथा उत्तर-प्रदेश ने एक कानून निकाल दिया था जिसके अनुसार किसी भी रूप में छूआछूत का पालन कानूनी जुर्म ठहराया गया था। बम्बई सरकार उत्तर प्रदेश-सरकार से एक कदम इस अर्थ में आगे है कि उसने दिखाई पड़ जाने वाले छूआछूत के विचार तक को जुर्म मान लिया है। *यह भी ध्यान देने योग्य है कि संविधान ने अस्पृश्यता को किसी भी रूप में जुर्म* माना है। छूआछूत द्वारा उत्पन्न हुई किसी भी असमर्थता का प्रयोग एक जुर्म होगा जिस पर कानूनी सजा दी जा सकती है। इस प्रकार इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि जहाँ तक हिन्दू समाज की कानूनी आत्मा का सम्बन्ध है, छूआछूत अब अतीत की ही चीज कही जा सकती है। यह कहना अभी उपयुक्त न होगा कि यह बुराई अब साररूप में भी अवशेष नहीं है। उद्देश्य तक पहुँचने तथा अछूत वर्ग को अन्य वर्गों के साथ बराबरी का दर्जा दिलाने और उन्हें विशाल हिन्दू समाज के ही सदस्य बनाने में अभी अटूट लगन और अथक परिश्रम की आवश्यकता है।

इस उद्देश्य की प्राप्ति किस प्रकार हो, इसे महात्मा जी ने अपने जीवन में ही स्पष्ट कर दिया था। उन्होंने स्वयं एक हरिजन लड़की को अपनी लड़की के सदृश स्वीकार कर लिया और उसका अपने परिवार के ही एक सदस्य के समान पालन-पोषण किया। वह उनके साथ सवर्ण हिन्दुओं के घर जाती और पूरा आदर पाती। बाद में उन्होंने उसकी एक सवर्ण हिन्दू से शादी भी कर दी। हरिजन लड़के-लड़कियों को अपने परिवारों में लेकर और अपने बच्चों के साथ उनका पालन-पोषण करके हम राष्ट्रपिता के पवित्र उदाहरण पर चल सकते हैं। फिर भी, यह एक बड़ा ही साहसपूर्ण कार्य है और सर्वत्र इसका पालन नहीं हो सकता। दूसरी सबसे अच्छी चीज होगी उन्हें घरेलू कामों के लिये नौकर रख लेना, वे खाना बनाने के लिये भी रक्खे जा सकते हैं। इस प्रकार इस घृणित प्रथा का अन्त अवश्य हो जायगा।

इन सबके अतिरिक्त महात्मा जी ने अछूतों के मन्दिर-प्रवेश पर भी बहुत जोर दिया था। अब डॉ॰ अम्बेदकर की तरह जो मन्दिर प्रवेश को थोड़ा या बिल्कुल ही महत्व

नहीं देते और राजनैतिक अधिकारों को अधिक आवश्यक मानते हैं, वे इस बात को भली प्रकार नहीं समझ पाये कि छुआछूत की समस्या मुख्यतः सामाजिक तथा धार्मिक है, राजनैतिक नहीं। अस्पृश्यता का निवारण तब तक असम्भव है जब तक अछूत लोग रहन-सहन की गन्दी आदतों का परित्याग नहीं करते। उन्हें रहन सहन के साफ सुथरे ढग की ओर आकर्षित करने के लिए मन्दिर प्रवेश से बढ कर दूसरी कोई चीज नहीं है। वे गन्दे शरीर पर गन्दे कपडे पहिन कर और शराब में मस्त होकर भगवान की पूजा करने की हिम्मत नहीं कर सकते। वे धर्म के लिये मृत-जीवों का माँस-भक्षण तथा नशीली वस्तुओं का सेवन भी छोड सकते हैं। गो अनेक मन्दिरों में हरिजनों के प्रवेश की आज्ञा दे दी गई है फिर भी कट्टर हिन्दुओं को यह माँग अभी तक सहन नहीं हुई है। उनके मन में जो हिचक है उसकी जड बहुत गहरी है, उनके विरोध पर विजय पाने में एक या दो पीढ़ियाँ लग सकती हैं। अस्पृश्यता-निवारण के लिए मन्दिर प्रवेश का बहुत ही अधिक मूल्य है। कुछ लोग अन्तर्जातीय खान-पान का भी समर्थन करते हैं। पर यह अनिवार्य नहीं माना जा सकता और इससे हमें अपने उद्देश्य की प्राप्ति में कुछ अधिक सहायता भी नहीं मिलेगी। इसका मूल्य केवल प्रदर्शन या प्रचार के लिए है।

हरिजनों को उन कुओं से पानी लेने की भी आज्ञा नहीं रही है जिनसे सवर्ण हिन्दू पानी लेते हैं। सौभाग्यवश शहरों में यह चीज समाप्त हो रही है और नये संविधान की धाराओं का अधिकाधिक प्रचार होने से यह चीज गाँवों में भी समाप्त हो जायगी।

सवर्ण हिन्दुओं के बच्चों के साथ हरिजन बच्चों को भी स्कूल में पढ़ाने का आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा है। वे अब बिना रोक-टोक भर्ती किये जा रहे हैं और अनेक जगहों में हरिजनों के लिये अलग स्कूलों की भी स्थापना हुई है। अस्पृश्यता के समूल विनाश तथा सवर्ण हिन्दुओं के समकक्ष उन्हें लाने के लिए शिक्षा का प्रचार सबसे अच्छा उपाय है। यह प्रसन्नता का विषय है कि लगभग सभी राज्य-सरकारें हरिजनों में शिक्षा-प्रसार के लिए छात्रवृत्ति तथा निःशुल्क शिक्षा की सुविधा प्रदान कर रही हैं।

ये तथा इस प्रकार के अन्य उपाय गवर्नमेंट तथा सवर्ण हिन्दुओं दोनों के लिए सुलभ हैं। इन उपायों को स्वयं हरिजनों का पूर्ण सहयोग मिलना चाहिए। हरिजनों की कुछ गन्दी तथा नीच आदतें इस मार्ग में सबसे बड़ी बाधा हैं। वे लोगों का जूठन उठाते हैं और उनमें से कुछ मृत-जीवों का माँस भी खाते हैं। उनमें स्वयं ऊँच नीच की भावना है, वे कई टुकड़ों में बँटे हुए हैं। इस भेद भाव में ही अस्पृश्यता का निवास है। अस्पृश्यता के विनाश के लिए इन सबका विनाश आवश्यक है। अप्रैल सन् १९२१ में अहमदाबाद की एक सभी वर्गों की सम्मिलित सभा में हरिजनों को सम्बोधित करते हुए महात्मा जी ने निम्नलिखित शब्द कहे थे: 'आपको अपने

उत्थान के लिये अपने को पवित्र बनाना पडेगा। आपको शराब पीने जैसे बुरी आदतों से छुटकारा पाना पडेगा आपको आत्म निर्भर बनना पडेगा। आपको अन्न जूठन लेने से इनकार कर देना चाहिये, देखने म वह चाहे कितना भी स्वच्छ क्यों न प्रतीत हो। आप केवल अनाज स्वीकार करें— यह भी अच्छा अनाज, सडा नहीं— और वह भी तभी जब वह उदारतापूर्वक दिया गया हो। मैने जो कुछ आपसे कहा है यदि आप उतना सब कर लगे तो विश्वास मानिये, आपका कल्याण अवश्य होगा— चार पाँच महीनों मे नहीं, कुछ ही दिनों मे।'

इस बुराई को दूर करने में हमारे म्यूनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड भी बहुत कुछ कर सकते हैं। ये सस्थाएँ अछूतों की बस्तियों को स्वच्छ और स्वास्थ्य के अनुकूल बनाने तथा उनमे कुएँ खुदवाने के लिये रुपये दे सकती हैं। वे उनकी शिक्षा के लिये रात्रि-स्कूल तथा वाचनालय आदि खुलवा सकता हैं। इन सब क साथ उनकी आर्थिक दशा का भी सुधार होना चाहिये। कुछ ऐसे मार्ग जो उनके लिये अब तक बन्द थे, खुल जाने चाहिएँ, जैसे, पुलिस तथा फौज मे भी उनकी भर्ती होनी चाहिये। इस तथा अन्य कई दिशाओ म कई प्रयत्न किये गये हैं और यह आशा की जाती है कि हिन्दुओं की सामाजिक आत्मा, जो महात्मा जी के उपवासों तथा अन्य कार्यों से जाग कर सक्रिय हो चुकी है, पूरी तरह क्रियाशील हो उठेगी और यह कुत्सित व्यवस्था कुछ ही दिनों मे केवल अतीत की ही वस्तु रह जायगी।

सम्मिलित परिवार

इसकी प्रकृति— सम्मिलित परिवार भारतीय सामाजिक व्यवस्था की एक बुनियादी विशेषता है, जिसने भारतीय चरित्र तथा जीवन प्रणाली पर गहरा प्रभाव डाला है। जाति-व्यवस्था की भाति यह भी मुख्यत एक हिन्दू सस्था है हालाँकि देश म रहने वाली अन्य धार्मिक जातियों म भी यह व्यवस्था प्रचलित है। सम्मिलित परिवार में पुत्र पश्चिमी देशो की भाँति विवाह के बाद दूसरा परिवार नहीं बनाता बल्कि उसी पैतृक घर म रह कर परिवार क अन्य सदस्यों के साथ उन के दु ख-सुख में हाथ बँटाता है। इस प्रकार तीन चार पुश्तों के बाद एक ही परिवार बढकर एक सम्मिलित बड़ी इकाई बन जाता है। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमे सम्मिलित परिवार के सदस्य मिलकर लगभग एक सैकड़ा हो जाते हैं जिसमें दादा, बाबा, माँ, बाप, चाचा, चाची, भाई, बहन, चचेरे भाई, विवाहित भाई और उनके बच्चे, भतीजे, नातिनें और कभी कभी लड़के के लड़के के लड़के तक सम्मिलित रहते हैं। ये सभी एक घर म रहते हैं, एक साथ खाना खाते हैं और जायदाद के सम्मिलित स्वामी बने रहते हैं। केवल यही नहीं कि भोजन तथा जायदाद के मामले में परिवार सम्मिलित रहता हो बल्कि धर्म की दृष्टि से भी वह एक

ही रहता है। परिवार केवल सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से ही एक समुदाय नहीं है बल्कि धार्मिक दृष्टि से भी यह अविभाज्य है जिसमें एक ही धार्मिक कृत्य किये जाते हैं और एक ही देवता की पूजा की जाती है। यही धार्मिक बन्धन परिवार को अन्य सामाजिक तथा आर्थिक समुदायों से अलग रखता है क्योंकि अन्य समुदायों में धर्म की भावना को स्थान नहीं रहता।

यह समझना आवश्यक है कि किस अर्थ में सम्मिलित परिवार के सदस्य जायदाद के सम्मिलित स्वामी होते हैं। सबसे पहले, परिवार म जन्म लेने वाले लड़के पैदा होने के साथ ही परिवार की जायदाद के छोटे मालिक बन जाते हैं। दूसरे, इसका अर्थ यह है कि परिवार का कोई भी सदस्य रुपये पैसे का हिसाब अलग नहीं रखता, सबकी कमाई इकट्ठी हो जाती है और इस एकत्रित धन से ही परिवार का पूरा खर्च चलता है। पारिवारिक व्यवस्था की यह विशेषता है कि स्वयं न कमाने वाले सदस्यों के भी वे ही अधिकार होते हैं जो कमाने वाले सदस्यों के, कमाने वाले सदस्यों को कोई विशेष अधिकार नहीं मिलता। जब परिवार टूटता है तो सभी पुरुष-सदस्य क़ानून के अनुसार जायदाद म अलग अलग हिस्सा ले लेते हैं।

सम्मिलित परिवार की एक और विशेषता का भी जिक्र होना चाहिये। परिवार के सभी सदस्य परिवार के सबसे बड़े सदस्य का आदर करते हैं और उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। वह पूरे परिवार की जायदाद की देखभाल के लिए उत्तरदायी है और यह भी देखता है कि कोई सदस्य कोई समाज-विरोधी कार्य तो नहीं करता। भारतीय सम्मिलित परिवार की कुछ विशेषताएँ सम्मिलित जायदाद के मामले म रूस के किसानों के परिवार से मिलती-जुलती हैं और सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से फ्रान्स के परिवारों से।

परिवार-व्यवस्था की अच्छाइयाँ तथा बुराइयाँ— भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के आलोचकों के लिए इस व्यवस्था को बुरा कहना एक प्रकार की आदत सी बन गयी है। इस व्यवस्था के मूल में किसी समय जो आध्यात्मिक आदर्श तथा उस के अच्छे प्रभाव थे उन्हें न देख सकने के कारण वे इसकी बाहरी कमियों पर ही अधिक जोर देते हैं। लोग अक्सर यह कह डालते हैं कि सम्मिलित परिवार आलसियों तथा बेकारों के लिए एक प्रकार का पोषण गृह बन गया है। मनस्वी सदस्यों के कमाये धन में से हिस्सा पाते रहने के कारण कुछ लोग सामर्थ्यवान होते हुए भी उत्पादन के कार्यों में लगने का प्रयत्न नहीं करते। इस प्रकार ऐसे सदस्यों की आत्मनिर्भरता तथा स्वयं कुछ करने की इच्छा का विनाश हो जाता है और उनमें दूसरों के कंधों का भार बन कर रहने की भावना पैदा हो जाती है। अपनी कमाई को दूसरों में बँट जाते देख कर काम करने वाले सदस्यों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। थोड़े में, सम्मिलित परिवार के विरुद्ध रक्खे गये तर्क समाजवाद के विरुद्ध किये गये तर्कों से

मिलते जुलते हैं। हमे इन तर्कों को अधिक महत्त्व प्रदान करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्यों कि वे यह मान कर कहे जाते हैं कि मनुष्य स्वार्थी, आरामतलब और कामचोर प्राणी है। यह एक ऐसी मान्यता है जिसकी सचाई पर शका की जा सकती है और की भी गई है। सच बात तो यह है कि सम्मिलित परिवार केवल उन्हीं सदस्यों को आलसी और आरामतलब बना सकता है जिनमें आत्मसम्मान की भावना नहीं है और जो स्वभावत सुस्त और काहिल हैं। उसका उन पर कोई प्रभाव नहीं पड सकता जिन्हे काम मे आनन्द आता है और जो दूसरों के लिए काम करना पसन्द करते हैं। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने योग्य है कि यदि एक ओर परिवार के सभी सदस्य अपनी आवश्यकता के अनुसार परिवार के भाडार से सहायता पाने के अधिकारी हैं तो दूसरी ओर उस भाडार को अपनी शक्ति के अनुसार भरते रहने के लिए वे नैतिक रूप से बाध्य भी हैं। कम्यूनिज्म और सम्मिलित परिवार के आदर्श कुछ एक तरह के हैं सबसे योग्यतानुसार लेना; सबको आवश्यकतानुसार देना।

दूसरे, यह कहा जाता है कि इस प्रथा से मुकदमेबाजी की आदत बढ़ती है। अधिकतर मामलों मे बिना कचहरियों मे गये जायदाद का बँटवारा आसानी से नहीं हो पाता। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि बँटवारा और बँटवारे के बाद बँटवारा कराने के कारण भूमि को अनेक छोटे छोटे टुकडों में अलग कर देने का उत्तरदायित्व भी इसी प्रथा के ऊपर है। लेकिन यह दशा तो उस परिवार की भी हो सकती है जो हमारे परिवार से भिन्न है और जिसमे सबसे बडे लडके को ही अधिकार देने की प्रथा नहीं है। अन्त मे, इस प्रथा की आलोचना इसलिए भी होती है कि इसमे व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर नहीं मिलता, परिवार के छोटे सदस्यों को हर मामले मे बडों का कहना मानना पडता है, उन्हे अपनी कर्तृत्व-शक्ति के प्रदर्शन का अवसर ही नहीं मिलता। परिवार के अन्य सदस्यों की उपस्थिति मे पति-पत्नी को एक दूसरे के अत्यधिक निकट आने तथा आपस में प्रेम बढ़ाने का अवसर नहीं मिलता जो अलग परिवार की व्यवस्था मे सम्भव है।

ऐसे तर्क अधिकतर उन्हीं लोगों द्वारा रक्खे जाते हैं जो व्यक्तिवाद की भावना से ओतप्रोत हैं और जिन्हे मानव जीवन को ओर नैतिक तथा भावनात्मक दृष्टि से नहीं बल्कि आर्थिक दृष्टि से देखने की आदत पड गई है, लेकिन भारत में हमे परिवार के बूढे, अपग तथा कम भाग्यवान सदस्यों की, केवल कृपा नहीं, बल्कि धार्मिक कृतज्ञता के भाव से, सेवा करने की शिक्षा मिली है। सम्मिलित परिवार एक ऐसी पाठशाला है जहाँ मनुष्य को सबसे पहिले दूसरों की नि स्वार्थ और प्रेमभाव से सेवा करने की शिक्षा मिलती है। यह व्यवस्था व्यक्ति को समुदाय की भलाई के लिए रहने की शिक्षा देती है। इसमे पारस्परिक सद्भाव तथा दूसरों के लिए त्याग करने की भावना का

विकास होता है। परिवार में प्रत्येक सदस्य के कम से कम जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध हो जाता है, और यही आर्थिक उन्नति की पहली शर्त है। जो बच्चे अनाथ हो जाते हैं परिवार उनकी देखभाल करता है और वे तब तक दुनिया में नहीं ढकेल दिये जाते जब तक वे स्वयं अपने पैरों पर खड़े होने लायक नहीं हो जाते। इसी प्रकार संयुक्त परिवार में उन विधवाओं को भी आश्रय मिलता है जो फिर विवाह करके अपनी दयनीय दशा से छुटकारा नहीं पा सकतीं। जिस प्रकार राज्य अपने नौकरों को बुढ़ाई में पेन्शन देता है उसी प्रकार यहाँ भी बूढ़ों तथा दीन-दुखियों की परवरिश हो जाती है। अपङ्ग लोग बेकार होते हुए भी परिवार की आर्थिक व्यवस्था में स्थान पा जाते हैं और उन्हें उनके योग्य कोई काम मिलता रहता है।'* संयुक्त परिवार की व्यवस्था सामाजिक गुणों के लिए शिक्षण-क्षेत्र, बेकारी की समस्या का हल, अपङ्गों तथा गरीबों को सहायता देने में राज्य की समकक्ष तथा अनाथों और विधवाओं की रक्षा का साधन ही नहीं है बल्कि विपत्ति पड़ने पर अपने सदस्यों में उनका सामना करने की सामर्थ्य पैदा करना भी इसका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य है। बीमारी की हालत में, घर छोड़ने या किसी भी अप्रत्याशित विपत्ति के पड़ने पर परिवार का एक सदस्य अन्य सदस्यों से आवश्यक सहायता तथा सहानुभूति की आशा रखता है। इसी व्यवस्था ने हमारे अनेक राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं को इस योग्य बनाया है कि वे घरेलू तथा अपनी निजी चिन्ता छोड़ कर राष्ट्र की सेवा कर सकें। यह एक सत्य है कि राष्ट्र के स्वातन्त्र्य-संग्राम में योग देने वाले सैंकड़ों देशप्रेमियों के मार्ग में स्त्री-बच्चों तथा भविष्य की बेकारी की चिन्ता ने बड़ी बाधाएँ उत्पन्न की हैं। यदि ये लोग संयुक्त परिवार के सदस्य होते तो उन्हें अपने आश्रितों की चिन्ता न सताती और वे देश के प्रति अपने कर्त्तव्य की पूर्ति में पूर्णतः सफल होते। यह व्यवस्था और भी रूपों में लाभदायक सिद्ध हुई है। इसने परम्परागत रीति रिवाजों, मान्यताओं तथा धार्मिक कृत्यों की रक्षा की है। परिवार के छोटे सदस्य बड़े सदस्यों से ट्रेनिङ्ग और शिक्षा प्राप्त करते हैं और इसी प्रकार वे अपने बच्चों को भी दक्ष बना देते हैं। मि० रमन के निम्नलिखित शब्दों द्वारा इस व्यवस्था की उन अच्छाइयों तथा बुराइयों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है: 'इस व्यवस्था की एक अच्छाई यह भी है कि वृद्धावस्था में लोग सुरक्षित तथा सम्मानपूर्ण जीवन— एक अद्वितीय सुख— का आनन्द लेते हैं जब कि पश्चिम में लोग वृद्धावस्था में अकेलेपन से परेशान होने लगते हैं। पर साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इन अच्छाइयों के साथ बुराइयाँ भी लगी हुई हैं। एक ओर यदि परम्परा की रक्षा होती है, तो पुरानी सकीर्णता भी बनी रह जाती है; और यदि आत्मसंयम और दूसरों का ध्यान रखने की आदत पड़ती है तो साथ ही थोड़े में सन्तोष भी मानना पड़ता है और व्यक्तिगत रूप से धन नहीं इकट्ठा किया जा सकता।

* जथार और बेरी: 'इण्डियन इकोनॉमिक्स', पृष्ठ १०६, छठा संस्करण।

बीमार की देखभाल के लिए यदि लोग तैयार रहते हैं तो साथ ही कोई-न-कोई हरदम बीमार भी रहता है। बूढ़ों का आदर अवश्य होता है चाहे जवान मिट्टी में ही क्यों न मिल जायँ।'*

लेकिन अतीत में इसने लोगों का चाहे जितना फायदा किया हो, आधुनिक परिस्थितियों में परिवार का ढाँचा खिसक रहा है। व्यक्तिगत भावनाओं तथा बढ़ती हुई व्यक्तिवादिता के साथ इसका मेल नहीं बैठ रहा है। मनस्वी और जवान अलग अलग काम करके अपने लिए अलग धन पैदा करना चाह रहे हैं। जिन आर्थिक पारस्थितियों के बीच यह व्यवस्था विकसित हुई और आज तक निभती रही वे अब बदल चुकी हैं। खेती करने योग्य अब ज्यादा जमीन भी नहीं रह गई है और खेती-गृहस्थी से अब उतने लोगों की गुजर भी नहीं हो पाता। अब लोगों को अपनी रोजी कमाने दूर-दूर जाना ही पड़ता है।

विवाह

इसकी प्रकृति— विवाह की व्यवस्था तो सारी मानव जाति में प्रचलित है, इसलिए इसके भारतीय स्वरूप के अध्ययन के निमित्त अलग लिखना कुछ अजीब सा लग सकता है। विवाह के विषय में हिन्दुओं की कुछ अलग धारणाएँ हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। बिना उनके ज्ञान के हिन्दू सामाजिक जीवन के विषय में हमारी दृष्टि अधूरी रह जायगी। मनुष्य जाति की दो प्रथाओं परिवार और विवाह, ने हिन्दू सामाजिक जीवन में भिन्न रूप धारण किया है और अपने इसी रूप के कारण हमारा सामाजिक जीवन अन्य देशों के सामाजिक जीवन से अलग हो गया है।

ध्यान देने योग्य पहिली बात यह है कि हिन्दू धर्म वैवाहिक सम्बन्ध को अत्यन्त पवित्र मानता है। विवाह एक धार्मिक कृत्य माना जाता है यानी, दो आत्माओं के भीतरी तथा आध्यात्मिक सम्मिलन का बाहरी रूप। इसी कारण पति या पत्नी को अपने मन से इस धार्मिक बन्धन को तोड़ने की अनुमति नहीं है। हिन्दुओं में तलाक की प्रथा प्रचलित नहीं है। किसी धार्मिक हिन्दू के लिए तलाक का विचार ही घृणास्पद है। इसके विपरीत इस्लाम तथा ईसाई धर्म तलाक की आज्ञा देते हैं। लेकिन यह बड़ी मजेदार बात है कि भारतीय मुसलमान और ईसाई अपने ही धर्म के अनुयायी अन्य देशवासियों के मुकाबिले में इस प्रथा का बहुत ही कम प्रयोग करते हैं। कई पीढ़ी पहिले जो हिन्दू इन धर्मों में दीक्षित हो गये थे उनके भी वंशजों में आज भी हिन्दू परम्पराएँ प्रबल हैं। विधवा-विवाह की ओर हिन्दुओं की श्रद्धाहीनता का भी यही कारण है। (बाद में इस विषय पर विस्तृत रूप में प्रकाश डाला जायगा।)

* टी० ए० रमन 'इण्डिया', पृष्ठ ६७—८।

हिन्दुओं के विवाह सम्बन्धी विचारों की दूसरी विशेषता यह है कि विवाह करना प्रत्येक हिन्दू स्त्री तथा पुरुष का कर्त्तव्य समझा जाता है। हिन्दुओं में हमें बहुत कम अविवाहित स्त्री पुरुष मिलेंगे। जो विवाह नहीं करते वे कुछ इसलिए नहीं कि ब्रह्मचर्य को कोई आध्यात्मिक मूल्य प्रदान करते हैं, बल्कि इसलिये कि उन्हें कोई अच्छा विवाह ही नहीं मिलता। अविवाहित जीवन मजबूरी के कारण ही बिताया जाता है, खुशी से नहीं। जो लोग विवाह नहीं करते वे धर्म के नाम पर या फिर किसी *अन्य उच्च ध्येय की प्राप्ति के लिए समाज से अलग निकल जाते हैं।* हिन्दुओं में विवाह सर्वत्र प्रचलित है क्योंकि उनका यह धार्मिक विश्वास है कि जब तक पुत्र के हाथों कुछ विशेष धार्मिक कृत्यों का सम्पादन नहीं हो जाता तब तक उसके मृत पिता की आत्मा को शान्ति नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे धार्मिक कृत्य भी हैं जिन्हें पत्नी की अनुपस्थिति में विधिवत् नहीं पूर्ण किया जा सकता। न तो इस्लाम और न ईसाई धर्म ही विवाह के इस पहलू पर जोर देता है, लेकिन हिन्दुओं की वैवाहिक व्यवस्था में इसका प्रमुख स्थान है।

ध्यान देने योग्य कुछ अन्य पहलू भी हैं। हिन्दुओं में जाति और विवाह का अटूट सम्बन्ध है। स्त्रियों तथा पुरुषों की अपनी ही जाति में शादी होती है। इस नियम की अवहेलना बहुत कम देखने में आती है, हालाँकि अब विवाह आदि में जाति-व्यवस्था के बन्धनों की परवाह न करने की प्रवृत्ति कुछ बढ़ रही है। अन्तर्जातीय विवाह 'अनुलोम' *तथा जातीय विवाह* 'प्रतिलोम' कहे जाते हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखने की बात है कि जाति-व्यवस्था के अन्दर लोग अपने जैसे जन-समुदाय में ही विवाह करते हैं। इस प्रथा के कारण पुरुष तथा स्त्री को अपना जोड़ा चुनने के *लिये विस्तृत क्षेत्र नहीं मिलता। हिन्दुओं में* 'कोर्टशिप' *जैसी कोई* चीज नहीं है। साधारणतया जोड़ा चुनने की जिम्मेवारी माता पिता पर छोड़ दी जाती है, लेकिन आजकल माँ बाप लड़के-लड़कियों की भी राय लेने लगे हैं— मुख्यतया उस दशा में जब वे सतान पढ़ी-लिखी रहती हैं। अन्तर्जातीय विवाह अब प्रचलित होते जा रहे हैं और कानून ने भी इसे ठीक मान लिया है।

यह धारणा कि हिन्दू एक से अधिक विवाह करते हैं पश्चिम में बहुत प्रचलित है। ऐसा सोचना ठीक नहीं है गो ऐसे हिन्दू हैं जिन्होंने पहली स्त्री के जीवित रहते भी दूसरी या तीसरी स्त्री से विवाह कर लिया है। ऐसा विचार इसी कारण फैला हुआ है कि कुछ रईस और राजा महाराजा लोग विवाहित जीवन में सदैव कुछ न कुछ उच्छृखल रहे हैं। गो यह बात ठीक है कि बहुविवाह किसी हिन्दू या मुसलमान के *लिए मना नहीं है— मुसलमान एक साथ चार स्त्रियाँ तक रख सकता* है— फिर भी अधिकतर लोग एकपत्नीक ही हैं।

बाल विवाह— दूसरी चीज, जिसके लिए हिन्दू की पश्चिम वाले आलोचना *करते हैं और वह निकम्मा ठहराया जाता है, वह है लड़के या लड़कियों का छोटी ही*

उम्र में विवाह। साधारणतया लोगों का यह धारणा हो गई है कि बाल विवाह हिन्दू-धर्म का अभिन्न अंग है। यह निर्विवाद है कि दस या बीस वर्ष पहिले इस तरह के विवाह आज से कहीं अधिक प्रचलित थे और आज दिन 'शारदा एक्ट' के होते हुए भी ऐसे विवाहों का अभाव नहीं है, फिर भी हिन्दू जाति ने उपयुक्त दिशा में काफी सुधार किये हैं और विवाह की उम्र दिनों दिन बढ़ती जा रही है। लेकिन यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि बाल-विवाह के प्रति हिन्दू दृष्टिकोण को इसके आलोचकों ने गलत समझा है। यदि इस प्रथा के सम्बन्ध में सभी पहलुओं पर विचार किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि यह प्रथा बुरी या अनुचित नहीं थी। इसके ठीक विपरीत यही कहा जायगा कि कुछ समय पहिले जाति की आवश्यकता के अनुरूप ही यह व्यवस्था प्रचलित हुई। बाल विवाह के विरुद्ध एक तर्क यह है कि इससे लड़की जल्दी माँ बन जाती है जिससे उसके शरीर पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार सारे राष्ट्र का स्वास्थ्य चौपट होता है। लेकिन आलोचक यह भूल जाता है, या उसे इसका ज्ञान नहीं है, कि अंग्रेजों के आने के पहले जब बाल-विवाह की प्रथा थी तब जाति या देश का स्वास्थ्य नहीं गिरा था। इसका कारण यह था कि उस समय बाल विवाह वह चीज नहीं थी जो उसे आज हम समझ बैठे हैं। दिखावटी विवाह तथा वास्तविक विवाह के बीच में, जिसे गौण विवाह कह सकते हैं, लड़की की उम्र का ख्याल करके कई वर्षों का अन्तर छोड़ दिया जाता था। बंगाल में जब अल्पवयस्क लड़की की शादी हो जाती थी तो उसे हर हालत में पिता के घर में ही रहने की आज्ञा नहीं मिलती थी, बल्कि वह अपने पति के घर में, या और सही रूप में श्वसुर के घर में, लाई जाती थी जहाँ उसे अपने नये घर के रस्म रिवाज आदि समझाये जाते थे। "इस विवाह का अर्थ पति-पत्नी के बीच का सम्बन्ध नहीं होता था, इसका अर्थ केवल इतना था कि लड़की अपने माँ-बाप का घर छोड़कर श्वसुर के घर चली गई। यहाँ उसे अपने पति को जानने का अवसर तक नहीं मिलता था जब तक वह परिवार द्वारा इसके योग्य नहीं समझ ली जाती थी। इस प्रकार बाल विवाह के प्रत्यक्ष दुष्परिणामों से बचने के उपाय काम में लाये जाते थे।"*

बाल विवाह की प्रथा के क्या कारण थे, इसमें अधिक गहराई से उतरने की आवश्यकता नहीं है, हम उनमें से केवल एक पर विचार करेंगे। इस प्रथा के प्रचलित होने का कारण था संयुक्त परिवार की व्यवस्था। अन्तिम रूप में संयुक्त परिवार की समृद्धि और उसका सुख स्त्रियों की ही सद्बुद्धि, सन्तोष, निःस्वार्थ भाव, प्रेम और भक्ति पर निर्भर रहती है। इसलिए परिवार की परम्परा और उसके वातावरण के बीच स्त्रियों को पक्की बन जाना चाहिए। वह इस प्रकार पक्की तभी बन सकती हैं जब छोटी ही उम्र में, यानी जब उनका मस्तिष्क सुकुमार, हृदय उदार

---

* प्रबुद्ध भारत, १६२८, पृष्ठ ४८६।

और निःस्वार्थ रहे— वे घर म लाई जायँ। लड़कियाँ जब बड़ी उम्र मे घर में आती हैं तो उनकी आदतें पहले ही बन बिगड़ चुकी रहती हैं और उनके स्वभाव का परिष्कार जो कुछ होना रहता है हो चुकता है। वे घर के वातावरण में घुल मिल नहीं पातीं बल्कि झगड़े तथा कलह का कारण बन बैठती हैं। सयुक्त परिवार म शीघ्र-विवाह की कल्पना पहिले से ही कर ली जाती है। सयुक्त परिवार की व्यवस्था के घटने से बाल-विवाह की प्रथा का भी विनाश हो रहा है, पहिली प्रथा न रहे तो दूसरी सुखद नहीं रह सकती क्योंकि सतुलन लाने वाला जो प्रभाव इसे चलाता है तब नहीं रहेगा।

वर्तमान परिस्थितियों म तो बाल विवाह की प्रथा बड़ी ही विनाशकारिणी होगी। इससे लड़की शीघ्र ही माँ बन जायगी और इस प्रकार माँ तथा बच्चों, दोनों की कम उम्र म मृत्यु-सख्या बढ़ जायगी। इससे लड़की की शारीरिक दशा पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा और सारी जाति मे पुरुषत्वहीन सन्तानों की वृद्धि होगी। ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज तथा थियोसोफिकल सोसायटी जैसी सुधारवादी सस्थाओं ने कुछ इस प्रथा को बन्द करने का प्रयत्न किया है और साथ ही बदली हुई सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों ने भी इस प्रथा का अन्त करने मे मदद दी है। लड़के तथा लड़कियों की शादी उनकी शिक्षा समाप्त होने पर ही करने का अब रिवाज चल पड़ा है। यह सुधार अधिकतर पढ़े-लिखे लोगों मे प्रचलित है। नीचे स्तर के लोगों में भी अब यह प्रथा फैल रही है क्योंकि वे भी तो ऊँची जातियों की ही नकल करते हैं। बाल-विवाह-रोक ऐक्ट के अनुसार, जो शारदा ऐक्ट के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, उम्र की एक निश्चित सीमा से नीचे लड़के-लड़कियों का विवाह करना कानून की दृष्टि मे जुर्म है। यह कानून पूरा मुस्तैदी से लागू नहीं किया गया है। जनता के विचार धीरे-धीरे किन्तु वास्तविक रूप म बाल-विवाह की प्रथा के विरुद्ध हो रहे हैं। हिन्दू-समाज अपने को बदलती परिस्थितियों के अनुकूल बनाता जा रहा है।

वैधव्य— हिन्दुओं की वैवाहिक विचार-धारा से सम्बन्धित एक विचित्रता यह भी है कि वे विधवा-विवाह को उचित नहीं समझते। इस प्रथा की बहुत ही अधिक आलोचना की जाती है और पश्चिमी आलोचक तो हमारी विधवाओं के जीवन का बड़ा ही रोमाचकारी चित्र खींचते हैं। इस आलोचना का सामना करने के लिए हमें जबरदस्ती लादे गये वैधव्य तथा अपनी इच्छा से स्वीकृत वैधव्य का अन्तर समझ लेना चाहिए। पहिले प्रकार का वैधव्य हिन्दुत्व पर एक धब्बा है; परिष्कृत विचारधारा ने उसे हेय समझा है और हमारे धर्म मे भी इसका आदेश नहीं दिया गया है। अपनी इच्छा के विरुद्ध भी वैधव्य की ज्वाला मे ढकेल दी गई स्त्रियों का जीवन सचमुच बड़ा दुःखमय होता है। लेकिन वैधव्य का दूसरा रूप प्रशसा के योग्य है और हिन्दू धर्म ने ससार के सामने यह एक बेमिसाल चीज़

रक्खी है। यही 'सतीत्व' है। यह सतीधर्म, जिसका उद्देश्य शुद्ध रूप म आध्यात्मिक है, 'प्रबुद्ध भारत' म इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है 'पति को पत्नी सदैव ईश्वरीय रूप मानती रही है। पति तथा उसके परिवार के प्रति उसक नित्य के कर्तव्यों म एक प्रकार की धार्मिक भावना लिपटी रहती है। उसका सारा जीवन ही साधना है। इसी लिए जब पति की मृत्यु हो जाती है तो वह उसका चित्र पूजा की वेदी पर नहीं रखती बल्कि अन्त स्थित ईश्वर को पूजा जो पति के जीवनकाल में उसकी पूजा क जरिये की जाती थी, अब प्रत्यक्ष रूप धारण कर लेती है। वह शुद्ध आध्यात्मिक जीवन तथा मनन-चिन्तन के साथ अपने उपास्य देव या आदर्श की पूजा म जीवन बिताती है। इस प्रकार वह पत्नी या विधवा के जीवन में कोई अन्तर नहीं महसूस करती।'* इस प्रकार यह प्रतीत होगा कि वास्तव म वैधव्यपूर्ण जीवन दु ख या विषाद का जीवन नहीं है बल्कि एक ऊँची आध्यात्मिक स्वतन्त्रता क स्तर पर बन्धन से मुक्ति है। पत्नी क रूप म उसमें जिस भावना का विकास हुआ था वह अब विधवा क रूप म और भी विकसित हो जाती है।* कुछ ही विधवाएँ इस आदर्श तक पहुँच पाती हैं, यह कहना कोई तर्क नहीं है कोई आदर्श आदर्श नहीं रह जायगा यदि सभी उस तक पहुँच जायँ। इस प्रकार के जीवन से हमें यह समझने का अवसर मिलेगा कि विधवा का जीवन सदैव दु ख तथा अवसाद का ही जीवन नहीं है। वैधव्यपूर्ण जीवन बिताना बुरा नहीं है, बुरा है स्त्री की इच्छा के विरुद्ध उस पर वैधव्य लादना। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हमारे नेताओं ने विधवाओं की दशा म सुधार के लिए एक पूरा मोर्चा ही तैयार कर रक्खा था। आर्य समाज, ब्रह्म समाज तथा अन्य सुधारवादी संस्थाओं ने विधवाओं के पुनर्विवाह को अपने कार्यक्रम म प्रधानता दी है।

जब तक सम्मिलित परिवार की व्यवस्था रही और विधवा को उसके श्वसुर या पिता के घर मे आश्रय मिला, वह सेवा और भक्ति का जीवन बिता सकती थी। सयुक्त परिवार की व्यवस्था टूटने से विधवा की मुसीबतें भी बढ़ गई और आज तो उसका जीवन असह्य हो चला है। उसक साथ लोगों का वास्तविक व्यवहार बदलता जा रहा है। कई जगहों म उसके साथ अच्छा व्यवहार होता है, अनेक परिवारों म विधवा का अत्यधिक आदर है। वह अपनी नम्रता, सेवा तथा आत्म-त्याग से लोगों के आदर का पात्र बन जाती है। कुछ परिवारों म उसकी उपस्थिति लोगों को मुश्किल से बर्दाश्त होती है, और कुछ परिवारों में वह दुर्भाग्य का कारण मानी जाती है और उसकी जिन्दगी जहर का घूँट बन जाती है।

हर्ष का विषय है कि भारतीय स्त्री तथा पुरुष विधवा की महत्ता का आदर करने लगे हैं और अब वे उसके प्रति श्रद्धा का भाव रखना सीख रहे हैं।

---

* १६२८, पृष्ठ ४६४।

भारतीय समाज में नारी का स्थान— किसी समाज की सभ्यता, संस्कृति एवं उसके सामाजिक स्तर की माप उस समाज में स्त्रियों के स्थान से की जा सकती है। भारतीय सामाजिक जीवन तथा संस्थाओं का वर्णन समाप्त करने के पहिले स्त्रियों के स्थान के सम्बन्ध में कुछ शब्द कह देना उपयुक्त होगा। यह इस कारण और भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि विदेशी निरीक्षकों तथा आलोचकों में इस सम्बन्ध में बड़ी ही ग़लत धारणा बनी हुई है और वही दशा अपने उन देशवासियों की भी है जो विदेशी विचारों में पले हुए हैं। भारतीय स्त्रियों की हीन दशा से पाश्चात्य स्त्रियों की उच्च दशा की तुलना करना ऐसे आलोचकों की आदत हो गई है। केवल बुराई की ओर ही दृष्टि डालने वाले पश्चिमी आलोचक हम बाल विवाह, जबरदस्ती लादे हुए वैधव्य तथा पर्दा-प्रथा के कारण अर्ध-सभ्य कहने में नहीं हिचकते। हम बाल विवाह तथा वैधव्य पर विचार कर चुके हैं। इस प्रकरण के अन्त में हम पर्दा-प्रथा के विषय में कुछ कहना चाहते हैं। ऊपर हम इस परिणाम पर पहुँच चुके हैं कि जिन आदर्शों पर हमारी संस्थाओं की नींव पड़ी है वे सभी सुन्दर हैं, लेकिन परिस्थितियों के साथ उनमें बुराइयाँ घुस गई हैं और इसलिए उनमें सुधार की आवश्यकता है। भारतीयों ने सामाजिक सुधारों के प्रश्न की कभी अवहेलना नहीं की है। स्त्रियों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। हमारा आधार स्वस्थ है, किन्तु नई धाराओं एवं बदली हुई परिस्थितियों में सुधार आवश्यक है।

हिन्दू समाज में स्त्रियों का स्तर समय के साथ बदलता रहा है। प्राचीन काल में वे पुरुषों की बराबरी करती थीं। प्राचीन हिन्दू नारी पूरी सम्पत्ति की स्वामिनी होती था, पति महोदय बिना उसकी राय के उसमें हेर फेर नहीं कर सकते थे। वह पूर्ण वयस्क होने पर अपने पति का स्वयं चुनाव करती थी और पति की असामयिक मृत्यु के बाद दूसरा विवाह भी कर सकती थी। उस समय पर्दा नहीं था, स्त्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक घूमती फिरती थीं। घोषा, अपाला, विश्ववरा, गार्गी, मैत्रेयी जैसी नारियाँ पुरुषों के साथ वाद विवाद में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लेती थीं और अपनी प्रतिभा से श्रेष्ठ विद्वानों एवं दार्शनिकों को भी चकित कर देती थीं। ऋग्वेद की कुछ ऋचाएँ तो स्त्रियों द्वारा ही प्रणीत हैं। प्राचीन आर्य अपनी स्त्रियों को जितना महत्त्वपूर्ण स्थान देते थे उतना कोई दूसरी जाति नहीं देती था। 'भारतीय खंड-काव्यों में नारीत्व का जितना सुन्दर चित्रण है, वैसा संसार के किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं है। नारी के ऐसे चित्रों का निर्माण महान् कलाकारों द्वारा हुआ है जिन्होंने उनको समाप्ति ऐसे महान् चरित्रों के रूप में की है जिनमें मानवता की सबसे अधिक सबल, मधुर, ऊँची तथा श्रद्धायुक्त भावनाओं का सन्निवेश हुआ है।'*

---

* एनी बेसेंट 'दि डॉन', अक्तूबर १९०१, पृष्ठ ८२, 'कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया' में उद्धृत, खंड III, पृष्ठ २०।

लेकिन आर्य गगा की घाटी मे जैसे जैसे आगे बढ़ते गये उन्हे आदि-वासियों की एक बड़ी सख्या मिलती गई जिनका रूप-रग भिन्न था और सभ्यता भी भिन्न थी। स्त्रियों को अब पहिले की सी ही स्वतन्त्रता दे देने मे वर्ण-सकर का भय होने लगा। इस भय तथा सयुक्त परिवार के विकास के कारण उनका पहले जैसा बराबरी और स्वतन्त्रता का स्थान जाता रहा और वे पुरुष पर निर्भर रहने लगीं। यद्यपि समय समय पर उनकी स्थिति में अन्तर पड़ता रहा किन्तु पहले का-सा दर्जा फिर कभी नहीं मिला। मुसलमानों के युग मे स्त्रियों का दशा दयनीय हो गई और लड़कियों की हत्या तथा जौहर की प्रथा प्रचलित हुई, वे जनानखाने के अन्दर पर्दे में डाल दी गई। ये दो प्रथाएँ उनकी वर्तमान हीन दशा, शिक्षा की कमा तथा आर्थिक पराधानता के लिए बहुत सीमा तक उत्तरदायी हैं।

स्त्रियों की वर्तमान सामाजिक हीनता का परिचय कई बातो से मिलता है। उन्हे सदैव दूसरे के ही आसरे रहना पड़ता है। वे लड़का के रूप में पिता पर, पत्नी के रूप में पति पर तथा वृद्धावस्था म लड़कों पर निर्भर रहती हैं। जीवन की किसी भी अवस्था मे उन्हें आत्म निर्णय या अपने पैरों पर खडे होने का अवसर नहीं मिलता। स्त्री के लिए विवाह करना आवश्यक है और यही उसकी परतन्त्रता सूचित करता है। यदि पति, सास या परिवार का कोई भी सदस्य उसके साथ कठोर व्यवहार करता है तो हिन्दू धर्म मे इसके लिए कोई इलाज नहीं है, उसे चाहे जितनी ताडना क्यों न हो। यदि पति उसे छोड देता है या बेशर्मी के साथ उसकी उपेक्षा करता है या दूसरी स्त्रा से शादा कर लेता है तो भी वह तलाक की मॉग नहीं कर सकती और न कष्ट सहते जाने के बजाय उसके पास कोई दूसरा चारा ही है। जायदाद पाने के विषय म हिन्दू धर्म के नियम उसके लिए कहीं अधिक कठोर हैं। वह जायदाद की वारिस नहीं बन सकती। एक गये गुजरे पुरुष वारिस को भी लडकी के मुकाबले तरजीह दी जाती है।† एक प्रमुख पत्र ने स्त्री की कानूनी स्थिति का इन शब्दा म बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है. 'जन्म लेने पर बला माना जाने वाली तथा जीवन भर किसी पैतृक अधिकार से वंचित रह कर हिन्दू स्त्री से एक विचित्र जीवन बिताने की आशा की जाती है। कानूनी अधिकार के रूप में कोई ऐसी चीज नहा है जो उसे आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन बना सके, वह सदा परतन्त्र है, चाहे दहेज दिया जाय चाहे नहीं। यह स्पष्ट है कि जायदाद पर मौरूसी हक न देने के लिये हम केवल स्त्री धन के बहाने का सहारा नहीं ले सकते।'* इन्हीं बुराइयों को दूर करने के लिए

† कोचीन तथा ट्रावनकोर में स्त्रियाँ जायदाद की वारिस बन सकती हैं क्योंकि वहाँ मातृ-प्रधान व्यवस्था है।

* एण्ड्रूज द्वारा उद्धृत : 'दि ट्रू इण्डिया', पृष्ठ १९८।

'हिन्दू-स्त्रियों का तलाक देने का अधिकार' तथा 'हिन्दुओं के एक ही विवाह करने का बिल' केन्द्रीय धारा सभा म पेश किये गये थे। आज का हिन्दू कोड बिल सुधारों की पुरानी आवश्यकता की पूर्ति कर रहा है।

भारतीय स्त्रियों की शिक्षा सम्बन्धी अवनति पर टीका टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। वास्तविकता प्रत्यक्ष है। उनम साक्षरता का प्रतिशत बहुत ही नीचा है— पाँच प्रतिशत से अधिक नहीं। हर्ष का विषय है कि स्त्रियों की शिक्षा म बराबर उन्नति हो रही है। विभिन्न परीक्षाओं में सम्मिलित होने वाली तथा शिक्षा संस्थाओं में भर्ती होने वाली लड़कियों की संख्या बराबर बढ़ रही है। स्त्री-शिक्षा की ओर लोगों की उदासीनता तथा शिक्षा में बाधक होने वाली अन्य प्रथाओं— पर्दा तथा बाल-विवाह— का अन्त हो रहा है। लेकिन अब भी बहुत लम्बी मंजिल तय करनी है।

यद्यपि आजकल कहीं-कहीं स्त्रियाँ शिक्षक, वकील, बैरिस्टर और डॉक्टर के रूप म दिखाई पड़ने लगी हैं फिर भी साधारणतया बड़े घरों की स्त्रियाँ परिवार के कमाने वाले सदस्यों में शामिल नहीं की जातीं। स्त्रियों को नौकरी म लगाना अब भी लोगों को ठीक नहीं जँचता, विशेषतया ऊँचे वर्ग क हिन्दू तथा मुसलमानों म। इस कारण उनकी पुरुषों पर निर्भरता ज्यों की त्यों बनी रहती है।

कानूनी असमर्थताओं, शिक्षा सम्बन्धी अवनति तथा आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर निर्भरता क अतिरिक्त उन्हें जीवन में पति चुनने का अधिकार नहीं है और न तो पुरुषों के समान स्वतन्त्र अस्तित्व रखने का ही अधिकार है। इसके साथ साथ उन पर वैधव्य का बोझ लाद दिया जाता है और उसके साथ कठोरता का व्यवहार किया जाता है। जिन विदेशी आलोचकों को भारतीय स्त्रियों की इस दशा का ज्ञान है वे हम पर उनके प्रति अत्यधिक कठोर और अनुदार व्यवहार करने तथा उन्हें गड्ढे म ढकेलने का अपराध लगाते हैं। उनका ऐसा करना ठीक भी है। लेकिन सब बातों का ज्ञान किये बिना ऐसा निर्णय दे देना उतावलापन है। शिक्षा का अभाव, अधिकारों की कमी तथा पुरुष पर निर्भर होने के कारण समानता के दर्जे से वंचित रहना— इन तथा अन्य कमियों क होते हुए भी स्त्री घर की नौकरानी नहीं बल्कि वहाँ की रानी है, घर म उसकी एक अलग शान-बान है। घर म उसका ऐसा स्थान है जिसके लिए यूरोपीय स्त्रियों को ईर्ष्या हो सकती है। बिना उसकी राय क घर म कोई काम नहीं हो सकता। लड़के या लड़की की मंगनी या शादी या परिवार क किसी लड़के को शिक्षा पाने के लिए विदेश भेजने की तो बात ही क्या, घर के प्रबन्ध से जिन मामलों का कम घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है उनम भी उसकी राय का महत्व होता है, जैसे जायदाद बनाने या खरीदने म, जमीन खरीदने में तथा विभिन्न अवसरों पर मित्रों को दिये जाने वाले उपहार इत्यादि म। पति के प्रति श्रद्धा, बच्चों के प्रति प्यार, दूसरों के लिए अपने

सुखों का त्याग करने की उसकी तत्परता, विनम्रता तथा नैतिक पवित्रता ही उसके इस प्रभाव का स्रोत है। नारी के प्रति महान् आदर का भाव इसी बात से स्पष्ट है कि हमारे देश में माँ को सबसे अधिक आदर प्रदान किया गया है। माँ का स्थान पिता से, या यहाँ तक कि ईश्वर से भी, ऊँचा समझा जाता है। हम अपने देश को भारतमाता कहते हैं। शाश्वत शक्ति या अनादि तेज भी स्त्री के रूप में व्यक्त किया गया है। जहाँ कहीं भी पति पत्नी का नाम साथ-साथ लिया जाता है पत्नी का नाम ही पहिले आता है,— जैसे, सीताराम, राधाकृष्ण, गौरीशंकर आदि। सच तो यह है कि हमारी सभ्यता और संस्कृति में स्त्री को सर्वश्रेष्ठ स्थान है परिस्थितियों की उलट-फेर में ही उसे आज यह स्थान मिल गया है जिसे हम नीचा कहते हैं। उसके कार्य का क्षेत्र ही अलग रहा है जिसमें वह सर्वोच्च रही है। दूसरी ओर मनुष्य का वह क्षेत्र है जिसमें वह अगुआ है। दोनों एक दूसरे के विरोधी या प्रतिद्वन्द्वी नहीं वरन् किसी ध्येय की पूर्ति में एक दूसरे के पूरक रहे हैं। हम मानते हैं कि हमारी व्यवस्था में अनेक त्रुटियाँ हैं। स्त्रियों की दशा में अनेक दृष्टियों से सुधार की आवश्यकता है, यह निर्विवाद है, लेकिन यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि हमारी स्त्रियों का स्थान यूरोपीय स्त्रियों से नीचा है।

पुरुषों तथा स्त्रियों के अधिकारों में समानता नहीं है इसी लिए हम स्त्रियों का स्थान पुरुषों से नीचा समझते हैं। बराबरी— अधिकारों की बराबरी— जैसी कोई चीज भारतीय विचारधारा में है ही नहीं। यहाँ तो जीवन की कल्पना आध्यात्मिक लाभों की प्राप्ति के लिए एक अवसर प्रदान करने वाली वस्तु के रूप में की गई है जहाँ अपने कर्त्तव्यों का सम्पादन स्वयं, स्वेच्छा से किया जाता है, दूसरों पर अपने अधिकारों का आरोप करके सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए नहीं।* दुःख है कि इस तथ्य को हमारे आलोचक भूल जाते हैं।

स्त्री-आन्दोलन— पिछले पचीस वर्षों से धीरे धीरे किन्तु अनवरत गति से बढ़ते हुए नारी-आन्दोलन की कुछ विवेचना यहाँ अनुपयुक्त न होगी। इस समय तक भारतीय स्त्रियों को अनेक अधिकारों— सामाजिक, कानूनी तथा राजनैतिक— की प्राप्ति हो चुकी है और उनमें पर्याप्त जागृति भी आ गयी है।

१९१४-१८ के प्रथम महायुद्ध के बाद नारी आन्दोलन का रूप अखिल भारतीय तथा राजनैतिक हो गया। इस महायुद्ध के पहिले सारा कार्य व्यक्तिगत रूप से या अलग अलग समितियों द्वारा ही होता था और वह केवल शिक्षा तथा सामाजिक क्षेत्रों तक ही सीमित था। यह ध्यान देने की बात है कि भारत में स्त्री आन्दोलन उतना आवेगपूर्ण नहीं रहा जितना यूरोप में, इसका विकास बहुत ही शान्तिमय रहा है।

* 'कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया', भाग III, पृष्ठ २०३।

चाहे वोट देने का अधिकार लेना हो, प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं का चुनाव लड़ना हो या पर्दा-प्रथा जैसी कोई हानिकर प्रथा उठानी हो, स्त्रियों को पुरुषों से कभी लड़ना नहीं पड़ा है, उन्हें केवल एक बार, दो बार या तीन बार अपनी आवाज बुलन्द करनी पड़ी है और कट्टरता की दीवार अपने आप ढह गयी है। जिस आसानी के साथ उन्हें अनेक राजनैतिक, कानूनी तथा सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति हुई है तथा मनुष्यों के बराबर ही उन्हें जो नागरिक अधिकार मिले हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय नारीत्व का कितना अधिक आदर करते हैं। उनकी सफलता के और भी कारण हैं, किन्तु उनकी ओर हम यहाँ संकेत नहीं कर रहे हैं।

यदि हम स्त्रियों की प्रगति को राजनैतिक, सामाजिक तथा कानूनी, इन तीन भागों में विभाजित कर दें तो हम इस बात का सही सही पता चल जायगा कि पच्चीस वर्षों के थोड़े समय में ही उन्होंने कितनी प्रगति कर ली है।

राजनैतिक प्रगति— १९२१ के पहिले भारतीय नारियों को वोट देने का अधिकार नहीं था, १९१९ के 'गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट' ने उन्हें वोट का अधिकार नहीं दिया था लेकिन एक्ट के निर्वाचन नियमों ने प्रान्तीय धारा-सभा को यह अधिकार दिया था कि यदि वह चाहे तो पुरुषों के समान स्त्रियों को भी वोट का अधिकार दे सकती है। बम्बई तथा मद्रास ने इस धारा का लाभ उठाया और १९२१ के पहिले ही स्त्रियों को यह अधिकार दे दिया। १९२३ में उत्तर प्रदेश (तब संयुक्त प्रान्त) ने भी उनकी नकल की और बंगाल, पंजाब तथा मध्य प्रदेश ने भी तीन वर्ष बाद उनका अनुसरण किया। इस सुधार के बाद दस वर्ष के अन्दर ही सारे ब्रिटिश भारत में स्त्रियों को वोट देने के अधिकार दे दिये गये। यह बड़ी ही महत्त्वपूर्ण सफलता थी लेकिन अभी और कुछ मिलना बाकी था। १९२६ में पहिले पहल स्त्रियों को 'विधान सभा' का मेम्बर होने का अधिकार मिला और १९२७ में डा० मुथुलक्ष्मी रेड्डी मद्रास प्रान्तीय व्यवस्थापिका काउन्सिल की मेम्बर बनीं और एकमत से उसकी उपप्रधान चुनी गईं।

१९३५ के 'गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट' ने उनको उन अधिकारों से आगे बढ़कर कहीं अधिक अधिकार दिये। स्त्रियों का निर्वाचन क्षेत्र काफी विस्तृत हुआ और बालिग स्त्रियों में से लगभग १०½ % को वोट देने का अधिकार मिला।

उनके लिए १५ स्थान संघ (६ कौंसिल तथा ९ सभा में) और ४१ प्रान्तीय विधान-सभा में रिजर्व कर दिये गये थे। वे साधारण सीटों का चुनाव भी बड़ी सफलतापूर्वक लड़ीं और पुरुषों को उन निर्वाचन क्षेत्रों में भी हराया जहाँ उनकी अधिकता थी। विभिन्न प्रान्तों में स्त्रियाँ मन्त्री, पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी, उपाध्यक्ष तथा उपसभानेत्री बनीं। संविधान परिषद् में भी, जो राष्ट्रीय पार्लियामेंट के रूप में कार्य कर रही थी, दस स्त्रियाँ थीं। जब १९४७ में भारत को स्वतन्त्रता मिली तब उसने नागरिक तथा

स्वातन्त्र्य-युद्ध में भाग लेने वाली स्त्रियों की देन का बड़ा सम्मान किया। श्रीमती सरोजिनी नायडू उत्तर प्रदेश की गवर्नर, राजकुमारी अमृतकौर स्वास्थ्य की मन्त्री तथा श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित रूस में भारतीय दूत बना दी गईं। और अब हमारे नये संविधान में तो हर बालिग स्त्री को वोट का अधिकार दिया गया है और स्त्री पुरुष की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

विधान सभा के बाहर समाज सेवा में भी स्त्रियों ने हाथ बँटाना आरम्भ कर दिया है। लगभग सभी बड़ी म्यूनिसिपैलिटियों में सरकार द्वारा नियुक्त या वोट द्वारा चुनी हुई एक या एक से अधिक स्त्रियाँ काम कर रही हैं। डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में भी वे कार्य कर रही हैं। उनके इन अधिकारों से कहीं अधिक है देश के साधारण राजनैतिक जीवन में उनका सहयोग। १६३१ से ही, जब महात्मा गाधी ने अपना सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ किया, उन्होंने अपने को हजारों की सख्या में राजनैतिक सग्राम में झोंक दिया है और उसमे अपने अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों से भली प्रकार अवगत होकर बाहर निकली हैं। राष्ट्रीय सग्राम में भाग लेने से अधिक किसी भी चीज ने उनके उत्थान में इतना महत्वपूर्ण काम नहीं किया है। आन्दोलन में भाग लेने वाली सभी स्त्रियों ने पर्दे की प्रथा तोड दी है और वे मर्दों की बराबरी में आ गई हैं।

'विधान सभाओं' तथा स्थानीय संस्थाओं की स्त्री सदस्याओं ने स्त्रियों की स्थिति तथा प्रभाव को ऊँचा बनाने का प्रयत्न किया है। स्वर्गीय आदरणीय सी० एफ० एण्ड्रूज के शब्दों में उनके इन *कार्यों का भली भाँति परिचय मिलता है*, 'आश्चर्यजनक परिवर्तनों के लाभकारी प्रभाव से सभी अवगत हैं। दीन, अनाथों, निबल तथा असहायों की सेवा के क्षेत्र मे म्यूनिसिपैलिटी का स्तर उच्चतर हो गया है। घरों की गन्दगी के विरुद्ध अद्वितीय तथा कठिन लडाई आगे बढती गई और एक के बाद दूसरी सफलता मिलती गई है। घरेलू- विशेषतया बच्चों की- बीमारियों की रोकथाम पहिले से अच्छी हो रही है। उपयुक्त पोषण, उपचार तथा चीर-फाड की सहायता की कमी के कारण जहाँ अत्यधिक कष्ट- कभी कभी मृत्यु भी- होता था वहाँ अब जनता के रुपयों की सहायता से जच्चा को अधिक से अधिक सुख देने का प्रयत्न हो रहा है।'*

सामाजिक प्रगति— सामाजिक क्षेत्र में भी स्त्रियों की उन्नति कम महत्वपूर्ण नहीं है। वास्तव में इसके बिना किसी प्रकार की प्रगति का होना असम्भव है क्योंकि सामाजिक तथा राजनैतिक पहलू सिक्के की दो बाजुओं के समान हैं। जैसा कि ऊपर प्रदर्शित किया जा चुका है, स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय सग्राम में सक्रिय भाग लेने के कारण बडे घर की स्त्रियों ने पर्दे को फाड़ फेंका। अब वे हजारों की सख्या में राजनैतिक सभाओं तथा जुलूसों में भाग लेती हैं। उनके प्रत्येक कार्य में उनकी मुक्ति की नई

---

* दी ट्रू इण्डिया, पृष्ठ १६२।

झलक देखकर कोई भी निरीक्षक प्रभावित होगा। वे पुरानी चीजों को केवल पुराना होने के कारण ही स्वीकार नहीं कर लेतीं। अपने वार्षिक सम्मेलनों में वे साहस के साथ विस्तृत सुधारों की माँग करती हैं। १९३१ के पहिले इन सम्मेलनों के सभापतियों के भाषणों में पर्दा-निवारण, बाल-विवाह-उन्मूलन तथा वैधव्य समाप्ति पर विशेष जोर रहता था। अब वे उन कुरीतियों की समाप्ति के लिए प्रस्ताव पास करने की चिन्ता नहीं करतीं ; उनकी दृष्टि अब अधिक आवश्यक विषयों की ओर है। अब वे जायदाद की स्वामिनी बनने तथा तलाक देने के अधिकार की माँग कर रही हैं। वे कानून द्वारा बहु-विवाह तथा दहेज-प्रथा का अन्त और साथ ही साथ बाल-विवाह-कानून की कड़ाई के साथ पाबन्दी चाहती हैं। वे सहशिक्षा तथा लड़कियों के लिए शिक्षा सम्बन्धी विशेष सुविधाओं की माँग कर रही हैं क्योंकि उनका विचार है कि शिक्षा के प्रसार से अन्य समस्याओं का हल अपने आप हो जायगा।

कानून-सम्बन्धी सुधार— स्त्रियों में उत्पन्न महत्वपूर्ण चेतना तथा अनेक दिशाओं में की गई उनकी प्रगति का आभास उन सारे प्रयत्नों द्वारा मिल जाता है जो इधर हाल में कुरीतियों को हटाने के लिए किये गए हैं। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में डाक्टर देशमुख तथा सेठ गोविन्ददास मोतीलाल द्वारा उपस्थित दो बिलों की ओर सङ्केत ऊपर हो चुका है। उससे कुछ पहिले १९३७ में हिन्दू स्त्री जायदाद-अधिकार-एक्ट पास हुआ था। विवाह, तलाक, जायदाद का स्वामित्व इत्यादि के विषय में हिन्दू परिवारों में प्रचलित अनिश्चित तथा विरोधात्मक क़ानूनों पर पुनर्विचार तथा सुधार करने की दृष्टि से भारतीय सरकार ने 'राव कमेटी' नामक एक कमेटी बिठाई। इस कमेटी ने सारे देश का दौरा कर के प्रमाण एकत्रित किये और अपने द्वारा तैयार किये हुए सम्भावित हिन्दू कोड पर जनता की राय ली। इस सम्भावित कोड पर आधारित हिन्दू-कोड-बिल पार्लियामेण्ट के सामने है। इस बिल का तात्पर्य है कुछ परिस्थितियों में तलाक को कानूनी बनाना तथा हिन्दू स्त्रियों को जायदाद की वारिस बनने का अधिकार देना। इन सुझावों का अभी काफी विरोध हो रहा है इसलिए पार्लियामेन्ट इस पूरे प्रश्न पर नये सिरे से विचार कर रही है।

कस्तूरबा स्मारक-निधि— भारतीय स्त्रियों की प्रगति का ऊपर दिया हुआ वर्णन तब तक अधूरा रहेगा जब तक उस प्रगति को शक्ति देने वाले 'कस्तूरबा-स्मारक आन्दोलन' की भी थोड़ी बहुत चर्चा न कर दी जाय। १९४२ के आन्दोलन के सिलसिले में ही कस्तूरबा गांधी जी के साथ जेल में नजरबन्द थीं और वहीं फरवरी १९४४ में उनकी मृत्यु हुई। महात्माजी की राय से कस्तूरबा स्मारक निधि के संरक्षकों ने स्त्रियों— विशेषतया ग्रामीण स्त्रियों— की दशा में सुधार के लिए एक अखिल भारतीय संस्था की योजना बनाई। इस योजना का मुख्य अंग है ग्रामीण क्षेत्रों को आधुनिक ढंग के जच्चा-खानों तथा उपचार-गृहों से सुसज्जित करना तथा

पूरे देश में स्त्रियों की उन्नति का सन्देश ले जाने के लिए सविकाएँ और केन्द्र तैयार करना। कई जगहों में ट्रेनिंग के लिए कैम्प स्थापित किये गये जहाँ प्राथमिक चिकित्सा, बच्चा तथा गाँव की देख-भाल की शिक्षा दी जाती था। इस योजना की अच्छी प्रगति हुई है।

अपने देश में स्त्रियों की उन्नति के विषय में दिये हुए वर्णन से यह पता चलता है कि पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण से, जब उनकी दशा सबसे निचली सीढ़ी पर थी आज तक वे उन्नति की किस सीमा तक पहुँच चुकी हैं। '१६४० ई० तक स्त्रियों की सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी तथा राजनैतिक प्रतिष्ठा की लहर इतनी ऊँचाई तक उठ चुकी थी कि प्रान्तों तथा स्टेटों की 'विधान सभाओं' को मिलाने पर स्त्री-सदस्यों की सख्या अस्सी होती है और इस प्रकार स्त्रियों के राजनैतिक प्रभाव तथा स्थान की दृष्टि से भारत संसार में तीसर नम्बर का देश ठहरता है।' उनकी इस अनोखी उन्नति का एक कारण यह भी है कि उनकी स्वतन्त्रता तथा उन्नति का आन्दोलन स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय संग्राम से मिल गया था। देश की स्वतन्त्रता की प्राप्ति में उतना अधिक सहयोग और किसी चीज से नहीं मिला जितना महात्मा गाँधी के नेतृत्व में कार्य करने वाले सुन्दर तथा उदार नारीत्व से।

पिछले चालीस या ऐसे ही कुछ वर्षों से भारतीय स्त्रियों ने आश्चर्यजनक प्रगति की है किन्तु अभी यह नहीं कहा जा सकता कि विचार, वाणी तथा कार्य के क्षेत्र में उन्हें वही सफलता मिली है जो बाहरी अनेक देशों की स्त्रियों को मिली है। उत्तरी भारत में पर्दा तथा दक्षिणी भारत में पुरुष अनुगमन पर जोर तथा अपनी अन्य कई बुराइयों के साथ बाल विवाह की प्रथा ने मध्यम तथा ऊँचे वर्ग की स्त्रियों को अत्यावश्यक स्वतन्त्रता से वंचित कर रखा है। गाँवों में, जहाँ शिक्षा तथा राष्ट्रीयता का प्रभाव अभी नहीं फैला है, स्त्रियों की दशा अब भी शोचनीय है।

स्त्री-संस्थाएँ—स्त्री आन्दोलन के इस अध्याय को समाप्त करने से पहिले तीन अखिल भारतीय संस्थाओं की ओर भी, जो एक-एक करके स्थापित हुईं और अब भी कार्य कर रही हैं, सकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा। सबसे पहली संस्था थी 'भारतीय स्त्री संगठन' नाम की जो १६१७ में स्थापित हुई थी और जिसकी डॉक्टर एनी बसेंट प्रेसिडेन्ट थीं। इसका उद्देश्य था देश की सारी नारियों को पारस्परिक तथा मातृभूमि की सेवा के लिए एकता के सूत्र में बाँधना। इसके ही तत्वावधान में देश की प्रमुख चौदह स्त्रियों का एक दल, जिसकी अगुआ श्रीमती सरोजनी नायडू थीं, मि० मान्टेग्यू तथा लार्ड चेम्सफोर्ड से १६१७ के दिसम्बर में मिला और शिक्षा, स्वास्थ्य तथा जच्चा-बच्चा की देख भाल की सुविधा के साथ पुरुषों की बराबरी में स्त्रियों को भी वोट देने के अधिकार की माँग की। दूसरी संस्था है १६२५ में

स्थापित 'भारतीय स्त्रियों की राष्ट्रीय कौंसिल'। यह संस्था सामाजिक सुधार की योजनाओं तथा कार्यों को व्यवस्थित करने तथा भारतीय स्त्रियों को अन्य देशों की स्त्रियों के सम्पर्क में रखने का विशेष प्रयत्न करती है। तीसरी है 'अखिल-भारतीय स्त्री सम्मेलन'। १९२६ के अक्तूबर में दो उद्देश्यों से इसकी स्थापना हुई थी। एक उद्देश्य था बंगाल के शिक्षा-इन्सपेक्टर की चुनौती को स्वीकार करना जो उन्होंने देश की स्त्रियों को दी थी और उन्हें यह बताना कि वह अपनी लड़कियों के लिए किस प्रकार की शिक्षा चाहती हैं। दूसरा था देश में काम करने वाली विभिन्न स्त्री संस्थाओं की शक्ति एक ही बिन्दु पर केन्द्रित करना। वर्तमान समय में यह स्त्रियों की सबसे महत्त्वपूर्ण तथा सक्रिय संस्था है और यह उनको अपने विचारों को व्यक्त करने का बड़ा उपयुक्त मञ्च प्रदान करती है। इसका अधिवेशन साल में किसी एक बड़े शहर में होता है और राजनैतिक विचार-धारा की स्त्रियों में यह संस्था बहुत प्रिय बन गई है। यद्यपि इसकी मूल संस्थापिकाओं का विचार स्त्री-शिक्षा के प्रश्न पर ही अधिक ध्यान देने का था किन्तु अपने तीसरे वार्षिक अधिवेशन में सामाजिक सुधारों को भी अपने कार्य-क्रम में सम्मिलित करके इसने अपना क्षेत्र और अधिक विस्तृत कर लिया। स्त्री शिक्षा, पुरुषों के समान वोट देने का अधिकार, विवाह की उम्र बढ़ाना, अस्पृश्यता निवारण तथा जातीय बन्धनों का विनाश, पर्दा-निवारण, जायदाद के बारे में स्त्री-सम्बन्धी कानूनों में सुधार तथा कानून द्वारा बहु विवाह का निषेध— सम्मेलन का ध्यान आकर्षित करने वाले ये कुछ प्रमुख विषय हैं। इस संस्था का कार्य प्रत्येक वर्ष विस्तृत होता जा रहा है और यह इस बात का प्रमाण है कि हमारा स्त्री समाज अपने कर्त्तव्यों में भी उतना ही जागरूक है जितना अधिकारों से और राष्ट्र निर्माण के महान् कार्य में अपनी शक्ति के अनुसार सहयोग देने के लिए वे पूर्ण रूप से तत्पर हैं। ये सम्मेलन किसी राजनैतिक दल के नहीं होते, संस्था दलगत राजनीति में भाग नहीं लेती किन्तु उन सभी प्रकार के प्रश्नों तथा मामलों पर— राजनैतिक तथा अन्य— विचार करने के लिये स्वतन्त्र है जो विशेषतया स्त्रियों तथा बच्चों से सम्बन्ध रखते हैं। विश्व की स्थायी शान्ति के लिए इसने भारतीय स्वतन्त्रता पर अधिक जोर दिया है। यहाँ उस एकता की भावना पर ध्यान रखना बहुत आवश्यक है जिससे इसके सभी कार्य तथा विचार अनुप्राणित रहे हैं। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई एवं पारसी स्त्रियों में, धर्म और जाति की भावना का परित्याग करके, पारस्परिक सद्भाव उत्पन्न करने तथा उन सभी पर पाश्चात्य स्त्रियों के उदार विचारों की बनाई बढ़ाने में इस संस्था को असाधारण सफलता मिली है। भारतीय उन्नत नारी-समाज ने जाति-पाँति, तथा बड़े छोटे का भेद छोड़ कर सम्मेलन के कार्यों में हाथ बँटाया है और उसे अपनी सहानुभूति दी है।

अखिल भारतीय स्त्री-सम्मेलन के सभापतियों की ओर एक दृष्टि डालने से ही यह स्पष्ट हो जायगा कि उसके कार्यों पर साम्प्रदायिक या संकीर्ण विचारों का प्रभाव

नहीं पड़ा है। इस सूची में महारानी बड़ौदा, भोपाल की स्वर्गीया बेगम, स्वर्गीया श्रीमती सरोजनी नायडू, लेडी आर नीलकंठ, लेडी अब्दुल कादिर, ट्रावनकोर की महारानी, मिसेज कजिन, राजकुमारी अमृतकौर, श्रीमती रामेश्वरी नेहरू, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय, लेडी रामा राव और श्रीमती अनुसूयाबाई काले सम्मिलित हैं। इस सम्मेलन की सदस्यता २७,००० तक पहुँच चुकी है, इसकी ४० शाखाएँ तथा १६४ प्रशाखाएँ हैं।

मुसलमानों का सामाजिक जीवन

भारत में सामाजिक जीवन धार्मिक विचारों तथा कृत्यों से प्रभावित होता है। अपने धार्मिक आदेशों तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण में हिन्दू धर्म तथा इस्लाम एक दूसरे से अलग पड़ते हैं। इन तथ्यों से यह निर्णय किया जा सकता है कि मुसलमानों तथा हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में मूलभूत भेदों का होना अनिवार्य है, लेकिन बात वास्तव में ऐसी नहीं है। साथ ही साथ यह भी नहीं कहा जा सकता कि दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर हैं अवश्य लेकिन इतने मूलभूत नहीं हैं कि नीचे बहने वाली एकता की धारा– इस पर पहले अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है— पर परदा पड़ सके। यह कथन कि मुसलमान में जातिगत कोई भेद ही नहीं है, सम्पूर्ण सत्य नहीं है। जैसा कि इस अध्याय में पहिले कहा जा चुका है, अपना धर्म बदल कर मुसलमान बनने वाले हिन्दू अपने नये रूप में जाति व्यवस्था भी लेते गये। शिया और सुन्नियों में बड़ा अन्तर है, इसके अतिरिक्त शेख सैयदों तथा मुगल पठानों के बीच भी बड़ा दीवार है। इन लोगों में अन्तर्जातीय विवाह नहीं होते। फिर भी, यह मानना पड़ेगा कि भारतीय इस्लाम हिन्दू धर्म से अधिक लोकतन्त्रात्मक तथा जाति पाँति के भेद भाव से उससे कहीं कम प्रभावित है। मुसलमानों को अस्पृश्यता का प्रश्न नहीं हल करना है, वे सभी एक ही बर्तन से पानी पी सकते तथा एक ही जगह बैठ कर खा सकते हैं। अपना जोड़ा ढूंढने के लिये भी उनके यहाँ कम बन्धन हैं, चचेरे भाइयों तथा बहनों में विवाह काफी प्रचलित है। हालाँकि इस्लाम बहुविवाह की आज्ञा देता है और उसे पसन्द भी करता है, फिर भी भारतीय मुसलमान अधिकतर एक ही विवाह करना अच्छा समझते हैं। उनमें भी ऊँचे स्तर के लोग विधवाओं का विवाह ठीक नहीं समझते, यद्यपि उनके धर्म में विधवा विवाह वर्जित नहीं है। उनमें हिन्दुओं की भाँति विवाह धार्मिक बन्धन नहीं, पारस्परिक लाभ के लिए यह एक सौदा है जो तलाक देकर समाप्त किया जा सकता है। फिर भी तलाक कुछ अधिक प्रचलित नहीं है। मुसलमानों की स्त्रियाँ सम्पत्ति की स्वामिनी बन सकती हैं और इस प्रकार अपनी हिन्दू बहनों से वे अच्छी दशा में हैं, लेकिन सब मिलाकर स्त्रियों की मुसलमानों में भी वही दशा है जो हिन्दुओं में। एक बात में तो उनकी हालत हिन्दुओं से भी गयी-गुजरी है ऊँचे स्तर के लोगों में वहाँ पर्दे की प्रथा हिन्दुओं से कहीं अधिक कड़ाई के साथ बरती जाती है।

राजनैतिक चेतना से मुसलमानों की स्त्रियाँ हिन्दू स्त्रियों के मुकाबिले बहुत कम प्रभावित हो पाती हैं।

सिक्खों, जैनियों तथा अन्य छोटे धार्मिक जन-समुदायों का सामाजिक जीवन हिन्दुओं के सामाजिक जीवन से मिलता-जुलता है। पारसियों का समाज कुछ भिन्न अवश्य है। उनमें जाति-भेद नहीं है और वे अच्छी प्रकार शिक्षित और शिष्ट हैं। उनकी स्त्रियों में पर्दे की प्रथा नहीं है, विवाह भी वे शीघ्र नहीं करते। तलाक की आज्ञा स्त्री तथा पुरुष दोनों को है।

अध्याय २ का पूरक

कुछ सामाजिक समस्याएँ

परिचयात्मक— अपने देश के सामाजिक जीवन का उपर दिया हुआ वर्णन अधूरा रह जायगा अगर उन बड़ी समस्याओं की ओर संकेत— संक्षिप्त ही सही— न कर दिया जाय जिनसे हम निबटना है। उसमें से कुछ का, जैसे विधवा विवाह या अछूतोद्धार का सम्बन्ध हमारी उन विभिन्न सामाजिक संस्थाओं तथा व्यवहारों से है जो हमारे सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग बन गये हैं। कुछ समस्याओं, जैसे साम्प्रदायिक प्रश्न, का सम्बन्ध हिन्दू-मुसलमानों के बीच के उस अन्तर से है जिसका प्रयोग अंगरेज शासकों ने अपने 'विभाजन द्वारा शासन' की नीति में किया। कुछ समस्याएँ, जैसे भ्रष्टाचार तथा चोरबाजारी, अभी हाल में उत्पन्न हुई हैं और द्वितीय महायुद्ध के कारण गिरे हुए नैतिक स्तर का ही परिणाम हैं। पिछली दो समस्याएँ केवल भारत में ही प्रचलित नहीं हैं, वे लगभग सारी दुनिया में व्याप्त है, किन्तु यही सोचकर हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

(अ) *असाम्प्रदायिक प्रश्न*— पहिले हम साम्प्रदायिक प्रश्न पर विचार करेंगे। लगभग आधी शताब्दी तक यह बड़ा ही गम्भीर तथा परेशान करने वाला प्रश्न बना रहा और इसी के कारण हम अपने विरोधियों की उपेक्षा और उनका व्यंग्य सहना पड़ा। सौभाग्यवश इसका हल हो-सा गया है और अब यह उतना गहरा तथा तीव्र प्रश्न नहीं रह गया है।

यह समस्या कभी भी शुद्ध रूप से सामाजिक तथा धार्मिक नहीं रही, उसमें राजनैतिक भी शामिल था। यह कहा जा सकता है कि सामाजिक तथा धार्मिक होने की बनिस्बत यह प्रश्न राजनैतिक अधिक था। यह अधिकतर अंग्रेज कूटनीतिज्ञों के उन प्रयत्नों का फल था जिन्हें उन्होंने हिन्दू तथा मुसलमानों को एक दूसरे से अलग रखने की नीयत से किया था। एक दूसरे अध्याय में इस प्रश्न के इस पहलू की विस्तृत विवेचना होगी यहाँ हम केवल उसके धार्मिक तथा सामाजिक पहलुओं का ही निरीक्षण करना चाहते हैं।

साम्प्रदायिक प्रश्न के विषय में पहला ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह मुख्यतया हिन्दू मुस्लिम ही प्रश्न था, कभी कभी यह सिक्ख मुस्लिम भी हो जाता और बहुत ही कम अवसरों पर यह हिन्दू सिक्ख प्रश्न बना। हिन्दू ईसाई या मुस्लिम ईसाई झगड़े का रूप इसने बहुत ही कम या कभी भी धारण नहीं किया। इस स्थिति से स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक विश्वासों तथा कृत्यों के भेद के अलावा समस्या की तह में कोई और चीज भी थी। यदि केवल धार्मिक विश्वासों तथा रीति रिवाजों के भेद से ही साम्प्रदायिक विषमता उत्पन्न हुई होती तो वह सिक्खों ईसाइयों तथा मुसलमान

ईसाइयों के बीच भी होती। इसके अलावा शिक्षा के प्रसार तथा धार्मिक सहिष्णुता की भावना से, जो वर्तमान युग की एक प्रमुख विशेषता है, प्रसार के कारण इन साम्प्रदायिक झगड़ों में कमी आ जानी चाहिए थी। लेकिन इसके ठीक उलटे हम देखते हैं कि जैसे-जैसे वर्तमान शताब्दी बीतती गई, हिन्दू मुस्लिम प्रश्न तूल पकड़ता गया और इसे सबसे अधिक भड़काने वाले शायद पढ़े-लिखे व्यक्ति ही थे। यह बड़े मज़े की बात है कि साम्प्रदायिक झगड़े तभी उभड़ते थे जब कोई राजनैतिक सुधार होने वाला होता। राजनैतिक सुधारों के कार्यान्वित हो जाने के बाद अपेक्षाकृत शान्ति हो जाती। साम्प्रदायिक संघर्ष अपनी चरम सीमा पर उस समय पहुँचा जब अंग्रेज सरकार ने भारत को सत्ता हस्तान्तरित करने की घोषणा की। स्वतन्त्रता के प्रभात से कुछ पहिले ही कलकत्ता तथा नोआखाली के भीषण दंगे हुये। विभाजन के साथ घटने वाली भयंकर घटनाओं के बाद देश में आने वाली साम्प्रदायिक शान्ति इस बात का प्रमाण है कि अंग्रेजी युग में साम्प्रदायिक विरोध धार्मिक या सामाजिक होने से राजनैतिक कहीं अधिक था।

अंग्रेजों की 'विभाजन द्वारा शासन' की नीति का इस समस्या की उत्पत्ति तथा पिछली आधी शताब्दी में उसके विषम रूप से निस्सन्देह बहुत गहरा सम्बन्ध था। लेकिन इस सारे बवाल की जिम्मेदारी अंग्रेजों पर ही लाद देना अपने प्रति औदार्य तथा उनके प्रति कठोरता ही होगी। हमें यह मानना पड़ेगा कि दोनों दलों के सामाजिक सम्बन्धों, उनकी शिक्षा तथा जीवन-प्रणाली में ही कुछ ऐसी खराबी था जिसने मक्कार विदेशियों को अच्छा मौका दिया। चौदहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के बीच के समय में हिन्दू तथा मुसलमानों में पर्याप्त एकता उत्पन्न हो गई थी जिसकी स्पष्ट झलक उस समय के साहित्य, संगीत, चित्रकला, वास्तुकला तथा दादू, कबीर, नानक जैसे सन्तों द्वारा किये गये प्रयत्नों में मिलती है। इन सन्तों ने हिन्दू धर्म और इस्लाम, दोनों के तत्वों को मिश्रित करके उसे एक नयी दिशा दी। उन्नीसवीं शताब्दी की जागृति ने इस नवीन दिशा को धक्का पहुँचाया। हिन्दुओं ने 'वेदों की ओर', 'उपनिषदों की ओर', मुसलमानों ने 'पैगम्बर की ओर' के नारे लगाये और दोनों धर्मों के अनुयायियों का रुख हजारों वर्ष पहिले के महापुरुषों, विभिन्न धार्मिक परम्पराओं तथा रस्म-रिवाजों की ओर मुड़ गया जिसका परिणाम यह हुआ कि दोनों जीवन के कुछ क्षेत्रों में एक दूसरे से बिलकुल अलग हो गये।* जागृति-आन्दोलनों के प्रभाव में पड़कर हिन्दू तथा मुसलमानों ने उस आपसदारी को छोड़ देना प्रारम्भ कर दिया जिसे दोनों ने एक दूसरे से सीखा था। इस प्रकार दोनों के आपसी सम्पर्क तथा सम्मिलित जीवन की बहुत सी चीजें समाप्त हो गईं। अलग-अलग निर्वाचन-क्षेत्रों के निर्माण से जागृति द्वारा उत्पन्न परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को और बढ़ावा मिला। निर्वाचन-क्षेत्र

---

* डाक्टर बेनी प्रसाद : दी हिन्दू मुस्लिम क्वेश्चन, पृष्ठ २५।

की इस व्यवस्था में हिन्दू मुसलमानों को वोट के लिए न केवल एक दूसरे से मिलने की आवश्यकता नहीं थी बल्कि इससे भी बुरी चीज यह हुई कि उसी व्यक्ति के चुने जाने की सम्भावना रहती जो अपनी जाति की भलाई के लिए बातें बना सकता और विरोधी दल की खूब बुराई करता । ऐसे वातावरण म शरारती लोगों को 'मस्जिद के सामने गाना-बजाना', 'पीपल की डाल काटना' या 'गोहत्या' का बहाना लेकर उत्पात मचाने का अच्छा अवसर मिलता । यह ध्यान में रखना चाहिए कि दोनों जातियों के उच्च तथा मध्यम वर्ग के लोग दगे, लूट, लड़ाई, छुरेबाजी और निर्दोष स्त्री पुरुषा पर आक्रमण करने मे भाग नहीं लेते थे , गुन्डे लोग ही ऐसी चीजों में जी खोलकर भाग लेते । हाँ, पर यह सम्भव हो सकता है कि वे कुछ ऐसे पढे लिखे साम्प्रदायिक लोगों के भडकाने पर ऐसा काम करते रहे हों जो अपना कोई मतलब साधना चाहते थे।

स्वतन्त्रता के साथ एक नवीन वातावरण की सृष्टि तथा ऐसे लोगों की कमी जो हिन्दू-मुस्लिम विरोध से लाभ उठाना चाहते हैं, इन दो कारणों से अब देश मे साम्प्रदायिक एकता की भावना फिर से स्थापित हो गई है। इस तथ्य को दृष्टि म रखने पर अतीत में हुए साम्प्रदायिक झगड़ों के कारणों का विवेचन आवश्यक नहीं प्रतीत होता। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि दोनों जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध और गहरे हों, एक दूसरे से सम्पर्क के मौकों में बढती हो और हर व्यक्ति को एक दूसरे के धर्म तथा दर्शन को समझने तथा उसकी प्रशसा करने के अनेक सुअवसर मिलें। स्वाध्याय मडल, सब के लिए एक ही राष्ट्रीय त्यौहार, दोना जातियों के लोगों का एक दूसरे के त्यौहारों मे भाग लेना तथा सम्मिलित निर्वाचन-क्षेत्रों का स्थापना ये कुछ तरीके हैं जिनसे एक दूसरे के अधिक निकट आने के सुअवसर मिल सकते हैं।

पडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में हमारी नवीन सरकार ने दोनों जातिया के बीच की खाई को पाटने के लिए कुछ कदम अवश्य उठाए हैं। उदाहरणस्वरूप रेलवे स्टेशनों पर हिन्दू और मुसलमान जलपानगृह अलग अलग नहीं हैं , 'हिन्दू-पानी', 'मुसलमान पानी' की आवाज भी अब नहीं सुनाई पडती जिसके शोर के मारे पहिले नाकों दम था। अतीत मे ऐसा कोई राष्ट्रीय त्यौहार ही नहीं था जिसे सभी जातिया के लोग मना सकते। 'स्वतन्त्रता दिवस' के रूप में १५ अगस्त, 'राष्ट्र पिता के जन्मदिन' के रूप में २ अक्टूबर, 'राष्ट्रीय दिवस' के रूप में २६ जनवरी तथा अन्य कई महत्त्वपूर्ण दिन इस कमी की पूर्ति काफी हद तक करते हैं। ये दिन ऐसे हैं जब सभी भारतीय जाति-पाँति, जन्म या धार्मिक विश्वास का भेद छोड़ कर एक दूसरे से मिल कर आनन्द मना सकते हैं। सबसे बड़ी शक्ति, जो हिन्दू, मुसलान, ईसाई, सिक्ख, पारसी, सभी को एक विशाल राष्ट्र का सदस्य बना सकती है, यह है धर्म-निरपेक्ष भारतीय राज्य का आदर्श जिसमे जाति, धर्म इत्यादि का भेद-भाव त्याग कर सभी के साथ

समान व्यवहार होगा और सभी अपने अधिकारों का बराबर उपभोग कर सकेंगे। राष्ट्रीय एकता की भावना को पक्की करने के लिए इस कल्पना के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अलग-अलग साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों को तोड़ कर, दस वर्षों तक हरिजनों या पददलित जातियों को छोड़ कर किसी अन्य के लिए स्थान सुरक्षित न करके तथा सम्मिलित निर्वाचन-क्षेत्रों की स्थापना द्वारा संविधान ने इस ओर एक जोरदार कदम उठाया है। स्वतन्त्रता आने के साथ साथ इन नई शक्तियों के विकीर्ण होने से कोई भी यह आशा कर सकता है कि साम्प्रदायिक समस्या बहुत शीघ्र ही केवल अतीत की बात रह जायगी।

राष्ट्रीय क्षितिज पर काले बादलों का एक टुकड़ा अब भी बाकी है किन्तु वह अब छटता जा रहा है। मतलब है राष्ट्रीय-स्वयसेवक-संघ के रूप में हिन्दुओं के एक विशिष्ट भाग में साम्प्रदायिक भावना के उदय से। राष्ट्रीय स्वयसेवक-संघ का उदय एक असाधारण अवसर पर और असाधारण तरीके से हुआ। यह उस मुस्लिम साम्प्रदायिकता के जवाब के रूप में बना जिसको अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने अपना मतलब सिद्ध करने के लिए प्रश्रय तथा उत्तेजना दी थी। हिन्दुओं का संगठन करके और उनमें एकता की भावना का विकास करके राष्ट्रीय-स्वयसेवक-संघ ने कुछ अच्छाई भी की है। लेकिन जिस प्रकार मुसलमानों ने पाकिस्तान को अपना घर तथा वहाँ की सरकार को इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार चलाने की इच्छा प्रकट की है उसी प्रकार यह संस्था भी भारत को हिन्दुओं का राष्ट्रीय घर तथा यहाँ की सरकार को शुद्ध हिन्दू सरकार बनाना चाहती है। संघ का यह उद्देश्य भारत के 'धर्म-निरपेक्ष राज्य' की घोषणा से बहुत दूर पड़ता है। सचमुच यह एक बड़ा विनाशकारी कदम होगा। राष्ट्रीय-स्वयसेवक-संघ की प्रवृत्तियों तथा कार्यों से उत्पन्न वातावरण ही ३० जनवरी १६४८ को दिल्ली वाले गर्हित तथा नीच कार्य के लिए उत्तरदायी है। मातृभूमि के सबसे बड़े पुत्र महात्मा गाँधी की हत्या उस समय हुई जब देश को उनकी सबसे अधिक आवश्यकता थी। राष्ट्रीय स्वयसेवक-संघ के उद्देश्यों तथा मन्तव्यों के विस्तृत विवेचन का यह उपयुक्त अवसर नहीं है। इसका जिक्र केवल इसलिए किया गया है कि यह साम्प्रदायिकता की ज्वाला को प्रज्वलित रखता है तथा देश में स्थायित्व और व्यवस्था का आगमन कठिन बना देता है। आशा की जाती है कि महात्मा गाँधी के सपनों के 'धर्म-निरपेक्ष भारत' का आदर्श भारतीय शीघ्र अपना लेंगे।

हिन्दू-मुस्लिम एकता और महात्मा गाँधी— महात्मा गाधी ने अपने कार्य क्रम में हिन्दू-मुस्लिम एकता को इतना अधिक महत्त्व दिया था कि इस क्षेत्र में उनकी देन के विषय में कुछ शब्द कहना अत्यत आवश्यक है। विदेशी बंधन से छुटकारा पाने के लिए देश के सामने रक्खे उनके रचनात्मक कार्य-क्रम में इस एकता का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी प्राप्ति के लिए उनसे बढ़कर किसी अन्य नेता ने प्रयत्न नहीं किया और यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि इसी की प्राप्ति के लिए

प्रयत्न करते करते उनकी मृत्यु हुई। जब तक वे जीवित रहे, अपने प्रयत्नों मे उन्हें अधिक सफलता न मिली, किन्तु, उनके बलिदान ने इस समस्या को इसके सफल और अन्तिम हल के बहुत समीप ला दिया। नोआखाली म उनके नगे पैर भ्रमण तथा वहाँ मुसलमानों के घर जाकर शान्ति के लिए उनकी अपील ने पाशविकता के तूफान को शान्त कर दिया और स्थिति को और अधिक नाजुक होने से बचा लिया। जब साम्प्रदायिकता के पागलपन ने लाखों मनुष्यों को जड बना दिया था और जब देश के बचे खुचे भागों म भी इस अग्नि के फैल जाने का डर था, उस समय कलकत्ता और दिल्ली म उनकी उपस्थिति का विलक्षण प्रभाव पड़ा। मुसलमानों ने यह अनुभव किया, जैसा कि शायद उन्होंने पहिले कभी नहीं किया था, कि गाँधी जी उनके सबसे बडे मित्र तथा शुभेच्छु थे, और हिन्दुओं ने भी यह समझा कि साम्प्रदायिक घृणा तथा विद्वेष से उनका तनिक भी भला नहीं होगा। हालाँकि उनके जीवन तथा मृत्यु से यह साफ पता चलता है कि साम्प्रदायिक शान्ति तथा एकता स्थापित करने का उनका अपना क्या तरीका था, फिर भी साम्प्रदायिक एकता के तात्पर्य तथा उसे सिद्ध करने के उपायों पर उनके अपने शब्द उद्धृत कर देना लाभप्रद होगा। उनके अनुसार, 'हिंदू-मुस्लिम ऐक्य का सच्चा गौरव अपने अपने धर्म के प्रति सच्चा रहकर भी एक दूसरे के प्रति सच्चा बने रहने म है . हमारे समान उद्देश्य, समान गतव्य तथा समान सुख दुख मे है। एक ही उद्देश्य तक पहुँचने के लिए एक दूसरे का साथ देने, एक दूसरे के दु खो को बँटाने तथा पारस्परिक सद्भाव से ही इसकी सबसे अच्छी वृद्धि होती है। हम सबको एक ही स्थान तक जाना है। हमारी इच्छा है कि हमारा यह महान् देश स्वतन्त्र तथा और भी महान् हो। हमें सुख दुख में एक दूसरे का हाथ बँटाना है ...पारस्परिक सद्भाव की आवश्यकता सभी जातियों के लिए है,और सदैव है। हम शान्ति-पूर्वक नहीं रह सकते यदि हिन्दू मुसलमानों की ईश्वर-उपासना तथा उनके व्यवहारों या रस्म रिवाजों को सहन नहीं कर सकते, या यदि मुसलमान हिन्दुओं की मूर्ति पूजा या गो प्रेम पर उत्तेजित हो उठेंगे . . . हमारे सभी झगडों की जड़ है एक का दूसरे को जबरदस्ती अपने विचार मनाने की जिद करना।'

(ब) *अन्य सामाजिक समस्याएँ*— ऐसी संस्थाओं की उपस्थिति ने, जो हिन्दू जाति से समय के प्रतिकूल व्यवहार माँगती हैं इसके लिये अनेक समस्याएँ पैदा कर दी हैं। हिन्दू जाति का भविष्य इस पर निर्भर है कि हम इन समस्याओं को कैसे हल कर लेते हैं।

जनगणना की रिपोर्ट मे गिनाई गई तीन हजार जातियों तथा उपजातियों ने, जो एक-दूसरे से एकदम अलग हैं, हिन्दू जाति के लिये एक बड़ी भीषण समस्या बना रक्खी है। इसके कारण हिन्दू समुदाय अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गया है जिससे एक सामाजिक भावना का विकास यदि असम्भव नहीं तो कठिन तो अवश्य हो

गया है। इन जातियों में आपस में खान पान कम और विवाहादि तो बिल्कुल होते ही नहीं। जो कुछ भी थोड़ा बहुत आपस में खान-पान तथा विवाहादि होता है वह जातीय नियमों के विरुद्ध है और उनके होते हुए भी चल रहा है। इस भेद-भाव को कम करके एकता तथा शक्ति का निर्माण करना ही हिन्दुओं के सामने एक सब से मुख्य प्रश्न है। किसी समस्या का नाम बता देना उसका हल बताने से कहीं आसान है। हिन्दुओं को इस जंजीर आफत से छुटकारा दिलाने के लिये क्रान्ति से कम शायद किसी अन्य चीज से काम नहीं चलेगा। अस्पृश्यता के कारण उत्पन्न हुई समस्या भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस अध्याय के प्रारम्भ में ही इस विषय पर पर्याप्त कहा जा चुका है।

भारतीय स्त्रियों की निरक्षरता तथा उससे उत्पन्न उनकी पुरुषों की दासता एक दूसरी प्रमुख बुराई है जिसके सम्मिलित परिणाम अन्त में विनाशकारी ही हैं। जब तक स्त्रियाँ निरक्षर हैं, सामाजिक उन्नति असम्भव है। मनुष्य स्वयं उन्नति भले ही कर ले, पर उसके साथ साथ बिना स्त्रियों की उन्नति के, उसके घरों की दशा में सुधार असम्भव है। स्त्रियों के आगे बढ़े बिना समाज आगे नहीं बढ़ सकता। यह समय का उज्ज्वल चिह्न है कि राष्ट्रीय उत्थान की लड़ाई में भारतीय स्त्रियों के महत्त्वपूर्ण भाग लेने के कारण अनेक परिवर्तन हुए हैं। ये परिवर्तन ऐसे हैं जो भविष्य के लिए एक आशा देते हैं। लेकिन ये परिवर्तन केवल शहरों तक ही सीमित हैं, और वहाँ भी समाज के सीमित अंग तक। मध्यम तथा उच्च वर्ग की स्त्रियों की एक बड़ी संख्या अब भी जनानखाने में बन्द, परतन्त्र और असहाय है। ग्रामीण क्षेत्रों में भी स्त्रियों की दशा पिछड़ी तथा अवनतिशील है। वहाँ उनकी शिक्षा के लिए सुविधाएँ कम या बिल्कुल ही नहीं हैं और ग्रामीण घरों तक राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव अभी तक नहीं पहुँचा है। इस प्रकार, स्त्री-शिक्षा हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण समस्याओं में है। यही वह कुंजी है जिससे अनेक दरवाजे खुल सकते हैं।

स्त्रियों की उन्नति के रास्ते में पर्दे की प्रथा भी एक बड़ा अड़चन है। स्त्री शिक्षा के मार्ग में यह केवल एक बड़ी अड़चन ही नहीं है बल्कि स्त्रियों के स्वास्थ्य तथा साधारण ज्ञान पर भी इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रीय आन्दोलन ने इस बुराई को बहुत सीमा तक दूर किया है। हजारों स्त्रियाँ लड़ाई में भाग लेने के लिए घर के बन्धन तोड़ कर बाहर निकल आईं। जिस प्रकार वे अपने बन्धनों को तोड़ कर बाहर निकलीं वह हमारे नारीत्व के प्रति एक शुभ देन है। लेकिन अभी यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रथा का अन्त हो गया। जिस किले को जीतना है उसकी दीवार में अभी एक दरार भर पड़ी है।

सम्पत्ति की स्वामिनी बनने में स्त्रियों की कानूनी असमर्थता, पति तथा उसके अन्य सम्बन्धियों के बुरे व्यवहार के प्रति उसकी विवशता कुछ अन्य बुराइयाँ हैं

जिनका निराकरण अत्यावश्यक है। जैसा कि दूसरे सम्बन्ध में कहा गया है इन असमर्थताओं को दूर करने का प्रयास धारा-सभाओं में पेश किये गये प्रस्तावों द्वारा हो रहा है। पैतृक सम्पत्ति में स्त्रियों के अधिकार का प्रश्न कुछ ऐसी विकट समस्याएँ उत्पन्न कर देता है जिनमें हम यहाँ पड़ना नहीं चाहते। इस दिशा में कोई उतावला कदम नहीं उठाना चाहिए।

विवाह सम्बन्धी कुछ परम्पराओं में भी सुधार की आवश्यकता है। बाल विवाह की प्रथा पर पहले ही विचार हो चुका है। सम्मिलित परिवार की प्रथा के कम होने के कारण उसकी स्थिति की आवश्यकता तथा उसके बुरे प्रभावों को रोकने वाली बातें, सभी समाप्त हो गई हैं। जल्दी ही मातृत्व का बोझ सभालने के लिये विवश करने तथा स्त्रियों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालने के कारण बाल विवाह की प्रथा ने हिन्दू-समाज को अचिन्त्य हानि पहुँचाई है। कानून द्वारा इस प्रथा को समाप्त करने के प्रयत्न किये गये हैं लेकिन उनमें अधिक सफलता नहीं मिली है। इसे कम हानिकर बनाने के प्रयत्न में विवाह की उम्र पहले दस और फिर बारह कर देने से कोई विशेष फायदा नहीं हुआ। जनता की भावना तथा इसके विरुद्ध उसकी ऊँची आवाज ही इसका एक मात्र इलाज है।

विवाह में दहेज की प्रथा भी एक बहुत बड़ी सामाजिक बुराई है। देश तथा समाज के कुछ भागों में यह अन्य भागों की बनिस्बत अधिक व्यापक रूप से प्रचलित है। इस प्रथा के कारण गरीब माँ-बाप के लिए लड़की का विवाह कितना कठिन हो जाता है। कभी-कभी ऐसी घटनाएँ भी हुई हैं जब माँ-बाप को चिन्ता से मुक्त करने के लिए लड़की ने आत्म हत्या तक कर ली है। यह एक ऐसी बुराई है जिसे कानून द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता, इसके विरुद्ध जनता की जोरदार आवाज ही काम दे सकती है।

हिन्दू विधवाओं की दयनीय दशा तथा उनकी बड़ी सख्या के—दो करोड़ से वे कुछ ही कम हैं—कारण विधवाओं का पुनर्विवाह भी एक बड़ी और प्रमुख सामाजिक समस्या है। जवान लड़कियों के ऊपर बलपूर्वक लादे गये वैधव्य से अनेक गम्भीर सामाजिक बुराइयाँ उत्पन्न हो गई हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के दिनों से ही धार्मिक सुधारकों ने विधवाओं के पुनर्विवाह पर जोर दिया है और इस विचार का अधिक से अधिक प्रसार करने के लिए अनेक संस्थाओं की सृष्टि हुई है। यह नहीं कि कुछ प्रगति नहीं हुई लेकिन वह बहुत ही कम है। कट्टर तथा सकीर्ण हिन्दू विचारधारा के लिए विधवा विवाह की बात अब भी घृणास्पद ही है।

*हालाँकि हिन्दू धर्म तथा इस्लाम दोनों ही एक से अधिक विवाह की आज्ञा देते हैं, फिर भी दोनों धर्मों के अनुयायियों की एक बड़ी संख्या एक ही विवाह करती है। ऊपर के तबके के कुछ इने-गिने परिवारों तथा शान-शौकत वाले कुछ सीमित

क्षेत्रों में ही बहु विवाह की प्रथा अब भी प्रचलित है। भारतीय जीवन मे बहु-विवाह के सामाजिक प्रभाव महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। फिर भी, यह आवश्यक है कि इस प्रथा का अन्त हो जाय। हिन्दू कोड बिल में ऐसी एक धारा है।

दूसरी प्रथा, जो सौभाग्यवश अब समाप्त कर दी गई है तथा जिसका जिक्र किया जा सकता है, वह है मन्दिरों की सेवा के लिए लड़कियों का दान। गो उनका कार्य मन्दिरों मे देवताओं के सामने तथा सामाजिक त्यौहारों तथा उत्सवों के अवसरों पर नाचना गाना था लेकिन इस प्रथा ने एक प्रकार के भयकर व्यभिचार को जन्म दिया है। जाँच मे देवदासी के रूप जानी जाने वाली ऐसी स्त्रियों की सख्या मद्रास मे दो लाख से भी अधिक आँकी गई थी। मद्रास प्रान्त की धारा-सभा में डाक्टर मुथुलक्ष्मी ने १९२८ मे एक बिल बड़ी सफलता के साथ पेश किया जिसने मन्दिरों मे लड़कियाँ अर्पित करने की इस प्रथा का अन्त कर दिया।

हमारे विवाहों तथा त्यौहारों की एक विशेषता है उसका अत्यधिक खर्च जिससे समाज के निम्न स्तर के लोगों पर काफी बुरा प्रभाव पड़ता है। यह बात तो सभी जानते हैं कि हमारी कमाई का एक अच्छा भाग ऐसे उत्सवों मे खर्च होता है। अब वह समय है कि उन्हे सरल तथा कम-खर्च बना दिया जाय। समाज के पढे लिखे तथा समझदार सदस्यो का यह कर्त्तव्य है कि वे अपनी तथा दूसरों की भलाई के लिए इस मामले मे अगुआ बनें।

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने नशाबन्दी को अपने कार्य-क्रम मे प्रमुख स्थान दिया था, और यदि १९३७ म पद स्वीकार करने वाले काग्रेसी मन्त्रिमंडल कुछ और वर्षों तक बने रहते तो उन्हे अपने प्रयत्नों म उसी समय सफलता भी मिलती। शराब पीने की बुरी प्रथा के कारण देश म त्राहि-त्राहि मची हुई है। मौजूदा प्रान्तीय सरकारों ने एक निश्चित समय के अन्दर पूरी-पूरी नशाबन्दी की नीति अपनाई है।

गर्भ नियत्रण तथा तलाक के प्रश्नो का थोड़ा वर्णन करके हम प्रमुख सामाजिक समस्याओं की इस छोटी विवेचना को समाप्त कर सकते हैं। गर्भ नियत्रण तो अभी हाल की चीज है और किसी भी सस्था ने इसे अभी व्यवस्थित रूप से नहीं अपनाया है। देश की बढ़ती हुई गरीबी तथा आबादी ने इस प्रश्न को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। केवल आबादी रोकने के लिए ही नहीं बल्कि उन [illegible] के लिए भी यह उपयोगी बताया जा रहा है जिनका स्वास्थ्य अधिक बच्चे पैदा करने के कारण गिर गया है। कुछ लोग गर्भ नियत्रण को आवश्यक किन्तु कृत्रिम उपायों का उपयोग अनुचित बता सकते हैं। महात्मा जी ने एक बार इस उद्देश्य को सामने रखकर दस या कुछ ऐसे ही वर्षों तक विवाहों का रोक देने की राय दी थी। इस प्रश्न पर फिर अधिक जोर नहीं दिया गया।

इस्लाम तथा ईसाई धर्म तलाक की आज्ञा देते हैं किन्तु हिन्दू धर्म नहीं। यदि कोई पति अपनी पत्नी के साथ बुरा व्यवहार करता है या उसकी उपेक्षा करता है तो हिन्दू धर्म में उसका कोई इलाज नहीं है। ऐसी असहाय स्त्रियों की सहायता करने तथा हिन्दुओं में एकपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित करने के उद्देश्य से कुछ उत्साही सुधारकों ने हिन्दुओं के बीच भी तलाक प्रचलित करने की राय दी है। बड़ौदा राज्य ने एक तलाक कानून भी पास किया था, किन्तु उसका उपयोग अधिक नहीं हुआ। राष्ट्रीय संसद के सामने यह प्रश्न है, हिन्दू कोड बिल की एक धारा का सम्बन्ध तलाक से है। ऐसे निर्णय के पक्ष में लोगों की राय अधिक नहीं मालूम होती। जीवन के हिन्दू दृष्टिकोण तथा विवाह को एक धार्मिक कृत्य मानने की उसकी कल्पना से इस प्रथा का मेल नहीं खाता। तलाक को प्रश्रय देना अपने आदर्शों तथा संस्कृति से अलग जाना होगा।

सामाजिक सुधार और राज्य का कर्तव्य

पिछली लगभग एक शताब्दी से इन तथा अन्य बुराइयों को दूर करने के लिए सुधारवादी संस्थाओं तथा व्यक्तिगत रूप से सुधारकों ने भी अनेक प्रयत्न किये हैं। देश के धार्मिक जीवन पर विचार करते समय उनका वर्णन एक अलग ही अध्याय में होगा। इन प्रयत्नों से सामाजिक सुधार का अर्थ आगे बढ़ा अवश्य है किन्तु वह पढ़े-लिखे स्तर तक ही सीमित है। उसमें भी कुछ क्षेत्रों में प्राप्त सफलता प्रशंसनीय नहीं है। हालाँकि विवाह की उम्र बढ़ा दी गई है फिर भी ऐसे सम्बन्धों में जाति पाँति का विचार किया ही जाता है और इनसे सम्बन्धित उत्सवों में खर्च तो अब भी उसी विनाशकारी रूप से चल रहा है। विधवाओं की संख्या में भी अभी कोई खास कमी नहीं आई है, और अस्पृश्यता का दानव भी अभी अच्छी प्रकार पराजित नहीं हुआ है। जनमत की शिक्षा के द्वारा सुधार करने में देर अवश्य होती है और वह भी भारत जैसे देशों में जहाँ जनता अशिक्षित और अन्धविश्वासी है और उन पर धर्म का पंजा भी गहरी है। इस कारण कुछ प्रगतिशील सुधारकों ने यह माँग रक्खी है कि व्यक्तिगत रूप से सुधार करने वाले व्यक्तियों तथा सुधारवादी समुदायों के प्रयत्न को सरकार कानून बनाकर आगे बढ़ाये। उनका कहना है कि एक कानून पास करके बाल विवाह, अनैच्छिक वैधव्य, दहेज प्रथा तथा द्विपत्नीकरण (bigamy) को जुर्म ठहराया जाय जैसे छूआछूत को कर दिया है। यदि सती और लड़कियों की हत्या की घृणास्पद प्रथा राज्य द्वारा दबाई जा सकती है तो कोई कारण नहीं है कि वैसा ही कदम छूआछूत तथा अनैच्छिक वैधव्य समाप्त करने के लिए भी क्यों न उठाया जाय। सामाजिक सुधार के मामले में न तो ब्रिटिश सरकार न इधर थी न उधर। आवश्यकता तथा सिद्धान्त दोनों ही कारणों से इसने अपनी हस्तक्षेप न करने की नीति की घोषणा कर दी थी। सिद्धान्त-रूप से यह धार्मिक भावनाओं को ऐसे कार्यों से रोकना नहीं चाहती थी जिसे लोग

अपने धार्मिक अधिकारों पर कुठाराघात या हस्तक्षेप समझते हैं। अवसर के विचार से वह इन मामलों को कानूनी कागजों पर चढ़ाने में हिचकती थी क्योंकि वह जानती थी कि जनता का पक्ष न मिलने से वह चीज बराबर निरर्थक पड़ी रहेगी। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्नों से १८५६ में पास हुए 'विधवा-पुनर्विवाह ऐक्ट' से स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ क्योंकि वह जनता की इस धारणा के विरुद्ध पड़ता था कि मृत्यु भी वैवाहिक बन्धन को काटने में असमर्थ है। यही हाल उस ऐक्ट का भी हुआ जिसने १८२५ में बाल-विवाह की बुराइयाँ कम करने के लिए पहले रजामन्दी की उम्र (Age of consent) दस वर्ष, फिर बारह वर्ष और अन्त में तेरह कर दी थी। यह कानून केवल जजों, वकीलों तथा कुछ पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रहा, जनता का इससे कोई सम्बन्ध न था। 'बाल-विवाह-नियन्त्रण ऐक्ट' तक, जिसके अनुसार १८ वर्ष से कम लड़कों तथा १४ वर्ष से कम लड़कियों का विवाह जुर्म है, निरर्थक सिद्ध हुआ जिसका कारण कुछ यह भी हुआ है कि इसका उस चीज से मेल नहीं खाता जिसे मूर्ख लोग धर्म का उच्चतर सिद्धान्त मानते हैं।

कट्टर तथा संकीर्ण भारतीय विचारधारा ने कानून द्वारा सामाजिक सुधार का विरोध इसलिए भी किया है कि सामाजिक कृत्यों के लिए धर्म ने अनुमति प्रदान की है और अङ्गरेज सरकार ने धार्मिक भावनाओं का आदर करने की प्रतिज्ञा की थी। समाज-सुधार के विरोधियों के विक्षिप्त प्रलाप को हमें कोई महत्व नहीं देना चाहिए, राज्य द्वारा बनाये कानूनों का हम केवल इसलिए आदर करते हैं कि धर्म के नाम पर जिन विभिन्न सामाजिक रस्म-रिवाजों के बचाये रखने की बात कही जाती है वे वास्तव में धर्म द्वारा अनुमोदित नहीं हैं। उदाहरण के लिए, छुआछूत कभी भी धर्म की स्वीकृति नहीं पा सकती। जो धर्म इसे स्वीकार करता है वह धर्म नहीं है। उसी प्रकार जो धर्म अवस्था आने से पहले ही लड़कियों के विवाह की आज्ञा देता और उसे व्यवहार-रूप में देखना चाहता है तथा जो बाल विधवाओं के दुबारा विवाह में रोड़ा अटकाना चाहता है वह सभ्य समाज द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता। हिन्दुत्व के नाम पर इन रीतियों की रक्षा करना सरासर अनाचार है।

अब देश में उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार शासन कर रही है और इसकी व्यवस्थापिका सभाओं में भी जनता द्वारा चुने हुए लोग, जिनका धर्म तथा संस्कृति भी वही है जो जनता की है, कार्य कर रहे हैं, इसलिए समाज-सुधार के कार्यों में सरकारी सहायता पर किसी को आक्षेप करने की गुंजायश नहीं है। सामाजिक सुधारक को जब तक सरकारी सहायता नहीं मिलती तब तक सुधार के कार्यों में सुस्ती रहेगी ही। लेकिन किसी बुराई के विरुद्ध सरकारी कानून बनवाने से पहिले समाज-सुधारक का यह कर्त्तव्य है कि वह लोक-मत को अपने पक्ष में करे, नहीं तो उसके उद्देश्यों की भी वैसी दशा होगी जो अफगानिस्तान में समाज-सुधार का प्रयत्न करने वाले बादशाह अमानुल्ला की हुई थी। उस सुधारवादी बादशाह को गद्दी से हाथ धोना पड़ा था।

(स) *युद्धोत्तर सामाजिक समस्याएँ*— अन्त में नैतिक पतन, घूसखोरी, नफाखोरी तथा चोरबाजारी जैसी कुछ बुराइयों का जिक्र कर देना आवश्यक है जो द्वितीय महायुद्ध की देन हैं और सारे संसार में फैली हुई हैं। यद्यपि भारत युद्ध-स्थल नहीं बना फिर भी उसके ऊपर युद्ध का गहरा प्रभाव पड़ा और वह उस नैतिक पतन से न बच सका जो युद्ध में भौतिक सम्पत्ति के विनाश तथा मानव जीवन एवं मानवी मूल्यों की अत्यधिक उपेक्षा के *कारण अवश्यम्भावी सा हो जाता है। युद्ध पर उतारू राष्ट्र की दृष्टि में किसी* प्रकार लड़ाई जीतना ही एक उद्देश्य होता है, अन्य चीजें तो इसी मुख्य उद्देश्य की अनुगामिनी हुआ करती हैं। ऐसी परिस्थितियों के बीच सत्य तथा नैतिकता की सब-से पहिले हत्या होती है, और इसका प्रभाव लड़ाई समाप्त होने के बहुत दिन बाद तक बना रहता है। आज हमारे देश में भी यही हो रहा है। युद्ध के समय औद्योगिकों, उत्पादकों तथा व्यापारियों ने सरकार तथा जनता को धोखा देकर वर्णनातीत लाभ उठाया है। परिस्थिति की विषमता रोकने के लिये सरकार ने नियन्त्रण की नीति अपनाई जिससे चोरबाजारी, घूसखोरी तथा अन्य प्रकार के नैतिक पतनों का प्रारंभ हुआ जो अब भी हैं। केवल जोरदार भाषा तथा ऊँची आवाज में इन चीजों की बुराई करने से ही उनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। नैतिक नियमों की पुनः स्थापना ही इनसे छुटकारा दिला सकती है। जब तक प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में नैतिकता का उदय नहीं होगा, इन बुराइयों की समाप्ति असम्भव है। सरकार द्वारा अपनाये गए तरीकों को तब तक सफलता नहीं मिल सकती जब तक उसे जनता का सहर्ष सक्रिय सहयोग न मिल जाय। बुराइयों के लिये सरकार को कोसने से अच्छा है देश में नैतिक वातावरण की सृष्टि के लिये सचेष्ट होना। हमें यह तय कर लेना चाहिये कि हम किसी काम के लिए न किसी सरकारी नौकर को घूस दें, न स्वयं लें, जीवन में अपने कर्तव्यों का पालन निष्काम भाव से करें जैसा कि भगवान् ने अपने दैवी गीत— भगवद्गीता— में कहा है।

इस सम्बन्ध में उन शरणार्थियों के पुनर्वासन की बीहड़ समस्या का भी निर्देश आवश्यक है जिन्हें पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान से अपना घर बार छोड़कर इस देश में उन परिस्थितियों में आना पड़ा जिनका वर्णन दर्द तथा कष्ट की साक्षात् मूर्ति खड़ी कर देता है। विशालता तथा जटिलता में यह समस्या अपना सानी नहीं रखती। स्वयं शरणार्थियों तथा जनता के सहयोग के बिना कोई सरकार इसे हल नहीं कर सकती। इसका विस्तृत वर्णन न यहाँ आवश्यक है न सम्भव, संकेत मात्र पर्याप्त होगा।

अध्याय ३

भारत का आर्थिक जीवन

परिचयात्मक— किसी देश में जिन परिस्थितियों के अन्दर धन का उत्पादन, वितरण तथा उपभोग होता है उनका वहाँ के निवासियों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और उस देश के नागरिक जीवन का कोई भी विद्यार्थी इस प्रभाव की उपेक्षा नहीं कर सकता। ये परिस्थितियाँ लोगों के चरित्र का निर्माण करती हैं और उनकी जीवन-पद्धति निश्चित करती हैं। इसलिए हम भारतीयों के आर्थिक जीवन पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

भारत में गरीबी— इस विषय में सबसे अधिक ध्यान देने की चीज यह है कि देश की आबादी की एक बड़ी संख्या अपनी जीविका के लिये भूमि पर निर्भर है। सत्तर प्रतिशत से भी अधिक लोग खेती में लगे हुए हैं। इसका अर्थ यह है कि भारत का आर्थिक जीवन मुख्यतया ग्रामीण है, शहरी नहीं। उसके ग्रामीण आर्थिक जीवन की विशेषता है लोगों की भीषण गरीबी। समय-समय पर विभिन्न संस्थाओं द्वारा आँकी गई फी आदमी की आमदनी से इस विषय में कोई शंका नहीं रह जाती। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने ४२ रु० प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष आँका था। डा० राव ६२ रु० बताते हैं। अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ के सेक्रेटरी प्रोफेसर जे० सी० कुमारप्पा को गुजरात में मातुर तालुका के पचास गाँवों की जाँच से यह पता लगा था कि भारत में औसत आमदनी बहुत ही कम है। १९३१ में विभिन्न देशों में फी आदमी आमदनी की नीचे दी हुई संख्याएँ अपनी कहानी स्वयं कहती हैं— संयुक्त राष्ट्र अमेरिका १४०६ रु० ; ग्रेट ब्रिटेन ९८० रु० ; फ्रान्स ६२१ रु० ; जापान २१८ रु० ; कैनाडा १६३८ रु० ; आस्ट्रेलिया ७५२ रु० ; जर्मनी ६०३ रु०, भारत ६२ रु०।

यूरोपीय शहरों में भारतीय राजाओं तथा धनिकों के पानी की तरह रुपया बहाने तथा इस बात के बावजूद भी कि भारत कभी समृद्धि की खान था जहाँ दूध और मधु की नदियाँ बहती थीं, भारतीय जनता की गरीबी एक मान्य तथ्य है। सभी सुधारकों को इस स्थिति पर पहले ध्यान देना चाहिए। पिछली शताब्दी में १८७० के बाद के दस वर्षों में भारतीय सरकार के जन-गणना के डाइरेक्टर सर विलियम हन्टर ने इस कथन की पुष्टि की थी। उनके एक लिखित कथन के अनुसार भारत के २४ करोड़ प्राणियों में ४ करोड़ आदमी इस दयनीय गरीबी में जीते और मर जाते हैं कि उन्हें यह पता नहीं चलता कि भरपेट भोजन किसे कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि देश की एक-पाँचवीं जन-संख्या भोजन की कमी के कारण स्थायी गरीबी की दशा में रहती थी और इस प्रकार बड़ी मुसीबत से

अधभूखी जिन्दगी बिता रही थी। इसके काफी बाद भारत सरकार के एक दूसरे गणना करने वाले विशेषज्ञ सर जर्ज ग्रिर्सन ने यह लिखा कि देश की आबादी की ४५ प्रतिशत जनता अपर्याप्त रूप से भोजन पाकर रहती है। दूसरे शब्दों मे लगभग दस करोड व्यक्ति अत्यधिक दीनता की दशा मे रहते थे। पजाब सरकार के एक सदस्य डा० मनोहरलाल ने, जो एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री भी थे, १९१६ मे लिखा था कि 'गरीबी, पीस डालने वाली गरीबी, हमारी राष्ट्रीय तथा आर्थिक दशा की भीषण विशेषता है, और मेरे विचार से यह जनता के अज्ञान तथा निरक्षरता से भी बढ़ कर परेशान करने वाली बात है। मानसिक तथा शारीरिक भूख का यह वास्तविक चित्र है। सभ्य मानवता न किसी भी अङ्ग का जीवन ऐसा न होगा।'* दक्षिण में कई औसत गाँवों की जाँच पडताल के बाद डाक्टर मैन भी इसी नतीजे पर पहुँचे। इण्डियन मेडिकल-सर्विस के अवकाश-प्राप्त डाइरेक्टर-जनरल सर जॉन मेगॉ ने यह अनुमान लगाया था कि प्रतिदिन प्रति प्रौढ औसतन साढे तीन औंस या दो छटाँक से भी कम दूध तथा एक तोला याना आधा औंस मक्खन पाता है। उनके अनुसार इकसठ प्रतिशत लोगों को बहुत बुरा पोषण मिलता है।

इस गरीबी के विभिन्न परिणाम हैं। भोजन की कमी ने लोगों की जीवन शक्ति इस हद तक कम कर दी है कि बीमारियों को रोक न सकने के कारण वे अत्यधिक सख्या में महामारियों के शिकार हो जाते हैं; जैसे, १९१८ की इन्फ्लुएन्जा महामारी मे तथा बगाल और बिहार आदि की १९४३ तथा १९४४ की महामारिया म लाखों आदमी मर गये। मलेरिया स भी हर साल बहुत अधिक आदमी मर जाते हैं। हर साल लगभग दस लाख आदमी मरते हैं और इससे भी अधिक आदमी बहुत दिनों के लिए बेकाम हो जाते हैं। बीमारी के कारण वे कमजोर, चिड़चिडे तथा परिश्रम के अयोग्य हो जाते हैं। इसका केवल राष्ट्र की उत्पादन शक्ति पर ही प्रभाव नहीं पडता बलिक इससे लोगों का इच्छा-शक्ति का भी ह्रास हो जाता है और लोगों का नैतिक स्तर नीचे गिर जाता है। वे विदेशी राष्ट्रों के साथ प्रतियोगिता मे नहीं टहर सकते और परिणामस्वरूप समय की दौड मे पिछड जाते हैं; इस तरह देश कमजोर तथा पिछडा रहता है। सुधारकों का कार्य कठिन हो जाता है और लोग एक अनैतिक वातावरण में घिरे रहते हैं, गरीब होने के कारण वे उन्नति नहीं कर सकते और उन्नति न करने के कारण वे गरीब बने रहते हैं।

समृद्ध भारत को दीन और भुक्खड बनाने मे अनेक बातों का उत्तरदायित्व है। उनमे से सबमे प्रमुख कदाचित् ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा भारतीय उद्योगों का विनाश था जिसे इगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति ने प्रेरित किया था। कम्पनी ने अपनी राजनैतिक शक्ति का प्रयोग भारत मे बनी चीजों का एक भाग से दूसरे भाग में जाना

* एण्ड्रूज द्वारा उद्धृत : 'दी ट्रू इण्डिया', पृष्ठ १५८।

बन्द करने में किया, उधर इंगलैंड में तेजी से सस्ती चीजों का बनना प्रारम्भ हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय माल की जगह भारतीय कच्चे माल की माँग बढ़ गयी, और वह भी केवल बाहर ही नहीं बल्कि अपने देश में भी। भारत के रेलवे अधिकारियों द्वारा अपनायी नीति ने इस कार्य में और भी सहायता की। भारत सरकार की व्यापार तथा अदला बदली (Tariff and exchange) की नीति ने भारतीय उद्योगों के विनाश-कार्य को पूरा कर दिया। इन सब बातों का विस्तृत वर्णन यहाँ अनावश्यक है।

भारतीय उद्योगों के विनाश का एक परिणाम यह हुआ कि भूमि पर निर्भर रहने वालों की संख्या बहुत बढ़ गई। सैकड़ों हजारों आदमी जो कपड़ा बनाने सम्बन्धी कातने, बुनने, धोने, रंगने, छापने, जैसे काम में, लोहा पिघलाने और लोहे तथा फौलाद के औजार बनाने, कागज बनाने तथा अन्य उद्योगों में लगे हुए थे, कोई दूसरा चारा न रहने पर खेती की ओर मुड़ गये। फिर, लाखों आदमी जो राजाओं के यहाँ तथा अन्य बड़ी जगहों में सिपाही थे, सब बेकार होकर खेती में लग गये। रेल बन जाने से माल के लाने और ले जाने में लगे हुए हजारों आदमियों पर भी बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। विदेशी व्यापार पर अंग्रेजों का एकाधिकार हो गया। इन तमाम उत्पादन क्षेत्रों के विनाश का परिणाम लोगों की गरीबी के सिवाय और क्या हो सकता था?

१८७२ में २२ करोड़ से १९४१ में ३९ करोड़ आबादी हो जाने के कारण भी भूमि पर भार बहुत अधिक हो गया। पिछले ६० वर्षों में जीविका के लिए भूमि पर निर्भर रहने वालों की संख्या करीब करीब दुगुनी हो गई है। खेती जैसे सीमित विस्तार वाले काम में जितने ही अधिक आदमी लगेंगे, सीमान्त लाभ उतना ही कम होगा। इस लिए हमारे किसान यदि गरीब हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। सहायक पेशों की कमी तथा वर्ष के कुछ महीनों में बेकारी, देश के अनेक भागों में भूमि का त्रुटिपूर्ण बन्दोबस्त, भूमि पर भारी कर, किसानों पर भारी कर्ज तथा सूद की ऊँची दर, मुकदमेबाजी तथा विवाहादि उत्सवों पर बेकार खर्च, हमारे देश की गरीबी के प्रमुख कारण हैं।

गरीबी दूर करने के लिए कुछ सलाह— भारतीय जनता की गरीबी के प्रमुख कारण ऊपर दिखाये जा चुके हैं। उनमें निम्नलिखित चीजें हैं: घरेलू उद्योग-धंधों का विनाश, काम तथा रोजगार के उन तमाम रास्तों का बन्द होना जो पहिले लोगों के लिए खुले हुए थे, भूमि पर अत्यधिक भार, आबादी की बढ़ती, खेती का पिछड़ा तरीका और मानसून पर इसकी निर्भरता, भूमि का त्रुटिपूर्ण बन्दोबस्त, भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजन, कर का अत्यधिक भार, मुकदमेबाजी तथा उत्सवों में बेकार खर्च, जनता का अज्ञान तथा निरक्षरता। यदि गरीबी दूर करनी है तो गरीबी लाने वाली चीजें भी दूर होनी चाहिएँ, जीविका के लिए भूमि पर निर्भर रहने वाली जनता के अनुपात में तो कमी आनी ही चाहिए। इसका अर्थ है नये नये पेशों तथा रोजगार के जरियों की ईजाद तथा विकास। हमें लोगों को काम में लगाने के लिए घरेलू

तथा बड़े उद्योग धन्धों का विकास करना चाहिए। स्वतन्त्रता आने के साथ-साथ पढ़े लिखे नवयुवकों के लिए नये-नये काम खुल गये हैं। देश को अपनी रक्षा के लिए एक बड़ी और सुसज्जित सेना, वैज्ञानिकों तथा कुशल कारीगरों, अध्यापकों, डाक्टरों तथा गाँवों में काम करने के लिए कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है। भारत-सरकार द्वारा कुछ समय पहिले बिठाई 'वैज्ञानिक मानव-शक्ति कमेटी' ने यह हिसाब लगाया है कि आनेवाले दूसरे पाँच से दस वर्षों तक भारत को ५०,००० वैज्ञानिक तथा टेकनिकल मानव शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी। महात्मा गाँधी द्वारा स्थापित किये 'अखिल भारतीय ग्रामोद्योग' तथा 'अखिल भारतीय चर्खा संघ' करते हुए घरेलू उद्योग धन्धों को जीवित तथा स्थायी रखने में बड़ा कार्य कर रहे हैं। राज्य को भी उनकी सहायता अवश्य करनी चाहिए।

ज़मीन की प्रति एकड़ पैदावार बढ़ाना भी उतना ही आवश्यक है। देश का उत्पादन और बढ़ाना पड़ेगा नहीं तो विनाश अवश्यम्भावी है। इसके लिए मानसून की गुलामी से छुट्टी पाने के लिए सिंचाई की व्यवस्था, खेती के उन्नत तरीकों, जिसमें अच्छे बीज, खाद तथा खेती की उन्नति की अन्य चीज़ें सम्मिलित हों, छोटे-छोटे भूमि के टुकड़ों की चकबन्दी तथा ग्रामीणों में पारस्परिक सद्भाव की भावना के विकास की आवश्यकता है। राज्य सरकारों के विकास बोर्डों द्वारा इस दिशा में काफी काम हो रहा है। ज़मीन के छोटे छोटे टुकड़ों की चकबन्दी बिना उपयुक्त कानून के नहीं हो सकती। किसी भी राज्य में इस दिशा में प्रयत्न नहीं हुआ है।

बाढ़, कीड़े मकोड़ों, टिड्डियों आदि द्वारा खेतों का सर्वनाश रोकने का भी प्रयत्न होना चाहिए। सरकार इस दिशा में भी कुछ न कुछ कर रही है।

किसानों को अपनी चीजें बाजार में बेचने की सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ। इसके लिए सहकारी क्रय-विक्रय सोसाइटियों का संगठन होना चाहिए। वस्तुओं को गाँवों से शहरों में ले जाने के लिए यातायात की व्यवस्था होनी चाहिए।

भूमि की इस व्यवस्था का, जिसके अनुसार ज़मींदार स्वयं नहीं पैदा करता, बल्कि भूमि किसानों को लगान पर दे देता है, अन्त होना चाहिए। हर्ष का विषय है कि ज़मींदारी प्रथा का कई प्रान्तों में विनाश हो रहा है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लोगों का शिक्षित होना अनिवार्य है। लोकतन्त्र को सुचारु रूप से चलाने के लिए ही केवल शिक्षा की आवश्यकता नहीं है; लोगों की आर्थिक दशा में सुधार के लिए भी यह उतनी ही आवश्यक है। इसमें गाँव वालों को स्वयं अपनी सहायता करने में सहायता मिलेगी, इसके अभाव में वे उन चीजों से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सकेंगे जो सरकार उनकी अच्छाई के लिए करना चाहती है। यह उनको मुकद्मेबाजी तथा फ़ज़ूलख़र्ची की आदतों से छुटकारा दिलायेगी। यह भी हर्ष का विषय है कि हमारी सरकार गाँववालों को साक्षर बनाने का प्रयत्न कर रही है।

खाद्यान्नों तथा खेती से उत्पन्न होने वाली अन्य चीजों की भीषण महगाई के कारण खेतिहरों को बहुत लाभ पहुँचा है— उनके ऊपर लदा हुआ पुराना कर्ज बहुत अंश तक समाप्त हो चुका है। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि यदि चीजों का दाम उस स्तर पर रोक दिया जाय जिस पर किसानों को अपनी मेहनत का अच्छा फल मिल जाय, तो यह गरीबी हटाने की ओर एक अच्छा कदम होगा।

राष्ट्रीय धन के स्रोत— (१) खेती— भारत की भूमि उपजाऊ है, उसकी जलवायु अच्छी है, उसके निवासी सीधे, ईमानदार तथा मेहनती हैं और सींची जाने वाली भूमि संसार के किसी भी देश से अधिक है। यह सब होते हुए भी यहाँ प्रति-एकड़ उपज अन्य देशों के मुकाबिले बहुत कम है। रूस, जर्मनी, इङ्गलैंड, कनाडा, संयुक्त-राज्य तथा जापान की एक एकड़ भूमि में हमारे देश से कहीं अधिक उपज होती है। इससे भी बुरी चीज यह है कि पैदावार बढ़ाने के लिए यहाँ कोई प्रयत्न नहीं किया गया। यदि रूस ने प्रति-इकाई भूमि की पैदावार १५ वर्षों में १०० % बढ़ा ली तो कोई कारण नहीं है कि अपने देश में भी हम उसी तरह पैदावार क्यों नहीं बढ़ा सकते, विशेषतया जब केन्द्र तथा राज्यों में हमारी राष्ट्रीय सरकार है जो लोगों की भलाई में दिलचस्पी लेती है।

भारतीय खेती में बहुत कमियाँ हैं जिनमें से कुछ तो आदमी की बनाई हुई हैं और कुछ प्राकृतिक। दूसरी श्रेणी में हम वर्षा की अनिश्चित अवस्था, समय तथा उसका असमान वितरण, बाढ़ों, टिड्डियों तथा अन्य कीड़े-मकोड़ों की भयकरता तथा लगातार उपयोग के कारण भूमि की खराबी आदि को गिन सकते हैं। पहली श्रेणी में खेतिहर की गरीबी तथा उसका अज्ञान, भूमि की त्रुटिपूर्ण व्यवस्था तथा देश के कुछ भागों में जमींदारी, भूमि का अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजन, लगान तथा कर के रूप में सरकार तथा अन्य चीजों के रूप में जमींदार तथा साहूकार द्वारा किसान के ऊपर लादा गया भार, व्यापार-सम्बन्धी सुविधाओं की कमी, साल के कुछ महीनों में बेकारी तथा अन्य सहायक उद्योगों का अभाव, और इन सबका सम्मिलित परिणाम किसान का पुराना चला आया हुआ कर्ज, सम्मिलित हैं।

इनमें से कोई भी कठिनाई ऐसी नहीं है जो दूर न की जा सके; सरकार द्वारा काम में लाई गई सिंचाई की एक सुव्यवस्थित नीति से मानसून पर भरोसा भी छोड़ा जा सकता है; और वैज्ञानिक खादों का प्रयोग करके तथा भूमि को आराम देकर उसकी कमजोरी दूर की जा सकती है। उपयुक्त तरीकों का प्रयोग करके कीड़े-मकोड़ों तथा पौधों की बीमारियों द्वारा किया हुआ नुकसान बहुत सीमा तक रोका जा सकता है। इस देश में भी वनस्पति-शास्त्र उतना ही उपयोगी हो सकता है जितना अन्य देशों में। अतीत में गरीब किसान की दशा में सुधार करने की प्रबल इच्छा नहीं थी। केन्द्र तथा राज्यों में लोक प्रिय सरकारों की स्थापना से यह कमी भी दूर हो गई है। केन्द्रीय

तथा राज्य सरकारों ने 'बहु-प्रयोजन-घाटी-योजनाएँ' (Multipurposes River Valley Projects) प्रारम्भ की हैं। इन योजनाओं का उद्देश्य है बाढ को रोकना तथा सिंचाई की सुविधा पहुँचाना, खेती तथा उद्योगों के लिये जल विद्युत्-शक्ति पहुँचाना, मछली पकड़ने मे आसानी, पानी द्वारा आवागमन, जंगलों का विकास, आदि। इनमें से कुछ प्रमुख हैं :— पश्चिमी बंगाल तथा बिहार में दामोदर घाटी-योजना, उडीसा में हीराकुन्ड योजना उत्तर-प्रदेश मे रेंढ-योजना और मद्रास मे तुंगभद्रा-योजना। इनमें से कुछ छोटी योजनाएँ हैं जो दो या तीन वर्ष मे पूरी हो सकती हैं और अन्य बड़ी हैं जिन्हें पूरा करने में सात वर्ष या उससे भी अधिक समय लग सकता है। पूरा होने पर वे २५ लाख एकड़ भूमि सींचकर तथा पाँच-छः लाख टन अनाज पैदा करके खेती मे आश्चर्यजनक उन्नति कर देंगी। और साथ ही साथ लगभग एक करोड किलोवाट जल विद्युत् भी तैयार होगी। इस प्रकार ११ अरब ८० करोड़ रुपये की लागत से १ अरब ३५ करोड रुपये प्रति वर्ष लगान मे मिलेंगे।

खेती का विकास करने तथा खेतिहरों की दशा मे सुधार करने के लिए कई राज्यों की सरकारों ने जमींदारी प्रथा तोड़ने का ओर कदम उठाया है। मद्रास, बिहार तथा उत्तर प्रदेश की सरकारों ने इसके लिये कानून भी लगभग पास कर दिया है। यह बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन है और इससे करोड़ों आदमी प्रभावित होंगे।

(२) पशु-पालन— खेती के बाद किसान की आमदनी का प्रमुख जरिया है पशु पालन। लेकिन भारत म पशुओं की सख्या सबसे अधिक होने के बावजूद यहाँ पशु-पालन सबसे कम है। पशुओं की नस्ल, उनके द्वारा उत्पन्न चीजों, जीने या मरने पर उनके शरीर से मिलने वाली उपयोगी चीजों मे अभी सुधार की बहुत गुंजाइश है। पशु-पालन के अनेक उद्योगों के उपयुक्त विकास से, जो अब तक अधिकतर अविकसित हैं, काफी सम्पत्ति उत्पन्न की जा सकती है। जनता की हालत में सुधार तथा उनका जीवन स्तर ऊँचा करने के लिये अनेक राज्य-सरकारों ने बड़े हौसले से कार्य क्रम बनाया था। इस प्रगति का निरीक्षण बाद मे होगा।

(३) उद्योग धन्धे— भारत के आर्थिक जीवन में खेती तथा पशु पालन के बाद उद्योग-धन्धों का महत्त्व है। इसकी दो किस्में हैं, पहिली, छोटे पैमाने के या घरेलू, और दूसरी, बड़े पैमाने के या मशीनों द्वारा। भारत मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन से पहिले छोटे पैमाने वाले या घरेलू उद्योग-धन्धों को बड़ी ख्याति मिल चुकी थी। ये उद्योग-धन्धे देश तथा देश के बाहर के लोगों की आवश्यकताएँ पूरी करते थे। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, कम्पनी ने जान-बूझ कर उनका विनाश कर दिया। महात्मा गाधी ने उनमें से कुछ की फिर स्थापना के लिए बड़ा प्रयत्न किया। अखिल भारतीय-चर्खा-संघ तथा अखिल-भारतीय-ग्रामोद्योग-संघ इस दिशा मे प्रशसनीय कार्य कर रहे हैं। लेकिन जितना अनुमान किया जाता था उससे उन्नति

कम हुई है। बड़े पैमाने वाले या मशीनों के उद्योग पश्चिम की देन हैं इसलिये इनकी उन्नति अभी हाल में हुई है। इनकी उन्नति में कई कारणों से अड़चनें पड़ी हैं जिनमें से प्रमुख थीं, औद्योगिक दृष्टि से आगे बढ़े हुए राष्ट्रों के साथ प्रतियोगिता तथा ब्रिटिश सरकार का उनके प्रति सौतेली माँ का सा व्यवहार। इन उद्योगों में से प्रमुख रुई, जूट, चाय, सिल्क और ऊन, लोहा और फौलाद, शक्कर, कागज, शीशा, लाख, चमड़ा, नील, तम्बाकू और काफी हैं। रुई की मिलें मुख्यतया बम्बई, अहमदाबाद, शोलापुर, कानपुर, नागपुर तथा मद्रास में हैं। जूट पर बंगाल का एकाधिकार है। सिल्क मैसूर, काश्मीर, तथा बंगाल में उत्पन्न किया जाता है। ऊन की मिलें किसी एक क्षेत्र में केन्द्रित या सीमित नहीं हैं। १९३७ में उनकी संख्या ३९ थी। कानपुर की लाल इमली तथा धारीवाल मिलें देश की प्रमुख ऊनी मिलें हैं जिनमें से पहली एशिया की दूसरी सबसे बड़ी मिल है। ऊनी कपड़ा तथा दरियाँ बनाना काश्मीर, गढ़वाल तथा हिमालय के अन्य देशों का प्रमुख कुटीर-धन्धा है। चाय मुख्यतया आसाम तथा नीलगिरि पहाड़ों में पैदा होती है। भारत संसार की खपत की ४० % चाय पैदा करता है। काफी के पौधे मुख्यतया दक्षिण में पाये जाते हैं। शक्कर ने, जो रुई के बाद प्रमुख उद्योग बन गई है, अभी कुछ ही वर्षों में बड़ी आश्चर्यजनक उन्नति की है। १९४०-४१ में शक्कर की पैदावार में लगी हुई जमीन ४,४०२,०२९ एकड़ थी जिसमें उत्तर प्रदेश का सबसे बड़ा भाग २,५१७,६५४ एकड़, दूसरे नम्बर पर पंजाब ५४९,१७३ एकड़ और इसके नजदीक ही बिहार का ५०८,२०० एकड़ था। १९३९-४० में बिहार का दूसरा और पंजाब का तीसरा नम्बर था। लड़ाई के बाद से गन्ने की खेती में कमी आ गई है, १९४६-४७ में केवल ४,१०८ हजार एकड़ में ही गन्ने की खेती हुई।

पुराने जमाने में कागज अपने देश में हाथ से ही बनता था। मशीन से बने कागज के आयात के कारण यह उद्योग समाप्तप्राय हो चुका है। अखिल-भारतीय ग्रामोद्योग-संघ इसे पुनर्जीवित करने का प्रयत्न कर रहा है। वर्तमान समय में १६ मिलें हैं जो लगभग ९०,००० टन कागज पैदा करती हैं। विश्वयुद्ध के समय में विदेशों से कागज मंगाने की तंगी के कारण इस उद्योग को काफी लाभ पहुँचा था।

भारत विश्व के प्रमुख तम्बाकू-उत्पादक देशों में है। बर्मा के निकल जाने के बाद उसका स्थान संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद दूसरा है। इसकी खेती का सालाना मूल्य लगभग १८ करोड़ रुपया है। मद्रास प्रमुख तम्बाकू-उत्पादक क्षेत्र है। कुछ वर्षों से तेल उत्पन्न करने वाली मिलों का भी विकास हुआ है।*

वर्तमान समय में भारत कोयला, लोहा, सोना, लाख और शोरा पैदा कर रहा है। लोहे तथा फौलाद का सामान जमशेदपुर के 'टाटा आयरन एण्ड स्टील

* ऊपर दी हुई संख्याएँ 'इण्डियन इयर बुक' से ली गई हैं।

वर्क्स' म तैयार किया जाता है जो इन चाजों के उत्पादन का एशिया में सबसे बड़ा कारखाना है। भारत की धातुओं के धन का तो अभी अधिकतर उपयोग ही नहीं हो रहा है। बडे तथा छोटे भारतीय उद्योगों का विस्तृत वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है। हम देश के औद्योगिक जीवन के कुछ पहलुओं पर ही प्रकाश डालेंगे।

औद्योगिक जीवन के कुछ पहलू— इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि विदेशियों का इसमें बड़ा हाथ था और अब भी है। भारत के सभी औद्योगिक क्षेत्रों के मालिक भारतीय नहीं रहे हैं और न उनका सचालन ही भारतीयों द्वारा होता रहा है। बगाल का जूट-उद्योग मुख्यतया अङ्गरेजो क हाथ म है, लाभ अधिकाश विदेशियों की जेब में जाता है। यह अन्दाज लगाया गया है कि भारतीय मजदूर द्वारा कमाये प्रति बारह रुपयों पर लगभग सौ रुपये एक अङ्गरेज की जेब में आते हैं। यही हाल चाय उद्योग का भी है। देश की अनेक रुई तथा ऊनी मिला म भी विदेशियों का हाथ है। कोलार की सोने की खानें एक विदेशी फर्म द्वारा चलाई जाती हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हमारे प्राकृतिक वैभवों का लाभ अधिकतर गैर भारतीय ऐजेन्सियाँ ही उठा रही हैं, राष्ट्रीय धन म उनसे कोई अधिक वृद्धि नहीं हो रही है। स्वतत्रता मिलने से चीजें कुछ बदल अवश्य गयी हैं, अनेक अङ्गरेजों ने अपना हिस्सा भारतीयो के हाथ बेचकर अपने देश का रास्ता लिया है।

हमारे औद्योगिक व्यवसाय की दूसरी विशेषता श्रम चलिष्णुता है। अपनी औरतों तथा बच्चों को छोड़कर हजारों ग्रामीण बम्बई, अहमदाबाद तथा कानपुर जैसे औद्योगिक शहरों को दौडे चले आते हैं। १९४० मे १०,६०० मिलों म काम करने वाले १,८४४,४०० आदमियों म १,५८८,००० पुरुष २४७,००० स्त्रियाँ तथा बाकी बच्चे थे। ऐसे शहरों क श्रम क्षेत्रों म रहने वाले पुरुषों तथा स्त्रियों की सख्या की असमानता सामाजिक तथा नैतिक अनेक समस्याएँ उत्पन्न करती है। मिल म काम करने वाले मजदूर अपने बाड़ों म बड़ी ही दयनीय दशा म रहते हैं, सभी मिल मालिक अपने मजदूरों को रहने का स्थान तथा अन्य आराम नहीं देते।

तीसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि भारत म अब भी बहुत सी वस्तुएँ, जैसे भारी रासायनिक पदार्थ, मोटर, रेलवे इञ्जिन, जहाज, आदि नहीं बनते जिनके बिना उसका आर्थिक ढाँचा कमजोर तथा ढीला बना हुआ है।

इस स्थल पर पश्चिमी ढग पर औद्योगीकरण चाहने वाले तथा महात्मा गाधी की राय के अनुसार कुटीर उद्योग-धधों की स्थापना चाहने वाले लोगों क बीच वाद विवाद का जिक्र कर देना भी आवश्यक है। पश्चिमी व्यवस्था स प्रभावित लोग शीघ्र औद्योगीकरण चाहते हैं, वे भारत को भी ग्रेट ब्रिटेन, जरमनी, जापान तथा सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका की तरह एक विशाल औद्योगिक देश देखना चाहते हैं। दूसरी ओर, कुछ लोग महात्मा गाधी को अपना पथ प्रदर्शक मानते हैं और चुपचाप

पश्चिम की नकल मे वे लाभ से अधिक हानि देखते हैं , उनका कहना है कि घरेलू उद्योग-धधों की स्थापना में ही देश का कल्याण है। ऐसे लोग अपनी बात के पक्ष में अधिक्तर निम्नलिखित तर्क रखते हैं— ऊँचे पैमाने पर मशीन वाले उद्योगों की स्थापना से जनता की गरीबी का प्रश्न नहीं हल होता। उनकी आवश्यक्ता यह है कि साल के उस समय जब खेतों पर कोई काम नहीं रहता, वे अपने घर मे ही कुछ उत्पादन कर सके। यह ध्यान मे रखना चाहिए कि खेती में कुछ समय तक मेहनत अधिक रहती है और फिर बाकी साल बिल्कुल काम नहीं रह जाता है। यह विवशतापूर्ण बेकारी साल के छ महीनों से लेकर आठ महीनों तक देखी गई है। यदि हम किसान *की दशा में सुधार करना तथा उसकी गरीबी दूर करना चाहते हैं तो इस खाली समय* म हमें उसे कुछ न कुछ काम अवश्य देना पडेगा। कातना, रस्सी बनाना, डलिया बनाना, कागज बनाना आदि घरेलू उद्योग धधे प्रत्यक्ष इलाज हैं। अधिक मिलों की स्थापना से उसे सहायक पेशे नहा मिल सकेंगे जैसा कि सूत-कताई आदि के द्वारा मिल सकते हैं। 'और दूसरे मामलों में चाहे गाधी जी के विचार भले ही गलत रहे हों *लेकिन चर्खा चलाने की सिफारिश करते समय उन्होंने भारत की गरीबी की तह* तक देख लिया था। चर्खे से चाहे कुछ ही आने प्रतिदिन मिलें तब भी कोई बात नहा।'*

दूसरा तर्क यह है कि औद्योगीकरण से राष्ट्रीय धन का समान-वितरण न हो सकेगा। किसी देश के साधारण जीवन म आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण चीज केवल *यह देखना ही नहीं है कि कितना राष्ट्रीय धन उत्पन्न किया जाता है* बल्कि यह देखना है कि उसका उचित विभाजन भी है या नहीं। प्रोफेसर के० टी० शाह का अनुमान है कि हमारे देश म प्रत्येक सौ रुपयों पर ३३ रुपये कुछ थोड़े से धनिकों तथा जमींदारों को, ३३ रुपये मध्यमवर्ग को और बाकी ३४ रुपये श्रमिकों को मिलते हैं। लेकिन इन ३४ रुपया में हिस्सा लेने वाले श्रमिकों की सख्या बाकी दो श्रेणियों की सख्या की दूनी है। औद्योगीकरण इस असमान विभाजन को और भी असमान बना देगा, इससे भारत की परिश्रम करने वाली तथा भूखी जनता का पेट नहीं भरेगा। घरेलू उद्योग-धधों के सर्वत्र प्रचार से ही मजदूर उत्पादन के उपायों का मालिक रहेगा और अपनी मेहनत का उसे पूरा-पूरा फल मिलेगा। हाथ से कताई-*बुनाई का यह पहलू, जो कुटीर उद्योग-धधा का प्रतीक है, समाजवादी तथा गैर* समाजवादी दोनों को जँचेगा।

मशीनों से औद्योगीकरण करने के विरुद्ध एक दूसरा तर्क भी है। इङ्गलैंड के तैयार माल के लिए भारत सबसे बडे तथा अच्छे बाजारों म रहा है। इङ्गलैंड को यह डर था कि भारत की स्वतन्त्रता से कहीं उसके माल के लिए बाजार न बन्द

---

* सी एफ एण्ड्रूज टी ट्रू इण्डिया पृष्ठ १६०।

हो जाय। इसी कारण जापान भी चीन के ऊपर अपना पंजा कसना चाहता था। औद्योगिक देशों का जीवन-स्तर इस बात पर निर्भर रहता है कि वे अपना बना हुआ माल दूसरे देशों को भेजते रहें। यदि भारत दूसरा इङ्गलैंड या संयुक्त राष्ट्र अमेरिका बन जाय तो अपना फालतू माल बेचने के लिए उसे बाजार कहाँ मिलेगा? क्या अपने माल के लिए बाजार तैयार करने में उसे अन्य देशों से खूनी लड़ाइयाँ नहीं लड़नी पड़ेंगी? घरेलू बाजार पर्याप्त नहीं होगा चाहे वह कितना भी बड़ा क्यों न हो। भारत तथा मानवता का भला चाहने वालों का प्रश्न के इस पहलू पर विशेष विचार करना चाहिए।

अन्त में, यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि छोटे पैमाने पर घरेलू उद्योग-धंधे बड़े पैमाने पर मशीनों की बुराइयों से बरी हैं; जैसे, श्रम का शोषण श्रम तथा पूँजी के बीच संघर्ष, गन्दी कोठरियों का जीवन, शहरों में इकट्ठा हुए विशाल जन-समूह के जीवन के लिए उपयुक्त साधनों की कमी के कारण उनके नैतिक पतन का डर और इन सबके ऊपर सदैव बनी रहने वाली बेकारी से जान बच जायगी।

देश भर में हाथ की कताई और बुनाई तथा कुटीर उद्योग-धन्धों के प्रचार के पक्ष में दिये गये इस तर्क को बड़े बुनियादी तथा प्रमुख उद्योगों, जैसे भारी रसायनों, रेलवे इञ्जिनों, मोटरों तथा जहाजों के निर्माण का विरोधी नहीं समझना चाहिए। समाज-सेवा की दृष्टि से ऐसे उद्योगों को सरकार चला सकती है। उन्हें व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए व्यक्तिगत पूँजीपतियों के हाथ में नहीं छोड़ा जा सकता।

औद्योगीकरण के परिणाम—घरेलू उद्योग धंधों का जो भी लाभ तथा बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण का जो भी दुष्परिणाम हो, बड़ी मशीनें अपने देश में स्थान पा गई हैं। प्रसिद्ध औद्योगिकों ने पन्द्रह वर्षीय योजना बनाई थी जिसके अनुसार निश्चित समय में प्रत्येक नागरिक की औसत आमदनी बढ़ जायगी। युद्ध के बाद औद्योगीकरण की सरकार ने अपनी योजनाएँ बनाई हैं। इन योजनाओं का विवेचन अथवा पिछले सौ या ऐसे ही कुछ वर्षों में देश द्वारा की गई औद्योगिक उन्नति का विस्तृत वर्णन करना यहाँ आवश्यक नहीं है। हमारा सम्बन्ध केवल बढ़ते हुए औद्योगीकरण का नागरिक जीवन पर प्रभाव तथा उसके द्वारा उत्पन्न हुई समस्याओं से ही है।

बम्बई, कानपुर, अहमदाबाद, शोलापुर तथा नागपुर जैसे शहरों में औद्योगीकरण के विकास का एक मुख्य परिणाम यह हुआ कि रोजी की खोज में ग्रामीण इन शहरों में आकर भर गये हैं। पिछले पचास वर्षों में औद्योगिक शहरों की आबादी बहुत बढ़ गई है। इससे कई समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं; जैसे, उनके रहने का प्रश्न। बहुत ही गन्दी तथा भीड़-भाड़ वाली जगहों की उत्पत्ति हो गई है। ऐसी जगहों में

पुरुषों की सख्या स्त्रियो से कहीं अधिक है क्योंकि सभी मनुष्य अपना परिवार साथ नहीं लाते। इस बड़ी असमानता ने एक बहुत गम्भीर नैतिक समस्या को जन्म दिया है। इसका लोगों के स्वास्थ्य तथा चरित्र पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। हमने उन सामाजिक, स्वास्थ्य-सम्बन्धी तथा बेकारी दूर करने की योजनाओं का विकास नहीं किया है जो पश्चिम का औद्योगिक सभ्यता की एक अग बन गई हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि औद्योगिक मजदूरों की दशा हमारे देश म उतनी अच्छी नहीं है जितनी पश्चिमी देशों में।

दूसरा महत्वपूर्ण परिणाम हुआ है श्रम-आन्दोलन। मजदूर-सघ ऐसे मजदूरों का समुदाय है जो कार्य की अच्छी दशा तथा अपनी खरीदने की शक्ति के विकास के लिये प्रयत्न करता है। हालाँकि भारत म १८६० म स्थापित होने वाला बम्बई-मजदूर-सघ पहला मजदूर-सघ था, फिर भी मजदूर-आन्दोलन प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद से ही ठीक तौर पर प्रारम्भ हुआ। आज भी यह आन्दोलन उतना ही शक्तिशाली तथा सगठित नहीं है जितना इगलैंड या सयुक्त-राष्ट्र-अमेरिका म है। मजदूरों ने अपने को संगठित करने, कार्य के कम घन्टे तथा सुविधाओं के पाने, डाक्टरी सहायता या बच्चों की शिक्षा के लिए सहायता प्राप्त करने में अधिक उत्साह नहीं दिखाया है। उनमें उपयुक्त नेतृत्व की भी कमी है। फिर भी, आन्दोलन प्रारम्भ होने के पाँच वर्ष के भीतर यानी १६१६ से १६२३ के बीच देश के विभिन्न भागों मे अनेक मजदूर सघों की स्थापना हो गई। व्यक्तिगत सघों से उपयुक्त मेल तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन की वार्षिक बैठकों में भाग लेने वाले भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के सम्बन्ध में सिफारिश करने के लिए १६२० में राष्ट्रीय आधार पर एक अखिल-भारतीय मजदूर-सघ-कॉंग्रेस की स्थापना हुई। जब कम्यूनिस्टों ने १६२६ में इस पर अधिकार कर लिया तो मजदूर-सघ के श्री एन० एम० जोशी जैसे उदार सदस्यों ने इण्डियन ट्रेड यूनियन फेडरेशन नामक एक नये सगठन की स्थापना की। १६३१ में फिर मतभेद हुआ जिसके परिणामस्वरूप तीन स्वतन्त्र सगठन बन गये। एक म कम्यूनिस्ट दल, दूसरे में उदार दल तथा तीसरे में बाकी लोग सम्मिलित थे। इन तीनों दलों को एक म मिलाने के कई बार प्रयत्न हुए और कुछ सफलता भी मिली। १६४० में दोनों प्रमुख सघों, ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा नेशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन, ने अपने को एक केन्द्रीय सघटन के रूप में मिला देने का निश्चय किया। लेकिन वास्तविक मेल होने के पहिले ही ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस के कार्यकर्ताओं में युद्ध के प्रति तटस्थता के प्रश्न को लेकर मतभेद हो गया। परिणाम यह हुआ कि इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर का जन्म हुआ जिसके सभापति श्री जमनादास मेहता और मत्री श्री एम० एन० राय हुए। यह संघ दूसरे महायुद्ध म भारतीय मजदूरों का पूरा सहयोग दिलाना चाहता था। भारत म ट्रेड यूनियन का अन्तिम विकास इण्डियन नेशनल ट्रेड

यूनियन कॉंग्रेस की स्थापना के रूप मे हुआ है। देश की कॉंग्रेस सरकारों का इसे सक्रिय सहयोग प्राप्त है।

औद्योगिक विकास का तीसरा परिणाम हुआ है भारतीय सरकार द्वारा मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए अनेक कानूनों का पास करना। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में श्रम का प्रतिनिधित्व भी है। उत्तर प्रदेश की विधान-सभा मे तीन श्रम-निर्वाचन-क्षेत्रों के सदस्य श्री राजाराम शास्त्री, श्री हरिहरनाथ शास्त्री तथा श्री बी० के० मुकर्जी हैं।

मजदूर-संघों की माँगें— ट्रेड यूनियनों के विकास से अपने देश मे मजदूरों ने अनेक मांगें करनी प्रारम्भ कर दी हैं। अधिक से अधिक ४८ घटों का हफ्ता निश्चित करना, न्यूनतम मजदूरी निश्चित करना, मासिक मजदूरी-प्रथा की स्थापना, साल में कुछ समय के लिये आकस्मिक तथा मैडिकल छुट्टी की व्यवस्था करना, रहने-योग्य घरों की व्यवस्था करना, बीमारी, बेकारी तथा बुढ़ापे के लिए बीमा, चोट तथा घातक घटनाओं के लिए हर्जाना पाना, बच्चा पैदा होने के सिलसिले में औरतों को तनख्वाह के साथ दो महीने की छुट्टी, श्रमिकों के बच्चों के लिए मुफ्त तथा अनिवार्य प्रारम्भिक तथा औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था तथा मजदूर स्त्रियों के लिए *जच्चाखानों तथा सेवागृहों की व्यवस्था करना*— ये उनकी प्रधान माँगें हैं। स्त्रियों को खानों मे जमीन के अन्दर काम करने की मनाही तथा बच्चों की काम करने की उम्र १२ से १४ वर्ष कर देने की माँग भी वे करते हैं। इङ्गलैंड जैसे आगे बढे हुए देशों मे पाई जाने वाली मजदूरों की भलाई की योजनाओं के लिए भी वे जोर देते हैं।

व्यापार— भारतीय-व्यापार के सम्बन्ध में भी कुछ शब्द कहना आवश्यक है। यह दो प्रकार का है, देश के भीतर का तथा बाहरी देशों से। और खेतिहर देशों की तरह हमारे यहाँ भी भीतरी व्यापार बाहरी से अधिक महत्व रखता है, लेकिन दुर्भाग्यवश रेलवे की *भाडे-सम्बन्धी नीति तथा सिक्का, बैंकिंग तथा इन्श्योरेंस की* व्यवस्था विदेशी व्यापार की आवश्यकताओं के ही अनुकूल रही है। भारत को एक खेतिहर देश मानकर ही उसके विदेशी व्यापार का रूप निश्चित होता रहा है हालाँकि वह विश्व मे आठवें नम्बर का औद्यागिक देश माना जाता है और १९४०-४४ की लड़ाई की माँगो के कारण उसके स्थायी उद्योगों में नवीन तथा विभिन्न कार्य क्रमों का समावेश हुआ है। भारत कच्चा माल जैसे रुई, जूट, चमड़ा, खाल, तिलहन, चाय इत्यादि बाहर भेजता है। वह पूर्वी अफ्रीका तथा अन्य देशों को कुछ सूती कपडे भी भेजता है। वह तैयार तथा *अधबनी चीजें बाहर से मँगाता* है। कुछ वर्षों पहिले उसके आयात का मुख्य अङ्ग लकाशायर की सूती चीजें थीं। सूती कपड़ों के अलावा वह मोटर, रेलवे इञ्जिन, मशीन, कागज, टिन मे बन्द खाना,

सूत, तेल, धातुएँ और कच्ची धातुएँ, रसायन, रंगने तथा चमड़ा कमाने की चीजें, औजार, कृत्रिम सिल्क, शराब, कच्चा और तैयार ऊन, छापने की चीजें तथा अन्य कई चीजें बाहर से मंगवाता है। अतीत में वह आयात से अधिक निर्यात करता था, और व्यापार का संतुलन अधिकतर उसके पक्ष में रहता था। उसे घरेलू महसूल, विदेशी लागत पर सूद तथा जहाज का महसूल देना पड़ता था जिसे वह अधिक निर्यात करके या अधिक आयात करके चुका देता था। बने माल के आयात तथा कच्चे माल के निर्यात दोनों की दृष्टि से ब्रिटेन उसका अकेला सबसे बड़ा गाहक था। लेकिन परिस्थितियाँ बहुत शीघ्र बदल रही हैं, इधर हमारा आयात निर्यात से कहीं अधिक रहा है जिसका प्रमुख कारण खाद्यान्नों का आयात ही है। अब यह स्थिति सुधर रही है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि हमारा आयात तथा निर्यात-सम्बन्धी व्यापार अधिकतर यूरोपियनों के ही हाथ में था। विदेशों में स्थित बड़े बड़े व्यापारिक फर्म थे जो विभिन्न देशों से माल मँगाते और उन्हें स्थानीय व्यापारियों के हाथ बेच देते थे। वे भारत का कच्चा माल खरीदते और उसे बेचते थे। इन कम्पनियों द्वारा लगाई लागत इतनी अधिक रहती और उनका संगठन इतना तगड़ा पड़ता कि भारतीय फर्मों के लिए प्रतियोगिता में उनसे बढ़ जाना खिलवाड़ नहीं था। व्यापार में रुपया लगाने का काम पहिले और अधिकतर यूरोपीय बैंक ही करते थे जो भारतीय फर्मों के मुकाबिले यूरोपीय का स्वभावतः पक्षपात करते थे। लेकिन अब भारतीयों ने विदेशियों से आयात तथा निर्यात-सम्बन्धी व्यापार प्रायः ले लिया है।

देश के विभाजन का उसकी आर्थिक दशा पर प्रभाव—देश का भारत तथा पाकिस्तान में विभाजन हो जाने से उसकी आर्थिक व्यवस्था पर, जिसका विकास अंगरेजों ने देश को एक मानकर किया था, बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। इसने दोनों राज्यों को पहिले की अपेक्षा कहीं कम आत्म-निर्भर बना दिया है। भारतीय संघ में खाद्यान्नों की कमी है, उसे महँगे मुद्रा क्षेत्रों से खाद्य-पदार्थ मँगाने में बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है। यह रुपया औद्योगिक सामानों के खरीदने में व्यय किया जा सकता था। भारत में रुई तथा जूट की भी कमी है, उसकी सूती मिलों को पाकिस्तान तथा अन्य देशों की रुई पर निर्भर रहना पड़ता है और उसकी जूट-मिलें अधिकतर बेकार पड़ी रहें यदि वह पूर्वी पाकिस्तान से कच्चा जूट न मंगाये। चट्टानी नमक भी अधिकांश उन्हीं क्षेत्रों से आया करता था जो अब पाकिस्तान में पड़ गये हैं। दूसरी तरफ, अविभाजित भारत में पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रदेश, बिलोचिस्तान तथा पूर्वी बंगाल में खपने वाले सूती माल, शक्कर, कोयला, चाय इत्यादि का अधिकांश उन फैक्टरियों तथा खानों से आता था जो अब भारतीय संघ में हैं। यदि पाकिस्तान इन वस्तुओं की प्राप्ति का प्रबन्ध दूसरे देशों से कर लेता है तो भारत को अपने माल के लिए दूसरे बाजार ढूँढने पड़ेंगे।

इस प्रकार, विभाजन ने दोनों राज्यों को कमजोर तथा आर्थिक दृष्टि से पहिले की अपेक्षा कम स्वावलम्बी बना दिया है।

विभाजन ने लाखों आदमियों को अपना घर बार भी छोड़ने के लिए विवश कर दिया जिससे वे ऐसी आर्थिक कठिनाइयों म पड गये हैं कि तबाही आ गई है। शरणार्थियों की व्यवस्था तथा उनके पुनर्वासन का प्रश्न भारत पर एक बोझ बन गया है, इसका ठीक प्रकार से हल होने म बहुत समय लगेगा। इन सब म आर्थिक दृष्टि से हो रहे विनाश का अंदाज लगाना कठिन है।

आवागमन— चूँकि आवागमन क साधनों की उपस्थिति तथा उनके विकास से देश के अन्दरूनी व्यापार पर बड़ा प्रभाव पड़ता है इसलिए भारत म आवागमन की व्यवस्था पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। अपने देश म माल तथा आदमियों क आवागमन का मुख्य साधन रेल है और इसके बाद मोटर बसों का नम्बर आता है। बैलगाड़ियाँ, खच्चर, ऊँट तथा अन्य बोझा ढोने के जानवर बाद में आते हैं। पहाड़ी रास्तों पर जहाँ मोटर जाने क लिए रास्ता नहीं है, खच्चर तथा आदमी ही एक स्थान से दूसरे स्थान तक सामान ले जाते हैं। इनके अतिरिक्त नाव द्वारा माल ढोने तथा लोगों के आने-जाने क लिए नदियों तथा नहरें प्रयोग म आती हैं। हाल म आकाश मार्ग द्वारा भी आवागमन होने लगा है। अब युद्धोत्तर काल मे हवाई आवागमन म बहुत विकास होने की संभावना है।

अविभाजित भारत म रेलवे का लम्बा चौड़ा जाल था जो देश के विभिन्न भागों को मिलाये हुए था। उत्तरी प्रान्तों म दक्षिणी प्रान्तों की अपेक्षा रेल का व्यवस्था अच्छी थी। ३१ मार्च, १९४६, को रेलवे की कुल लम्बाई ४०,५१८* मील थी, जिसमें २०,९८७ मील ब्राड गेज, १६,००४ मील मीटर तथा ३,८२७ माल नैरो गेज थी। ओ० टी० आर०, बंगाल और आसाम रेलवे, बंगाल नागपुर रेलवे, ईस्ट इण्डियन रेलवे एन० डब्ल्यू० आर० जी० आई० पी० रेलवे, बी० बी० एण्ड सी० आई० आर०, और एम० एण्ड एस० एम० आर० प्रमुख रेलें थीं। विभाजन का रेलवे व्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ा है। जिन रेलों पर प्रभाव पड़ा है वे एन० डब्ल्यू० रेलवे और बी० ए० रेलवे हैं। पंजाब, सिंध तथा पश्चिमोत्तर में चलने वाली एन० डब्ल्यू० रेलवे के कुछ भाग तथा पूर्वी पाकिस्तान में चलने वाली बी० ए० रेलवे का कुछ भाग पाकिस्तान को दे दिया गया और शेष भारत में रहा। एन० डब्ल्यू० रेलवे के उस भाग को जो पूर्वी पंजाब, दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश के एक भाग में आ जाता है, ई० पी० रेलवे बना दिया गया है। ये सभी लाइन ब्रिटिश लागत तथा ग्रेट ब्रिटेन की कम्पनियों द्वारा बनी थीं और उन्हें भारतीय सरकार ने पूर्व

---

* १९४३-४४ के अन्त में कुल लम्बाई ४०,५२५ मील थी तथा १९३६-३७ क अन्त में ४३,१२८ मील थी।

निश्चित लाभ दिया था। बहुत दिनों तक सरकार ने इन कम्पनियों को इन लाइनों का मालिक बने रहने तथा उनका बन्दोबस्त करने दिया, लेकिन बाद में इसने उन्हें अपने स्वामित्व में ले लेने की नीति अपनाई और कुछ का बन्दोबस्त भी अपने हाथ में ले लिया। अभी हाल तक कई रेलों की मालिक सरकार थी लेकिन बन्दोबस्त कम्पनी करती थी और कुछ की मालिक भी कम्पनियाँ था और इन्तजाम भी यही करती थीं। लेकिन अब कम्पनी का बन्दोबस्त प्रायः समाप्त हो गया है और भारत की लगभग सभी रेलों के प्रबन्ध का अधिकार तथा स्वामित्व राज्य के हाथ में आ गया है। आसाम-बंगाल रेलवे, बी० बी० एण्ड सी० आई० आर० तथा बी० एण्ड एन० डब्ल्यू० आर० का प्रबन्ध सरकार ने सबसे बाद में अपने हाथ में लिया। बहुत दिनों तक रेलें नुकसान पर चलती रहीं, लेकिन १९०० के बाद वे लाभ दिखाने लगीं। कभी-कभी तंगी के भी अवसर आ जाते और रिजर्व फन्ड से अधिक धन निकाल लेना पड़ता। पिछले पन्द्रह वर्षों में रेलों ने केन्द्रीय बजट में बहुत अच्छा लाभ दिखाया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि बड़ौदा, जोधपुर, बीकानेर तथा हैदराबाद रियासतों में वहीं की रेलें थीं जिन्हें अधिकतर रियासतों की सरकारों ने ही बनवाया था। अब भारत भर की रेलें संघ-सरकार की हैं।

देश के आर्थिक जीवन पर रेलों के प्रभाव के विषय में भी कुछ बातें कही जा सकती हैं। रेलों के विकास से माल एक जगह से दूसरी जगह आसानी से आ जा सकता है और इससे आन्तरिक व्यापार को भी बड़ी सहायता मिली है लेकिन पानी के रास्तों के, जिनकी लम्बाई २६०० मील है, प्रयोग तथा विकास पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। कभी कभी किराये की प्रतियोगिता चला कर रेलवे ने उन्हें जान-बूझ कर चौपट कर दिया है। दूसरे, बन्दरगाहों से लाकर तथा वहाँ माल पहुँचा कर इसने भारतीय हितों को नुकसान ही पहुँचाया है। इसका परिणाम हुआ है देश के कच्चे माल का निर्यात तथा बाहर के तैयार माल का आयात। अन्त में, यह कहा जा सकता है कि रेलों में भारतीय पूँजी लगाने का बहुत कम मौका था। बॉन्ड लेने वाले विदेशियों को लाभ तथा बोनस के रूप में राष्ट्र को अत्यधिक धन देना पड़ा है।

रेलों के जाल के अतिरिक्त भारत में सड़कों की भी बड़ी लम्बी-चौड़ी व्यवस्था है। इसमें चार ट्रंक सड़कें तथा अनेक सहायक सड़कें सम्मिलित हैं जिनकी कुल लम्बाई ६४,००० मील है। ट्रंक-सड़कों की लम्बाई ५,००० मील है। ये सड़कें निम्नलिखित हैं (i) कलकत्ता से खैबर तक ग्रैन्ड ट्रंक रोड, (ii) कलकत्ता को मद्रास से मिलाने वाली सड़क, (iii) मद्रास को बम्बई से मिलाने वाली सड़क, (iv) बम्बई को दिल्ली से मिलाने वाली सड़क। ये सड़कें बहुत दिनों से हैं और उनके साथ भारतीय इतिहास का गहरा सम्बन्ध है। इन ट्रन्क तथा सहायक सड़कों के अलावा बहुत सी कच्ची सड़कें भी हैं। राजपूताना, सिन्ध, पंजाब के कुछ भागों, उड़ीसा तथा बंगाल में उतनी अच्छी सड़कें नहीं हैं जितनी देश के अन्य भागों में। गाँवों को

एक दूसरे से तथा निकट शहरों से मिलाने वाली पक्की सड़कों से एक स्थान से दूसरे स्थान तक माल ले आने ले जाने में बड़ी आसानी हो गई है। देश मे हवाई यात्रा भी प्रारम्भ हो गई है। दिल्ली, कराची, बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के बीच बराबर हवाई यात्रा होती है। हवाई जहाज से डाक तथा आदमी दोनों आते जाते हैं। इधर हवाई यात्रा की ओर भी अधिक उन्नति हुई है।

बेकारी— देश के आर्थिक जीवन का यह छोटा विवेचन समाप्त करने के पहिले देश में बेकारी की समस्या तथा ग्रामोत्थान आन्दोलन पर भी प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी तथा सयुक्त राष्ट्र जैसे देशों में हम अक्सर बेकारी की समस्या सुनते हैं। लेकिन हमारे देश म उसका रूप अन्य देशों से भिन्न है। वहाँ बेकारी की समस्या औद्योगिक होती है, यानी सगठित उद्योगों मे औद्योगिक मजदूरों को बेकारी की समस्या। इस प्रकार की बेकारी, गो किसी न किसी रूप में विद्यमान है, फिर भी यहाँ के लिए कोई गम्भीर समस्या नहीं है क्योंकि भारत अभी औद्योगिक क्षेत्र में पर्याप्त रूप से आगे नहीं बढा है। शान्ति के समय म काम करने वालों की कमी की शिकायत होती है, बेकारी की नहीं। जो बेकारी हमारे लिए समस्या बन गई, वह ग्रामीण तथा मध्यवर्गीय है। गाँवों की बेकारी के विषय म हमें अधिक नहीं कहना है, हम यह पहले ही कह चुके हैं कि किसान को साल भर फँसाये रखने क लिए खेतों पर पर्याप्त काम नहीं मिलता और परिणामस्वरूप उसे साल म छ महीनों विवश होकर बेकार रहना पडता है। खेती के सहायक धन्धों के रूप मे घरेलू उद्योग धन्धों की स्थापना ही इसका एकमात्र इलाज है। अखिल भारतीय-ग्रामोद्योग-सघ तथा ग्रामोत्थान आन्दोलन, दोनों का यही उद्देश्य है। अकाल के दिनों म समस्या और भी गम्भीर हो जाती है। खेती के काम में आने वाले क्षेत्रफल के ८४ % भाग को सींचने का कोई प्रबन्ध नहीं है, वह केवल मानसून पर निर्भर रहता है। इसलिए जिस वर्ष वर्षा नहीं हुई, या कम हुई या बहुत अधिक हुई, उस साल अकाल की सम्भावना बढ जाती है। इन चीजों से बचने के लिए बचाव के तरीके प्रयोग में लाये जायँ। जहाँ नहर से सिंचाई नहीं हो सकती ट्यूबवैल खोदे जायँ, वर्षा का पानी इकट्ठा करने के लिए बडे-बडे तालाब खोदे जायें जिनमें इकट्ठा पानी बाद में सिंचाई के काम आ सकता है तथा बाढ का पानी रोकने के लिए नदियों में बाँध बाँधे जायँ। अकाल के समय सहायता पहुँचाने का कार्य तुरन्त प्रारम्भ हो जाना चाहिए। ऐसे समय पर सबसे अच्छी चीज होगी किसान को कोई ऐसा पेशा देना जिस पर वह निर्भर रह सके। इसका अर्थ फिर वही घरेलू उद्योग धधों को प्रोत्साहन देना ही होता है। इस प्रकार यह प्रतीत होगा कि भारत का कल्याण छोटे पैमाने पर चलाये गये उद्योगों पर बड़ी-बड़ी औद्योगिक योजनाओं की अपेक्षा अधिक निर्भर है।

मध्यवर्गीय बेकारी ने ग्रामीण बेकारी की अपेक्षा लोगों का ध्यान अधिक आकर्षित किया है। मध्यवर्गीय बेकारी की समुचित परिभाषा आसान नहीं है। इस बेकारी का साधारणत यही अर्थ समझा जाता है कि खाते-पीते घरों के नवजवान, जो हाई स्कूल या कॉलिज की शिक्षा प्राप्त कर चुकते हैं, जीविका के साधन के लिए शारीरिक श्रम के बदले कोई अन्य नौकरी ढूँढने हैं जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिलती। यह सभी स्वीकार करेंगे कि मध्यवर्ग में बेकारी सर्व-व्याप्त है और यह एक गम्भीर समस्या बन गई है। कई प्रान्तों में पढे-लिखे लोगों के बीच बेकारी की जाँच करने तथा उसका उपाय बताने के लिए कमेटियाँ बिठाई गई थीं। अपने ही प्रान्त में सरकार ने १६३५ में सर तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक कमेटी बिठाई थी। इन सभी कमेटियों ने अपनी रिपोर्टों में मध्यवर्गीय बेकारी की गम्भीरता स्वीकार की थी। मद्रास कमेटी के सुझाने पर मद्रास-सरकार ने ३५ रु० महीने पर दो खाली की गई जगहों के लिए अर्जियाँ माँगी। एक जगह पी० डब्ल्यू० डी० में थी और दूसरी व्यापारिक फर्म में। पहली के लिए ६६६ तथा दूसरी के लिए ७८७ अर्जियाँ आईं। इन सख्याओं से बेकारी की भीषणता का अन्दाज लगाया जा सकता है।

पढे-लिखे लोगों की इतनी बड़ी बेकार सख्या एक बड़ा सामाजिक तथा राजनैतिक अभिशाप है। व्यक्तिगत रूप से लोगों की परेशानी तथा कष्ट बढाने के अलावा इससे समाज का नैतिक स्तर गिर जाता है जिसका सम्मिलित प्रभाव बड़ा गम्भीर हो सकता है। क्षोभ की अग्नि में जलने वाले, असन्तुष्ट और बेकार जवान सरकार के लिए भी एक खतरा बन सकते हैं।

पढे-लिखे नवजवानों की इतने ऊँचे परिमाण म बेकारी के अनेक कारण हैं। उनमें से एक कारण यह भी है कि स्कूलों, कॉलिजों तथा यूनिवर्सिटियों से निकले हुए विद्यार्थियों की सख्या बहुत बढ गई है और उसी हिसाब से नौकरियों म कोई वृद्धि नहीं हुई है। पढे-लिखे नवजवान खपत से अधिक तैयार हो रहे हैं। माँग से अधिक पूर्ति की यह अधिकता दो परिस्थितियों के कारण है। उनम एक है स्कूलों, कॉलिजों म दी जाने वाली शिक्षा की प्रणाली। विदेशी शासकों तथा जनता क बीच काम करने वाले क्लर्कों के उत्पादन के लिए ही ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। हमारे स्कूल तथा कॉलिजों से निकले हुए विद्यार्थी क्लर्कों के काम के लिए ही उपयुक्त होते हैं। चूँकि ऐसे काम सीमित ही हैं इसलिए बेकारी बढने म कोई आश्चर्य नहीं। इस सम्बन्ध में यह भी बता देना चाहिए कि हमारी शिक्षा प्रणाली लोगों के दिलों में शारीरिक श्रम के प्रति एक प्रकार की घृणा उत्पन्न कर देती है। किसानों, बढइया तथा लोहारों के शिक्षा प्राप्त लड़के नौकरी की तलाश म मारे-मारे फिरा करते हैं जब कि वे अपने माता-पिता की सहायता करके अधिक उत्पादन कर सकते हैं। दूसरी चीज है पढे लिखे लोगों के लिए कार्यों की कमी। 'इङ्गलैंड म सेना, जल सेना तथा सिविल सर्विसों को छोड़कर १६,००० पेशे हैं, किन्तु भारत म

कदाचित् ४० से भी कम हैं।* उद्योगों के विकास से हमारे जवानों को काम के नये नये क्षेत्र उपलब्ध होंगे। कुछ आदमियों के कुछ पेशे स्वीकार करने में जाति-गत विचार भी बाधक होते हैं। किसी ब्राह्मण या क्षत्रिय का लड़का चमड़े का काम या मुर्गी पालने का काम कभी न करेगा। जाति-व्यवस्था के बन्धनों में ढीलापन आने के कारण ऐसी अड़चनें कम होती जा रही हैं, लेकिन अभी वे हैं अवश्य।

ऊपर वर्णित विभिन्न कमेटियों ने अनेक प्रान्तों की सरकारों को पढ़े लिखे लोगों की बेकारी दूर करने के लिए कुछ सुझाव बताये थे, जैसे, नौकर रखने वाले तथा नौकरी चाहने वाला को मिलाने के लिए एम्प्लॉयमेंट बोर्डों (Employment Boards) की स्थापना, बेकारी तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में काम के विभिन्न क्षेत्रों के विषय में आँकड़े तथा जानकारी प्राप्त करना और पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान खेती की ओर मोड़ना। कुछ लोगों ने ऊँची शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाओं में तथा यूनिवर्सिटी-परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों की संख्या में कमी करने की भी सलाह दी है। इन सलाहों में से अनेक तो इलाज नहीं बल्कि बहाना मात्र हैं। नौकरी बोर्डों की स्थापना तथा बेकारी सम्बन्धी आँकड़ों की जाँच से बेकारी कुछ खास सीमा तक कम नहीं होगी। सत्य यह है कि जब तक मूलभूत कारणों को नहीं हटाया जाता, बुराई ठीक प्रकार से नहीं मिटाई जा सकती। जब तक वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन करके उसे लोगों की सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं के साथ सम्बन्धित नहीं किया जाता, वर्तमान दशा में किसी महत्त्वपूर्ण सुधार की आशा नहीं की जा सकती। इसके लिए आवश्यक है महात्मा गाँधी द्वारा चलाई हुई प्रसिद्ध वर्धा शिक्षा-योजना को कार्य रूप में परिणति। यदि पढ़े-लिखे लोगों की बेकारी कम करनी है तो वर्तमान शिक्षा का विशुद्ध साहित्यिक आधार हटाना पड़ेगा; शारीरिक-श्रम दिमागी श्रम से कम महत्त्वपूर्ण है, अथवा सरकारी नौकरी ही जीवन का सबसे ऊँचा ध्येय है, इन तथा ऐसी धारणाओं का अन्त करना होगा। दूसरे, नए-नए पेशे तथा कार्य के विभिन्न क्षेत्रों का निर्माण करना चाहिए। इसका अर्थ है विभिन्न घरेलू तथा मशीनी उद्योगों का प्रारम्भ। हमारे हजारों आदमियों को काम देने के लिए भारत की अपनी जल सेना तथा व्यापारिक जहाजी बेड़ा होना चाहिए, सेना में देश की आबादी के सभी अंशों को नौकरी मिलनी चाहिए और पुरानी ब्रिटिश सरकार के अनुसार कुछ लड़ाकू जातियों के लिए ही स्थान सुरक्षित नहीं रखना चाहिए। बिना इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के बुराई का आमूल उन्मूलन सम्भव नहीं।

हम उस सलाह के तनिक भी पक्ष में नहीं हैं जिसके अनुसार ऊँची शिक्षा केवल वही प्राप्त कर सकते हैं जो उसके लिए खर्च कर सकते हैं या जो परीक्षाओं

* जथार एण्ड बेरी : इण्डियन इकोनॉमिक्स, भाग २, पृष्ठ ६१६।

में बहुत अच्छे नम्बर पाते हैं। ऊँची शिक्षा का दोष नहीं है; दोष है उसकी व्यवस्था में। ऊँची शिक्षा प्राप्ति में अड़चन डालने से अच्छा है उसकी व्यवस्था में परिवर्तन करना। लेकिन लड़कों के माता पिता तथा अभिभावकों को यह समझाने में कोई हर्ज नहीं है कि सरकारी तथा अन्य नौकरियाँ सीमित हैं। इसलिए उन्हें अपने लड़कों तथा वार्डों को अन्य पेशों के लिए तैयार करना चाहिए। फिलहाल सप्रू कमेटी का यह सुझाव कि सरकार तथा अन्य स्थानीय संस्थाओं को पढ़े लिखे लोगों की माँग बढ़ानी चाहिए, कार्य रूप में परिणत होना चाहिए। उदाहरण के लिए पुलिस तथा फौजी विभागों की नौकरियों के लिए सरकार शिक्षा-सम्बन्धी किसी कम से कम योग्यता पर जोर दे सकती है। इसी प्रकार म्यूनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड भी मेडिकल-योग्यता से सम्पन्न जवानों को अपनी स्वास्थ्य-सम्बन्धी योजनाओं में काम दे सकते हैं। नये आने वालों को भी शीघ्र अवसर देने के लिए पेन्शन की उम्र घटाई जा सकती है। लेकिन ये सब केवल हल्के उपाय हैं, इनसे समस्या के किनारे का ही स्पर्श होता है। समस्या का वास्तविक तथा स्थायी हल तो शिक्षा-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन तथा नये नये उद्योग धंधों के विकास से ही सम्भव है।

गाँवों का विकास— अंग्रेजी राज का हमारे गाँवों पर सबसे अधिक बुरा प्रभाव पड़ा है। पिछले डेढ़ सौ या उससे भी अधिक वर्षों से उनकी बुरी तरह उपेक्षा हुई है। अपनी स्थानीय संस्थाओं तथा घरेलू-उद्योग-धंधों के विनाश के बाद, उन्हें कष्ट तथा अज्ञान से निकालने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। महात्मा गाँधी ही पहले व्यक्ति थे जिन्हें उनकी दीन दशा का ज्ञान हुआ और उनकी दशा में सुधार के लिए उन्होंने अपने मन में ठान ली। उन्होंने देश को चर्खे का संदेश दिया और पुराने उद्योग-धंधों का पुनर्जीवित करने के लिए अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ की स्थापना की। उनके प्रयत्नों ने भारतीय सरकार को अपनी आलस्य-निद्रा से जगाया और उसे उन ग्रामवासियों की ओर कर्त्तव्य भावना से प्रेरित किया जिनसे वह लगान का अधिक हिस्सा पाती है। १९३४-३५ में सरकार ने गाँवों के विकास के लिए एक करोड़ रुपया विभिन्न प्रान्तों में बाँट दिया और उन्हें भी अपनी शक्ति के अनुसार इस रुपये में अपना फन्ड शामिल करने का आदेश दिया। इस प्रकार ग्रामोत्थान आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसने प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमंडलों के स्थापित होने तथा कार्य करने के थोड़े ही समय में प्रशंसनीय प्रगति की है। यदि ये मन्त्रिमंडल कुछ और समय तक अपने पदों पर आसीन रहते तो ग्रामीण जनता की दशा में बहुत काफी सुधार हो गया होता। जब से ये मौजूदा मन्त्रिमंडल बने हैं तब से पुराना कार्य क्रम फिर जारी है। उत्तर प्रदेश में इस आन्दोलन के रूप का हम एक छोटा विवेचन करेंगे।

केन्द्रीय सरकार के पन्द्रह लाख रुपयों में एक लाख रुपये प्रति वर्ष मिला कर उत्तर प्रदेश की सरकार ने गाँवों के पुनर्निर्माण की एक पचवर्षीय योजना बनाई। इस योजना के अनुसार प्रत्येक जिले में (नैनीताल, अलमोड़ा तथा गढ़वाल, तीन पहाड़ी जिले छोड़ कर) ७२ गाँव चुन लिये गये और उनमें कार्य प्रारम्भ हो गया। ये गाँव छः समूहों में विभाजित कर दिये गये जिनमें से प्रत्येक समूह एक सुपरवाइजर की देख रेख में काम करता था। यह सुपरवाइजर पूरे जिले के इन्स्पेक्टर के आदेशानुसार कार्य करता था। पूरा स्टाफ जिले के कलक्टर के कन्ट्रोल में था। वह स्वयं किसी एक डिप्टी कलक्टर के जरिये अपना कार्य करता। अधिकारियों को सहायता पहुँचाने के लिए कलक्टर द्वारा नियुक्त किये हुए सरकारी नौकरों तथा गैर सरकारी नौकरों की एक कमेटी बिठाई गई। जब १६३७ में कांग्रेस ने कार्य भार ग्रहण किया, तो यह पूरी योजना काम में लाई जाने लगी।

कॉंग्रेस मन्त्रिमण्डलों को शीघ्र ही यह ज्ञान हो गया कि आन्दोलन का जनता पर कोई उत्साहजनक प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि इसमें अधिकतर सरकारी लोग थे और गैर सरकारी लोगों से सहायता लेने की बहुत कम कोशिश थी। यह तर्क भी रक्खा गया कि योजना का कार्य यदि सुचारु रूप से चले तो भी प्रान्त के लगभग एक लाख गाँवों के लिये कुछ सार्थक काम करने में कई पुश्त लग जायेंगे। इसलिये मंत्रिमण्डल ने पूरी योजना को एक नया ही रूप देना तय किया। इस नयी स्कीम ने जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाना तथा गाँवों की जनता का भी उत्साहपूर्ण समर्थन प्राप्त करना तय किया क्योंकि बिना इसके ग्रामोत्थान का कोई भी आन्दोलन सार्थक नहीं हो सकता।

नई योजना का मुख्य तत्व है उन्नत जीवन के लिए प्रत्येक गाँव का सहकारी-समिति के रूप में सगठन। यह समिति सहकारी समिति-ऐक्ट के अनुसार रजिस्टर्ड हो जायगी और गाँव के सभी बालिग सदस्यों को इसमें शामिल होने का अधिकार रहेगा। इसमें गाँव के सभी परिवारों, जाति तथा स्तर के प्रतिनिधि रहेंगे। १६३६ के अक्तूबर का अन्त होते-होते पूरे प्रान्त में ऐसी ४००० से अधिक समितियों की स्थापना हो गई। प्रत्येक समिति की एक निश्चित समय पर मीटिंग होती और अपनी कार्यकारिणी के लिए वह एक पचायत का चुनाव करती। इस पचायत में लगभग एक दर्जन सदस्य रहते और उसमें एक या एक से अधिक हरिजन भी सम्मिलित रहते।

प्रत्येक गाँव या कुछ गाँवों के समूह में एक पचायतघर बनाने के लिये भी ग्रामीण उत्साहित किये गये। इसमें गाँव सभा तथा पचायत की मीटिंग होती और इसी में गाँव का स्कूल, पुस्तकालय तथा अध्ययन-शाला भी रहती। इसके एक भाग में बीज, खेती के उपयोग में आने वाली अन्य चीजें तथा गाँवों में बाँटने के लिए दवा इत्यादि भी रक्खी रहती। एक साल में प्रान्त भर में २०० से भी अधिक पचायतघर बन

गये और लगभग इतने ही बन रहे थे। इन्हें बनाने के लिए प्रत्येक ग्राम वासी अपनी शक्ति के अनुसार सहयोग देता, कोई-कोई एक या दो दिन तक मुफ्त काम कर देते। खर्च का कुछ भाग सरकार भी देती। उन्नत जीवन के रूप में गाँव की जनता का सगठन तथा पचायतघर हो ऐसे केन्द्र थे जिनके चारों ओर कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों द्वारा तैयार की हुई ग्रामोत्थान की योजना काम करती।

इस योजना के प्रचार तथा उसे आगे बढ़ाने के लिए एक साधन की आवश्यकता पड़ी। इसके लिए पूरे प्रान्त का एक रूरल डेवेलपमेन्ट अफसर नियुक्त किया गया। अनेक डिवीज़नल सुपरिन्टेन्डेन्टों तथा जिला-इन्स्पेक्टरों की भी नियुक्ति हुई। प्रत्येक जिले में पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ किये जाने वाले गाँवों की सख्या बढ़ाकर ३०० कर दी गई। ये गाँव २० केन्द्रों में एकत्रित किये गये और प्रत्येक केन्द्र एक सगठन-कर्ता की देखभाल में रख दिया गया। इस कार्यकारिणी के अतिरिक्त एक प्रान्तीय रूरल डेवेलपमेन्ट-बोर्ड की भी स्थापना हुई। विभिन्न विभागों, जैसे, औद्योगिक विभाग, जन-स्वास्थ्य-विभाग तथा कृषि-विभाग, के प्रमुखों का ग्राम-विकास से निकट सम्बन्ध रहता और ईख-कमिश्नर इस बोर्ड के बिना पद के मेम्बर रहते। प्रत्येक डिवीज़न से ग्राम-विकास में दिलचस्पी रखने वाले ग़ैर-सरकारी लोग भी इसमें नियुक्त किये जाते। प्रान्तीय विधान-सभा का भी इसके लिए सात सदस्य चुनने का आदेश दिया गया, जिनमें पाँच सदस्य बड़ी सभा अर्थात् एसेम्बली के तथा दो छोटी सभा अर्थात् कौंसिल के सम्मिलित थे। प्रत्येक जिले में ग़ैर-सरकारी लोगों को मिला कर एक जिला ग्राम-विकास सघ की नियुक्ति हुई। यह जिले के ग्रामोत्थान-कार्य की देख-रेख में रक्खा गया। इस प्रकार प्रान्त भर में सघों का एक जाल सा बिछ गया। ग्रामवासियों की कल्पना जाग उठी और उनको उत्साह काम में लगा दिया गया। काम काफी अच्छा हुआ तथा और होने की आशा थी किन्तु कुछ समय बाद कांग्रेस मंत्रिमण्डल अपने पदों से हट गये और यह कार्य रुक गया। इन सघों द्वारा सम्पादित कार्य का वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

एक संगठनकर्त्ता की देख रेख में रहनेवाले प्रत्येक केन्द्र में एक बीज-गोदाम रहता था। दो वर्षों में ऐसे ३८० बीज गोदाम स्थापित हो गये। इनका काम ग्रामवासियों को अच्छा बीज देना था। १६३६-४० में सरकार ने बीज-गोदामों के निर्माण के लिए अपने बजट से २५ लाख रुपये देने का निश्चय किया था। दो वर्षों में सवाई के आधार पर ६½ लाख मन रबी तथा एक लाख मन के लगभग खरीफ के बीज बाँटे गये। अच्छे बीज बोने, खेती के अच्छे तरीकों का प्रयोग करने तथा अच्छी खादों तथा उपज बढ़ाने वाली अन्य चीजों के प्रयोग के लिए दो लाख से भी अधिक प्रदर्शन किये गये थे। अच्छे साँडों को खरीदने तथा रखने के लिए पर्याप्त रुपया अलग रख लिया गया। फलों का उत्पादन तथा विकास करने के लिए

कलम बॉटी गयीं। जलाने के लिए ईंधन तथा चारा बढ़ाने के लिए भी प्रयत्न किया गया। खाद के लिए गोबर बचाने की दृष्टि से पेड़ लगाये गये जिनकी लकड़ी जलाने के काम में लाई जा सकती थी।

जहाँ तक खेती के विकास का सम्बन्ध है, इस वर्णन से ग्राम विकास-विभाग के कार्यों का पता चलता है। ग्रामोद्योगों का भी इसने उपेक्षा नहीं की। उन्नाव तथा फैजाबाद में उद्योगों की शिक्षा के लिए दो केन्द्र खोले गये गये जिनमें कातने-बुनने, तेल निकालने, बढ़ईगिरी तथा कागज बनाने की शिक्षा दी जाती। ६६ कताई के स्कूल खोलने के लिए कताई संघ को तेईस हजार से भी अधिक रुपये दिये गये।

ग्राम विकास क्षेत्रों में ग्रामवासियों को चिकित्सा सम्बन्धी सहायता देने के लिए सरकार ने २०० आयुर्वेदीय तथा यूनानी दवाखाने खोले जिनमें मुख्य वैद्य तथा हकीम रक्खे गये। कई जगहों पर ग्राम चिकित्सा-केन्द्र भी खोले गये। जच्चा-खानों तथा बच्चों की देखभाल के लिए भी केन्द्र खोले गये और दाइयों को आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली पर शिक्षा देने का भी प्रयत्न किया गया। शिक्षा के विकास का भी कार्य प्रारम्भ किया गया। एक शिक्षा प्रसार अफसर की नियुक्ति हुई और पूरे सूबे में साक्षरता दिवस मनाने का प्रबन्ध हुआ। यह अफसर एक समय ७६८ पुस्तकालयों तथा ३६०० वाचनालयों की देखभाल करता था। एक वर्ष में लगभग दो लाख अस्सी हजार व्यक्तियों को लिखना-पढ़ना सिखाया गया। लड़कों तथा लड़कियों, दोनों की शिक्षा के लिए ग्राम विकास विभाग के स्कूल अब भी चल रहे हैं। प्रोपैगैण्डा तथा प्रचार की दृष्टि से बाइस्कोप, ग्रामोफोन रेकार्डों तथा गॉव वालों के लिए अन्य रुचिकर चीजों की भी व्यवस्था की गई। लखनऊ के चारों ओर उपयुक्त स्थानों पर ५० रेडियो सेटों की स्थापना हुई, लखनऊ से प्रसारित किया हुआ ग्रामीण कार्यक्रम सुनने के लिए वहाँ ग्रामीण रोज इकट्ठा होते हैं। इस विभाग ने 'हल' नामक एक पत्रिका भी निकाली जो ग्रामीण पुस्तकालयों तथा संस्थाओं इत्यादि में बाँटी जाती। ग्रामीणों के शारीरिक विकास के लिए शरीर शिक्षा क्लबों की भी स्थापना हुई। ग्राम्य-जीवन के सुधार के लिए इन विभिन्न प्रकारों से प्रयत्न किये गये।

ग्रामीण विकास १६४७ के बाद— युद्धकाल में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों द्वारा सोचा हुआ ग्राम विकास का कार्य और आगे न बढ़ सका, कांग्रेस सरकार के इस्तीफा दे देने से कोई प्रेरणा तथा उत्साह ही शेष न रहा। १६४७ में जब कांग्रेस को फिर शक्ति मिली तो इस क्षेत्र में फिर से जान आई। पिछले ढाई वर्षों में काफी काम हुआ है, विकास-विभाग में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इसे आजकल सम्मिलित-विकास विभाग कहते हैं। इसका एक कार्य है जनता की दशा सुधार में लगे हुए विभिन्न विभागों— खेती-विभाग, पशुपालन विभाग, सहकारी-विभाग, शिक्षा-विभाग तथा उद्योग-विभाग— के कार्यों तथा योजनाओं को

मिलाकर ले चलना। एक विकास-कौंसिल की भी, जो मंत्रिमंडल की कोऑर्डिनेशन सब-कमेटी है, स्थापना हुई है जो इसकी योजना तथा कार्य-नीति पर निर्णय करती है। प्रधान मन्त्री ही इसका चेयरमैन होता है। एक प्रान्तीय-विकास-बोर्ड भी है जिसमें ३८ मेम्बर हैं। इसके कार्य हैं— (i) विकास-योजनाओं का निरीक्षण तथा उन्हें अच्छी से अच्छी तरह चलाने का उपाय सुझाना, (ii) नई योजनाएँ तैयार करना, (iii) विभिन्न विकास-योजनाओं का एकीकरण करने के उपाय बतलाना, तथा (iv) विभिन्न योजनाओं की प्रगति के विषय में जानकारी रखना। प्रधान मन्त्री के सभापतित्व में इस बोर्ड की साल में तीन मीटिंगें होती हैं।

इस विभाग तथा विकास-कौंसिल की ग्राम-सम्बन्धी योजनाओं को चलाने वाली व्यवस्था में भी आमूल-परिवर्तन हुए हैं। जिले कई भागों में बाँट दिये गये हैं और प्रत्येक भाग का एक निरीक्षक रक्खा गया है। मौजूदा निरीक्षकों तथा अन्य कार्य-कर्ताओं के लिए दो महीने के रिफ्रेशर क्लास की व्यवस्था की गई है, तथा क्षेत्रों के 'डेवेलपमेंट यूनियनों' द्वारा चुने हुए सेक्रेटरियों के लिए तीन महीने के रिफ्रेशर कोर्स की। इस व्यवस्था के पीछे कल्पना यह है कि ग्राम नेता ग्रामवासियों में से ही पैदा हों। प्रयोग की दृष्टि से छः जिलों का विकास-कार्य उन विकास-अफसरों की देख रेख में रक्खा गया जिन्हें खेती, सहकारी तथा पशु-धन विभाग के कार्यों की विशेष ट्रेनिङ्ग दी गई थी। चुने हुए क्षेत्रों में अधिक से अधिक काम करने के लिए विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की गई है। इसमें अमेरिकन प्रणाली पर ट्रेनिंग पाया हुआ एक ग्राम्य जीवन-विशेषज्ञ भी सम्मिलित है जिसका काम है गाँव-निवासियों के साथ कार्य करने का उचित ढंग निकालना। ग्रामवासियों की आवश्यकताएँ जानने, उन्हें विकास की योजनाएँ समझाने तथा उनका उपयुक्त सहयोग प्राप्त करने के लिए कुछ क्षेत्रों में विशेष विकास-संगठनकर्त्ता भी नियुक्त किये गये। उनमें से प्रत्येक के जिम्मे आठ गाँवों का एक समूह है। प्रत्येक जिले का एक विकास-सघ है जो प्रादेशिक अधिकारियों की देख-रेख तथा सुझाव के अनुसार अपना कार्य करता है।

विकास-विभाग के अन्तर्गत किया जाने वाला कार्य विभिन्न प्रकार का है। बीज-गोदामों का निर्माण, अच्छे बीज बाँटना, तरकारियों तथा फल वाले पेड़ों के बीज तथा कलमें बाँटना, खाद तथा खेती बढ़ाने वाली अन्य चीजें बाँटना, गन्ने तथा गुड़ का विकास करना, चारों को सड़ा कर खाद बनाने के लिये गड्ढे बनाना, गायों तथा बैलों की नस्लों में सुधार करना, पहाड़ी, ऊसर तथा अन्य प्रकार की भूमि की व्यवस्था करना: ग्राम विकास की योजना में ये तथा अन्य कई चीजें सम्मिलित हैं। प्रत्यक्ष है कि इस क्षेत्र में जितनी ही उन्नति होगी उसी के अनुसार ग्रामवासियों की गरीबी तथा दयनीय दशा में भी सुधार होगा।

अध्याय ४

भारत का धार्मिक जीवन

हमारे जीवन मे धर्म का स्थान— हमारे देश में धर्म का अत्यधिक महत्त्व है, किसी भी देश म धर्म का जीवन पर इतना अधिक प्रभाव नहीं है जितना भारत में। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, धर्म मनुष्य के पूरे जीवन को अनुप्राणित करता है, यहाँ तक कि इसी के अनुसार उसका खान-पान, शादी विवाह, रहन-सहन, सभी निर्धारित होता है। अपने पडोसियों, राज्य तथा मानवता तक से यही सम्बन्ध निश्चित करता है। इन सबका कारण यही है कि जाति-प्रथा, विवाह तथा अन्य सामाजिक रीति रिवाजों के साथ धार्मिक भावना लिपटी हुई है। यह सिद्धान्त हिन्दू तथा मुसलमानों, दोनों पर लागू होता है। हिन्दुओं का सामाजिक व्यवहार शास्त्रों पर आधारित है, मुसलमानों का कुरान तथा हदीस पर। यह ध्यान देने योग्य बात है कि हमारे देश म सामाजिक सुधार की धारा सदैव धार्मिक सुधार से मिलकर बही है, हमारे सबसे बडे समाज सुधारक धार्मिक सुधारक भी रहे हैं। पिछली शताब्दी के धार्मिक सुधार आन्दोलनों ने ही आज दृष्टिगत होने वाली राजनैतिक चेतना की पृष्ठ-भूमि तैयार की है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि शक्ति तथा जोश प्राप्त करने के लिए किसी आन्दोलन का आधार धार्मिक ही होना चाहिए। 'भारतीय हृदय धर्म से इस प्रकार मिला हुआ है कि धार्मिक शब्द से ही यह पूरी तरह धडकने लगता है और वहाँ से श्रद्धापूर्ण लहरें प्रवाहित होने लगती हैं।'* इसलिए इस देश में पाये जाने वाले धर्मों की कुछ विस्तृत परीक्षा तथा पिछली शताब्दी में हुए धार्मिक सुधार व आन्दोलनों का अध्ययन करना आवश्यक है।

हिन्दुत्व

इसकी महत्ता— हिन्दू धर्म संसार के प्रमुख धर्मों म से है। मनुष्य जाति का लगभग ⅙ भाग इसका अनुयायी है जिसमें से अधिकांश लोग भारत म पाये जाते हैं। हिन्दू धर्म का प्रभाव उन लोगों तक ही सीमित नहीं है जो हिन्दू कहलाते हैं, वह और आगे भी जाता है। भारतवासियों के आत्मिक तथा चारित्रिक विकास म इसका प्रमुख हाथ रहा है।

इसकी परिभाषा— हिन्दू धर्म की ठीक परिभाषा देना बडा कठिन है। इसका कारण यह है कि यह कोई विशिष्ट धार्मिक विश्वास न होकर जीवन का एक ढंग है, परिणाम नहीं, बल्कि एक प्रणाली है। इस्लाम या ईसाई धर्म की भाँति यह एक सीमित धर्म नहीं है और अन्य धर्मों की भाँति इसकी उत्पत्ति किसी एक संस्थापक

* एनी बेसेंट, इण्डिया— ए नेशन, पृष्ठ ७१।

द्वारा नहीं हुई है। इसलिए सिद्धान्तों का कोई ऐसा समूह नहीं है जिसे मानना प्रत्येक हिन्दू के लिए आवश्यक हो। ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास भी आवश्यक नहीं है; हिन्दू धर्म में अनेक नास्तिक हुए हैं। हालाँकि वेद हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ हैं, फिर भी उनकी पवित्रता तथा पूर्णता पर विश्वास करना किसी हिन्दू के लिए अनिवार्य नहीं है। अपने को हिन्दू कहने वाले सभी लोगों का शायद ही कोई समान धार्मिक विश्वास हो। दूसरे धर्म से हिन्दू धर्म को भिन्न करने वाला कोई निश्चित धार्मिक विश्वास नहीं है। हिन्दू धर्म के तत्व को कुछ वाक्यों में सीमित कर देना असम्भव है।

हिन्दू धर्म आध्यात्मिक अनुभूति के रूप में सबसे अच्छी तरह समझा जा सकता है; किसी निश्चित रहस्योद्घाटन के रूप में नहीं। वर्तमान समय के सबसे बड़े मर्मज्ञ सर राधाकृष्णन के शब्दों में 'चिन्तन के रूप से बढ़कर यह जीवन की एक प्रणाली है। यह धार्मिक कृत्यों पर नहीं, बल्कि जीवन के प्रति आध्यात्मिक तथा नैतिक दृष्टि पर अधिक जोर देता है। यह उन सब लोगों का भाईचारा है जो सत्य के अनुयायी तथा अन्वेषक हैं।'* उनके अनुसार हिन्दू धर्म किसी एक विशिष्ट धर्म में नहीं बल्कि आध्यात्मिक सत्यों की खोज में एकता ढूँढता है। यह सर्वाङ्गीण तथा सङ्कलनकर्ता है। इसने बलपूर्वक बुद्धि का द्वार कभी भी बन्द नहीं किया है, क्योंकि आत्मा के राज्य में यह मेरे-तेरे के भेद में विश्वास नहीं करता।

यह स्पष्ट करना हम आवश्यक समझते हैं कि हिन्दू धर्म को जीवन की एक प्रणाली कहने से हमारा क्या तात्पर्य है। हिन्दू धर्म का यह विश्वास है कि मनुष्य की एक मूलभूत प्रकृति है जिसके कारण संसार की अन्य वस्तुओं से उसकी एक अलग सत्ता है। यह एक रूह, सोल या आत्मा है। यह सोल या आत्मा दैविक है, यह परमात्मा से, जो विश्वात्मा है, अलग या भिन्न नहीं है, उसका एक अङ्ग है। हिन्दू धर्म के अनुसार मनुष्य दैवी शक्ति का अंश है, उसे पापी कहना ठीक नहीं। लेकिन यह दैवी शक्ति हमारे अन्दर में निवास करती है, यह सदैव दृष्टिगत नहीं होती। जब तक हमारी बुद्धि शुद्ध नहीं है हम इसकी अनुभूति नहीं कर सकते। जिस क्षण मनुष्य के अन्दर से सभी गन्दगी निकल जाती है उसकी दैविकता चमकने लगती है। हमारे जीवन का उद्देश्य इस दैविकता को ढकने वाली सभी अशुद्धताओं से छुटकारा पाना तथा सर्वोच्च सत्ता या परमात्मा से अपनी एकता का अनुभव करना है। एक धर्म के रूप में हिन्दू धर्म इस तथ्य पर जोर देता है कि अहं ब्रह्मास्मि (मैं ही ब्रह्म हूँ) या तत् त्व असि (तू ही वह है) ही सबसे ऊँचा आध्यात्मिक सत्य है। इस सत्य की प्राप्ति दार्शनिक तर्कों या केवल दिमागी कसरत से नहीं हो सकती, उस सर्वोच्च सत्ता की अनुभूति में ही इस सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन हो सकता है। हिन्दू धर्म के

* माडर्न इण्डिया एण्ड दी वेस्ट ओ'मैली द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ३३६।

अनुसार धर्म एक अनुभूति है और स्वामी विवेकानन्द की परिभाषा के अनुसार यह उस दैविकता की अनुभूति है जो मनुष्य में पहले से ही मौजूद है। आध्यात्मिक सत्यों की अनुभूति उसी सीमा तक हो सकती है, जहाँ तक हम उन्हें अपने जीवन में उतारते हैं; वे आत्मा की चीज हैं दिमागी कसरत की नहीं। आध्यात्मिक सत्यों पर अधिक जोर देना ही यह बताता है कि हिन्दू धर्म इस्लाम या ईसाई धर्म की तरह एक विशिष्ट धर्म क्यों नहीं है।

आध्यात्मिक सत्य की अनुभूति के लिए किसी व्यक्ति को अपने मन को साधना पड़ेगा। जो व्यक्ति इन्द्रियों के सुखों में लीन है वह सच्चा धार्मिक नहीं हो सकता। जब तक हम भोग, लालच, क्रोध, घृणा, घमण्ड तथा स्वार्थ में पड़े रहेंगे तब तक हम किसी भी आध्यात्मिक सत्य की अनुभूति नहीं कर सकते। इसी कारण सत्य की खोज करनेवालों के लिए हिन्दू धर्म माँस, मदिरा तथा मादक द्रव्यों को वर्जित करता है। उपनिषदों ने कहा है: 'आत्मा की प्राप्ति सत्य, तपस्या, सम्यक् ज्ञान तथा आत्म-संयम से होती है।' आत्म-संयम तथा भावों की शुद्धता पर विशेष जोर है। भावों के सम्यक् परिष्कार के लिए अहिंसा का पालन भी अत्यावश्यक बताया गया है। इस विषय में स्वर्गीय सी० एफ० एण्ड्रूज ने लिखा था: 'यह हिन्दू-भारत की ही विशेषता है— संसार के किसी अन्य देश की नहीं— कि छोटे जानवरों, विशेषकर चिड़ियाँ तथा गिलहरियाँ, ने मानव जाति के डर को, तथा उस डर से पैदा होने वाली अशेष प्रताड़ना को भुला दिया है। उद्यानों तथा बागों में और यहाँ तक कि खुली सड़कों पर ये छोटे-छोटे जानवर इतने निडर हो गये हैं कि वे किसी किसी के पैरों तथा सिर के पास मनुष्य के दयालु स्वभाव पर पूरा विश्वास करके पर फड़फड़ाने या घूमने लगते हैं। जब मैं यह अध्याय लिख रहा था उसी दिन सवेरे मैं बरामदे में बैठा था और एक गिलहरी आकर मेरे चारों ओर खेलने लगी। वह तनिक भी भय खाये बिना मेरे पैरों पर चढ़कर कूदने लगी। मनुष्य तथा प्रकृति के बीच यह सामञ्जस्य सदियों में जाकर सम्भव हुआ है।'*

जीवन की एक प्रणाली के रूप में हिन्दू-धर्म की एक और विशेषता की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। इसके अनुसार सत्य के एक तथा अविभाजित होने पर भी अनेक रूप हैं और विभिन्न दृष्टिकोणों से वहाँ तक पहुँचा जा सकता है। इसलिए सत्य के ऊपर एकाधिकार का इसने कभी भी दावा नहीं किया है और सदैव माना है कि दुनिया के विभिन्न धर्मों में सत्य का कोई-न कोई अंश निहित अवश्य है। ऐसी भावना के कारण ही हिन्दू धर्म सदैव सहिष्णु रहा है। धार्मिक अत्याचारों ने हिन्दू-इतिहास को कभी भी गन्दा नहीं किया है।

---

* दि ट्रू इण्डिया, पृष्ठ १८१।

हालाँकि हिन्दू-धर्म के कोई भी ऐसे सिद्धान्त नहीं हैं जिनका मानना प्रत्येक हिन्दू के लिए आवश्यक हो, फिर भी कुछ विश्वास हिन्दू धर्म की विशेषता हैं और इसलिए वे इस धर्म के मूलतत्त्व माने जा सकते हैं। सर्वोच्च आत्मा या परमात्मा पर विश्वास करने तथा मानव-आत्मा को उसका ही एक रूप मानने के अतिरिक्त हिन्दू वेदों की दैवकृता तथा पूर्णता और उपनिषदों की पवित्रता पर विश्वास करते हैं। वे अवतारवाद तथा पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। कर्मवाद में भी उनका पूरा विश्वास है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने अच्छे या बुरे कर्मों का अच्छा या बुरा फल भोगना पड़ता है। हिन्दू-धर्म के अनुसार आत्मा का कभी विनाश नहीं होता, वह एक शरीर से दूसरा शरीर उसी प्रकार धारण कर लेती है जिस प्रकार गन्दा होने पर हम एक कपड़ा उतार कर दूसरा पहन लेते हैं। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक आत्मा जन्म-मरण के बन्धन से छूट कर परमात्मा के साथ मिल नहीं जाती या मोक्ष नहीं प्राप्त कर लेती। हिन्दू-धर्म का यह भी विश्वास है कि इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगत तथा अनुभूत जगत वास्तविक नहीं है आध्यात्मिक जगत के सामने इसकी वास्तविकता धोखामात्र है और गाय के प्रति पूज्य भाव प्रत्येक प्राणी का धर्म है। वर्णाश्रम-व्यवस्था या जाति-प्रथा, मनुष्य के जीवन का चार भागों में विभाजन, वैवाहिक सम्बन्ध का पवित्र रूप तथा सम्मिलित परिवार की प्रथा भी इसको अन्य धर्मों से अलग करती है। बाल-विवाह अनिवार्य वैधव्य तथा छूआछूत की भावना इसके मूलतत्त्वों में नहीं हैं, ये तो ऐसी बुराइयाँ हैं जो हिन्दू धर्म के पतन के समय उसमें स्थान पा गईं।

साधारणतया लोग हिन्दू-धर्म तथा गाय के प्रति श्रद्धा में बड़ा गहरा सम्बन्ध मानते हैं। इसलिए इस विषय पर कुछ शब्द कह देना आवश्यक है। इस विषय पर महात्मा गाँधी के शब्द उद्धृत करना बहुत उपयुक्त होगा। वह लिखते हैं: 'मेरी दृष्टि में गाय की रक्षा मानव के विकास के सबसे आश्चर्यजनक सिद्धान्तों में से एक है, क्योंकि यह मानव को अपने वर्ग के उस पार ले जाती है। मेरे लिए गाय का अर्थ है समस्त पाशविक संसार। गाय के ही द्वारा मनुष्य समस्त प्राणियों से अपनी एकता का अनुभव कर सकता है। गाय को क्यों धार्मिक महत्त्व मिला है, इसका कारण स्पष्ट है। भारत में गाय सबसे अच्छी साथी थी, वह समृद्धि की जननी थी। वह केवल दूध ही नहीं देती थी, कृषि कर्म भी उसी पर अवलम्बित था। गाय तो करुणा की एक उद्गार है। इस सौम्य प्राणी में करुणा दीख पड़ता है। वह लाखों भारतीयों के लिए माँ के सदृश है। गाय की रक्षा का अर्थ है ईश्वर की सारी मूक सृष्टि की रक्षा ·· · · गाय की रक्षा हिन्दुत्व की विश्व को एक देन है; और जब तक गाय की रक्षा करने वाले हिन्दू रहेंगे, हिन्दू-धर्म रहेगा।'

हिन्दू धर्म के विषय में एक गलत धारणा का भी निराकरण आवश्यक है। लोगों को साधारणतया यह विश्वास है कि यह एक से अधिक देवताओं में विश्वास

करता है। लेकिन यह भावना सर्वांश सही नहीं है। यह सत्य है कि हिन्दू-धर्म में अनेक देवी-देवता हैं और प्रत्येक हिन्दू अपनी इच्छा के अनुकूल देवता की पूजा करने के लिए स्वतन्त्र है। हिन्दू धर्म के सर्वप्रचलित देवता निम्नलिखित हैं:— रक्षा करने वाले विष्णु, विनाश के अधिष्ठाता शिव, सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा, विद्या की देवी सरस्वती, सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी, शक्ति की देवी काली, बुद्धि के देवता गणेश, वर्षा के देवता इन्द्र, जल-देवता वरुण और प्रकाश के देवता सूर्य। पूजा के लिए प्रत्येक हिन्दू स्त्री-पुरुष इनमें से किसी को चुन लेता है। ईश्वर के दस अवतारों में से राम और कृष्ण के प्रति लोगों की सबसे अधिक श्रद्धा है। लेकिन विभिन्न देवी-देवताओं का कोई अलग अस्तित्व नहीं है; वे एक ही सर्वोच्च शक्ति के विभिन्न रूप हैं। उपनिषदों ने कहा है, 'ईश्वर केवल एक है जिसे लोग विभिन्न नामों से पुकारते हैं।' अज्ञान के कारण ही हिन्दू-धर्म के बहु विश्वासी होने की भावना उठती है। मूर्ति-पूजा के विषय में भी वैसी ही गलत धारणा है। यह कहा जाता है कि हिन्दू लोग मूर्ति की ईश्वर के रूप में पूजा करते हैं। यह धारणा गलत है। कोई हिन्दू मूर्ति को ईश्वर नहीं मानता, वह तो उसे पूजा में सहायक के रूप में ही मानता है। ध्यान की एकाग्रता के लिए अविकसित बुद्धि को किसी प्रत्यक्ष प्रतीक की आवश्यकता पड़ती है; मूर्तियाँ ध्यान में ऐसी ही सहायक हैं। इस प्रकार मूर्तिपूजा मानव की कमज़ोरी के लिए एक सहारा ही है। इसमें कोई पाप नहीं है। हिन्दू-धर्म का सौन्दर्य तो इस बात में है कि प्रत्येक व्यक्ति के आध्यात्मिक स्तर के लिए इसमें कोई न कोई चीज है। यह एक सरिता के सदृश है जिसके छिछले जल में एक बालक भी स्नान कर सकता है और जिसकी अथाह गहराई में तैरना बड़े बड़े तैराकों के लिए भी दुरूह है।

भारत के दो अन्य बड़े धर्मों —जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म— के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। बौद्ध धर्म तो अपने जन्म देने वाले देश में समाप्त-प्राय है; उसके अनुयायी लंका, बर्मा, चीन और जापान में पाये जाते हैं। अपने देश में जैनों की पर्याप्त संख्या है लेकिन वे भी हिन्दू ही हैं। वे हिन्दुओं के एक भाग माने जा सकते हैं। भारत के एक अन्य बड़े धर्म— इस्लाम— का विवेचन करने से पहले हिन्दू धर्म में सुधार के लिए पिछली शताब्दी में हुए आन्दोलनों का कुछ विस्तृत विवेचन आवश्यक है।

धार्मिक सुधार-आन्दोलन— ब्रह्म समाज, आर्य-समाज, थियोसॉफिकल सोसायटी तथा रामकृष्ण सेवा आश्रम, हिन्दू धर्म के प्रमुख सुधार आन्दोलन हैं। ये सुधार-आन्दोलन हिन्दुओं की आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक जागृति के प्रतीक हैं और उन्होंने राष्ट्रीय चेतना में बड़ा योग दिया है। इन सुधार-आन्दोलनों की वास्तविक महत्ता समझने के लिए यह ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है कि १८२८ में ब्रह्म-

समाज की स्थापना से पहिले भारत के राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक जीवन का पतन हो गया था। यह समय भारतीय इतिहास का अन्धकार-युग कहा जा सकता है जब हिन्दू धर्म की वह सजीवता लगभग समाप्त हो गई थी जिसने अतीत में एक शानदार तथा वैभव-पूर्ण सभ्यता को जन्म दिया था। भारतवासी उपनिषदों तथा वेदान्त के पुनीत सत्यों को भूल गये थे, उनकी आध्यात्मिक भावनाओं का शुष्क धार्मिक क्रिया-कलापों ने स्थान ले लिया था। एक ईश्वर की उपासना छोड़कर हिन्दू अनेक देवी देवताओं की पूजा में लग गये थे और निराकार ब्रह्म के चिन्तन का स्थान निम्न कोटि की मूर्ति-पूजा ने ले लिया था। सती प्रथा, अनिवार्य वैधव्य, छूआछूत, बाल-हत्या, संकीर्ण जाति प्रथा जैसी अनेक बुराइयाँ समाज के शरीर को खोखला बना रही थीं। राजनैतिक दृष्टि से भारत चालबाज ब्रिटिश कूटनीतिज्ञता के नीचे दबा पड़ा था। सांस्कृतिक दृष्टि से भी भारत पश्चिमी विजेताओं की बाहर से ऊँची दिखाई पड़ने वाली सभ्यता के सामने मूक बना खड़ा था। राजनैतिक शक्ति के ह्रास के कारण भारत वासियों का भीतरी संगठन तो गायब ही हो रहा था, पश्चिमी शिक्षा ने इसे और भी गड्ढे में ढकेल दिया। पढ़े लिखे भारतीय पश्चिम के भौतिकवाद से प्रभावित होने लगे, भारत की सांस्कृतिक परम्परा का स्थान उनके हृदय से हटने लगा। ईसाई पादरी हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों तथा कर्मकाण्डों की खूब बुराई करके अपने धर्म की महत्ता प्रदर्शित करते जिससे भारत की भोली भाली जनता और भी बहकावे में आती चली जा रही थी। देश में अंग्रेजों के ही सर्वेसर्वा होने से उन्हें अपने कार्य में और भी सहायता मिलती। हिन्दू-धर्म के दुर्ग में बड़े ही जोर का धक्का लगा और ऐसा प्रतीत होता था कि वह गिरने ही वाला है। हिन्दुओं का सांस्कृतिक जीवन लुप्तप्राय हो चुका था। लेकिन इसी समय एक विचित्र घटना हुई। बंगाल में राजा राममोहन राय, काठियावाड़ में स्वामी दयानन्द सरस्वती, मद्रास में मिसेज एनी बेसेंट और बंगाल में श्री रामकृष्ण परमहंस जैसी विभूतियों ने आगे कदम बढ़ाकर डगमगाती दशा में हिन्दू-धर्म की नाव थाम ली। भारत के पैर फिर जम गये, उसकी प्रसुप्त सजीवता फिर जाग्रत हो गई। धीरे धीरे किन्तु अविराम गति से वह आगे बढ़ने लगा और बहुत दिनों तक अपने ऊपर जादू करने वाले पश्चिमी जगत को वह फिर वही संदेश देने लायक हो गया है जिसकी उसे अत्यधिक आवश्यकता है। महात्मा गांधी की शिक्षाओं में भारतीय बुद्धि-वैभव के मूलतत्व भरे पड़े हैं। पश्चिम के समझदार व्यक्ति प्रकाश तथा पथ प्रदर्शन के लिए गांधी जी तथा उनके संदेश की ओर देखने लगे।

ब्रह्म समाज—सुधार-आन्दोलनों में सबसे पहला ब्रह्मसमाज था जिसकी स्थापना १८२८ में राजा राममोहन राय (१७७४-१८३३) ने की थी। राजा राममोहन राय आधुनिक भारत के सामाजिक तथा धार्मिक सुधारकों और देशभक्तों में न केवल प्रथम बल्कि उच्च कोटि के सुधारक थे—उनका जन्म में एक पुराने तथा कट्टर ब्राह्मण परिवार में

हुआ था। उनकी शिक्षा पटने में हुई जो उस समय मुसलमानी शिक्षा और संस्कृति का एक केन्द्र था। उनके तिब्बत जाने के विषय में भी सूचना मिलती है। भारत में कुछ समय तक इधर-उधर घूमने के बाद वे संस्कृत तथा हिन्दू शास्त्रों के अध्ययन के लिए बनारस में टिके। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी करते समय वे ईसाई पादरियों के सम्पर्क में आये। कट्टर हिन्दू परम्पराओं में प्रारम्भिक जीवन बिताने, हिन्दू शास्त्रों मुसलमानी तथा ईसाई धर्म ग्रन्थों के अध्ययन से उनका दृष्टिकोण विस्तृत और आधुनिक हो गया। उन्होंने यह महसूस किया कि ईसाई पादरियों तथा अन्य बुद्धिवादी नास्तिकों की आलोचना का सामना करने के लिए हिन्दू-धर्म में कुछ सुधार की आवश्यकता है। इस प्रकार उन्हें अपने जीवन के ध्येय का बोध हुआ। उनका ध्येय अपने देशवासियों को प्राचीन हिन्दू धर्म की पवित्रता को और लौटाने के अतिरिक्त और कुछ न था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे कलकत्ता में बस गये और अपने चारों ओर उन्होंने कुछ उदार विचारों के व्यक्तियों को भी एकत्रित कर लिया जो हिन्दू शास्त्रों के अध्ययन के लिए प्रति सप्ताह मिला करते। उन्होंने अपनी टिप्पणी के साथ बंगला में कुछ उपनिषदों तथा वेदान्त सूत्रों का प्रकाशन भी किया। हिन्दू धर्म के मूल सत्यों तथा उसकी कभी भी समाप्त न हो सकने वाली सांस्कृतिक निधि के प्रति उनके हृदय में बड़ा आदर तथा श्रद्धा थी लेकिन मूर्तिपूजा तथा भद्दे रीति-रिवाजों, जैसे बाल-विवाह, सती प्रथा, बहु विवाह तथा छूआछूत के वे कट्टर विरोधी थे। उनका विश्वास था कि उस समय बंगाल में मान्य हिन्दू धर्म पवित्र न रह कर अनेक अन्ध-विश्वासों का घर बन गया था, और उन अन्धविश्वासों को निकाल बाहर करना अत्यावश्यक था। उन्होंने अपने देशवासियों को उपनिषदों में निहित सत्यों से परिचित होने का आदेश दिया। ये सत्य या तो लोग भूल गये थे या केवल कुछ ही व्यक्तियों को ज्ञात थे।

१८२८ में उन्होंने तथा उनके कुछ साथियों ने ब्रह्म समाज के रूप में एक ऐसे संगठन की नींव डाली जो आगे चलकर बहुत प्रभावशाली हुआ। इस संगठन के अनुसार ईश्वर रूपहीन, अनन्त, अनादि तथा शाश्वत सत्ता है और यही सत्ता सृष्टि का निर्माण तथा विनाश करती है। इसकी पूजा तथा उपासना के लिए 'समाज' का पहला मन्दिर १८३० में खोला गया। यह ध्यान में रखने की बात है कि इस अनन्त तथा सर्वोच्च सत्ता की किसी नाम या पहचान द्वारा उपासना नहीं होती थी। मन्दिर में न कोई मूर्ति रखी जाती और न कोई बलिदान ही चढ़ाया जाता। मन्दिर के भीतर किसी भी धर्म में मानी गई पवित्र कोई भी चीज न घृणा की दृष्टि से देखी जाती और न उसकी बुराई ही की जाती। जाति पाँति वर्ण, धर्म इत्यादि किसी भी चीज का भेद-भाव न करते हुए मन्दिर सबके लिए समान रूप से खुला रहता। इससे यह प्रदर्शित होता है कि राजा राममोहन राय अपने 'समाज' को सहिष्णु बनाना चाहते थे जिससे पवित्रता, करुणा, उदारता आदि गुणों और सभी धर्मावलम्बियों के साथ मेल जोल की

भावना का विकास हो। इससे यह भी प्रदर्शित होता है कि अपने धार्मिक उपदेशों में वे उपनिषदों के दर्शन तथा इस्लाम की ईश्वर की एकात्मवादिता का बहुत हद तक समन्वय कर सके।

राजा राममोहन राय केवल एक धार्मिक सुधारक ही नहीं थे, बल्कि सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी सुधारों के लिए भी उन्होंने बड़ा कठिन परिश्रम किया। उनका ब्रह्म समाज स्त्रियों को सभी प्रकार की सामाजिक असमानता से ऊपर उठाने का प्रयत्न करता था तथा बाल विवाह, इच्छा विरुद्ध वैधव्य तथा छुआछूत के विरुद्ध था। बाद में उन्होंने जाति प्रथा के विरुद्ध भी लड़ाई छेड़ दी। हिन्दू-धर्म के सभी विभागों में ब्रह्मसमाजी ही जाति का सबसे कम विचार रखते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में राजा साहब पश्चिमी शिक्षा का पक्ष लेते थे। वे अपने देशवासियों को पश्चिमी विज्ञान की शिक्षा देना चाहते थे क्योंकि उनका विचार था कि यूरोपवासियों की उन्नत दशा का कारण उनकी विज्ञान में उन्नति ही है। वे उन व्यक्तियों में से एक थे जिन्होंने १८१६ में हिन्दू कॉलिज की स्थापना कराई। उन्होंने अंग्रेज पादरी अलेग्जेन्डर डफ को १८३० में अपना अंग्रेजी स्कूल प्रारम्भ करने में भी सहायता पहुँचाई। भारतवासियों के लिए स्वतन्त्रता तथा समानता की माँग करने में व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से उन्होंने अपने को एक देशभक्त राजनीतिज्ञ भी प्रदर्शित किया। राजा राममोहन राय की महानता इस बात में नहीं है कि अपने जीवन-काल में उन्हें कितनी सफलता मिली बल्कि इस बात में है कि सामाजिक, धार्मिक, शिक्षा-सम्बन्धी तथा राजनैतिक सुधारों का पारस्परिक सम्बन्ध समझने वाले वे पहले भारतीय थे।

स्थापना करने वाले राजा राममोहन राय जैसे महान् व्यक्तित्व के होते हुए भी ब्रह्म-समाज कोई अधिक उन्नति न कर सका। बंगाल के पढ़े-लिखे लोगों पर यह कोई बहुत गहरा प्रभाव न डाल सका। दिल्ली के बादशाह का संदेश लेकर वह इङ्गलैंड गये और वहीं १८३३ में उनकी मृत्यु हो गई। इसके बाद लोगों ने ब्रह्म समाज की ओर अधिक ध्यान न दिया। १८४२ में रवीन्द्रनाथ टाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ टाकुर ने अपने साधु-जीवन तथा महान् संगठन-शक्ति द्वारा इसमें फिर से सजीवता ला दी। तीस वर्षों तक, जब तक वे इस संस्था के अगुआ रहे, 'समाज' की बराबर उन्नति होती रही, बंगाल के अनेक भागों तथा बाहर भी इसकी अनेक शाखाओं की स्थापना हुई। उन्होंने इसमें कुछ कर्म-काण्ड का भी समावेश किया। वे ईसामसीह से भी इतने प्रभावित नहीं थे जितने राजा राममोहन राय।

१८५२ में एक दूसरे महान् व्यक्ति, केशवचन्द्र सेन, भी ब्रह्म समाज में सम्मिलित हो गये और शीघ्र ही वे इसके अन्यतम व्यक्तियों में हो गये। देवेन्द्रनाथ टाकुर ने उन्हें अपने सहायक के रूप में रख लिया और चौबीस वर्ष की अवस्था में ही वे 'आचार्य' पदवी से विभूषित होकर समाज के धर्माचार्य बन गये। उन्होंने एक प्रकार का युवक-

आन्दोलन प्रारम्भ करके ब्रह्म समाज में एक नई शक्ति तथा सजीवता ला दी। अनेक नवजवान तथा कॉलिजों के विद्यार्थी इस आन्दोलन की ओर आकर्षित हुए। उन्होंने प्रसिद्ध पत्र 'दि इण्डियन मिरर' की स्थापना की जो 'हिन्दू पैट्रियट' के साथ देश में सामाजिक तथा राजनैतिक सुधारों का बड़ा शक्तिशाली समर्थक बन गया। लेकिन वे देवेन्द्रनाथ की पद्धति, परम्परा तथा स्तर से अलग आदमी थे और उन पर ईसाई प्रभावों की अधिक छाप थी। वे संस्कृत नहीं जानते थे और एक अंग्रेजी स्कूल में उनकी शिक्षा भी हुई थी। इसलिए वे अपने पहिले के लोगों की अपेक्षा हिन्दू धर्म से कम प्रभावित हुए। "वे ईसामसीह के संदेश से बहुत प्रभावित थे और ब्रह्म समाज तथा हिन्दुस्तान के प्रभावशाली लोगों के एक समूह में उनके संदेश का फैलाना उनके जीवन का एक ध्येय बन गया था।"* इस कारण तथा अन्य कई बातों में मतभेद होने से इनमें तथा देवेन्द्रनाथ में कुछ मनमुटाव हो गया जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने समाज से अलग होकर 'भारतीय ब्रह्म समाज' नामक एक संस्था की नींव डाली जो 'आदि ब्रह्मसमाज' कहलाने वाली मूल संस्था से अलग थी। आपस में मन मुटाव पैदा करने वाली केशव ने केवल यही चीज नहीं की। आपसी विरोध की इससे भी बड़ी चीज तो १८७८ में उत्पन्न हुई जब उन्होंने अपनी लड़की का विवाह कूच बिहार के राजकुमार से करने की अनुमति दे दी। ब्रह्मसमाजी विवाह के कानून की दृष्टि में लड़का और लड़की दोनों की उम्र कम थी। उनके समाज से कई प्रभावशाली व्यक्ति अलग हो गये और उन्होंने 'साधारण ब्रह्मसमाज' की नींव डाली। केशव ने अपने अनुयायियों को एक नये रूप में संगठित किया और उस संगठन का नाम 'नव विधान' रक्खा। १८८४ में उनकी मृत्यु हो गई।

१८७८ से ब्रह्मसमाज की तीन शाखाएँ हो गई। 'आदि ब्रह्मसमाज', जिससे टगोर परिवार सम्बन्धित है, सबसे छोटा संगठन है और इस पर ईसाइयत का भी सबसे कम प्रभाव है। 'नव विधान' ईसाइयत से सबसे अधिक प्रभावित हुआ है। 'साधारण समाज' ही सबसे अधिक प्रभावशाली तथा क्रियाशील शाखा है।

हालाँकि केशवचन्द्र सेन की अध्यक्षता में बंगाल के बाहर भी ब्रह्मसमाज की कुछ शाखाएँ प्रारम्भ की गईं— १८६६ में उत्तर प्रदेश (संयुक्त प्रान्त) में दो तथा मद्रास तथा पंजाब में एक-एक थीं— फिर भी, यह आन्दोलन कभी भी अखिल भारतीय रूप धारण न कर सका। आज भी यह केवल बंगाल तक ही सीमित है, और वहाँ भी इसकी सदस्यता कुछ बड़ी नहीं है, पढ़े लिखे परिवारों तक ही सीमित है। आर्य समाज की तरह यह कभी भी व्यापक तथा प्रभावशाली नहीं रहा है। इसका एक कारण यह भी है कि प्रारम्भ से ही इस पर ईसाइयत की कुछ अधिक छाप रही है। राजा राममोहन राय प्रोटेस्टेंट धर्म से बराबर मिसालें लेते थे, और, जैसा कि पहले

---

* रोम्या रोलाँ : प्राफेट ऑफ न्यू इण्डिया, पृष्ठ ७६।

कहा जा चुका है, केशवचन्द्र अपने समाज में ईसामसीह को सामने लाना चाहते थे। इसने सामाजिक रीति रिवाज पर भी पाश्चात्य तरीकों का काफी प्रभाव है। ईसाई धर्म की भावनाओं पर अधिक जोर देने के कारण यह हिन्दू परम्परा के अनुकूल न रहा। इसके अतिरिक्त इस आन्दोलन में भावना के वैभव की कमी था जिसके रहने से बंगाली हृदय में सहानुभूति की उत्पत्ति हो सकती थी। इसके सिद्धान्त बौद्धिक रूप से इतने ऊँचे थे कि साधारण जनता की वहाँ तक पहुँच न हो सकती थी। फिर भी, इसने हिन्दू धर्म की बड़ी सेवा की। इसने उन हजारों नवजवानों को बचा लिया जो ईसाइयत तथा नास्तिकता के प्रभाव में आ चुके थे। इसने उन लोगों के लिए भी एक स्थान खोज निकाला जो अपने तथा अन्य हिन्दू भाइयों के बीच एक अलगाव का अनुभव करते थे। इससे भी महत्वपूर्ण कार्य इसने यह किया कि यह उन तमाम धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक आन्दोलनों का प्रारम्भ बिन्दु बना जिन्होंने पिछले सौ या उससे भी अधिक वर्षों से सारे भारत को प्रभावित किया है। इसने शिक्षा सम्बन्धी उन्नति तथा सामाजिक सुधार-आन्दोलनों को बड़ा योग दिया है, विशेषतः बंगाल में। वहाँ इसने अन्धविश्वास-पूर्ण कट्टरता के किले को बुरी तरह हिलाया। इसकी सबसे बड़ी सफलता यह भी रही कि पढ़े लिखे मध्यमवर्ग के परिवारों की स्त्रियों को इसने समाज में बड़ा ऊँचा दर्जा दिला दिया। स्त्री शिक्षा के प्रचार के लिए इसने बड़ा काम किया है।

इस भाग को समाप्त कर देने के पहिले, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इससे सम्बद्ध बम्बई में प्रचलित प्रार्थना-समाज का भी कुछ उल्लेख कर दिया जाय। केशवचन्द्र सेन के बम्बई शहर में आगमन के तीन वर्ष बाद इसकी १८६७ में स्थापना हुई और १८६८ में उनके पुनरागमन से इसको बड़ा बल मिला। इसके मूल सिद्धान्त अपने मोटे रूप में ब्रह्म समाज के सिद्धान्तों के ही अनुरूप हैं। इसका एक सर्वोच्च सत्ता में विश्वास है जिसकी उपासना से इस संसार तथा इसके बाद के जीवन में सुख तथा शान्ति मिलती है। मूर्तिपूजा को यह दैविक पूजा का वास्तविक रूप नहीं मानता। इस प्रकार यह ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है और हिन्दू शास्त्रों से प्रेरणा ग्रहण करता है। सामाजिक सुधार में भी इसको बड़ी दिलचस्पी थी। इसने जाति प्रथा, बाल विवाह दूर करने तथा विधवा-विवाह और स्त्री शिक्षा की प्रगति के लिए बड़ा प्रयत्न किया था। लेकिन ब्रह्म-समाज की तरह यह मूर्तिपूजा तथा जाति प्रथा का कट्टर विरोधी नहीं रहा। स्वर्गीय महादेव गोविन्द रानाडे, सर आर० जी० भण्डारकर तथा सर नारायन चन्दावरकर इसके सदस्यों में से थे। हालाँकि इसकी सदस्यता बड़ी नहीं थी, फिर भी बम्बई प्रेसिडेन्सी में सामाजिक सुधार-आन्दोलन में इसने बड़ा काम किया और साथ ही अपने शिक्षा सम्बन्धी तथा अन्य कार्यों से इसने भारतीय राष्ट्रीयता के रूप निर्माण में भी बड़ी सहायता दी।

आर्य समाज— भारतीय जागृति मे महत्त्वपूर्ण योग देने वाला दूसरा धार्मिक सुधार-आन्दोलन आर्य समाज है। वर्तमान हिन्दू-धर्म में यह सबसे बडा तथा सबसे अधिक प्रभावशाली आन्दोलन है। मनुष्यो म एक सबसे अधिक वीर तथा सौम्य व्यक्ति स्वामी दयानन्द सरस्वती इसके सस्थापक थे। उनमे सिह का साहस और क्रियाशील विचार शक्ति तथा नेतृत्व की प्रतिभा का अद्‌भुत सम्मिश्रण था। ब्रह्म-समाज के नेताओं से वे कई बातों म भिन्न थे। आर्य-समाज के रूप मे यह भिन्नता है। राजा राममोहन राय तथा केशवचन्द्र दोनों पर ही पश्चिमी विचारों का प्रभाव था— एक पर अधिक और दूसरे पर कम। इस कारण ब्रह्म समाज में ईसाइयत आ गई थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती अग्रेजी नही जानते थे और ईसाइयत का भी उन पर कोई प्रभाव नहीं था, लेकिन वे सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। पढे-लिखे जवानों का पश्चिमी सस्कृति तथा विचारों से प्रभावित होते देख उन्हें महान दुःख होता, इस्लाम तथा ईसाई धर्म का भी हिन्दुत्व पर हावी होना उनके लिए बडा कष्टदायक था। वे इन सब चीजों को एकदम रोक देना तथा हिन्दू-धर्म में भी सुधार करना चाहते थे। चूँकि स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्य समाज के आदि-प्रवर्तक हैं इसलिए उनके कार्यों तथा उपदेशों को ठीक समझने के लिए उनके जीवन का कुछ दिग्दर्शन अनिवार्य है।

मूलशकर का— यही स्वामी दयानन्द का वास्तविक नाम था— जन्म गुजरात के मौर्वी राज्य के एक समृद्ध ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। इसी भाग में आधी शताब्दी बाद भारत के एक दूसरे महान् व्यक्ति महात्मा गाँधी का जन्म हुआ। उनके पिता धार्मिक रूप से तथा यों भी जीवन मे बडे कट्टर व्यक्ति थे। मूलशकर को उनसे अजेय इच्छाशक्ति विरासत मे मिली थी। शिवरात्रि के दिन उपवास, रात्रि-जागरण, चूहे का शिवलिंग पर चढाया पदार्थ खाना तथा उस पर इधर-उधर दौड़ना— इन सबकी गाथा बताने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, यह प्रत्येक हिन्दू-घर मे प्रचलित है। महत्त्व की चीज तो यह है कि इसका मूलशकर के जिज्ञासु तथा कोमल हृदय पर क्या प्रभाव पडा। इसने उनके विचारों की धारा ही बदल दी और उन्हें मूर्ति-पूजा की वास्तविकता पर सन्देह उत्पन्न कर दिया। इसके कुछ वर्ष बाद ही उनकी बहन तथा चाचा की मृत्यु ने उन्हें जीवन की सार्थकता पर विचार करने के लिए बाध्य किया। उनके माता पिता ने सोचा कि विवाह उनके अव्यवस्थित मस्तिष्क तथा दुखित हृदय के लिए औषधि का कार्य करेगा, इसलिए उन्होंने उनका विवाह करना निश्चय किया। लेकिन विवाह से बचने के लिए मूलशकर ने घर छोड़ दिया और पन्द्रह वर्षों तक वे धार्मिक सत्य की खोज म अविश्रान्त परिश्रम करते रहे। उन्होंने पहिले एक ब्रह्मचारी का वेष तथा जीवन अपनाया, फिर वे वेदान्त मे दीक्षित हुए, योगियों की खोज मे इधर-उधर घूमते रहे और अन्त में मथुरा में आकर स्वामी विरजानन्द के शिष्य के रूप मे उन्होंने अष्टाध्यायी, महाभाष्य

तथा वेदान्त सूत्रों का सम्यक् अध्ययन किया। गुरु की शिष्यता में तीन साल तक रहने के पश्चात्, सद्शास्त्रों के प्रचार तथा मिथ्या धार्मिक विचारों के विनाश की प्रतिज्ञा करके उन्होंने गुरु से विदा ली। स्वामी दयानन्द ने अपने गुरु द्वारा दिये गये आदेश का पालन श्लाघ्य साहस तथा उत्साह के साथ किया। अपना शेष जीवन उन्होंने देश भर में घूमने, पंडितों, मौलवियों तथा ईसाई पादरियों से बहस करने में बिताया। बीच बीच में वे सार्वजनिक जीवन से हटकर चिन्तन तथा चरित्र को दृढ़तर बनाने के लिए कहीं चले जाते। अपने उपदेशों में उनको इतनी सफलता मिली कि पाँच वर्षों में ही उत्तरी भारत की हवा बदल गई। अपने उपदेशात्मक भ्रमण के ही सिलसिले में उनकी कलकत्ता में केशवचन्द्र सेन, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा श्री रामकृष्ण परमहंस से भेंट हुई। स्वामी जी ने इन लोगों को भी मूर्तिपूजा तथा विभिन्न देवताओं में विश्वास के विरुद्ध युद्ध करने में अपना साथी पाया। लेकिन स्वामी जी का ब्रह्म-समाज के नेताओं से कोई समझौता न हो सका क्योंकि इन नेताओं पर ईसाई धर्म का अधिक प्रभाव पड़ा था। उनकी राष्ट्रीय तथा भारतीय आस्तिकता केवल वेदों से ही उद्भूत हुई थी, उन लोगों के विश्वासों के साथ इसका मेल नहीं खाता था क्योंकि उन विश्वासों में वेदों की पूर्णता तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर भी सन्देह करने के लिए स्थान था। लेकिन ब्रह्म समाज के नेताओं से सम्पर्क का एक अच्छा परिणाम हुआ। स्वामी दयानन्द ने संस्कृत छोड़कर जनता के सामने हिन्दी में भाषण देना प्रारम्भ कर दिया। थियोसाफिकल सोसायटी की मैडम ब्लैवट्स्की तथा कर्नल अलकाट से भी उनका सम्पर्क हुआ लेकिन ईश्वर के रूप के विषय में उन लोगों से मतभेद हो गया। १८८३ में अजमेर में उनकी मृत्यु हो गई। कहा जाता है कि किसी ऐसे महाराजा की वेश्या ने, जिसको उन्होंने बुरी तरह डाँटा था, उन्हें विष दिलवा दिया।

स्वामी दयानन्द केवल सत्य की खोज करने वाले ही नहीं, एक महान् देशभक्त भी थे। वे अपनी मातृभूमि के लिए अनेक सुनहले सपने देखते थे। उनके मस्तिष्क में एक ऐसे भारत की कल्पना थी जिसमें अन्धविश्वास, इच्छा विरुद्ध वैधव्य तथा मूर्तिपूजा न हो, जिसके निवासी केवल एक ईश्वर की उपासना में विश्वास करते हों, जो संगठित हों, जो स्वतन्त्र हों और जो उसके प्राचीन वैभव को फिर लौटा सकें। उन्होंने यह बताया कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन समाज में प्रचलित मिथ्या विश्वासों का निवारण तथा पढ़े-लिखे जवानों के ऊपर पश्चिम के प्रभाव का अन्त करना था। इस काम के लिए उन्होंने वेदों के प्रचार को अपना माध्यम बनाया। उन्होंने अपने देशवासियों को मानव जाति के इस सर्वप्रथम शास्त्र को अपना पथ-प्रदर्शक बनाने का आदेश दिया और इस प्रकार हिन्दू-धर्म को एक नवीनता प्रदान की। उन्होंने यह शिक्षा दी कि वेद ईश्वर की वाणी हैं, इसलिए त्रुटियों से परे हैं। वे धार्मिक ही नहीं अपितु वैज्ञानिक सत्यों के भी स्रोत हैं। उन्होंने वेदों के अर्थ का एक नया ही ढंग निकाला, उनका

अनुवाद किया तथा उन पर भाष्य लिखा। उन्होंने इस बात की चेष्टा की कि वेदों का अध्ययन करने तथा उनसे लाभ उठाने का मार्ग सभी के लिए खुला रहना चाहिये। उन्होंने अछूतों आदि सभी मनुष्यों के लिए वेदाध्ययन का मार्ग खोल दिया जो ब्राह्मणों की धार्मिक कट्टरता के विरुद्ध विद्रोह था। दूसरे धर्मानुयायियों, विशेषकर सनातनी पंडितों, के साथ अनेक शास्त्रार्थों में स्वामी जी ने यह सिद्ध किया कि मूर्ति पूजा तथा विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा का वेदों मे विधान नहीं है, वहाँ तो केवल एक ही निराकार सर्वोच्च सत्ता की उपासना का विधान है। उनका यह भी उपदेश था कि हजारों जातियों तथा उपजातियों के साथ केवल परम्परा पर निश्चित की जाने वाली जाति-प्रथा वेदों की शिक्षा के विपरीत है। वेदों म तो केवल गुण तथा चरित्र के आधार पर समाज के चार वर्णों मे विभाजन की व्यवस्था है। स्त्रियों की दयनीय दशा ने भी उनकी दयालु आत्मा को स्पर्श किया। उन्होंने उनकी दशा में सुधार के लिए बड़ा प्रयत्न किया और यह प्रदर्शित किया कि बाल-विवाह, इच्छा-विरुद्ध वैधव्य और स्त्रियों की हेय दशा वैदिक धर्म के विरुद्ध है। वेदों की कल्पना के अनुसार वयस्क स्त्री तथा पुरुष के बीच का वैवाहिक सम्बन्ध एक धार्मिक बन्धन है। वेद स्त्री को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र म पुरुष की दैनिक सहायिका मानते हैं। अछूतों के सम्बन्ध मे भी स्वामी जी ने कम साहस का परिचय नहीं दिया। उनके स्वत्वों तथा अधिकारों का उनसे बढ़कर कोई समर्थक नहीं हुआ है। उन्होंने आर्य समाज का द्वार उनके लिए खोल दिया और उन्हें हिन्दू समाज का सम्मानित सदस्य बना दिया।

भारत का पुनरुद्धार करने के लिए स्वामी दयानन्द ने १८७५ मे बम्बई म आर्य-समाज की स्थापना की। कुछ वर्षों बाद उन्होंने लाहौर मे भी इसकी एक शाखा खाली जो उनके कार्य का केन्द्र बन गई। आज समाज की सारे भारत मे शाखाएँ हैं। पंजाब म सात सौ से भी अधिक, उत्तर प्रदेश म चार सौ से कुछ कम और राजस्थान मे लगभग सौ आर्य समाज हैं। बर्मा, स्याम, पूर्वी अफ्रीका, दक्षिणी अफ्रीका, मारीशस, फीजी द्वीपसमूह तथा अन्य जगहों म भी 'समाज' के केन्द्र हैं। आर्य-समाज ने धर्मोपदेशकों को बाहर भेजने तथा गैर हिन्दुओं को भी हिन्दू-धर्म मे सम्मिलित कर लेने की प्राचीन प्रणाली को पुनर्जीवित किया है। जिस यह मिथ्या समझता है उन विश्वासो के प्रति अपने कट्टर दृष्टिकोण तथा दूसरों को अपने धर्म मे दीक्षित करने वाले अपने कार्यों के कारण आर्य समाज को कभी-कभी 'Church Militant' तथा 'Aggressive Hinduism' भी कहा गया है।

अपने जीवन के सत्तर वर्षों मे आर्य-समाज को अनेक सफलताएँ मिली हैं। इसने विशेषत सिन्ध गगा के मैदान मे जन-आन्दोलन का रूप धारण कर लिया है। जो भी लोग इससे प्रभावित हुए हैं उनमे एक नया जोश तथा जीवन आ गया है। लोगों ने अपनी अकर्मण्यता तथा जीवन के मूल्यों

की दुर्बल मान्यताओं को निकाल फेंका है। उनका स्वय अपने म तथा धर्म म विश्वास दृढतर हो गया है। अपने विश्वास की रक्षा के लिए एक आर्य समाजी जीवन भी दे सकता है और अन्य धर्मावलम्बियों की चुनौती स्वीकार करने के लिए सदैव कटिबद्ध रहता है। समाज की स्थापना के पहिले साधारण हिन्दू दूसरों द्वारा की गई अपने धर्म की निन्दा तथा बुराई को चुपचाप सह लेता था, आर्य समाज ने उसको एक नवीन तेज और स्फूर्ति दी है।

आर्य-समाज के कार्यों का विभाजन चार भागों म हो सकता है धार्मिक, सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी तथा राजनैतिक।

(अ) *धार्मिक कार्य*— धर्म के क्षेत्र में आर्य समाज की प्रमुख सफलता हिन्दू-धर्म को एक नया 'स्वरूप' देने मे है। यह हिन्दुओं को पुराण आदि को अपने धार्मिक विश्वास की स्रोत पुस्तकें मानने के लिए मना करता तथा केवल वेदों को ही उसको आधार-शिला बनाने का आदेश देता है। इस प्रकार इसने हिन्दू-धर्म को उन *तमाम मिथ्या विश्वासों से मुक्त करने के लिए प्रशसनीय प्रयत्न किया है जो उसके पतन* काल मे उसमें घर कर गये थे। यह अनेक देवी देवताओं में विश्वास, मूर्ति-पूजा, छुआछूत, इच्छा विरुद्ध वैधव्य, बाल-विवाह, परम्परागत जाति व्यवस्था तथा उन तमाम कुरीतियों तथा विश्वासों की भर्त्सना करता है जो विकृत हिन्दू धर्म म धार्मिक पुस्तकों को अपना आधार बनाकर घर कर गये थे। इस दृष्टि से यह ब्रह्म समाज से मिलता जुलता है। लेकिन *ब्रह्म समाज जहाँ पुराणादि ग्रन्थों का विरोध तर्क के आधार* पर करता था, वहाँ आर्यसमाज वेदों की शरण लेता है और उन ग्रन्थों का वेद म कोई वर्णन न होने की बात कहता है। सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं तक पहुँचने का यह ढङ्ग अधिक भारतीय है और इसी लिए आर्य समाज, ब्रह्म समाज की अपेक्षा जनता म अधिक प्रचलित हुआ। आर्य-समाज के निम्नलिखित दस प्रमुख नियम हैं—

(१) परमात्मा ही सभी शुद्ध ज्ञान तथा इस ज्ञान द्वारा जानी जा सकने वाली सभी चीजों का प्रमुख कारण है।

(२) ईश्वर सच्चिदानन्द है— वह शाश्वत, ज्ञान-मूर्ति तथा आनन्दकारी है। वह निराकार, सर्वशक्तिमान, न्याय-रूप, दयालु, अजन्मा, अनादि अनन्त, अमर, अभय, सबका रक्षक, सबका स्वामी, सृष्टि का उत्पत्ति का कारण तथा उसका पालन करने वाला है। केवल उसी की उपासना श्रेय है।

(३) वेद ही सत्य ज्ञान के आदि स्रोत हैं। उन्हें पढना-पढाना, सुनना-सुनाना प्रत्येक आर्य का कर्त्तव्य है।

(४) किसी को सत्य की स्वीकृति और असत्य की अस्वीकृति के लिए सदैव प्रस्तुत रहना चाहिए।

(५) प्रत्येक चीज धर्मानुसार अर्थात सही और गलत का ध्यान रखकर करनी चाहिए।

(६) 'समाज' का प्रमुख ध्येय मानव-जाति की शारीरिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक दशा में सुधार करके संसार की सेवा करना है।

(७) पारस्परिक व्यवहार का आधार प्रेम, न्याय तथा धर्म होना चाहिए।

(८) विद्या के प्रसार तथा अविद्या के निवारण के लिये सबको प्रयत्नशील रहना चाहिए।

(९) अपनी ही भलाई से किसी को सतुष्ट नहीं रहना चाहिए बल्कि सबकी भलाई में ही अपनी भलाई देखनी चाहिए।

(१०) पूरे समाज पर प्रभाव डालने वाली भलाई की चीजों में अड़गा नहीं डालना चाहिए, बल्कि पूर्ण रूप से व्यक्तिगत मामलों में सबको समान रूप से स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।

इन सब बातों में पुनर्जन्म पर विश्वास, कर्मवाद का सिद्धान्त, निर्वाण अर्थात मोक्ष की कल्पना भी जोड़ी जा सकती हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि भक्त तथा ईश्वर के बीच आर्य-समाज किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं मानता। हिन्दू धर्म में ब्राह्मणों तथा ईसाई धर्म में पादरियों की तरह इसमें कोई पुजारी वर्ग नहीं है।

आर्य-समाज ने केवल हिन्दू धर्म का एक उदार तथा विस्तृत अर्थ किया तथा विदेशी सभ्यताओं पर इसकी श्रेष्ठता ही नहीं सिद्ध की है बल्कि इस्लाम तथा ईसाई धर्म में जाने वाले हिन्दुओं के प्रवाह को भी रोका है। इतना ही नहीं, यह और आगे भी गया है, इसने हिन्दू धर्म का दरवाजा अन्य धर्मावलम्बियों के लिए खोल दिया है। १९४० में आर्य-समाज ने १९९३ गैर-हिन्दुओं को अपने धर्म में दीक्षित किया। जैसा कि ऊपर प्रदर्शित किया जा चुका है, आर्य-समाज ने बाहरी देशों का धर्म-दूत भेजने की प्राचीन-प्रणाली को फिर से प्रचलित किया। इसने लाखों अछूतों का यज्ञोपवीत किया और उन्हें हिन्दू समाज का एक अभिन्न अङ्ग बना दिया।

संक्षेप में, 'समाज' के धार्मिक क्षेत्र में निम्नलिखित उद्देश्य हैं: हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास में परिवर्तन, वैदिक धर्म तथा आर्य संस्कृति के बारे में सच्चे ज्ञान का प्रसार और हिन्दू-समाज को उन बुराइयों से मुक्त करना जो इसकी जड़ें खोखली कर रही हैं।

(ब) सामाजिक कार्य— आर्य-समाज के कार्य-क्रम में सामाजिक सुधार का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। 'समाज' ने परम्परागत जाति-व्यवस्था का विरोध किया है। इसके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र— इन चार वर्णों का विभाजन गुण तथा कर्म के आधार पर होना चाहिए, जन्म के आधार पर नहीं। यह वेदों में

वर्णित वर्ण व्यवस्था को पुनर्जीवित करना चाहता है। इस क्षेत्र में अधिक सफलता नहीं मिली है, आर्य-समाज के सदस्यों की एक बड़ी संख्या भी जाति पाँति के बन्धनों से उतनी ही बंधी है जितने अन्य हिन्दू। फिर भी, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दू मस्तिष्क से जाति-व्यवस्था की पकड़ ढीली पड़ती जा रही है। इसका कुछ अंशों में श्रेय आर्य समाज को मिलना चाहिए। कुछ आर्य-समाजी 'जाति-पॉति-तोड़क-मण्डल' चला रहे हैं। 'समाज' बाल तथा बेमेल विवाह का भी बुरा बतलाता है। इसने लड़कों के विवाह की उम्र कम से कम पच्चीस तथा लड़कियों की सोलह वर्ष निश्चित की है। विधवा विवाह तथा स्त्रियों की साधारण दशा में उन्नति के लिए भी काफी काम किया है। विवाह-सम्बन्धी रीति रिवाजों तथा अन्य सामाजिक बुराइयों के निराकरण की भी इसने उपेक्षा नहीं की है।

लेकिन आर्य समाज के सामाजिक सुधार के कार्यों में अछूतों का उद्धार ही प्रमुख है। इस बात की घोषणा करके कि किसी व्यक्ति का सामाजिक स्थान उसके कर्म पर निर्भर है, जन्म पर नहीं, इसने अस्पृश्यता को बड़ा धक्का पहुँचाया। १९०८ में दलित जातियों के उद्धार के लिए एक सक्रिय आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। वर्तमान समय में 'दयानन्द दलित-उद्धार मण्डल' इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य कर रहा है। दुःखी मानवता की सेवा में भी 'समाज' पीछे नहीं रहा है। ईसाई मिशनों के सेवा कार्यों से प्रभावित होकर, आर्य समाज ही प्रथम शुद्ध भारतीय संस्था थी जिसने अनाथालयों तथा विधवाश्रमों की स्थापना की। अकाल-पीड़ित क्षेत्रों में सेवा-कार्य के लिए गैर सरकारी रूप से आन्दोलन प्रारम्भ करने वाली यह पहली गैर-ईसाई संस्था भी थी। आज देश भर में आर्य-समाज के सदस्यों द्वारा संगठित तथा चलाई जाने वाली सामाजिक सेवा संस्थाओं का एक जाल सा बिछा हुआ है।

(स) *शिक्षा सम्बन्धी कार्य*— देश में आर्य-समाज प्रमुख शिक्षण संस्था है। किसी भी अन्य संगठन के हाथ में इतनी शिक्षण संस्थाएँ नहीं हैं जितनी इसके। पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में अनेक डी० ए० वी० कॉलिज तथा स्कूल हैं जहाँ विद्यार्थियों को आधुनिक शिक्षा दी जाती है। इन शिक्षण-संस्थाओं में लाहौर की एक शिक्षण संस्था सबसे प्रमुख थी। १८८५ में महर्षि स्वामी दयानन्द के स्मारक के रूप में इसकी स्थापना हुई थी। लाहौर के पाकिस्तान में चले जाने के कारण यह संस्था बन्द हो गई। इसका स्थान डा० ए० वी० कॉलिज जालन्धर, ने ले लिया है। उत्तर प्रदेश के डा० ए० वी० कॉलिजों में सबसे प्रमुख कानपुर है। इन डी० ए० वी० कॉलिजों के साथ साथ चलनेवाले अनेक हाई स्कूल तथा मिडिल स्कूल हैं। दलित वर्गों के लिए विशेष रूप से चलनेवाले दिन स्कूल तथा रात्रि-स्कूल हैं। लड़कियों की शिक्षा की ओर भी समुचित ध्यान दिया गया है। लगभग सभी बड़े नगरों में कन्या पाठशालाएँ हैं जिनमें जालन्धर का कन्या महाविद्यालय प्रमुख है। कांगड़ी (हरिद्वार) के प्रसिद्ध गुरुकुल का भी उल्लेख आवश्यक है जहाँ बच्चे सात वर्ष

की अल्पावस्था में भर्ती होते और पच्चीस वर्ष की उम्र तक शिक्षा प्राप्त करते हैं। इतने वर्षों तक ये लड़के अपने गुरुओं के साथ रहते और सादगी तथा ब्रह्मचर्य-पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। अनुशासन बड़ा कड़ा रहता है। यहाँ हिन्दी के माध्यम द्वारा शिक्षा देने की एक अलग प्रणाली है, हालाँकि अंग्रेजी तथा अन्य आधुनिक विज्ञानों की भी शिक्षा होती है। गुरुकुल की स्थापना महात्मा मुंशीराम ने की थी जो बाद मे स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। 'समाज' ने हिन्दी के पक्ष मे भी जोरदार प्रचार किया है। 'समाज' द्वारा ही प्रोत्साहन दिये जाने पर हिन्दी के जानकारों की संख्या काफी बढ़ गई है।

(द) *राजनैतिक कार्य*— आर्य-समाज मुख्य रूप से हिन्दू सुधार-आन्दोलन ही है, राजनैतिक संगठन नहीं। लेकिन राष्ट्र की राजनैतिक चेतना मे इसका बड़ा हाथ रहा है। यह मातृभूमि के प्रति गौरव भक्ति तथा अपने मे आत्मनिर्भरता की भावना पैदा करता है और साथ ही साथ दृढ चरित्र तथा स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम उत्पन्न करता है। इसके सदस्यो म किसी प्रकार की हीनता की भावना नहीं देखी जाती। इन कारणो से यह यदि विदेशी सरकार की दृष्टि में खटकता रहा तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। यह भी ध्यान म रखना अत्यावश्यक है कि स्वामी दयानन्द ने ही पहले पहल स्वदेशी मन्त्र की दीक्षा दी और पश्चिमी विचारों तथा आदर्शों के प्रति अन्ध-विश्वास के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ किया। कांग्रेस के राष्ट्र निर्माण के कार्य क्रम के बहुत से अंगो को प्रस्थापित करने का श्रेय इसी को है। इसने राष्ट्र को स्वर्गीय लाला लाजपतराय तथा स्वामी श्रद्धानन्द जैसे अनेक अगुआ राजनीतिज्ञ भी प्रदान किये हैं।

'दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया' नामक पुस्तक के एक लेख मे स्वामी निर्वेदानन्द ने आर्य-समाज की सफलताओं का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है : वेदों के प्रति एकांगी दृष्टिकोण के कारण आर्य-समाज मे चाहे जो बुराइयाँ आ गई हों, फिर भी, इस आन्दोलन ने लोगों में हिन्दुत्व का एक नया मंत्र फूँक दिया और इसी कारण हिन्दू जाति मे यह इतना प्रिय बना। इसके अतिरिक्त, मूर्ति-पूजा का खंडन करके इसने आधुनिक बुद्धिवादी लोगों के विचारों का भी स्पर्श किया। मूर्तिपूजा के स्थान पर वैदिक यज्ञादि के फिर से, आर्य समाज ने कुछ मन लुभाने वाला आकर्षण उत्पन्न कर दिया। अन्त में, सामाजिक रीति रिवाजों का शीघ्र परिवर्तन तो युग की माँग थी। इन सब चीजों ने मिलकर आर्य-समाज के धर्म परिवर्तन के प्रयत्नों को भी सफलता प्रदान की। सारे उत्तरी भारत, विशेषतः पंजाब, में यह नया विश्वास दावाग्नि के सदृश फैला और कुछ ही वर्षों मे इसने कई लाख व्यक्तियों को अपने सिद्धान्तों मे दीक्षित कर लिया। इस प्रकार आर्य-समाज ने काफी बृहत् क्षेत्र

से विदेशी सभ्यता के विनाशकारी प्रभावों को समाप्त किया और देश के सांस्कृतिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण सफल अध्याय जोड़ा।"*

थियोसॉफिकल सोसायटी— मैडम ब्लैवट्स्की नामक एक सम्भ्रान्त रूसी महिला तथा अमेरिकी सेना के हेनरी स्टील आलकाट नामक एक कर्नल ने १८७५ में न्यूयार्क में इसकी स्थापना की। थियोसॉफिकल सोसायटी का हिन्दू सुधार-आन्दोलन से कोई सम्बन्ध न था। सृष्टि, मनुष्य तथा उसके अन्तिम लक्ष्य के विषय में कुछ तथ्यों तथा उन पर आधारित जीवन की एक विशिष्ट प्रणाली का प्रचार ही इसका प्रमुख उद्देश्य था। इसका यहाँ वर्णन इसलिए आवश्यक है कि इसने पढ़े लिखे हिन्दुओं का अपने साहित्य तथा धर्म में विश्वास पुनर्जीवित किया और ईसाइयत तथा भौतिकता के प्रभाव तथा उनकी धारा को दक्षिण में रोकने का वही कार्य किया जो आर्य-समाज ने उत्तरी भारत में। इसके संस्थापकों को इस देश में आने के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आमन्त्रित किया। वे १६ फरवरी १८७६ में बम्बई में उतरे। कर्नल आलकाट ने देश के अनेक भागों में दौरा करके भाषण दिये जिनमें उन्होंने हिन्दुओं का अपनी दीन दशा की ओर ध्यान दिलाया और 'उन्हें गौरवपूर्ण प्राचीन हिन्दू धर्म को उन तमाम बुराइयों से अलग करने का आदेश दिया जो इसकी सजीवता को नष्ट किये डाल रही थीं।'† हिन्दू धर्म के अध्ययन के लिए भी उन्होंने अनेक संस्थाओं की स्थापना की। हिन्दुस्तान में काम करने के लिए सोसायटी का प्रमुख स्थान उन्होंने १८८२ में न्यूयार्क से हटाकर अड्यार, मद्रास में कर दिया। उनके कार्य का प्रमुख ध्येय था भारतीयों को अपने राष्ट्रीय धर्म का आदर करना सिखाना। सरकारी शिक्षण संस्थाओं तथा ईसाई पादरियों द्वारा दी गई अधार्मिक (Non religious) तथा राष्ट्र-विरुद्ध शिक्षा हिन्दुओं के राष्ट्रीय धर्म का नाश कर रही थी। सर हेनरी आलकाट ने इसका बड़ा विरोध किया।

आयर्लैंड की प्रतिभाशालिनी महिला एनी बेसेंट ने धार्मिक जागृति का कार्य उत्साह के साथ चालू रखा। थियोसॉफिकल सोसायटी के एक सदस्य की हैसियत में वे भारत में १८९३ में आईं और बाद में वे सोसायटी की प्रेसिडेण्ट बन गईं। वे प्रत्येक दृष्टि से हिन्दू बन गईं और हिन्दू तथा ग़ैर हिन्दू, सभी प्रकार के आलोचकों द्वारा व्यर्थ बताये जाने वाले अनेक हिन्दू रीति रिवाजों के भी पक्ष में बड़े उत्साहपूर्ण तथा वैज्ञानिक तर्क रखने लगीं। उन्होंने वेदों तथा उपनिषदों में अपने विश्वास तथा हिन्दू संस्कृति की पाश्चात्य संस्कृति के मुकाबले उच्चता की स्पष्ट घोषणा कर दी। उन्होंने मूर्ति-पूजा का भी समर्थन किया जिसे ब्रह्म समाज तथा आर्य-समाज ने निकृष्ट बताया था, उन्होंने जाति-व्यवस्था का, उसके मूल रूप में, पक्ष लिया और सती-प्रथा

* 'कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया', खण्ड II, पृष्ठ ४४७।

† एनी बेसेंट : इण्डिया— ए नेशन, पृष्ठ ८५।

तक का भी समर्थन किया लेकिन तभी जब विधवा स्वयं अपनी इच्छा से सती होना चाहती हो। यह कहा जा सकता है कि ऐनी बेसेन्ट की अध्यक्षता में भारत में थियोसॉफी हिन्दू-जाग्रति की प्रवृत्ति बन गई। सर वैलेन्टाइन चिरोल ने अपने 'इण्डियन अनरेस्ट' में इस प्रकार लिखा है 'मदाम ब्लैवट्स्की तथा कर्नल आलकॉट के नेतृत्व में थियोसॉफिस्टों के आगमन ने हिन्दू जाग्रति को एक नई शक्ति दी और किसी भी हिन्दू ने इस आन्दोलन को सगठित तथा व्यवस्थित करने के लिए उतना कार्य नहीं किया जितना ऐनी बेसेन्ट ने। उन्होंने सेन्ट्रल हिन्दू कॉलिज बनारस तथा मद्रास के निकट अदयार वाली थियोसॉफिकल संस्था द्वारा पाश्चात्य भौतिक सभ्यता के समक्ष हिन्दू धर्म की उच्चता की स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी है। हिन्दुओं का हमारी सभ्यता की ओर से मुँह मोड़ लेना तक क्या आश्चर्यजनक है जब एक प्रखर बुद्धि तथा अद्वितीय वाक्‌शक्ति सम्पन्न यूरोपीय महिला आकर उन्हें यह बताती है कि सर्वोच्च ज्ञान की कुंजी उन्हीं के पास है और सदैव से रही है, उनके देवता, *उनका दर्शन तथा उनकी नैतिकता, उस स्तर की उससे ऊँची भूमि पर है जहाँ तक* पश्चिम कभी पहुँचा है।'

एनी बेसेंट की एक सबसे बड़ी सफलता सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल तथा सेण्ट्रल हिन्दू कॉलिज की बनारस में स्थापना थी जो अब बृहद् हिन्दू विश्वविद्यालय बन गया है। उन्होंने सामाजिक सुधारों की भी अवहेलना नहीं की। उनके सेण्ट्रल हिन्दू हाई स्कूल में विवाहित लड़कों की भरती नहीं होती थी। श्रीमती एनी बेसेंट ने अपने साथ काम करने वालों तथा सच्चे अनुयायियों से अपनी लड़कियों की छोटी अवस्था में विवाह न करने की प्रतिज्ञा करा ली थी। उन्होंने इंगलैंड तथा अन्य देशों तक सामुद्रिक यात्रा करने वाले भारतवासी हिन्दुओं को जाति में सम्मिलित कर लेने का प्रबन्ध भी किया। अन्त में उन्होंने 'इंडियन होम रूल' आन्दोलन संगठित किया और इस सम्बन्ध में उन्होंने सजा भी काटी। १९१८ में वे कॉंग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षा भी चुनी गईं। हिन्दू-शास्त्रों का अनुवाद सहित प्रकाशन करके थियोसॉफिकल सोसायटी ने हिन्दू धर्म की बड़ी सेवा की और इस प्रकार पढ़े-लिखे हिन्दुओं को अपने धर्म से परिचित करने के लिए इसने बड़ा काम किया। हिन्दू समाज पर प्रभाव की दृष्टि से यह अन्य सुधार आन्दोलनों से मिलता-जुलता रही। लेकिन सामाजिक रीति-रिवाजों से आमूल परिवर्तन के पक्ष में वह नहीं थी। यह भी ध्यान देने की बात है कि संसार के सभी प्रमुख धर्मों के प्रति सहिष्णुता तथा उनके तत्वों को स्वीकार करने की अपनी नीति के कारण भारत में प्रचलित विभिन्न धर्मों में एकता लाने के लिए थियोसॉफिकल सोसायटी की स्थिति बहुत अच्छी है।

रामकृष्ण सेवा आश्रम— ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज की उत्पत्ति हिन्दू-धर्म के इतिहास की एक नाजुक स्थिति में हुई थी। उन्होंने तथा थियोसॉफिकल

सोसायटी ने मिलकर घटनाओं के प्रवाह को रोका और ईसाइयत तथा पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव को आगे न बढ़ने दिया। उन्होंने हिन्दुओं को अपने धार्मिक उपदेशों को एक नवीन प्रकाश में देखने तथा उनकी प्रशंसा करने योग्य बनाया। इस प्रकार उन्होंने हिन्दू-धर्म पर अन्य धर्मों की सांस्कृतिक विजय को रोका। लेकिन उन्हें पूर्ण हिन्दू-जागृति का श्रेय नहीं मिल सकता क्योंकि उनमें से प्रत्येक ने हिन्दू धर्म के कुछ विशेष पहलुओं तथा तत्वों पर जोर दिया और अन्य पहलुओं को व्यर्थ या अन्धविश्वास बताकर उनकी उपेक्षा की। उदाहरण के लिए, भक्ति या श्रद्धा को, जो हिन्दू-धर्म का एक प्रमुख अङ्ग है, उनकी जीवन प्रणाली में कोई स्थान नहीं मिलता। मूर्तिपूजा का प्रमुख उद्देश्य भी वे न समझ सके। इसका परिणाम यह हुआ कि 'वे हिन्दू-महर्षियों द्वारा सैकड़ों शताब्दियों में बनाये गये आदर्शों तथा विचारों की बृहत् तथा गौरवपूर्ण परम्परा की महत्ता का अनुमान तथा उसका पूर्ण अवलोकन न कर सके।*' यह कमी श्री रामकृष्ण परमहंस द्वारा पूरी की गई जिनके जीवन तथा संदेश में हिन्दुत्व की पूर्ण आध्यात्मिक जागृति निहित है। वह हिन्दू समाज के समक्ष गहन अध्यात्मपूर्ण अद्वितीय जीवन के साथ अवतीर्ण हुए, हिन्दू धर्म के प्रति उनकी दृष्टि बड़ी ही उदात्त तथा विश्लेषणपूर्ण थी तथा हिन्दू शास्त्रों के सभी विचारों और आदर्शों की उनकी विवेचना बड़ी ही सरल तथा प्रभावशालिनी थी। उन्होंने धर्म के सर्वोच्च सत्यों का साक्षात्कार अपने जीवन ही में कर लिया था और यह प्रदर्शित भी कर दिया कि ईश्वर की प्राप्ति उन परम्परागत हिन्दू रीति-रिवाजों के अपनाने से हो सकती है जिनको ईसाई पादरियों ने अन्ध-विश्वास बता कर व्यर्थ सिद्ध करने की चेष्टा की थी। अब हिन्दू इस बात का दावा कर सकते थे कि उनका धर्म पूर्ण था और उन्हें किसी विदेशी धर्म की आवश्यकता न थी। इस प्रकार उन्होंने परम्परागत विश्वास में, उसकी तमाम मान्यताओं के साथ, एक बड़ी शक्तिपूर्ण चेतना ला दी। इस चेतना ने यह प्रदर्शित किया कि राजनैतिक क्षेत्र में भी भारतीय स्वयं अपनी दशा की देख-भाल कर सकते हैं, विदेशियों का इसमें हाथ डालने की तनिक भी आवश्यकता नहीं।

श्री रामकृष्ण परमहंस भी राजा राममोहन राय तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती की भाँति एक ब्राह्मण थे किन्तु उनमें इन लोगों की-सी विद्वत्ता तथा वक्तृता-शक्ति न थी। उनमें अन्य दृष्टियों से भी इन लोगों से असमानता थी। वे किसी चीज में एकदम परिवर्तन के पक्ष में न थे और पुराने रीति-रिवाजों की बुराई नहीं करते थे। यद्यपि वे मुश्किल से साक्षर कहे जा सकते थे, फिर भी नरेन्द्रनाथ जैसे कॉलिज के विद्यार्थी, जो बाद में स्वामी विवेकानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए, उनके पास आते और उन्हें अपना गुरु स्वीकार करते। विचार-क्षेत्र में केशवचन्द्र सेन तथा

* कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, खंड II, पृष्ठ ४४६।

बंकिमचन्द्र चटर्जी जैसे नेताओं ने भी उनकी महानता स्वीकार की। हालाँकि उन्होंने किसी संस्था तथा समाज की स्थापना नहीं की फिर भी उन्होंने एक पूरी पीढ़ी को प्रेरित किया। १८८६ में उनकी मृत्यु के बाद, स्वामी विवेकानन्द के नेतृत्व में, उनके लगभग एक दर्जन शिष्यों ने एक संस्था की स्थापना की जिसे 'रामकृष्ण सेवा-आश्रम' कहते हैं। उन्होंने जीवन भर ब्रह्मचर्य तथा सादगी का व्रत लिया और चिन्तन तथा गरीबों की सेवा के लिए अपना सारा जीवन उत्सर्ग कर दिया।

श्री रामकृष्ण ने हिन्दू धर्म में एक पूर्ण आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न की, लेकिन उनका जीवन तथा उनकी अनुभूतियाँ इनसे भी महान् सत्य की प्रत्यक्ष उदाहरण थीं। उन्होंने हिन्दू धर्म द्वारा बताये ईश्वर के साक्षात्कार के विभिन्न उपायों का अद्वितीय सफलता के साथ प्रयोग किया; जैसे, दैवी माता के रूप में काली की पूजा, निराकार तथा निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन तथा निर्विकल्प समाधि। वे इसी नतीजे पर पहुँचे थे कि ये सब रास्ते केवल एक ही गतव्य अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार की ओर ले जाते हैं। उनका यह पक्का विश्वास था कि एक ही ईश्वर की हिन्दू ईश्वर या परमात्मा, मुसलमान अल्लाह, ईसाई गॉड तथा अन्य धर्मावलम्बी ऐसे ही दूसरे नामों से उपासना करते हैं। वह कभी कभी इस प्रकार कहा करते थे कि : मैंने हिन्दू, इस्लाम तथा ईसाई सभी धर्मों का अभ्यास किया है तथा हिन्दू धर्म की विभिन्न उपशाखाओं के विभिन्न मार्गों का भी अवलम्बन किया है। मैंने यह अनुभव किया है कि एक ही स्थान की ओर लोग विभिन्न मार्गों से अपना कदम बढ़ा रहे हैं। मैं जहाँ कहीं भी देखता हूँ मुझे हिन्दू, मुसलमान, ब्रह्मसमाजी, वैष्णव तथा अन्य धर्मावलम्बी आपस में लड़ते दिखाई पड़ते हैं, लेकिन वे ये नहीं सोच पाते कि जिसे वे कृष्ण कहते हैं वही शिव भी कहलाता है; उसे शक्ति, ईसा तथा अल्लाह भी कहते हैं— एक ही राम को हजारों नामों से जाना जाता है।'

जिस प्रकार स्वामी विरजानन्द ने अपने शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती से ज्ञान का प्रचार करने तथा लोगों को वेदों की ओर ले आने की प्रतिज्ञा कराई थी, उसी प्रकार श्री रामकृष्ण ने अपने प्रिय शिष्य विवेकानन्द को मानवता की सेवा करने तथा सार्वभौम धर्म का प्रचार करने का भार सौंपा। उन्होंने विवेकानन्द को यह उपदेश दिया कि स्वार्थ के वशीभूत होकर अपने मोक्ष के लिए ही प्रयत्नशील होना ठीक नहीं। विवेकानन्द तथा उनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण सेवा-आश्रम, श्री रामकृष्ण के संदेश को भारत तथा शेष दुनिया में फैलाने के माध्यम बने। यहाँ इसका जिक्र किया जा सकता है कि अपनी मृत्यु के कुछ दिन पहिले श्री रामकृष्ण ने केवल स्वामी विवेकानन्द के साथ रहने की इच्छा प्रकट की और उन्हें एक प्रकार की आध्यात्मिक चेतना में परिवेष्टित करते हुए बोले : 'आज मैंने तुम्हें अपना सब कुछ दे दिया है और मैं अब केवल एक अकिंचन फकीर रह गया हूँ। इस शक्ति से

तुम संसार का बहुत भला कर सकोगे और जब तक तुम्हें अपने ध्येय की प्राप्ति न हो जायगी, तुम इस संसार को नहीं छोड़ोगे।'

स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका जाने, १८९३ में शिकागो में हुए विश्व-धर्म-सम्मेलन में उनके भाग लेने, और वहाँ पर हिंदू-धर्म के पक्ष में लोगों को चकित करने वाला भाषण देने, अमेरिका तथा इंगलैंड में अनेक वेदान्त केन्द्रों की स्थापना करने, उनकी विजयपूर्ण वापसी, उनका अमेरिका तथा इंगलैंड का दुबारा भ्रमण तथा भारत लौटने पर उनके बाद के कार्यों की बड़ी दिलचस्प कहानी है, लेकिन उसे यहाँ सुनाने की आवश्यकता नहीं।* हमारा यहाँ सम्बन्ध केवल उस व्यवहारिक वेदान्त तथा हिन्दू धर्म की उन सभी अच्छाइयों से है जिनके पुनरुद्धार तथा प्रचार के लिए उन्होंने अथक परिश्रम किया। उनके अनुसार वह धर्म व्यर्थ है जो अपने अनुयायियों को स्थिति की गम्भीरता का सामना करने के योग्य नहीं बनाता। संक्षेप में, उन्होंने हिन्दू धर्म को प्रगतिशील तथा आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने उपनिषदों के पुनीत सत्यों तथा वेदान्त के विचारों तथा आदर्शों को नित्यप्रति के जीवन में उतारने का आदेश दिया। अपने भाषणों में उन्होंने यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार वेदान्ती विचार लोगों में नवीन जीवन का संचार तथा उनके विचारों को उदात्त बना सकते हैं। वेदान्ती आदर्शों के प्रचार तथा उन्हें वास्तविक जीवन में उतारने के लिए उन्होंने रामकृष्ण सेवाश्रम की स्थापना की। यह एक स्थायी संस्था बनाई गई जिसमें दीक्षा पाये हुए सदस्य अपने जीवन तथा उपदेशों, दोनों से, उनके आध्यात्मिक आदर्शों को प्रज्वलित रखते हैं। अपनी उत्तेजक तथा प्रभावशालिनी वक्तृता द्वारा तथा अपने गुरु श्री रामकृष्ण की इच्छा का स्मरण दिलाकर उन्होंने अपने शिष्य भाइयों को एकाकी तथा केवल अपने हित के लिए की गई उपासना की निकृष्टता बताई और उन्हें सामाजिक तथा राष्ट्रीय सेवा के लिए सन्नद्ध हो जाने का उपदेश दिया। उन्होंने कहा : 'ईश्वर की खोज में तुम कहाँ जाते हो? क्या पीड़ित, कमजोर और निर्धन मनुष्य स्वयं देवता नहीं हैं? उनकी ही पूजा क्यों नहीं करते? गङ्गा के किनारे कुआँ खोदने क्यों जाते हो? इन्हीं लोगों को अपना ईश्वर मानो— उनके ही विषय में सोचो, काम करो, उनकी ही अनवरत उपासना करो; प्रभु तुम्हें मार्ग दिखायेंगे।'

अपने अङ्गरेज तथा अमरीकी शिष्यों द्वारा एकत्रित रुपये की सहायता से स्वामी विवेकानन्द ने १८९९ में कलकत्ता के निकट वेलूर नामक स्थान

---

* इसमें दिलचस्पी लेने वाले विद्यार्थी को 'कल्चरल हेरीटेज ऑफ इण्डिया' खंड २ का अन्तिम अध्याय तथा रोम्याँ रोलाँ की 'दी प्राफेट्स ऑफ न्यू इण्डिया' नामक पुस्तक देखनी चाहिए।

पर एक मठ बनवाया। यहा रामकृष्ण सेवा आश्रम का प्रधान केन्द्र है। अलमोड़ा जिले म मायावती नामक स्थान पर तथा दक्षिण में बगलोर में भी मठ हैं तथा अन्य जगहों पर भी मठ की शाखाएँ हैं। सेवा-आश्रम ने भारत, बर्मा, लका, मलाया के सघ राज्य, तथा अमेरिका और यूरोप के अनेक स्थानों पर जन सेवा सस्थाएँ खोली हैं। सेवा आश्रम शिक्षा तथा जन सेवा के कार्य म लगा रहता है और कुछ ऊँचे स्तर की पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करता है जिनमें 'प्रबुद्ध भारत' सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

कुछ छोटे आन्दोलन— ऊपर वर्णित चार बड़े सुधार-आन्दोलनों ने हिन्दू-जागृति के लिए महान् कार्य किया। उन्होंने हिन्दू धर्म की शाश्वत आत्मा की पुन खोज तथा राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता की भावना के प्रसार में बड़ा योग दिया। हिन्दू धर्म म आज नवीन जीवनी-शक्ति आ गई है, यह मत-मतान्तरों के झगड़े तथा पुजारियों की शक्ति से मुक्त हो चुका है। इसने पश्चिम के सम्पर्क से बहुत लाभ उठाया है, और स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ जैसे अपने सदेश वाहकों द्वारा इसने ससार को अपने व्यवहारिक वेदान्त का सदेश भी दिया है। हिन्दू धर्म म कुछ छोटे आन्दोलन भी हुए हैं जिनका सक्षिप्त वर्णन यहाँ आवश्यक है। उनमें से एक राधास्वामी सत्सग है। यह हिन्दू सुधार आन्दोलन नहीं है जो ब्रह्म-समाज तथा आर्य समाज की भाँति सामाजिक या धार्मिक बुराइयों के निराकरण के लिए प्रयत्नशील हो, बल्कि अपने गुरु द्वारा बताये 'सूरत सबद योग' के अनुसार चल कर जीवन तथा मरण के बन्धन से मुक्त होने के लिए कुछ प्रयत्नशील लोगों का एक समुदाय है। इसका प्रधान केन्द्र दयाल बाग, आगरा में है। दयाल बाग ५०० एकड़ भूमि का एक छोटा सा उपनिवेश है जिसकी आबादी कुछ हजार है। इसमें एक अच्छा डिग्री कॉलिज, एक औद्योगिक तथा रासायनिक कारखाना तथा स्कूल और एक बड़ा ही सुन्दर डेयरी फार्म है। बनारस, इलाहाबाद तथा व्यास पर भी सत्सग की शाखाएँ हैं जो अब आगरा के केन्द्र के आधीन नहीं हैं।

यह हिन्दू धर्म, इस्लाम तथा ईसाई धर्म का प्रतिद्वन्द्वी या उनका समकक्ष धर्म नहीं है। यह एक ऐसी पाठशाला है जो 'सूरत सबद योग' की शिक्षा तथा उपदेश देती है। इस योग का अर्थ है ध्यान की एकाग्रता तथा कुछ ऐसे शब्दों का दोहराना जो केवल जिज्ञासु के ही कानों में कहे जा सकते हैं। इस योग का अभ्यास किसी भी जगह किया जा सकता है। भक्त लोग अपने मासिक सत्सग के लिए केन्द्र पर एकत्रित होते हैं। अन्य दिनों उनसे अपने ही स्थान पर ध्यान तथा चिन्तन की आशा की जाती है। किसी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मत्र पाने के बाद वह अपने पहिले के धार्मिक विश्वासों को त्याग दे। कोई मुसलमान

या ईसाई सत्संगी बनने के बाद भी मुसलमान या ईसाई रह सकता है। इसीलिए इसकी सदस्यता आसान हो गई है। राधा-स्वामियों से अपना घर छोड़ देने तथा साधू बन जाने की आशा नहीं की जाती; यहाँ तक कि गुरुओं के भी परिवार हो सकते हैं।

इस धर्म में गुरू की बड़ी महत्ता है। वह जिज्ञासु के ज्ञान का केवल स्रोत ही नहीं बल्कि उसके मोक्ष का आधार भी है। आत्मा के अपने ध्येय तक पहुँचने के रास्ते में गुरू का पथ प्रदर्शन अनिवार्य है। इस धर्म का मूल तत्व है गुरू में असीम श्रद्धा तथा भक्ति। मांसाहार, नशीली चीजों का सेवन तथा आत्मा की उन्नति में बाधा बनने वाली सभी चीजें त्याज्य बताई गई हैं। सक्रिय राजनीति में भाग, उचित बातों में प्रमाद तथा व्यर्थ बकवास की भी निन्दा की गई है। अहिंसा के पालन पर भी यह बड़ा जोर देता है। अपने समूह के भीतर लोगों में बड़ी मित्रता की भावना है; प्रत्येक सत्संगी दूसरे सदस्य को जाति या अन्य भेदों का तनिक भी विचार किये हुए, एक भाई की दृष्टि से देखता है। इन लोगों में अन्तर्जातीय विवाह भी काफी प्रचलित हो रहा है। इस प्रकार सत्संग जाति समस्या का धीरे-धीरे निराकरण कर रहा है। इस की सदस्यता बहुत शीघ्रता पूर्वक बढ़ रही है। यह पंजाब, यू० पी० तथा बिहार में अधिक प्रचलित है। इस ओर ध्यान दिलाया जा सकता है कि मोक्ष प्राप्ति के लिये सत्संग सबसे छोटा तथा आसान मार्ग बताने की हामी भरता है। उनकी सामूहिक उपासना में गुरू नानक, कबीर तथा दादू के वचन अक्सर सुनाये जाते हैं।

पंडित शिवनारायण अग्निहोत्री द्वारा स्थापित किया हुआ देव-समाज एक दूसरा लघु-आन्दोलन है। पंडित अग्निहोत्री पहिले वेदान्ती दृष्टिकोण के अनुसार निराकार ईश्वर में विश्वास करते थे। लेकिन शीघ्र ही उनका विचार ब्रह्म-समाजी विचार धारा के साकार ईश्वर की ओर घूम गया। ब्रह्म-समाज में उनकी उन्नति शीघ्र हुई। वह साधारण ब्रह्मसमाज के सर्वप्रथम प्रचारकों में से थे, जिस कार्य की पूर्ति के लिए उन्होंने सन्यास ले लिया। लेकिन उन्हें इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य करना था। वह ब्रह्मसमाज से अलग हो गये, एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की और अपने को विशिष्ट गुरु तथा मसीहा बनाकर देव समाज का संगठन किया। गुरु सिद्धान्तों तथा ब्रह्मसमाज में केवल इतना ही अन्तर है कि यह एक सार्वभौम सन्देश का हामी है। यह सम्प्रदाय जाति-व्यवस्था को पापपूर्ण बताता है और अपना दरवाजा सभी के लिए खुला रखता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि १६२६ में अपनी मृत्यु के पहले पंडित अग्निहोत्री ने ईश्वर में विश्वास करना छोड़ दिया था और देव समाज अनीश्वरवादी बन गया था।

हिन्दू महासभा— इस स्थान पर हिन्दुओं की एक हिन्दू महासभा नामक प्रसिद्ध संस्था के बारे में कुछ शब्द लिखने आवश्यक प्रतीत होते हैं। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में इसकी उत्पत्ति हुई थी, लेकिन अपने जीवन के पच्चीस वर्षों तक यह कोई अधिक क्रियाशील संस्था

नहीं रही। इस संस्था को अपनी स्थिति के लिए बड़ा संघर्ष करना पड़ा जिसका कुछ कारण यह था कि लोग इसके प्रति उदासीन थे। लेकिन उससे भी बड़ा कारण यह था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने लोगों के हृदय में घर कर लिया था। परन्तु जैसे जैसे समय बीतता गया, हिन्दू नेताओं तथा जनता में साम्प्रदायिकता की भावना जड़ पकड़ती गई क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम अनेक दंगों में मुसलमान बाजी मार ले जाते थे। साथ ही साथ मुसलमानों तथा ईसाइयों का हिन्दुओं को अपने धर्म में दीक्षित कर लेना भी इस भावना के विकास में सहायक बना। मार्ले मिन्टो तथा माण्ट्यू चेम्सफर्ड सुधारों के अन्तर्गत मुसलमानों को अधिक सुविधाएँ मिलने के कारण भी हिन्दुओं को यह शिक्षा मिली कि भविष्य में अपनी माँगों की पूर्ति के लिए उन्हें संगठित हो जाना चाहिए। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मुसलमानों की बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता की प्रतिक्रिया के रूप में उत्तर में हिन्दू महासभा का शक्ति तथा प्रभाव दोनों में वृद्धि हुई। फिर भी, यह हिन्दुओं में उतनी शक्ति शालिनी तथा प्रभाव शालिनी न हो सकी जितनी मुस्लिम लीग मुसलमानों में। इसका कारण यह था कि एक तो कांग्रेस इसको प्रश्रय नहीं देती थी, दूसरे १९४० तक केन्द्रीय सरकार में प्रतिनिधित्व के लिए अंग्रेजी सरकार ने इसे एक प्रभावशाली संगठन मानना अस्वीकार कर दिया था।

हिन्दू महासभा का उद्देश्य है हिन्दू हितों की रक्षा तथा उन सभी चीजों के लिए प्रयत्नशील होना जो हिन्दू जाति की महानता तथा गौरव का कारण बन सकती हैं। इस प्रकार यह शुद्धत धार्मिक सुधार आन्दोलन नहीं है बल्कि राजनैतिक उद्देश्यों से प्रेरित है। सभा सभी वर्गों के हिन्दुओं को एक मंच पर संगठित करती है ताकि वे साम्प्रदायिक दंगों में या जहाँ कहीं भी आवश्यकता पड़े अपनी रक्षा स्वयं कर सकें। यह उन्हें भी वापस लाने का दावा करती है जिन्होंने हिन्दू धर्म छोड़ दिया है तथा अन्य धर्मों से भी अपने धर्म में आने वालों का यह स्वागत करती है। इस प्रकार संगठन और शुद्धि हिन्दू महासभा के प्रारम्भिक उद्देश्यों में माने जा सकते हैं। यह सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों की भी अवहेलना नहीं करती। छूआछूत दूर करना चाहती है तथा दलित जातियों की दशा में सुधार के लिए प्रयत्नशील है। इसके उद्देश्यों में हिन्दू नारी आदर्शों की जागृति तथा उसका विकास, गाय की रक्षा करना, हिन्दुओं की शारीरिक दशा में सुधार तथा उनमें वीरता भर देना, अनाथ स्त्रियों के लिए अनाथाश्रमों तथा विधवा-श्रमों की स्थापना, हिन्दुओं के धार्मिक, शिक्षा सम्बन्धी, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक अधिकारों तथा अन्य हितों की रक्षा और साथ ही साथ हिन्दुओं तथा गैर हिन्दुओं के बीच सद्भाव उत्पन्न करना है। इसने हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न किया है। भारत में उत्पन्न सभी

धर्म के अनुयायियों को 'हिन्दू' नाम की परिभाषा के अन्दर रखकर इसने बौद्धों, सिक्खों तथा अन्य वर्गों को भी अपने में सम्मिलित कर लिया है और इस प्रकार अखिल एशियाटिक आन्दोलन को जन्म दिया है। स्वर्गीय लाला लाजपत राय स्वामी श्रद्धानन्द तथा स्वर्गीय पंडित मदनमोहन मालवीय इसके प्रेरकों म से थे। स्वर्गीय भाई परमानन्द, स्वर्गीय डा० मुंजे श्री सावरकर जी इसके नेताओं में से थे। डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी भी इसके नेता थे परन्तु अब वे इससे अलग हो गये हैं।

यह भी ध्यान म रखना चाहिए कि हिन्दू महासभा ने अनेक बार राजनैतिक प्रश्नों पर भी अपना मत प्रकट किया तथा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के लिए चुनाव भी लड़ा है। लेकिन अखिल भारतीय काँग्रेस के सामने उसे हार खानी पड़ी है। इसने भारत तथा पाकिस्तान म देश के विभाजन का बड़ा विरोध किया और हिन्दुओं को १५ अगस्त १९४७ को स्वतंत्रता दिवस न मनाने की भी सलाह दी, लेकिन इस अपील पर लोगों ने ध्यान नहीं दिया। उत्तर प्रदेश की सरकार की नीति का इसने सक्रिय विरोध प्रारम्भ किया लेकिन उसे इसमें मुँह की खानी पड़ी। ३० जनवरी १९४८ को महात्मा गांधी की हत्या के बाद, महासभा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और इसके कई नेता गिरफ्तार कर लिये गये। वे बाद में छोड़ दिये गये। 'सभा' प्रत्यक्ष साम्प्रदायिक नीतियों द्वारा जनता का मन मोड़ना चाहता है लेकिन उसे इसमें अभी तक सफलता नहीं मिली है।

कुछ प्रमुख व्यक्ति— राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशवचन्द्र सेन, श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द तथा मिसेज ऐनी बेसेंट के अतिरिक्त अन्य कई ऐसे महत्वपूर्ण व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने राष्ट्रीय चेतना, सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों में बड़ा योग दिया है, यद्यपि उन्होंने किसी सम्प्रदाय या संस्था की स्थापना नहीं की। ऐसे लोगों में स्वामी रामतीर्थ, रानाडे, गोखले, तिलक, टैगोर तथा गांधी जी के पुण्य नाम सम्मिलित हैं।

स्वामी रामतीर्थ भारत के साधु-कवि तथा हँसमुख दार्शनिक थे। वह पंजाब के एक गरीब ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे और गणित म एम० ए० की उपाधि लेने के बाद उन्होंने लाहौर के एफ० सी० कॉलेज में प्रोफेसरी कर ली। लाहौर में स्वामी विवेकानन्द के आगमन ने उनकी जीवन दिशा बदल दी। उनके आदेश से उन्हें सन्यासी बनने तथा पश्चिम और अपने देश में व्यावहारिक वेदान्त प्रचार की प्रेरणा मिली। उन्होंने संसार छोड़ दिया और हिमालय में जाकर ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया। उन्होंने जापान, अमेरिका तथा यूरोप का भ्रमण किया और व्यावहारिक वेदान्त पर भाषण दिये। उन्होंने शिष्य नहीं बनाये। भारतवर्ष के प्रति उनका प्रेम था और व्यावहारिक वेदान्त की उपेक्षा को ही वह

इसके पतन का कारण मानते थे। १६०६ म ३३ वर्ष की अवस्था म ही भूपिवेश क समाप गगा की प्रचण्ड धारा म वह विलीन हो गये।

महादेव गोविन्द रानडे, जो बाद में बम्बई हाई कोर्ट के जज बने, पाश्चमी भारत के प्रमुख समाज-सुधारकों में थे। श्री बहराम जी मलाबारी तथा अन्य लोगों क साथ उन्होंने विधवा विवाह का पक्ष लिया और १८६१ म 'विधवा पुनर्विवाह सघ' की स्थापना की। एक मराठी साप्ताहिक पत्र मे लेख लिख कर उन्होंने लोगों से समाज सुधार के कार्य करने की अपील की। उन्होंने समाज-सुधार सम्मेलन का आयोजन किया जिसका अधिवेशन कांग्रेस अधिवेशन के साथ होता था और इसमे वह जब तक जीवित रहे, बराबर भाग लेते रहे। शिक्षा क्षेत्र मे भी उनके कार्यों का अच्छा प्रभाव पडा। उनके ही प्रयत्नों के कारण 'दक्षिण-शिक्षा-सस्था' की स्थापना हुई जो आजकल पूना के फर्ग्यूसन कॉलिज और सागली के विलिंगडन कॉलिज को जो बम्बई प्रान्त के दो प्रमुख कॉलजों में से हैं चला रही है।

गोपाल कृष्ण गोखले, रानडे के शिष्य थ लेकिन कुछ बातों में वह उनसे भी बढ गए। उनकी सबसे बडी देन 'सर्वेण्ट्स आफ इडिया सोसायटी' है जिसकी उन्होंने १६०५ म स्थापना की। इसका उद्देश्य राष्ट्र सेवियों को ट्रेनिङ्ग देना तथा वैधानिक रूप से भारतीयों के हितों की रक्षा करना है। यद्यपि इस सस्था का प्रमुख उद्देश्य राजनैतिक है फिर भी, इसने सामाजिक, आर्थिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों पर बड़ा जोर दिया है और दलित वर्गों की उन्नति का भी सदैव ध्यान रक्खा है। इसके कुछ सदस्यों ने पूना सेवा सदन, उत्तर प्रदेश सेवा समिति, भील सेवा-समिति तथा बम्बई और मद्रास-सोशल-सर्विस लीगों की स्थापना की है। उन सदस्यों म से एक श्री टक्कर बापा का हरिजन सेवक सघ से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पिछले कुछ वर्षों से इसके अनेक सदस्यों ने ग्रामीण-शिक्षा तथा पुनर्निर्माण की ओर ध्यान दिया है। यह सस्था तीन पत्रों का परिचालन करती है तथा सामयिक समस्याओं पर बराबर छोटी छोटी पुस्तिकाओं का प्रकाशन करती रहती है।

बाल गगाधर तिलक, जिन्हें लोग श्रद्धा के कारण लोकमान्य कहते हैं, एक सच्चे देश प्रेमी थे। महात्मा गाँधी को छोड़ कर किसी अन्य व्यक्ति ने राष्ट्रीय चेतना म उतना योग नहीं दिया है जितना उन्होंने। लेकिन यहाँ हमारा सम्बन्ध उनकी राजनैतिक कार्यवाहियों से नहीं है, हमारा विशेष सम्बन्ध तो उनकी हिन्दू धर्म को देन से है। वह सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान तथा हिन्दू-साहित्य के पूर्ण ज्ञाता थे। उनका भगवद् गीता पर भाष्य अद्वितीय पुस्तक है जिसके अध्ययन ने लाखों व्यक्तियों को प्रभावित किया है। सामाजिक सुधार के क्षेत्र में वह कुछ सकीर्ण विचारों के थे।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर वर्तमान पीढ़ी के एक ऐसे महान व्यक्ति थे जिन्होंने कविताओं, गीतों, उपदेशों तथा लेखों द्वारा उपनिषद्-साहित्य का अमृत-पान कराया है।

उन्होंने हिन्दुत्व का उदात्त अर्थ समझाया है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति में महात्मा गाधी के निकट वही पहुँच सकते हैं। वह एक ब्रह्मसमाजी परिवार में उत्पन्न हुए और अपने पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा स्थापित आदि ब्रह्मसमाज से उनका बहुत दिनों तक सम्बन्ध रहा। वह साधारण ब्रह्मसमाज के भी सम्मानित सदस्य रहे थे। लेकिन बाद में उनके विचार ब्रह्मसमाज की परिधि से आगे बढ गये। यह कहा जा सकता है कि उन्होंने एक ऐसे उदात्त तथा परिष्कृत हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व किया जो परम्परागत जाति व्यवस्था, छूआछूत, बाल-विवाह तथा आरोपित वैधव्य जैसी प्रतिक्रियावादी तथा अन्ध-विश्वासपूर्ण बुराइयों से पूर्णतया मुक्त था। बोलपुर, बगाल के विश्वभारती विश्व-विद्यालय में उन्होंने अपने विचारों को मूर्त्त कर दिया है।

देश के धार्मिक तथा राजनैतिक जीवन में ऊपर वर्णित सभी व्यक्तियों ने जो कुछ भी योग दिया है, महात्मा गाधी के कार्यों के समक्ष वह नगण्य प्रतीत होता है। राजनैतिक क्षेत्र में उनके कार्यों को बताने का यहाँ अवसर नहीं है। उनके विचारों तथा कार्यों द्वारा हुए लोगो के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में परिवर्तन के सक्षिप्त विवरण तक ही हम अपने को सीमित रक्खेंगे। वह उतने ही बडे सामाजिक तथा धार्मिक नेता भी हुए हैं जितने बडे राजनैतिक एव योद्धा नेता। अपने ही शब्दों के अनुसार वह सनातन धर्म या कट्टर हिन्दू-धर्म के अनुयायी थे। लेकिन उन्होंने इसकी मूल शिक्षाओं का अपना स्वतत्र अर्थ निकाला है। हिन्दू-धर्म में वह जो सुधार करना चाहते थे हम उनको उस परिभाषा से जान सकते हैं जोकि उन्होंने इसके मूल सिद्धान्तो के बारे में की। उदाहरण के लिए वेदों, शास्त्रों तथा हिन्दू धर्म की धार्मिक पुस्तकों में विश्वास रखते हुए भी वे उनकी हरएक बात पर चलना अनिवार्य नहीं समझते थे। उनका कथन है— 'जो नैतिकता के मूल सिद्धान्तों के विपरीत है, जो सगत तर्क के विरुद्ध है, वह शास्त्रिय नहीं है, चाहे वह कितनी ही पुरानी बात क्यों न हो।'* यदि छूआछूत, आरोपित वैधव्य तथा बाल-विवाह नैतिकता तथा तर्क के विरुद्ध हैं तो वे ठीक नहीं हो सकते। इसलिए उन्होंने इन तथा अन्य बुराइयों को समाप्त करने के लिए बडा प्रयत्न किया है। आज कल की जाति की संकीर्णता और बाहुल्यता तर्क के विरुद्ध हैं, इसलिए वह इसके भी विरोधी थे। लेकिन चूँकि चार मूल वर्णों की उत्पत्ति अनैतिक तथा गलत नहीं है, इसलिए वह इसमें विश्वास करते थे। उनके अनुसार वर्णव्यवस्था कर्तव्यों के पालन का ही आदेश देती है, अधिकार नहीं देती; इसलिए एक जाति के दूसरी जाति पर अधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने अन्तर्जातियों में खान पान के प्रश्न को प्रचार का विषय नहीं बनाया, लेकिन वह यह भी नहीं स्वीकार करते थे कि इससे मनुष्य की जाति भ्रष्ट हो जाती है। वास्तव में उनके सामने मनुष्य और मनुष्य में भेद-भाव का प्रश्न ही नहीं उठता था। वह स्त्रियों को अधिक से अधिक

* यग इण्डिया, अक्तूबर २०, १६२७।

स्वतन्त्रता देना चाहते थे तथा विधवा बाल-विधवा की कल्पना से ही काँप उठते थे। वह देवदासी प्रथा तथा धर्म के नाम पर जानवरों की बलि का बड़ा विरोध करते थे। उनके ऐसे विचारों का परिणाम है उदार तथा सचेत हिन्दुत्व का बनना। गांधी जी के अनुसार कट्टर हिन्दू धर्म स्थिर, जीवन-शून्य तथा अगतिशील बन गया है, क्योंकि हम अब स्वयं थक गये हैं। उन्होंने इसमें फिर से जीवन भर दिया और इसमें गति पैदा कर दी। उनके लिए हिन्दू धर्म सत्य की सतत खोज है, वह स्वयं सत्य की खोज करते थे और उसे मानवता की सेवा के लिए प्रयोग में लाते थे। सत्य, सेवा, प्रेम या अहिंसा, यही उनका धर्म था।

राजनीति में भी धर्म का स्थान देकर उन्होंने इसे पवित्र बनाया तथा इसे ऊँचे स्तर पर पहुँचा दिया। उनके लिए धर्म से अलग राजनीति कोई अर्थ नहीं रखती थी। 'धर्म से अलग राजनीति मौत का फन्दा है क्योंकि यह आत्मा का हनन कर डालती है।' यही उनका मानवता का सन्देश है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि उनका सन्देश सार्वभौम है, भारत में तथा भारतीय राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के बीच प्रचारित होने पर भी वह सारी मानव जाति पर लागू होता है।

सिक्ख-सम्प्रदाय— राजा राममोहन राय से तीन सौ तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती से साढ़े तीन सौ वर्षों से भी अधिक पहिले गुरु नानक (१४६९–१५३८) ने उस समय के हिन्दू या ब्राह्मण धर्म के क्रिया कलापों, अन्धविश्वासों तथा मिथ्या रीति रिवाजों का बड़ा विरोध किया था। वह लाहौर के निकट एक खत्री परिवार में उत्पन्न हुए थे। अपने बचपन में उन्होंने संस्कृत, हिन्दी तथा फारसी सीखी और कबीर तथा अन्य साधुओं की शिक्षाओं से वह बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने दक्षिण की यात्रा की और वह वहाँ के वेदान्त दर्शन के सम्पर्क में आये। उन्होंने बगदाद, मक्का तथा मुस्लिम सभ्यता के अन्य केन्द्रों की भी यात्रा की और इस्लाम की रहस्य भावना से भी परिचय प्राप्त कर लिया। उनकी शिक्षाओं पर इन सब का प्रभाव दृष्टिगत होता है। उन्होंने जाति तथा ब्राह्मणों की श्रेष्ठ पदवी मानना अस्वीकार कर दिया, मूर्ति-पूजा तथा तीर्थों की निन्दा की और हृदय की स्वच्छता पर अधिक जोर दिया। उन्होंने केवल रूप तथा क्रिया-कलापों पर जोर देना बन्द कर देने का प्रयत्न किया, क्योंकि इनसे लोगों में विभाजन और लड़ाई-झगड़ा होता है। उन्होंने पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वीकार किया, लेकिन अवतारवाद में अपना विश्वास नहीं प्रकट किया। वह एक ईश्वर में विश्वास करते थे जो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तथा अन्य सभी का ईश्वर है। उन्होंने तपस्या की सराहना नहीं की और अपने अनुयायियों को अपने-अपने कामों में लगे रहने की सलाह दी। वह हिन्दू तथा मुसलमान दोनों में प्रसिद्ध हुए और दोनों धर्मों के लोग उनके अनुयायी बनने लगे। कहा जाता है कि उनकी मृत्यु के बाद हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने अपने-अपने धर्म के अनुसार उनके शरीर का क्रिया-कर्म करना चाहा। लेकिन जब उनका कफन उठाया गया तो उसके

नीचे केवल कुछ फूल मिले। कपड़ा दो भागों में विभाजित कर दिया गया, एक को हिन्दुओं ने जला दिया, दूसरे को मुसलमानों ने गाड़ दिया। उनके अनुयायी सिक्ख कहलाने लगे। उनके बाद नौ गुरु और हुए जिनमें अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह थे। उन्होंने ही इस शान्तिप्रिय जाति को लड़ाका जाति बना दिया। पाँचवें गुरु द्वारा सम्पादित 'आदि ग्रन्थ' में भी उन्होंने कुछ नई चीजें जोड़ीं जिससे 'ग्रन्थ साहब' नामक सिक्खों की धार्मिक पुस्तक का निर्माण हुआ। गुरु गोविन्दसिंह ने किसी को अपना उत्तराधिकारी निश्चित नहीं किया बल्कि सिक्खों से अपने बाद 'ग्रन्थ साहब' को ही गुरु मानने के लिये कहा। इससे कोई यह आसानी से समझ सकता है कि सिक्ख सम्प्रदाय में इस पुस्तक का क्या स्थान है। गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्खों में खालसा सम्प्रदाय भी चलाया जो ईसाई धर्म की तरह अन्य धर्मों से अपने धर्म में आये लोगों का स्वीकार करता है। आज सिक्ख सम्प्रदाय दूसरों को अपने धर्म में परिवर्तित करने वाला सम्प्रदाय है। पश्चिमोत्तर भारत में इसने लोगों के जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला है।

ऊपर दिये हुए विवरण से यह स्पष्ट होगा कि सिक्ख सम्प्रदाय एक हिन्दू धर्म सुधार आन्दोलन था जो ब्रह्मसमाज तथा आर्य समाज की अपेक्षा बहुत पहिले प्रारम्भ हुआ। गुरु नानक ने किसी नये धर्म की शिक्षा नहीं दी, उन्होंने केवल उस समय प्रचलित धर्मों की आलोचना की और उनमें सुधार का प्रयत्न किया। 'सिक्ख-धर्म हिन्दू धर्म से अलग कोई धर्म नहीं है, यह इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि सुधार की भावना कमजोर पड़ने पर, सिक्ख हिन्दू धर्म के क्रिया कलापों तथा रीति-रिवाजों की ओर मुड़ पड़े। उनमें जाति व्यवस्था फिर से चला आई और मूर्तियों को उनके घरों तथा मन्दिरों तक में स्थान मिल गया।'* वर्तमान समय में सिक्खों में एक ऐसा शक्तिशाली भाग है जो सिक्ख-धर्म को प्रमुख भारतीय धर्मों में एक स्वतन्त्र अस्तित्व बतलाता है। सिक्ख अधिकतर पंजाब तथा फुलकिया रियासतों में पाये जाते हैं। उनकी संख्या ५७ लाख से कुछ कम है। उनका मुख्य केन्द्र अमृतसर में है जहाँ उनका प्रसिद्ध सुवर्ण मन्दिर स्थित है। अपने को एक स्वतन्त्र धार्मिक जाति घोषित करके उन्होंने अलग साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की माँग भी की है जिसने अभी हाल ही में पंजाब में एक कठिन समस्या उपस्थित कर दी थी।

स्वामी दयानन्द द्वारा लाहौर में आर्य समाज की एक शाखा स्थापित होने से सारे पंजाब में सुधारों की एक लहर सी आ गई, सिक्ख भी इससे अछूते न रहे। १९०५ में ही उन्होंने सुवर्ण मन्दिर की मूर्तियाँ बाहर फेंक

* फरकुहर 'माडर्न रिलीजस मूवमेण्ट्स इन इण्डिया, पृष्ठ ३४०।

दी। बाद म, अपने मठो तथा गुरुद्वारों मे सुधार करने की इच्छा मे उन्होंने एक शक्तिशाली आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसक सिलसिले म अंग्रेज सरकार से उनका झगड़ा हो गया और विवश होकर उन्हे महात्मा गांधी के अहिंसात्मक विरोध की शरण लेनी पड़ी। शिक्षा की भी उन्होने उपेक्षा नहा की है। उनकी सबसे प्रसिद्ध शिक्षण-संस्था अमृतसर का खालसा कालेज है। पूरे पंजाब में उन्होंने स्कूलों का एक जाल बिछा दिया है। सामाजिक सुधार का कार्य हिन्दू समाज सुधारको द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर हो रहा है। वे अपने अन्दर घुसे हुए जाति पाति के भेद को हटाना चाहते हैं, वे विधवा-विवाह एव मदिरा-निषेध क पक्षपाती तथा विवाह की उम्र बढ़ाने क इच्छुक हैं।

भारत में इस्लाम

हिन्दू-धर्म क बाद इस्लाम क भारत म सब से अधिक अनुयायी हैं। इस्लाम की उत्पत्ति इस देश म नहीं हुई बल्कि मुख्यतया मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा यह इस देश म लाया गया। इसकी स्थापना मुहम्मद साहब ने की। इसके सिद्धान्त तथा शिक्षाएँ कुरान म सगृहीत हैं। मुसलमान कुरान को ईश्वर द्वारा अपने महान पैगम्बर को दिया गया सन्देश मानते हैं। इस्लाम का एक ईश्वर मे दृढ़ विश्वास है। और वह मूर्तिपूजा का हर रूप म कट्टर विरोध करता है। मुहम्मद साहब के अनुयायियों म पारस्परिक भ्रातृभाव और समता पर इस्लाम विशेष ज़ोर देता है। इस्लाम जाति भेद म विश्वास नहीं रखता और अपने सभी अनुयायियों को विश्वास तथा प्रार्थनामय जीवन की शिक्षा देता है। यह ईश्वर तथा भक्त क बीच किसी पुजारी वर्ग की आवश्यकता नहीं समझता और यह विश्वास रखता है कि कोई भी व्यक्ति ईश्वर तक अपने आप पहुँच सकता है। इस्लाम के कुछ विशिष्ट सिद्धान्त तथा आचार व्यवहार के कुछ निश्चित नियम हैं जिनका पालन प्रत्येक मुसलमान के लिये अनिवार्य है। कलमे का पाठ, दिन में पाँच बार नमाज, रमजान के दिनों मे उपवास, भिक्षादान तथा हज करना— मुसलमानों के ये कुछ आवश्यक कर्तव्यों म से हैं। इस्लाम विचार तथा आत्मा की स्वतन्त्रता को प्रश्रय नहीं देता। इस दृष्टि से वह हिन्दू-धर्म के विपरीत है। सैकड़ों वर्षों के विकास का फल होने के कारण हिन्दू धर्म को कुछ थोड़े से सिद्धान्तों या क्रिया कलापों म नहीं बाँधा जा सकता। लेकिन एक ही मस्तिष्क की उपज होने क कारण इस्लाम एक साम्प्रदायिक धर्म है और इस लिए इसके अनुयायियों को इसके विशिष्ट धार्मिक सिद्धान्तों मे विश्वास रखना अनिवार्य है। कभी कभी यह भी कहा जाता है कि हिन्दू धर्म मूर्तिपूजक तथा अनेक देवी देवताओं का पूजक है, और इस्लाम मूर्ति विध्वसक तथा कट्टर रूप से एक ईश्वर विश्वासी है। हिन्दू धर्म मूर्तिपूजक है, अवश्य है, लेकिन केवल उन्हीं क लिए जिनका मानसिक तथा बौद्धिक धरातल

ऊँचा नहीं है। मूर्तिपूजा को वह न पूजा का सर्वोच्च रूप ही मानता है और न ईश्वर की प्राप्ति के लिए आवश्यक ही। अपने उच्चतर रूप में हिन्दू धर्म एक ही ईश्वर में विश्वास करता है। इतना ही नहीं, इस्लाम तथा ईसाई-धर्म से वह एक कदम और आगे बढ़ जाता है क्योंकि वह किसी व्यक्तिगत ईश्वर में विश्वास नहीं रखता। दोनों धर्मों की पारस्परिक भिन्नता के सम्बन्ध में और कहना आवश्यक नहीं है। ध्यान में रखने योग्य बात यह है कि भारत में इस्लाम हिन्दू-विश्वासों तथा क्रिया-कलापों से प्रभावित हुआ है। यह सत्य है कि विजेता के रूप में आने वाले मुसलमानों ने जान बूझ कर हिन्दुत्व से कोई चीज नहीं ली। फिर भी, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दुओं के सम्पर्क से केवल साधारण व्यक्ति ही नहीं बल्कि विद्वान मुसलमान भी बहुत सीमा तक प्रभावित हुए हैं। 'शिया लोग मुन्नियों की अपेक्षा हिन्दुओं के अधिक निकट हैं। खोजा लोगों का, जिनके धार्मिक सिद्धान्त वैष्णव तथा शिया सिद्धान्तों के मिश्रण से बने हैं, यह विश्वास है कि अली विष्णु के दसवें अवतार हैं। सूफी धर्म अद्वैत वेदान्त से मिलता जुलता है। यह अद्वैत पूर्ण सत्ता में विश्वास रखता है तथा जगत को प्रकाश स्वरूप ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानता है। सूफी लोग माँस भक्षण नहीं करते हैं, और पुनर्जन्म तथा अवतारवाद में विश्वास करते हैं। इस्लाम की धार्मिक कट्टरता का भारत में निस्सन्देह ह्रास हुआ है'।*

इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि, जैसा कि पहिले के पृष्ठों में अनेक बार कहा जा चुका है, इस्लाम में परिवर्तित हो जाने वाले हिन्दू अपने साथ हिन्दू रीति रिवाज, परम्पराएँ तथा सामाजिक व्यवस्थाएँ, जैसे संयुक्त परिवार प्रथा, आरोपित वैधव्य, जातीय भेद और पुजारियों का क्रिया-कलाप तक, लेते गये। इस प्रकार उन्होंने दोनों धर्मों का अन्तर बहुत कम कर दिया।

हिन्दुत्व तथा इस्लाम का सर्वोत्कृष्ट मिश्रण उस धर्म में पाया जाता है जिसे स्थापित करने की चेष्टा अकबर ने की। कबीर, नानक तथा दादू जैसे सन्तों की शिक्षाओं में भी दोनों के मिलन का रूप देखने को मिलता है। दोनों धर्मों में अन्तर है अवश्य, लेकिन इतना महान नहीं जितना कभी-कभी मान लिया जाता है। दारा शिकोह ने अपने ग्रन्थ में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच अन्तर केवल भाषा तथा अभिव्यक्ति का है। इस कथन में बहुत कुछ सत्य है। दोनों जातियों में झगड़े का मुख्य कारण धार्मिक नहीं बल्कि राजनैतिक हैं। कुछ स्वार्थी लोग इसे धार्मिक रंग में रंग देते हैं केवल अपना मतलब साधने के लिए। इसके विषय में दूसरे अध्याय में बाद में चर्चा होगी। यहाँ हमारा अधिक सम्बन्ध मुस्लिम सुधार आन्दोलनों से है।

---

* राधाकृष्णन : ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट, पृष्ठ ३३६।

मुस्लिम सुधार-आन्दोलन— उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय मुसलमान नीची और गिरी दशा में थे। महान मुगल साम्राज्य हिल रहा था, शक्ति धीरे धीरे अंग्रेजों के हाथ आती जा रही थी। राजनैतिक शक्ति तथा सम्मान के ह्रास से सर्वत्र-व्यापी पतन प्रारम्भ हो गया था। शासकों द्वारा दी गई शिक्षा से लाभ न उठा सकने के कारण मुसलमानों की दशा और गिर गई। इस प्रकार शिक्षा में मुसलमान पिछड़ गये, निरक्षरता का प्रतिशत उन में अन्य जातियों की अपेक्षा बढ़ गया। मानसिक क्षेत्र में जो उच्च स्तर वह प्राप्त कर पाये थे उसमें कमी आ गई। धार्मिक क्षेत्र में भी उन पर अन्य धर्मावलम्बियों के सामूहिक धर्म परिवर्तन का प्रभाव पड़ा। धर्म परिवर्तित किये जाने वाले हिन्दुओं ने मुसलमान सन्तों की हिन्दू देवताओं के समान पूजा प्रारम्भ कर दी। इस्लाम में मूर्ति-पूजा ने भी स्थान पा लिया। मुहर्रम के जुलूस हिन्दू-त्योहारों की रथ यात्रा का रूप धारण करने लगे। इस प्रकार इस्लाम में सुधार की आवश्यकता पड़ी और कुछ आन्दोलन प्रारम्भ भी हुए। लेकिन उनमें से अनेक उन हिन्दू आन्दोलनों से बहुत भिन्न थे जिनके विषय में हम जान चुके हैं। ये आन्दोलन उतने प्रगतिशील न थे जितने वे थे, लेकिन इनमें से एक बहुत आगे बढ़ा जिसका मुसलमानों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यह सर सैयद अहमद खां (१८१७–१८९८) के नाम से सम्बन्धित है। ये अपने समय के एक सबसे बड़े मुसलमान तथा एक महान् सामाजिक तथा धार्मिक सुधारक थे।

अलीगढ़ आन्दोलन— सर सैयद अहमद ने इस बात का बड़ा प्रयत्न किया कि अंग्रेज सरकार के दिल से यह बात निकल जाय कि १८५७ के सिपाही विद्रोह के लिये मुसलमान ही उत्तरदायी हैं। और इस प्रयत्न में उन्हें सफलता भी मिली। वह अपनी जाति में आत्म-विश्वास तथा सतत प्रयत्न की भावना भी भरना चाहते थे और उसे इस्लाम की प्रारम्भिक सादगी की ओर ले जाना चाहते थे। अपनी जाति की सभी बुराइयाँ दूर करने के लिए उन्होंने पश्चिमी शिक्षा को आवश्यक बताया जिसके प्रति मुल्लाओं, मौलवियों तथा पुरानी परम्परा में पले लोगों का बड़ा विरोध था। उन्होंने इन लोगों की धारणा का खूब डट कर सामना किया और लोगों को यह समझाया कि पश्चिमी शिक्षा से इस्लाम के सिद्धान्तों पर कुछ भी चोट न पहुँचेगी। उन्होंने लोगों को बतलाया कि पैगम्बर मुहम्मद ने स्वयं कहा था कि 'ज्ञान के लिए चीन की दीवाल तक भी चले जाओ।' उनकी यह पक्की धारणा बन गई कि अंग्रेजों से मेल जोल करने तथा शिक्षा की पश्चिमी प्रणाली अपनाने में ही उनकी जाति का भला है। उन्होंने लोगों को यह भी समझाया कि मुसलमानों का यूरोपियनों के साथ बैठ कर खाने में कोई हर्ज नहीं है, बशर्ते भोजन त्याज्य न हो। उन्होंने स्वयं रहन सहन का पश्चिमी तरीका अपनाया, वह यूरोपियनों को अपने घर आमन्त्रित करते और स्वयं उनका आतिथ्य स्वीकार करते। अपने ऐसे

विचारों के कारण उनकी निन्दा भी होती लेकिन अन्त में उनकी विजय हुई और अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में तो वे मुस्लिम विचारधारा पर बड़ा प्रभाव रखने लगे थे। अपने ही जैसे विचारों वाले अपने कुछ मित्रों के साथ उन्होंने अलीगढ़ में एम० ए० ओ० कॉलिज का स्थापना की जो अब प्रसिद्ध मुस्लिम विश्वविद्यालय बन गया है। भारत की यह प्रमुख मुस्लिम शिक्षण-संस्था है जिसका भारत के विभिन्न भागों से आने वाले मुस्लिम विद्यार्थियों की विचारधारा तथा चरित्र मोड़ने तथा ढालने में बड़ा हाथ रहा है। सर सैयद ने एक प्रसिद्ध कार्य यह भी किया कि उन्होंने मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन की बुनियाद डाली। इसका अधिवेशन प्रति वर्ष किसी बड़े शहर में होता है। मुसलमानों के बीच शिक्षा-प्रसार में इसने बड़ी सहायता पहुँचाई है।

अन्य आन्दोलन—ईसाई पादरियों तथा आर्य समाज के कार्यों में सन्निहित चुनौती स्वीकार करने के लिए १८८५ में लाहौर में अन्जुमन ए हिमायत-ए इस्लाम यानी इस्लाम रक्षा-संस्था की स्थापना हुई। मुसलमान लड़के तथा लड़कियों की उपयुक्त शिक्षा जो उन्हें अपना धर्म छोड़ने से बचा सके, मुसलमान अनाथों की देख-रेख तथा शिक्षा का प्रबन्ध इस्लाम के विरुद्ध की गई आलोचनाओं का उत्तर देना तथा मुसलमानों की सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक उन्नति करना—ये इसके उद्देश्य थे। इस संस्था से सम्बन्धित अनेक हाई स्कूल तथा मिडिल स्कूल हैं और लाहौर में एक कालेज भी है।

अरबी भाषा की शिक्षा देने वाले स्कूलों में शिक्षा सुधार करने, सामाजिक सुधार को गति देने तथा धार्मिक झगड़ों को दबाने के लिए १८९४ में लखनऊ में नदवात-उल-उलेमा नामक एक संस्था की स्थापना हुई। इस संस्था ने एक धार्मिक स्कूल की स्थापना की। इस स्कूल में आधुनिक प्रणाली पर शिक्षा होती है।

कादियान के मिर्जा गुलाम अहमद (१८३६-१९०८) द्वारा चलाये आन्दोलन का भी वर्णन आवश्यक है। मिर्जा साहब अपने को एक ईसाई मसीहा, मुसलमानी महदी तथा विष्णु का अन्तिम अवतार कहते थे। उनका कहना था कि उनका जन्म केवल इस्लाम में ही सुधार करने के लिए नहीं अपितु हिन्दू तथा ईसाई धर्मों को भी पुनर्जीवित करने के लिए हुआ है। पंजाब के मुसलमानों में उनके अनुयायी पाये जाते हैं। न हिन्दू ही उन्हें अपना अवतार मानते हैं और न ईसाई मसीहा।

ये सब मुस्लिम आन्दोलन मुख्यतः धार्मिक थे। फिर भी उन्होंने सामाजिक सुधार के प्रश्न की उपेक्षा नहीं की है। मुस्लिम स्त्रियों में अधिक प्रचलित पर्दा प्रथा का भी उन्होंने बड़ा विरोध किया है क्योंकि यही प्रथा मुसलमान स्त्रियों की अपेक्षाकृत पिछड़ी दशा का कारण है। अब्दुल हलीम शरर, इलाहाबाद के खान बहादुर सैयद अकबर हुसेन तथा सर मुहम्मद इकबाल पर्दा-प्रथा के कट्टर आलोचकों में

रहे हैं। विवाह सम्बन्धी मामलों में भी पर्याप्त उन्नति हुई है। विवाह की उम्र बढ़ गयी है, बहु-विवाह की प्रथा भी बहुत कम रह गई है। पर धनी वर्ग में चचेरे भाई बहनों में विवाह की प्रथा अब भी बहुत प्रचलित है। लेकिन निम्न वर्ग में कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार अवश्य हुए हैं। अब दूल्हा दूल्हिन को जो कुछ भी देता है वह उसकी सम्पत्ति समझी जाती है, परिवार की नहीं। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अपने हिन्दू साथियों की तरह पढ़े लिखे मुसलमान नौजवान का जीवन के प्रति दृष्टिकोण भी कम धार्मिक होता चला जा रहा है। देश में प्रचलित पाश्चात्य शिक्षा का यह अनिवार्य परिणाम है।

उस समय के धार्मिक-सामाजिक आन्दोलनों का भी वर्णन यहाँ उपयुक्त होगा। ये आन्दोलन मुख्यतः मुसलमानों तक ही सीमित हैं लेकिन उनका राजनैतिक प्रभाव भी नगण्य नहीं रहा है। ये आन्दोलन खुदाई खिदमतगार तथा खाकसार संस्थाओं की उपज हैं।

खुदाई खिदमतगार— खुदाई खिदमतगार आन्दोलन के जन्मदाता खान अब्दुल गफ्फार खाँ हैं जो अपने सरल, सच्चे तथा अत्यधिक धार्मिक स्वभाव के कारण 'सीमाप्रान्त के गाँधी' कहे जाते हैं। प्रारम्भ में यह आन्दोलन उन सामाजिक बुराइयों को निकाल फेंकने के लिए प्रयत्नशील रहा, जिन्होंने पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा कबायली इलाकों के लोगों को इतना पिछड़ा, गरीब तथा अगतिशील बना दिया था। पहिले उन लोगों में आपस में बड़ी फूट थी, अन्तर्जातीय संघर्ष के कारण कभी कभी खून खराबी तथा तलाक हो देने वाले झगड़े हो जाते थे। वे आपस में लड़ते रहते और पारस्परिक उन्नति के लिए कभी भी एक तथा संगठित होकर न रहते। परिणामस्वरूप वे गरीब, निरक्षर तथा अन्धविश्वासी बने रहकर कठिनतापूर्वक जीवन बिताते रहे। खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने यह सब देखा और अपने लोगों के प्रति गहरे प्रेम ने उन्हें उनकी दशा में सुधार के लिए एक आन्दोलन प्रारम्भ करने की प्रेरणा दी। उन्होंने गाँव गाँव घूमकर यह प्रचार किया कि वे सब लोग भाई भाई हैं और उनको मिल जुलकर और सेवा भाव से रहना चाहिए। उनके नेतृत्व में ही उजड्ड तथा लड़ाकू पठान जाति ने पारस्परिक सहायता, सहकारिता, क्षमा तथा प्रेम का पाठ सीखा है। खाँ साहब ने अहिंसा का मन्त्र अपनाया है। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में इण्डियन नेशनल कांग्रेस द्वारा संगठित अनेक सविनय अवज्ञा-आन्दोलनों के अवसर पर खूँखार पठान जाति ने अहिंसा का बड़ा सुन्दर परिचय दिया है। खुदाई खिदमतगारों ने अपने को कांग्रेस में सम्मिलित कर लिया क्योंकि वे जानते थे कि बिना पूरे भारत की सहायता पाये उनकी समस्या नहीं हल हो सकती। उन्होंने देखा कि उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है और स्वतन्त्रता तब तक नहीं मिल सकती जब तक उसके लिए प्रयत्नशील सभी लोगों से

एका न कर लिया जाय। सीमाप्रान्त की पाकिस्तानी सरकार ने इस आन्दोलन को सख्ती से दबा दिया और आजकल खान साहब और उनके साथी जेलों में बन्द हैं।

खाकसार— खाकसार आन्दोलन कुछ दूसरी ही तरह शुरु हुआ। इसके संस्थापक इनायत उल्लाह खां थे जो अल्लामा मशरकी के नाम में अधिक प्रसिद्ध हुए। वह पंजाब यूनिवर्सिटी के एक मेधावी एम० ए०, तथा कैम्ब्रिज के एक प्रतिभाशील छात्र रह चुके थे और कुछ समय तक शिक्षा विभाग में सरकारी नौकरी भी की थी। उन्होंने १६२१ के खिलाफत आन्दोलन का उतार-चढ़ाव देखा था तथा अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन के तुरन्त बाद हुए हिन्दू मुसलिम दंगे का भी उनको अनुभव था। उन्होंने यह अनुभव किया कि राष्ट्रीय संग्राम की एक प्रमुख दुर्बलता थी कमजोर तथा प्रभावहीन भावुकता। उनके अनुसार राष्ट्र को एकता तथा कुछ ऐसे परिश्रमशील व्यक्तियों की सबसे अधिक आवश्यकता थी जो हुक्म का भली भाँति तथा बिना हिचक के पालन कर सकें। चूँकि जाति-पाँति इत्यादि का भेद भाव किये बिना सामाजिक सेवा के कार्य-क्रम से ही सबसे अच्छी प्रकार एकता तथा अर्ध-सैनिक ढंग से परेड तथा ड्रिल से ही शारीरिक परिश्रमशीलता लाई जा सकती है, इसलिए उन्होंने खाकसार आन्दोलन प्रारम्भ किया। यह आन्दोलन फौजी ट्रेनिङ्ग तथा सामाजिक सेवा पर अधिक जोर देता है और इसने अनेक लम्बे गौरव तथा आकर्षक तौर-तरीके भी निकाल लिये। इस संगठन के सदस्य अपनी विचित्र वर्दी में सन्ध्या समय एकत्रित होते और एक घंटे या ऐसे ही समय तक फौजी परेड करते। प्रत्येक खाकसार आन्दोलन के प्रतीकस्वरूप एक फावड़ा या बेल्चा लिये रहता। आन्दोलन का अनुशासन बड़ा ही कठिन था, इसके कुछ उच्च अधिकारियों को भी साधारण नियमों के उल्लंघन के लिए सजा भुगतनी पड़ी थी। देश के विभाजन के साथ इस आन्दोलन का अन्त हो गया।

इस आन्दोलन का कोई निश्चित लक्ष्य न था। इसके नेता अल्लामा मशरकी ने एक बार अपने पत्र 'दी लाइट' में इस प्रकार लिखा कि वह केवल, ईंटें, चूना तथा गारा एकत्रित करने में लगे हुए थे क्योंकि पहिले से ही तैयार इमारत की बात करना असंगत होगा।' उन्होंने यह भी लिखा कि उनके खाकसारों को 'यह नहीं मालूम कि वह किस चीज के लिये प्रयत्नशील है। उसे तो हुक्म पर मरना है।' अपने कार्यों तथा संगठन में यह प्रमुखत: मुस्लिम था, हालाँकि इसमें कुछ गैर-मुस्लिम सदस्य भी थे।

यह आन्दोलन १६३१ में संगठित हुआ था। प्रारम्भिक एक या दो वर्षों तक यह बिना किसी से झगड़ा किए उन्नति करता रहा। लेकिन बाद में मौलानाओं का विरोध करके इसने उनकी दुश्मनी मोल ले ली। उनकी दुश्मनी का इस पर कोई खास प्रभाव न पड़ा और इसकी शक्ति तथा प्रभाव बढ़ता ही रहा। बहुत लोगों का

विश्वास था कि अंग्रेज सरकार इसका साथ देती थी। १९३९ में इसका संयुक्त प्रान्त की सरकार से झगड़ा हो गया क्योंकि यह पंजाब से एक बेल्चा-लैस टुकड़ी को शिया सुन्नी झगड़े में बीच बिचाव करने लखनऊ आने देने से रोक रही था। कुछ महीने बाद खाकसारों ने अपने ऊपर लगाये पंजाब सरकार के प्रतिबन्ध का विरोध किया और पुलिस से उनका झगड़ा हो गया। पुलिस ने गोली चलाई जिससे अनेक लोगों की मृत्यु हो गई। लाहौर वाली घटना पूरे प्रान्त में किये जाने वाले षड्यन्त्र का का ही एक अंग था जिसकी तैयारियों को सरकार के खुफिया विभाग ने पकड़ लिया था।† इसका नेता गिरफ्तार कर लिया गया और तीन साल तक जेल में बन्द रक्खा गया। वह तभी छोड़ा गया जब उसने जेल से एक घोषणा प्रकाशित करवा कर अपने अनुयायियों को अपनी वर्दी पहिनने, बेल्चा या अन्य कोई हथियार लेकर चलने, फौजी परेड तथा ड्रिल छोड़ देने के लिए कहा। वर्तमान समय में इस आन्दोलन का अस्तित्व नहीं है।

हिन्दुत्व तथा इस्लाम का पारस्परिक प्रभाव

हमने कई बार इस बात पर ध्यान दिलाया है कि भारत में इस्लाम हिन्दू विचारों तथा क्रिया कलापों से प्रभावित हुआ है। अपनी रहन सहन में एक मुसलमान ईरानी, तुर्क या अरब की अपेक्षा अपने हिन्दू पड़ोसी के अधिक निकट है। इसके दो कारण हैं। भारतीय मुसलमानों का एक बड़ा भाग मूलतः हिन्दू है। मुसलमान बन जाने वाले हिन्दुओं ने अपने पहिले के रीत रिवाजों तथा क्रिया कलापों को छोड़ा नहीं है। कारण हिन्दुओं के जाति भेद ही की तरह मुसलमानों में भी भेद भाव, संयुक्त परिवार, विधवाओं के पुनर्विवाह की ओर अस्वीकृति की भावना, मूर्तिपूजा साधुओं पीरों की पूजा, रथयात्रा की तरह मुहर्रम का जलूस, सगुन तथा जादू टोने पर विश्वास पाया जाता है, जो कुरान की शिक्षाओं के विरुद्ध हैं। जन्म, मृत्यु तथा विवाहादि के अवसर पर मुस्लिम-राजपूत और मुस्लिम जाट, अपने क्रिया कलापों की पूर्ति में हिन्दू रस्मों को भी शामिल कर लेते हैं। गावों में मुसलमान भी विपत्ति के अवसर पर स्थानीय देवी देवताओं की तुष्टि करते हैं। इसका दूसरा कारण इस सिद्धान्त में निहित है कि जब एक विजित जाति गुलाम बना कर फौजी शासन में रक्खी जाती है तो उसकी सभ्यता का प्रभाव-विजेता जाति पर पड़ता है।* यही चीज भारत में भी हुई। यहाँ पर इस कार्य को ऊपर वर्णित तथ्य से और भी सहायता मिली। यहाँ यह बतलाना भी अनुपयुक्त न होगा कि अलबरूनी जैसे मुसलमान विद्वानों ने संस्कृत पर अधिकार प्राप्त करके अनेक संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया जिससे विज्ञान तथा दर्शन के क्षेत्र में हिन्दुओं की अनेक चीजों का बाहर प्रचार हुआ।

---

† देखिये विल्फ्रेड कैन्टवेल स्मिथ : माडर्न इस्लाम इन इण्डिया, पृष्ठ २८१।

* ओ मैली : मार्डन इण्डिया एण्ड दी वेस्ट, पृष्ठ ६।

वर्ष तक हाथ न डालने की प्रतिज्ञा करवायी और अपना समय घटनाओं की धारा से परिचय प्राप्त करने में बिताने का आदेश दिया। इससे यह स्पष्ट होता है कि गाधी जी एक वामपक्षीय नेता होने के बजाय नरम प्रकृति के व्यक्ति थे। यह भी स्मरण रखने योग्य है कि उन्हीं के प्रभाव के कारण १६१६ में होने वाले काग्रेस के अमृतसर अधिवेशन के प्रस्ताव में शान्ति एव सयम की भावना का समावेश हुआ, गो कि अमृतसर के जलियाँवाला बाग में स्त्री-पुरुषों तथा बच्चों की निर्मम हत्या, उसी वर्ष के अप्रैल म जनरल डायर द्वारा शहर निवासियों पर की गई ज्यादतियों तथा पजाब में मार्शल लॉ के विरुद्ध लोगों में बड़ा क्षोभ एव असन्तोष व्याप्त था। मान्टेग्यू-चेम्सफर्ड सुधार-योजनाओं के निराशाजनक और अनुपयुक्त होने पर भी उत्तरदायी सरकार की शीघ्र स्थापना के लिए काग्रेस ने उन्हें स्वीकार कर लिया। ऐसे गम्भीर तथा उदारवादी नेता को भी असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाना पड़ा तथा औपनिवेशिक पद की माँग के स्थान पर काग्रेस का उद्देश्य पूर्ण स्वराज बनाना पड़ा— यह भारत सरकार की काली करतूतों पर दु:खद आलोचना ही नहीं बल्कि समय के प्रवाह में एक नये परिवर्तन का चिह्न भी है। हमारा सम्बन्ध इन घटनाओं से है जो उन परिवर्तनों का कारण बनीं जिनकी इण्डियन नेशनल काग्रेस के सस्थापकों ने कल्पना भी नहीं की थी।

पजाब में हुए अत्याचारों के प्रति भारत तथा ग्रेट ब्रिटेन की सरकार के रुख तथा जनरल डायर पर हाउस ऑफ लॉर्ड्स में हुई बहस ने महात्मा गाधी की आँखें खोल दीं और उन्हें सहयोगी से असहयोगी बना दिया। १६१७ में महायुद्ध समाप्त होने से पहिले ही भारत सरकार ने रौलट कमेटी नियुक्त की जिसका कार्य देश के क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बन्धित षड्यन्त्रों की जाँच करना और उनके अन्त करने के लिए सरकार को उपयुक्त उपाय सुझाना था। इस कमेटी ने १६१८ की जनवरी में अपना कार्य प्रारम्भ किया और उसी वर्ष के अप्रैल के मध्य में अपनी रिपोर्ट दे दी। इसने स्थिति का सामना करने के लिए दो प्रकार के कानून बनाने की सलाह दी। इस सलाह के आधार पर भारत सरकार ने दो बिल तैयार कराये और व्यापक तथा विधान सभा के गैर-सरकारी विरोध के बावजूद भी उन्हें विधान सभा से पास करा दिया। इन दोनों बिलों द्वारा आतङ्कवादी जन-आन्दोलनों को कुचलने के लिए सरकार को बहुत अधिक अधिकार दिये गये। राइट ऑनरेबिल श्री० श्रीनिवास शास्त्री जैसे उदारवादी नेता ने भी लोगों की भावनाओं के विरुद्ध ऐसे कड़े कानून के भयानक परिणामों के सम्बन्ध में सरकार को चेतावनी दी। कदाचित् किसी भी घटना ने काग्रेस की नीति तथा रुख म इतना परिवर्तन नहीं किया जितना सारे राष्ट्र के विरोध करने पर भी रौलट बिलों की सरकार द्वारा स्वीकृति ने। भारत सरकार की ऐंठ से महात्मा गाधी बहुत चिन्तित हुए। वे उस समय रौलट बिलों के ऐक्ट बनने पर उसके विरुद्ध किसी प्रकार का सत्याग्रह ठानने की चिन्ता में थे। उनके मन में यह विचार आया कि एक निर्दिष्ट दिन को सारे देश में हड़ताल

मनायी जाय और वह दिन उपवास और ईश्वर-प्रार्थना में बिताया जाय। १६१६ के मार्च की तीस तारीख इस कार्य के लिये निश्चित की गयी लेकिन बाद में बदल कर छ अप्रैल कर दी गयी। कुछ शहरों मे तीस मार्च को ही हड़ताल मनायी गयी। दिल्ली में पुलिस ने एक ऐसी भीड पर गोली भी चलायी जो एकत्रित होकर रेलवे जलपान-गृहों को बन्द करने पर जोर दे रही थी। ६ अप्रैल की हड़ताल के बाद महात्मा गाधी ने कुछ स्थानीय नेताओं की प्रार्थना पर दिल्ली जाना स्वीकार कर लिया लेकिन दिल्ली के रास्ते म ही वे पलवल नामक स्थान पर गिरफ्तार कर लिये गये और कुछ पुलिस रक्षकों के साथ बम्बई भेज दिये गये। उनकी गिरफ्तारी का समाचार दावाग्नि के समान फैल गया और कुछ स्थानों पर उत्पात भी मचा। लेकिन सरकार ने उन्हें छोड दिया और इस प्रकार शान्ति स्थापित हो गयी। सर माइकेल ओडायर द्वारा शासित पजाब म कुछ जनप्रिय नेताओ की कैद तथा निहत्थी जनता पर गोली चलाने के कारण लाहौर तथा अमृतसर मे बडी सनसनी फैली। अमृतसर की घटनाएँ दिल को दहला देने वाली हुईं। पुलिस द्वारा १० अप्रैल की निहत्थी भीड पर गोली वर्षा का विरोध करने के लिए अमृतसर के लोगों ने जलियावाला बाग में १३ अप्रैल को एक सभा की। उन्हे जनरल डायर द्वारा शहर की सभी सभाओं पर लगाये प्रतिबन्ध का ज्ञान नहीं था। सभा जब होने जा रही थी तो जरनल डायर ने उसे रोकने का कोई भी प्रबन्ध नहीं किया, लेकिन इसके प्रारम्भ हो जाने पर वह उस स्थान पर हथियारबन्द फौजी टुकडियों के साथ पहुँचा और अपने सिपाहियों को तब तक गोली चलाने का आदेश दिया जब तक कारतूस खत्म न हो जायँ। पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों की यह निर्मम हत्या केवल ऐंठ मे कर दी गयी, उसके लिए देश की जनता की ओर से कोई उत्तेजना नहीं दी गयी थी। जनरल डायर ने मृतकों एव घायलों को उसी स्थान पर पडा रहने दिया जैसे उनके विषय मे तनिक भी चिन्ता करना उसका कर्त्तव्य ही नहीं था। पजाब में कासूर तथा गुजरानवाला म भी दुर्घटनाएँ घटीं जिसके परिणामस्वरूप लाहौर, अमृतसर, गुजरानवाला जिलों म फौजी कानून लागू कर दिया गया और वह ११ जून तक ज रक्खा गया। फौजी कानून की कड़ाई की ओर सकेत करना यहाँ आवश्य नहीं है। लूट-मार, कैद, कोडेबाजी तथा अत्याचार का जो दृश्य उपस्थित किया ग उसके वर्णन के लिए यहाँ स्थान नहीं है।

इन घटनाओं का पता चलने पर लोगों म बड़ा क्षोभ फैला और उन्होंने इन भयानक तथा अमानुषिक कार्यों के लिए उत्तरदायी लोगों को दण्ड देने की माँग की। गवर्नमेंट ने इन घटनाओं की जाँच के लिये एक कमेटी बिठायी। लेकिन इस कमेटी का कार्य प्रारम्भ होने के पहले ही सरकार ने अपराधी अफसरों के बचाव के लिए एक इन्डेम्निटी बिल' पास कर दिया जिससे उन्हे छूट दे दी गयी। कमेटी की रिपोर्ट घटनाओं पर प्राय पर्दा डालने वाली ही रही। इससे देश का क्रोध और

भी बढ़ गया। सरकार ने सर माइकेल ओडायर के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की और केवल जनरल डायर को 'निर्णय की भूल' के लिए उत्तरदायी बताकर नौकरी से हटा दिया। ऐसे उत्तरदायित्वहीन कार्यों से यह स्पष्ट हो गया कि इंगलैंड तथा भारत की सरकार को पंजाब की भयंकर भूलों के लिए कोई अफसोस न हुआ। महात्मा गाँधी ने यह सोचा कि ऐसी भयंकर भूलों का पक्ष लेने वाली सरकार अवश्य ही स्वभावतः शैतानी है और इसलिए उन्होंने अपने को इस सरकार से हर प्रकार अलग कर लेने का निश्चय किया। वह बुराई का कभी भी पक्ष नहीं ले सकते थे, इसलिए उन्होंने सरकार से असहयोग प्रारम्भ कर दिया। एक स्कीम बनाकर उन्होंने राष्ट्र को सरकार से तब तक असहयोग करने का आदेश दिया जब तक पंजाब की भूलों में सुधार तथा देश में स्वराज की स्थापना न हो जाय। लाला लाजपतराय के सभापतित्व में कांग्रेस का कलकत्ता-अधिवेशन १६२० की सितम्बर के पहले सप्ताह में हुआ। कांग्रेस के इसी विशेष अधिवेशन के अवसर पर गाँधी जी ने अपनी योजना लोगों के सामने रक्खी। इस अधिवेशन के अवसर पर विभिन्न प्रान्तों के मुसलमान भी अधिक संख्या में एकत्रित हुए थे। उन्होंने आन्दोलन में अपना सहयोग देने का निश्चय किया क्योंकि खिलाफत के प्रश्न पर उन्हें भी सरकार के खिलाफ अनेक शिकायतें थीं। असहयोग के सम्बन्ध में गाँधी जी ने जो प्रस्ताव रक्खा उसे लगभग आठ सौ के अल्पमत के विरुद्ध दो हजार के बहुमत ने स्वीकार किया। यह प्रस्ताव पूरा उद्धृत करने योग्य है, क्योंकि इसी से कांग्रेस की नीति एवं कार्यक्रम एक नयी महिम प्रारम्भ होता है। प्रस्ताव इस प्रकार है

'खिलाफत के प्रश्न पर भारत तथा ब्रिटेन दोनों की सरकारें भारतीय मुसलमानों के प्रति अपने कर्त्तव्य में असफल रही हैं। प्रधान मन्त्री ने उनसे की हुई प्रतिज्ञा को जान बूझ कर तोड़ा है। प्रत्येक गैर-मुस्लिम भारतीय का कर्त्तव्य है कि वह अपने मुसलमान भाई का उसके धार्मिक संकट में हर प्रकार सहायता करे। १६१६ की अप्रैल वाली घटनाओं के सम्बन्ध में ऊपर बतायी गयी सरकारों ने अत्यधिक उपेक्षा प्रदर्शित की है या उन्हें घोर असफलता मिली है। इन सरकारों ने पंजाब के निरीह लोगों की रक्षा तथा उनके प्रति अमानुषिक व्यवहार करने वाले अफसरों की सजा के सम्बन्ध में कोई कार्यवाही नहीं की। जो अधिकतर सरकारी अपराधों का उत्तरदायित्व सर माइकेल ओडायर के ऊपर है और अपने शासन में रहने वाली प्रजा के कष्टों के प्रति उसने घोर उपेक्षा भी दिखायी, लेकिन फिर भी वह साफ, बरी कर दिया गया। 'हाउस आफ कॉमन्स', विशेषतः 'हाउस आफ लार्ड्स' में हुई बहस में भारतीयों के प्रति तनिक भी सहानुभूति नहीं दिखायी गयी, उल्टे पंजाब में फैले व्यवस्थित आतंक तथा भयानक कृत्यों का ही पक्ष लिया गया। खिलाफत तथा पंजाब के मामलों के सम्बन्ध में वाइसराय की हाल की बातें इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि उन्हें तनिक भी अफसोस नहीं है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर कांग्रेस

की यह राय है कि इन दो भयंकर अत्याचारों का जब तक निराकरण न हो जाय तब तक भारत के लोगों को सन्तोष नहीं हो सकता। राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा तथा ऐसे अपराधों की पुनरावृत्ति को रोकने के लिये स्वराज की स्थापना ही एक उपाय है।'

'कांग्रेस का आगे यह विचार है कि अधिकाधिक अहिंसात्मक असहयोग को अपनाने और उसे कार्यान्वित करने के अतिरिक्त भारतीयों के सामने और कोई मार्ग नहीं है। यह मार्ग तब तक अपनाया जाय जब तक अत्याचार की स्थिति में सुधार तथा स्वराज की स्थापना न हो जाय।'

'जन मत को मोड़ने तथा उसका अब तक प्रतिनिधित्व करने में जिन वर्गों का हाथ रहा है उन्हीं को सब से पहिले आन्दोलन प्रारम्भ करना चाहिये। सरकार अपना प्रभाव लोगों पर खिताबों तथा अन्य प्रकार के सम्मानों, शिक्षण संस्थाओं, कचहरियों तथा व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा स्थापित करती है। आन्दोलन की वर्तमान स्थिति में उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उतना ही खतरा उठाया जाय तथा उतना ही त्याग किया जाय जितना अनिवार्य हो। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर कांग्रेस की निम्नलिखित निश्चित रायें हैं

(क) उपाधियों, अवैतनिक पदों का त्याग तथा स्थानीय संस्थाओं के पदों से इस्तीफा।

(ख) सरकारी उत्सवों, दरबारों तथा सरकारी अफसरों द्वारा किये गये अर्ध-सरकारी उत्सवों में भाग न लेना। सरकारी अफसरों के आदर में किये गये उत्सवों में भी सम्मिलित न होना।

(ग) लड़कों को स्कूलों तथा कॉलेजों से धीरे-धीरे हटा लेना तथा विभिन्न प्रान्तों में राष्ट्रीय स्कूलों तथा कॉलेजों की स्थापना।

(घ) वकीलों तथा मुवक्किलों द्वारा अंग्रेजी कचहरियों का धीरे-धीरे परित्याग तथा झगड़ा आपस में ही तय कर लेने के लिए पंचायतों की स्थापना।

(ङ) मेसोपोटामिया में काम करने से फौजी आदमियों, क्लर्कों तथा मजदूर वर्ग के लोगों का इन्कार।

(च) उम्मीदवारों का नई कौंसिलों के चुनाव से अपने को हटा लेना तथा वोट देने वालों का उस व्यक्ति को वोट देने से इन्कार जो कांग्रेस की राय न होने पर भी चुनाव के लिये खड़ा होता है।

(छ) विदेशी माल का पूर्ण बहिष्कार।'

'असहयोग आन्दोलन लोगों को अनुशासन एवं आत्म-त्याग की शिक्षा देने के उद्देश्य से प्रारम्भ किया जा रहा है क्योंकि बिना इन गुणों के कोई भी राष्ट्र सच्ची उन्नति नहीं कर सकता। असहयोग के पहले चरण में प्रत्येक स्त्री-पुरुष तथा बच्चे को इस प्रकार के अनुशासन एवं आत्म-त्याग का अवसर मिलना चाहिए।

जहा तक इन चीजों का सम्बन्ध है काग्रेस की राय है कि सूती मालों के सम्बन्ध में स्वदेशी का पूर्ण रूप से व्यवहार किया जाय। चूकि देशी-सम्पत्ति तथा देशी प्रबन्ध वाली भारत की वर्तमान मिलें देश की आवश्यकता के लिये पूरा सूत तथा कपडा तैयार नहीं कर पा रही हैं और भविष्य में बहुत दिनों तक वे ऐसा नहीं कर पायेंगी, इसलिए काग्रेस की यह राय है कि अधिक से अधिक उत्पादन के लिए प्रत्येक घर में सूत काता जाय और उन जुलाहों तथा बुनकरों को फिर से काम मे लगाया जाय जिन्होंने प्रेरणा के अभाव मे अपने प्राचीन और गौरवपूर्ण पेशे का परित्याग कर दिया है।'

असहयोग के सम्बन्ध मे इस प्रसिद्ध प्रस्ताव से राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक नवीन युग प्रारम्भ होता है। इस प्रस्ताव ने राजनैतिक विरोध के स्थापित तथा पुराने ढंग के प्रति लोगों का दृष्टिकोण ही बदल दिया। १६२० की दिसम्बर में काग्रेस के नागपुर-अधिवेशन में यह प्रस्ताव और भी पक्का कर दिया गया। इस अधिवेशन में लगभग बीस हजार प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। देशबन्धु चित्तरंजनदास तथा लाजपत राय जैसे नेताओं ने कलकत्ते में असहयोग का विरोध किया था लेकिन नागपुर में वे उसके समर्थक बन गये। काग्रेस की आत्म-त्याग की पुकार का लोगों ने अपूर्व और शानदार ढग से उत्तर दिया। आन्दोलन में भाग लेने के कारण बीस हजार व्यक्तियों ने प्रसन्नतापूर्वक जेल-जीवन का कष्ट झेला। सैंकड़ों व्यक्तियों ने अपनी उपाधियाँ और खिताब त्याग दिये और इसके कई गुना अधिक लोगों ने कचहरियों में अपनी वकालत छोड़ दी। हजारों विद्यार्थियों ने स्कूल तथा कॉलेज त्याग दिये और देशभर मे अनेक राष्ट्रीय-सस्थाओं की स्थापना हो गयी। इन सस्थाओं में अलीगढ का राष्ट्रीय मुस्लिम विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ तथा तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ के नाम उल्लेखनीय हैं। १६२१ के पूरे वर्ष तक आन्दोलन जितनी सफलता के साथ आगे बढ़ा उतनी सफलता की आशा इसके कट्टर समर्थकों को भी न थी। बारदोली ताल्लुका में महात्मा जी करबन्दी का आन्दोलन सगठित कर रहे थे। इन सबसे ब्रिटिश-सरकार की नींव हिल उठी; स्वराज सामने दिखाई देने लगा। लेकिन इसी मनोवैज्ञानिक अवसर पर मलाबार में मोपला दंगा प्रारम्भ हो गया जिसमें हिन्दुओं पर वर्णनातीत अत्याचार हुआ। हिन्दू-मुस्लिम एकता पर यह बहुत बड़ा आघात था। यह एकता ही तो उस वर्ष के अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन का प्रमुख स्तम्भ थी। वेल्स के राजकुमार के भारत आगमन के अवसर पर बम्बई में बडी गड़बड़ी पैदा हो गयी। इससे भी बुरी बात यह हुई कि उन्मत्त जनता ने चौरी-चौरा की चौकी मे आग लगा दी और वहाँ पुलीस के अनेक व्यक्तियों की हत्या हो गयी। महात्मा जी ने देखा कि आन्दोलन का अहिंसात्मक रूप समाप्त हो रहा है, इसलिए उन्होंने इसे तुरन्त बन्द कर देने की आज्ञा दे दी। इस पर उनके निकट अनुयायियों को बडा दुःख भी हुआ। उन्होंने काग्रेस के वे सभी कार्य बन्द कर दिये जिनसे जेल जाने की आवश्यकता पड़ती। सरकार ने इस

अवसर से लाभ उठाया, उसने गाँधी जी को कैद करके उन पर मुकदमा चलाया और मार्च १९२२ म उन्हे छ वर्ष की सजा दे दी।

महात्मा गाँधी के नेतृत्व म चलने वाला असहयोग का पहला आन्दोलन अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में असफल रहा। ब्रिटिश सरकार हिल तो गई लेकिन गिरी नहीं। फिर भी आन्दोलन एकदम निष्फल नहीं रहा। इसने राजनैतिक विरोध को उस स्तर तक पहुचा दिया जिसकी पहिले किसी ने कल्पना भी न की थी, इसने कांग्रेस आन्दोलन को जनता का आन्दोलन बना दिया तथा स्वराज का सन्देश समाज के निम्न स्तर तक पहुँचा दिया। इसने एक और दिशा म भी अच्छा परिणाम दिखाया। नौकरशाही ने पहली बार इस बात की आवश्यकता समझी कि नरम दल के राजनीतिज्ञों की शुभेच्छाओं का कितना मूल्य है। इसने उनका सहयोग पाने के लिए अपना पूरा प्रयत्न लगा दिया और मान्टफोर्ड सुधारों को इस ढङ्ग से लागू किया कि जैसा वह दूसरी स्थिति में कभी न करती।

अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन की बाह्य असफलता से कांग्रेस के कुछ अन्य नेताओं ने नई विधान-सभाओं के लगातार बहिष्कार की नीति का विरोध प्रारम्भ कर दिया। कांग्रेस के भीतर ही सी० आर० दास तथा मोतीलाल नेहरू ने एक कौंसिल प्रवेश पार्टी की स्थापना की। हकीम अजमलखाँ तथा विट्ठलभाई पटेल ने भी इसे अपना सहयोग दिया। यह स्वराज-पार्टी के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसका उद्देश्य था अड़गेबाजी की नीति द्वारा विधान को अन्दर ही अन्दर तोड़ देना और इस प्रकार ब्रिटिश सरकार को राष्ट्रीय माँग स्वीकार करने के लिए विवश कर देना। गाँधी जी के कट्टर अनुयायियों ने कौंसल म घुसने का विरोध किया। ऐसे लोगों को लोग अपरिवर्तनवादी (No changers) कहते, डा० अन्सारी तथा श्री राजगोपालाचारी इनके अगुआ थे। बड़ी कठिनाइयों के बाद कौंसिल म घुसने की इच्छा रखने वाले दल (Council Entry Party) की विजय हुई। विधान संस्थाओं के चुनावों में काफी डटा-डटी रही, लेकिन इण्डियन नेशनल कांग्रेस की ओर से खड़ी स्वराज पार्टी की अनेक प्रान्तों म विजय हुई। बगाल तथा मध्य प्रान्त मे स्वराज पार्टी के लोग काफी सख्या म सफल हुए। उनकी संख्या इतनी थी कि सविधान का चलना असम्भव हो गया। लेकिन अड़गेबाजी की चालों से नौकरशाही डिग न सकी। केन्द्रीय विधान-सभा म भी स्वराज-पार्टी कुछ अधिक न कर सकी। भारत के लिए एक सविधान बनाने के उद्देश्य स इसने एक गोल मेज सम्मेलन की माँग की जिसे लॉर्ड रीडिंग की सरकार ने अस्वीकृत कर दिया। १९२० के चुनाव में स्वराज पार्टी को बड़ा धक्का सहना पड़ा जिसके कारण इसके सदस्यों की सख्या कम हो गयी। भारत के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करने म कौंसिलों म घुसने का कार्यक्रम असफल रहा और परिस्थितियों ने उन्हे पुराने कार्यक्रम की ओर लौटने

क लिए विवश कर दिया। इस पुराने कार्यक्रम का उद्देश्य तैयारी करते रहना और आवश्यकता पड़ने पर खूब अधिक सख्या मे सविनय अवज्ञा करना था। फिर भी स्वराज-पार्टी को एक सफलता मिली। नरम दल वाला तथा नौकरशाही ने नये विधान की प्रशसा का जो पुल बाँध रक्खा था उसे इसने नष्ट कर दिया। इसने उदारवादियों अर्थात् नरम दल वालों को विधान-सभाओं से अलग कर दिया और नौकरशाही के इस कथन को असत्य सिद्ध कर दिया कि वह देश पर जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा शासन कर रहा था।

साइमन कमीशन— स्वराज पार्टी द्वारा तैयार किया हुआ कौंसिल-मोर्चा अब पुराना पड़ चुका था और इण्डियन नेशनल काग्रेस के पास ऐसा कोई प्रेरणाशील एव उत्साहवर्धक कार्यक्रम न था जिसे वह देश के सामने रख सकता। इसी समय ब्रिटिश सरकार ने स्वय देशव्यापी आन्दोलन के लिए राजनीतिज्ञों को एक अच्छा अवसर प्रदान किया। एक रॉयल कमीशन की, जो नये विधान के कार्यों की जाँच करके पार्लियामेण्ट मे रिपोर्ट पेश करता, नियुक्ति के लिए दस वर्षों तक प्रतीक्षा करने के बदले, इगलैंड की सरकार ने उसे १६२७ में ही भेजने की घोषणा कर दी। साइमन कमीशन— यही उस कमीशन का नाम था— सचमुच ३ फरवरी १६२८ को बम्बई पहुँचा। इस कमीशन का अखिल-भारतीय हड़ताल द्वारा स्वागत हुआ। यह कमीशन जहाँ कहीं भी जाता वहीं हड़ताल होती काले झडे का प्रदर्शन होता और 'साइमन लौट जाओ' का नारा लगाया जाता। सभा मतों के लोगों ने साइमन कमीशन का बहिष्कार किया, यहाँ तक कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान-सभाओं ने भी उससे सहयोग नहीं किया। केवल मद्रास की जस्टिस पार्टी तथा कुछ मुस्लिम सस्थाओं ने इसका स्वागत किया। इस प्रतिरोध का कारण यह था कि कमीशन में केवल अग्रेजों की नियुक्ति की गयी थी, भारतीय कोई था ही नहीं। कमीशन की सदस्यता से भारतीयों को अलग रखने में उनकी राष्ट्रीय सम्मान की भावना को बड़ा धक्का लगा जिसे कोई भी देशभक्त भारतीय सहन नहीं कर सकता था। साइमन कमीशन के बहिष्कार ने देश मे बड़ी उथल-पुथल मचा दी। ब्रिटिश सरकार ने आतङ्क तथा जोर-जबरदस्ती का दम अख्त्यार किया। काले झडे के प्रदर्शनकारियों को तितर बितर करने के लिए पुलिस अक्सर लाठी का प्रयोग करती। लाहौर म लाला लाजपतराय ऐसे ही एक जलूस के अगुआ थे। उनके ऊपर निर्लज्जतापूर्वक लाठी तथा डडों की वर्षा की गयी। यह विश्वास किया जाता था और ब्रिटिश-सरकार पर यह आक्षेप भी किया गया कि इमी घातक हमले के कारण उनकी शीघ्र मृत्यु हो गया। लेकिन सरकार ने इस मामले म कोई जाँच न की। लखनऊ म जवाहरलाल नेहरू तथा गोविन्दवल्लभ पन्त जैसे मान्य नेताओं के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया गया। पुलिस के इस बर्ताव से लोगों में बड़ा क्षोभ फैला और इसी लिए कुछ आतङ्कवादी घटनाएँ भी घटीं।

नेहरू-रिपोर्ट— लॉर्ड बर्केनहेड ने, जो उस समय भारत-मंत्री थे, रॉयल कमीशन में भारतीयों को न रखने का कारण यह बताया कि उनमें परस्पर मेल न था। उन्होंने उन्हें एक सर्वमान्य विधान बनाने तथा उसे पार्लियामेन्ट के सामने रखने की चुनौती दी। भारत के राजनैतिक नेताओं ने यह चुनौती स्वीकार कर ली। उन्होंने एक ऑल-पार्टीज कान्फ्रेंस सगठित की जिसकी बैठकें उस समय हुईं जब साइमन कमीशन देश में दौरा कर रहा था। सर्वदल सम्मेलन ने विधान के निर्माण के लिए पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक उप-समिति नियुक्त की। महीनों के परिश्रम के बाद नेहरू कमेटी ने एक रिपोर्ट पेश की जो इतिहास में 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इसने भारत के लिए औपनिवेशिक आधार पर एक विधान तैयार किया। १६२८ में कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन ने इस रिपोर्ट पर विचार किया। इस अधिवेशन में भारत के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता चाहने वालों तथा औपनिवेशिक पद के समर्थकों के बीच खूब वाद-विवाद हुआ। पहले दल के नेता थे पं० जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस तथा दूसरे दल के नेता पं० मोतीलाल नेहरू थे जो उस अधिवेशन के सभापति थे। महात्मा गाँधी ने मेल के लिए एक प्रस्ताव पेश किया जिसे कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया। प्रस्ताव इस प्रकार है :

'सर्वदल समिति की रिपोर्ट द्वारा पेश किये हुए विधान पर विचार करने के पश्चात् कांग्रेस उसका स्वागत करती है क्योंकि भारत की राजनैतिक तथा साम्प्रदायिक समस्याओं के हल के लिए यह एक महान् देन है। सुझावों पर एकमत होने के लिए कांग्रेस कमेटी को धन्यवाद देती है। मद्रास-कांग्रेस के अवसर पर पास किये हुए पूर्ण स्वराज के प्रस्ताव को ही मानने के साथ साथ कांग्रेस कमेटी द्वारा निर्मित विधान को राजनैतिक प्रगति में एक महान कदम के रूप में स्वीकार करती है; विशेषतः इसलिए कि देश की प्रमुख पार्टियों के बीच वह सबसे अधिक समझौते का प्रतिनिधित्व करता है।

'यदि यह विधान दिसम्बर १६२६ या उससे पहिले स्वीकार नहीं किया जाता तो कांग्रेस उसे मानने के लिए बाध्य नहीं रहेगी और यह भी घोषित किया जाता है कि यदि ब्रिटिश पार्लियामेन्ट इस तारीख तक विधान को स्वीकार नहीं करती तो कांग्रेस अहिंसात्मक असहयोग फिर प्रारम्भ कर देगी जिसके अनुसार देश सरकार को कर या अन्य किसी प्रकार का सहायता देना बन्द कर देगा।'

१६३० या उसके बाद वाले वर्षों में जो घटनाएँ हुईं वे इस प्रस्ताव के अत्यधिक महत्त्व की प्रमाण हैं। सरकार पर भी इसका कुछ प्रभाव पड़ा। भारतीय मामलों पर विचार-विमर्श करने तथा यहाँ के राजनैतिक मतों का प्रतिनिधित्व करने वाले लोगों के दृष्टिकोणों को अंग्रेजी सरकार के सामने रखने के लिए लॉर्ड इरविन, उस समय के गवर्नर-जनरल, जून के अन्त में इंगलैंड गये। वे अक्तूबर २५ को लौट आये और सम्राट् की सरकार की ओर से उन्होंने ३१ अक्तूबर को एक घोषणा की। सम्पूर्ण घोषणा को यहाँ उद्धृत नहीं किया जा सकता। हम इसकी केवल प्रमुख

विशेषताएँ बतायेंगे और इसकी प्रतिक्रिया का निरीक्षण करेंगे। इसकी सबसे बड़ी *विशेषता यह थी कि ब्रिटेन तथा भारत की सरकार ने भारत का औपनिवेशिक* पद देने का निश्चय किया। घोषणा के अन्तिम शब्द ये थे: "सम्राट् की सरकार की ओर से मुझे यह स्पष्ट करने का पूरा अधिकार मिला है कि उसके निर्णय के अनुसार १६१७ की घोषणा में यह स्पष्ट है कि भारत की संविधानिक प्रगति का उद्देश्य औपनिवेशिक पद की प्राप्ति है।" इसकी दूसरी विशेषता यह थी कि साइमन कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद लन्दन में एक गोलमेज-कान्फ्रेंस की व्यवस्था की गयी जिसमें साइमन कमीशन तथा भारत की वैधानिक समस्या के विषय में अन्य प्रश्नों पर विचार-विमर्श करने के लिए सम्राट् की सरकार के प्रतिनिधियों के साथ साथ भारतीय प्रतिनिधि भी सम्मिलित होते। घोषणा का उपयुक्त अंश नीचे है: रॉयल कमीशन के चेयरमैन ने यह सुझाव दिया कि "आवश्यकता इस बात की है कि एक सम्मेलन बुलाया जाय जिसमें सम्राट् की सरकार ब्रिटिश-भारत तथा रियासतों, *दोनों के प्रतिनिधियों से अंतिम प्रस्तावों में अधिक से अधिक समझौते के निमित्त* मिले। सम्राट् की सरकार का यह कर्त्तव्य होगा कि इन प्रस्तावों को वह पार्लियामेन्ट के सामने पेश करे।" कांग्रेस नेताओं ने तुरन्त ही दिल्ली में एक सभा बुलायी जिसमें उन्होंने अन्य राजनैतिक पार्टियों के नेताओं को भी आमन्त्रित किया। इस सम्मिलित सभा ने घोषणा पर विचार किया और बहुत सोच-*विचार के बाद एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें प्रस्तावकों ने उस सद्भाव का* प्रशंसा की जिस पर घोषणा अवलम्बित थी। उन्होंने भारतीय जन-मत को सन्तुष्ट करने के ब्रिटिश-सरकार के उद्देश्य की बड़ी प्रशंसा की और अपनी यह इच्छा भी प्रेषित की कि देश के लिए औपनिवेशिक पद की स्थापना के प्रयत्न में वे सम्राट् की सरकार को पूरा सहयोग देंगे। उन्होंने सम्भावित कान्फ्रेंस की सफलता के लिए कुछ सुझाव भी पेश किये जिसमें राजनैतिक बन्दियों की मुक्ति भी थी। उनके विचार से कान्फ्रेंस का उद्देश्य औपनिवेशिक पद के लिए समय निश्चित करना नहीं बल्कि भारत के औपनिवेशिक विधान के लिए योजना बनाना था। वक्तव्य के अन्त में निम्नलिखित शब्द थे: 'जनता को यह अनुभव कराना हम बहुत आवश्यक समझते हैं कि आज से एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ है और नया विधान इस तथ्य का प्रमाण होगा। अन्त में, कान्फ्रेंस की सफलता के लिए हम यह आवश्यक समझते हैं कि वह शीघ्रातिशीघ्र बुलायी जाय।'

पूर्ण स्वराज— नेताओं की घोषणा के उत्तर में *तथा स्थिति की स्पष्टता* के लिए ब्रिटिश भारत की सरकार ने कोई वक्तव्य नहीं दिया। कांग्रेस के लाहौर-अधिवेशन में जाने से पहिले महात्मा गांधी तथा प० मोतीलाल नेहरू ने वाइसराय से मिल लेना उचित समझा ताकि उनकी घोषणा का वास्तविक अर्थ स्पष्ट हो जाय।

लॉर्ड इरविन उन्हें यह विश्वास नहीं दिला सके कि लन्दन में होने वाली सम्भावित कान्फ्रेंस का उद्देश्य भारत के लिए औपनिवेशिक विधान बनाना था। 'भारत की वैधानिक प्रगति का स्वाभाविक परिणाम औपनिवेशिक पद की प्राप्ति है'— घोषणा के इस तथ्य से अधिक वे कुछ न कह सके। गोलमेज सम्मेलन में भारतीय नेताओं को औपनिवेशिक पद-प्रदान की प्रतिज्ञा के साथ निमन्त्रित करने में उन्होंने अपने को असमर्थ पाया। इस प्रकार ये दोनों बड़े नेता खाली हाथ लाहौर लौट आये। इन परिस्थितियों के बीच— पूर्ण स्वराज को अपना उद्देश्य घोषित करने तथा कलकत्ता-अधिवेशन के प्रस्ताव की शर्तों के अनुसार नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार करने के अलावा काग्रेस के पास और कोई चारा ही न रह गया। स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में लाहौर में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ उसके निम्नलिखित प्रमुख वाक्य हैं 'स्वराज की माग के सम्बन्ध म समझौते के लिए वाइसराय द्वारा किये गये प्रयत्नों की काग्रेस प्रशसा करती है। तब से अब तक जो कुछ हुआ है उसे तथा महात्मा गाधी, प० मोतीलाल नेहरू, अन्य नेताओं तथा वाइसराय की मुलाकात के परिणाम पर विचार करने के पश्चात् काग्रेस की यह राय है कि वर्तमान परिस्थितियों में सम्भावित गोल मेज का फ्रेंस में अपने प्रतिनिधि भेजने से काग्रेस को कोई लाभ न होगा। काग्रेस यह घोषित करती है कि काग्रेस-विधान के पहले अनुच्छेद में प्रयुक्त 'स्वराज' शब्द का अर्थ पूर्ण स्वतन्त्रता होगा और यह आशा करती है कि अब से सभी काग्रेसजन भारत के लिए पूर्ण स्वराज की प्राप्ति पर ही अपनी पूरी शक्ति केन्द्रित करे। यह काग्रेस अखिल-भारतीय काग्रेस कमेटी को यह अधिकार देती है कि वह जब आवश्यक समझे सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ कर दे जिसम किसी प्रकार कर कर न देने का कार्यक्रम भी सम्मिलित है। उसको यह अधिकार भी दिया गया कि इस आन्दोलन को वह निश्चित स्थानों या पूरे देश में उन सावधानियो के साथ प्रारम्भ करे जिन्हें वह आवश्यक समझे।' इस प्रकार स्वराज्य-प्राप्ति के लिए दूसरे महान् राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार की गयी। यह आन्दोलन महात्मा गाँधी के नेतृत्व में पूर्ण अहिंसात्मक रूप से प्रारम्भ किया गया। सबसे पहले १९३० की २६ जनवरी को स्वतन्त्रता दिवस मनाया जाना था जिसमें काग्रेस की वर्किङ्ग कमेटी द्वारा स्वीकृत प्रतिज्ञाएँ दुहरायी गयीं। सारे देश के विभिन्न शहरों तथा गाँवों में भी प्रतिज्ञाएँ दुहरायी गयीं। इस प्रतिज्ञा का यहाँ विस्तृत वर्णन आवश्यक नहीं है। इतना ही कह देना पर्याप्त है कि ससार के अन्य राष्ट्रों की भाँति स्वतन्त्रता के उपभोग का भारतीयों को भी अधिकार है। उन्हे भी अपने परिश्रम का फल चखने तथा अपने सर्वोत्तम विकास का अवसर मिलना चाहिए। इन सब बातों को ध्यान म रखकर इण्डियन नेशनल काग्रेस ने अपनी इस प्रतिज्ञा द्वारा लोगों को उस विदेशी शासन के अन्त का आदेश दिया जो राष्ट्र को अगणित हानियाँ पहुँचा रहा था। इसने सरकारी कर या अन्य

किसी भी प्रकार की सहायता न देने का भी आदेश दिया। १६३० से हर वर्ष की २६ जनवरी को स्वतन्त्रता-दिवस मनाया जाता है।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन— ७ मार्च १६३० को महात्मा गाँधी ने लार्ड इरविन को अपना ऐतिहासिक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने साबरमती आश्रम के अपने कुछ साथियों के साथ नमक-कानून तोड़ कर सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने की सूचना दी। पत्र में उन्होंने ब्रिटिश राज को एक बला मानने के कारण भी बताये। पत्रवाहक महात्मा जी के एक अंग्रेज मित्र श्री रेजीनल्ड रानाल्ड्स थे १२ मार्च को गाँधी जी डाडी में नमक कानून तोड़ने के लिए अहमदाबाद से रवाना हुए। महात्मा जी के साथ ७५ आश्रमवासी थे। वे जगह जगह रुक कर लोगों को अपना सन्देश सुनाते। डाडी की यह यात्रा बहुत प्रसिद्ध हो गयी है और इस यात्रा के पहले, साथ तथा बाद के दृश्य इतने भव्य, जोशीले एवं प्रभावशाली थे कि वे वर्णनातीत हैं। 'मानव जाति के इतिहास में देश-प्रेम की लहर उतनी तीव्र कभी भी नहीं उठी थी, जितनी इस महान् अवसर पर। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में यह घटना एक महान् आन्दोलन के प्रारम्भ के रूप में प्रसिद्ध रहेगी।'. 'बॉम्बे क्रानिकल' ने ये शब्द डॉडी मार्च के सम्बन्ध में लिखे थे।

२४ दिन की यात्रा के बाद महात्मा गाँधी ५वीं अप्रैल को डॉडी पहुँचे और समुद्र के किनारे से कुछ नमक इकट्ठा करके उन्होंने नमक कानून भंग किया। बस क्या था! सारे देश में नमक कानून तोड़ने की धूम मच गयी जिसमें हजारों गाँवों और शहरों में रहने वाले भारतीयों ने योग दिया। यहाँ हमारा उद्देश्य पाठकों को धरसाना तथा नमक के अन्य गोदामों पर अहिंसात्मक वालंटियरों के धावे, उन्हें तितर-बितर करने के लिए पुलिस की ज्यादतियों तथा अनेक नेताओं की गिरफ्तारी का इतिहास बताना नहीं है। सारा देश एक प्रकार से धधक-सा उठा और यह आन्दोलन दूर-दूर तक इस प्रकार फैल गया जैसे वृक्षहीन मैदान में केवल पत्तियों की आग फैल जाती है। महात्मा गाँधी की गिरफ्तारी के बाद कांग्रेस की वर्किङ्ग कमेटी ने शराब की दूकानों तथा विदेशी कपड़े के विक्रय पर प्रतिबन्ध जंगल सम्बन्धी कानूनों की अस्वीकृति तथा कर न देने की नीति अपनायी। आन्दोलन दबाने के लिए लॉर्ड इरविन की सरकार ने लगभग एक दर्जन आर्डिनेंस पास किये। भारी जुर्माने तथा कैद की सजाएँ खिलवाड़ सी बन गयी। लगभग साठ हजार स्त्री पुरुष जेल के अन्दर बन्द कर दिये गये, अनेक स्थानों पर पुलिस की गोली चलने के कारण सैकड़ों व्यक्तियों की मृत्यु हो गयी और इससे बड़ी संख्या में लोग घायल हुए। प्रदर्शनकारियों तथा कानून का विरोध करने वाली जनता से निबटने के लिए पुलिस ने लाठियों का अक्सर प्रयोग किया। लेकिन पाशविक शक्ति के आगे राष्ट्रीय भारत झुका नहीं, आन्दोलन दबाने के लिए पुलिस हिंसात्मक उपायों का जितना ही प्रयोग करती, आन्दोलनकारियों को उतनी ही अधिक शक्ति मिलती। वेब मिलर, जॉर्ज

ग्लोवाम्ब तथा ब्रेल्सफोर्ड जैसे विदेशी सम्वाददाताओं ने अपने पत्रों को जो रिपोर्ट भेजी वे भारत के लोगों द्वारा प्रदर्शित आश्चर्यजनक प्रतिरोध शक्ति की ज्वलन्त प्रमाण हैं। उस जादूगर महात्मा गाँधी ने निर्जीव हड्डियों में भी नयी जान फूँक दी। भारतीय स्वातन्त्र्य के युद्ध में भारतीय स्त्रियों द्वारा लिये भाग पर भी कुछ कहना अत्यावश्यक है। विदेशी कपड़ों के बहिष्कार में इतनी अधिक सफलता केवल इसी लिए मिली कि विदेशी कपड़ों के खरीदारों से अपील करने का देश सेविकाओं का ढंग बड़ा ही सौम्य एवं हृदय-हारी था। उनके वस्त्र भी केसरिया रंग के होते जिनसे त्याग तथा वैराग्य का सन्देश मिलता। विदेशी कपड़ों के व्यापारी प्रशंसा के पात्र हैं क्योंकि अपनी हानि को उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक सहन किया।

गोलमेज कान्फ्रेंस— ऊपर यह कहा जा चुका है कि सम्भावित गोलमेज कान्फ्रेंस के सम्बन्ध में वाइसराय ने यह विश्वास दिलाने में अपनी असमर्थता प्रकट की कि वहाँ भारत के लिए एक औपनिवेशिक विधान का निर्माण होगा, कांग्रेस ने इसलिए उसमें भाग न लेना निश्चित किया। वाइसराय की घोषणा के बाद जो सम्मिलित वक्तव्य प्रकाशित किया गया उसकी शर्तों पर कोई आश्वासन न पाने पर भी नरम दल के नेताओं ने लन्दन जाना निश्चित किया। सरकार ने कांग्रेस को भी समझाने का प्रयत्न किया। जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन अपनी पूरी गति में था, सरकार ने अपने तथा कांग्रेस के बीच समझौते का बड़ा प्रयत्न किया लेकिन कांग्रेस की माँगें स्वीकृत न होने के कारण ये प्रयत्न असफल रहे। इस प्रकार १२ नवम्बर १९३० में आरम्भ होने वाली गोलमेज कान्फ्रेंस में कांग्रेस का कोई प्रतिनिधित्व न हुआ। कार्यवाही में भाग लेने वाले ८६ व्यक्तियों में १३ तो तीनों ब्रिटिश राजनैतिक पार्टियों के प्रतिनिधि, भारतीय राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले १६ भारतीय राजे तथा ५७ ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि थे। भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल में देश के चुने हुए प्रतिनिधि नहीं थे, विभिन्न साम्प्रदायिक तथा वर्गगत हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए इसके सभी सदस्य वाइसराय द्वारा नियुक्त थे। इनकी नियुक्ति में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारासभाओं की भी राय न ली गयी थी। 'सेण्ट जेम्स के राजमहल में राजे-महाराजे, अछूत, हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, जमींदारों तथा व्यापार-संघों के प्रतिनिधि, सभी एकत्रित हुए लेकिन भारतमाता के प्रतिनिधि वहाँ न थे।'* भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के सदस्यों को चुनने के इस ढंग का कान्फ्रेंस के कार्यों पर प्रभाव अवश्य पड़ता। भारतीय स्वतन्त्रता के हितों का ध्यान रखने के बदले दूसरे विभिन्न हितों का ध्यान रक्खा गया था। भारत के भविष्य का प्रश्न ब्रिटिश सरकार के हाथों में छोड़ दिया गया था।

गोलमेज कान्फ्रेंस का पहला अधिवेशन १९ जनवरी १९३१ को समाप्त हुआ। इस अधिवेशन में भारत की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों को ध्यान में रखकर

---

* ब्रेल्सफोर्ड : सब्जेक्ट इण्डिया, पृष्ठ ३६।

सघ-शासन का सिद्धान्त सबसे अधिक उपयुक्त समझा गया। प्रान्तीय क्षेत्र में मन्त्रित्व-सम्बन्धी उत्तरदायित्व (ministerial responsibility) तथा कुछ अभिरक्षण (reservations) तथा सरक्षण (safeguards) के साथ केन्द्र मे द्वैध शासन का सिद्धान्त निश्चित किया गया। भारत के लिए सम्भावित विधान के सम्बन्ध में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने निम्नलिखित घोषणा की :

"सम्राट् की सरकार का दृष्टिकोण यह है कि भारत की सरकार का उत्तरदायित्व *प्रान्तीय तथा केन्द्रीय विधान सभाओं पर होना चाहिये ;* साथ ही साथ अन्तरिम समय मे कुछ कर्तव्यों को पूरा करने तथा कुछ विशेष परिस्थितियों से निबटने के लिए भी एक वैधानिक धारा होनी चाहिए। अल्पसख्यकों के अधिकारों तथा स्वतत्रता की रक्षा का भी पूरा प्रबन्ध रहना चाहिये।

"अन्तरिम समय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बनायी गयी कानूना कार्यवाहियों के सम्बन्ध मे सम्राट् की सरकार का यह देखना पहला कर्तव्य होगा कि सुरक्षित शक्ति (Reserved Powers) की योजना इस दृष्टि से की जाय कि नये विधान द्वारा अपनी सरकार का भार स्वय लेने की प्रगति मे कोई अड़चन न पड़े।"

उन्होंने आगे यह भी कहा कि "*वर्तमान समय में सविनय अवज्ञा आन्दोलन* में लगे व्यक्तियों से वाइसराय की अपील का यदि कोई अनुकूल उत्तर मिलेगा तो उनकी सेवाओं से लाभ उठाने के लिये कार्रवाई की जायगी।"

ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री की उपरोक्त घोषणा पर महात्मा गाँधी तथा वर्किंग कमेटी के सदस्यों को अच्छी प्रकार से विचार-विनिमय करने के लिए वाइसराय ने वर्किंग कमेटी पर लगाया गया प्रतिबन्ध हटा लिया और उसके सदस्यों का मुक्ति की आज्ञा दे दी। वे १६३१ की २६ जनवरी को छोड़ दिये गये। वाइसराय से समझौता करने के लिए कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने महात्मा गाँधी को एक राजदूत के अधिकार दे दिये। *महात्मा जी वाइसराय के साथ समझौते के कार्य* मे लग गये जो काफी दिनों तक चलता रहा। अन्त मे उन लोगों ने एक पैक्ट बनाया जिस पर पाँच मार्च को हस्ताक्षर किये गये। इसके विस्तृत वर्णन मे हमे नहीं पड़ना है। केवल इतना बतला देना पर्याप्त है कि इस समझौते के *परिणामस्वरूप कांग्रेस* ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द कर दिया और उसने द्वितीय गोलमेज कान्फ्रेन्स में सम्मिलित होने का निश्चय किया। इससे कांग्रेस की शक्ति तथा प्रतिष्ठा में सचमुच वृद्धि हुई और सविनय अवज्ञा आन्दोलन की अग्नि परीक्षा मे उत्तीर्ण होने के कारण सारे राष्ट्र का नैतिक उत्थान हुआ। दुख इस बात का है कि पंडित मोतीलाल नेहरू की, जिन्होंने स्वातंत्र्य सग्राम मे महत्त्वपूर्ण भाग लिया था, समझौता होने से पहले ही मृत्यु हो गयी।

भारत के वाइसराय के रूप में लार्ड इरविन केवल दूसरे वर्ष तक रह गये होते और इङ्गलैंड की सरकार में यदि कोई परिवर्तन न हुआ होता तो बहुत सम्भव था कि महात्मा गांधी तथा लार्ड इरविन में हुए समझौते से भारत तथा इंगलैंड के बीच स्थायी सहानुभूति उत्पन्न हो गयी होती और भारत की वैधानिक समस्या का हल भी भारत के ही अनुकूल हो गया होता। लेकिन लॉर्ड इरविन की जगह पर लॉर्ड वेलिंगडन भारत के वाइसराय हुए और इंगलैंड में एक अनुदार अर्थात् कन्जर्वेटिव सरकार बन गयी। मि० वेजवुड वेन की जगह सर सैमुअल होर भारत-मन्त्री बने। इन परिवर्तनों ने दोनों देशों की परिस्थितियों में बड़ा अन्तर उपस्थित कर दिया। भारत में कांग्रेस के लोगों की यह शिकायत थी कि सरकारी अधिकारी गांधी इरविन समझौते की शर्तों का पालन नहीं करते। नये वाइसराय महात्मा जी के अनुकूल न पड़े। परिस्थितियों की विषमता तथा सफलता की आशा न होते हुए भी दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस में सम्मिलित होने के लिए महात्मा जी २९ अगस्त १९३१ को इंगलैंड के लिये रवाना हुए।

द्वितीय गोलमेज कान्फ्रेन्स— गोलमेज कान्फ्रेन्स का दूसरा अधिवेशन १४ सितम्बर तथा पहली दिसम्बर १९३१ के बीच उस समय हुआ जो ग्रेट-ब्रिटेन के इतिहास में बड़ा ही विषम काल था। मजदूर सरकार ने इस्तीफा दे दिया था; इसकी जगह राष्ट्रीय सरकार ने ले ली थी जिसकी रुझान टोरियों की ओर अधिक थी। अक्तूबर १९३१ के साधारण चुनाव के कारण 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में अनुदार तत्व बड़ा प्रभावशाली बन गया। ये परिवर्तन भारतीय दृष्टि से एकदम प्रतिकूल पड़ गये, भारत से सहानुभूति रखने वाले सदस्य पीछे पड़ गये और इसका विरोध करने वाले लोग प्रभावशाली बन गये। जो प्रवाह पहिले अधिवेशन में व्याप्त रहता था वह अब दूसरे में न था, ब्रिटिश प्रतिनिधियों का रुख एकदम बदल गया था। इन्हीं प्रतिकूल परिस्थितियों में महात्मा गांधी ने कान्फ्रेन्स की कार्यवाही में भाग लिया।

कान्फ्रेंस का प्रमुख उद्देश्य इङ्गलैंड तथा भारत के बीच के झगड़े का निपटारा और भारत की वैधानिक समस्या का एक हल निकालना था। चीजें कुछ इस प्रकार गढ़ी गयी थीं कि साम्प्रदायिक समस्या रास्ते में अवश्य आ जाय। वैधानिक समस्या को तो अलग छोड़ दिया गया और भारतीय माँगों को अनुपयुक्त ठहराने के लिए एक छोटी समस्या को प्रधानता दी गयी। महात्मा गाँधी साम्प्रदायिक समस्या सुलझाने पर तुले हुए थे, या फिर उसे भविष्य के लिए टाल देना चाहते थे ताकि भारतीय प्रतिनिधि-मंडल अड़चनों को हटाकर स्वराज-प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर सकता। लेकिन उनके प्रयत्न असफल रहे। भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का निर्वाचन ही इस प्रकार किया गया था कि साम्प्रदायिक समस्या का हल असम्भव बन गया। इसमें ऐसे व्यक्ति भी सम्मिलित थे जिनका काम ही साम्प्रदायिक विरोध करना था। जो

व्यक्ति साम्प्रदायिक समस्या की ओर तर्कसगत रुख रख सकते तथा उसके निराकरण के लिए जी-जान से प्रयत्न कर सकते थे, कान्फ्रेंस में उनकी कभी नियुक्ति ही नहीं हुई। डा० अन्सारी जैसे व्यक्तियों को इसमें सम्मिलित करने के प्रयत्न असफल रहे। विभाजन द्वारा शासन करने की नीति रखने वाले ब्रिटिश राजनीतिज्ञ पीछे से अडगा -लगा रहे थे और इसलिए साम्प्रदायिक समस्या का हल और भी कठिन हो गया। विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों द्वारा की गयी माँगों का आपस में मेल नहीं बैठता था। पजाब और बगाल में मुसलमान अपना बहुमत तथा उन प्रान्तों में सख्या से अधिक स्थान (Excessive Weightage) चाहते थे जिनमें वे अल्पसख्यक थे। वे केंद्र में एक-तिहाई प्रतिनिधित्व भी चाहते थे। सिक्ख पजाब मे उसी प्रकार सख्या से अधिक स्थान (Weightage) चाहते थे जिस प्रकार मुसलमानों को आसाम, बबई, उत्तर-प्रदेश तथा मद्रास मे मिला था। 'वेटेज' के लिए सिक्खों के दावे तथा हिन्दुओं के अधिकारों के साथ मुसलमानों को पजाब में बहुमत देना असम्भव था। उसी प्रकार मुसलमानों की बगाल मे पूरे बहुमत की माँग के साथ यूरोपियनों के 'वेटेज' का मेल नहीं बैठता था। दलित वर्गों ने भी दूसरों की देखादेखी अपने लिए अलग प्रतिनिधित्व की माँग की। ऐसा वातावरण जिसमें राष्ट्रीय हितों का ध्यान न रख कर सभी अपने-अपने लिए अधिक से अधिक अधिकारों की माँग करते हों, ऐसी जटिल समस्याओं के हल के अनुकूल नहीं पडता। यदि महात्मा गाधी अपने प्रयत्नों में असफल रहे तो उसमे कोई आश्चर्य नहीं है। मुस्लिम सदस्यों की इस जिद ने कि बिना अपनी माँगों की पूर्ति के वे वैधानिक वाद विवाद मे भाग न लेंगे, और भी अडगा लगा दिया। मुसलमानों ने प्रतिक्रियावादी ब्रिटिश हितों के साथ मेल कर लिया जिसका अत शरारतभरी अल्पसख्यकों की सन्धि (Minorities Pact) में हुआ। लायलिस्टों (Loyalists) की एक गुप्त गश्ती चिट्ठी से, जिसमें ब्रिटिश हितों के भारतीय प्रतिनिधि मि० बेन्थल की भी राय सम्मिलित थी, नीचे एक अश उद्धृत किया जा रहा है जो उस शर्मनाक तरीके पर प्रकाश डालता है जिससे गोलमेज कान्फ्रेन्स में साम्प्रदायिक समस्या सुलझाने के प्रयास में रोडे अटकाये जा रहे थे. 'मुसलमानों का गुट बड़ा ही पक्का और जोशीला था · · उन्होंने अपना काम करने में बडी चतुरता दिखायी। उन्होंने हमें पूरी सहायता देने का आश्वासन दिया और उसे अच्छी प्रकार निभाया भी। इसके बदले म उन्होंने हमसे उनकी बगाल में आर्थिक दीनता न भूलने के लिए कहा और साथ ही साथ उन्होंने हमसे यूरोपियन फर्मों मे भी स्थान दिलाने की प्रार्थना की ताकि आर्थिक दशा में सुधार करके वे अपनी जाति को मजबूत बना सकें। चुनाव के बाद सरकार के दाहिने पक्ष ने कान्फ्रेंस समाप्त करने कांग्रेस से लडने का निश्चय किया। इसलिए जो मुसलमान केन्द्र में उत्तरदायित्व नहीं चाहते थे उन्हें नहीं

प्रसन्नता हुई हमने अपने मन म सोच लिया था कि काग्रेस से युद्ध अनिवार्य है, हमने यह अनुभव किया कि संघर्ष जितना शीघ्र हो उतना ही अच्छा है लेकिन हमने यह भी सोच लिया था कि शानदार विजय के लिए हम सभी सम्भव मित्रों का अपनी ओर कर लेना चाहिए। मुसलमान तो हमारी ओर थे ही, इसके अतिरिक्त अल्प सख्यक सधि तथा गवर्नमेंट की सामान्य रुझान ने यह आश्वासन दे ही दिया था। राजे तथा अल्पसख्यक भी हमारी ओर थे मुसलमान यूरोपियनों के पक्के मित्र बन गये हैं। वे अपनी स्थिति से सन्तुष्ट हैं और हमारे साथ काम करने के लिए प्रस्तुत।'* यदि मुसलमान प्रतिनिधियों का दूसरा दल आमन्त्रित किया गया होता तो ऐसा गॅठबन्धन असम्भव था। इन चालाकियों का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि अल्पसख्यक उपसमिति साम्प्रदायिक समस्या सुलझाने म असफल रही। यह मामला प्रधान मन्त्री के हाथ म छोड़ दिया गया। गवर्नमेंट ने इस समस्या का निराकरण साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award) के रूप म किया। साम्प्रदायिक निर्णय कुछ वर्गों के एकदम अनुकूल था और कुछ के एकदम प्रतिकूल। इसका विस्तृत विवेचन अन्य बातों के सम्बन्ध म होगा।

दिल्ली के पारस्परिक समझौते को हो स्थायी समझौते का रूप देने महात्मा जी इङ्गलैंड गये थे। वे असफल रहे। परिस्थितियाँ उनके मुकाबिले अधिक शक्तिशालिनी सिद्ध हुईं। अपने स्वास्थ्य म सुधार के लिए वे इङ्गलैंड में एक महीने या उससे भी अधिक दिनों तक रुकना चाहते थे। लेकिन भारत में काम करने वाले उनके साथियों ने उन्हें शीघ्र ही बुला लिया क्योंकि यहाँ पारस्थितियाँ विषमतर होती जा रही थीं। अपनी योरप-यात्रा समाप्त कर महात्मा जी शीघ्र ही खाली हाथ भारत लौट आये।

तृतीय अहिंसात्मक प्रतिरोध (Third Struggle)— महात्मा जी ने इगलैंड मे जो कुछ भी देखा और अनुभव किया उससे उन्होंने यह धारणा बना ली कि ब्रिटिश-सरकार तथा काग्रेस के रास्ते भिन्न हैं। जब वे २८ दिसम्बर १६३१ को बम्बई में उतरे तो उन्हें लार्ड विलिंगडन की सरकार द्वारा उपस्थित की हुई एक भद्दी परिस्थिति का सामना करना पड़ा। बगाल, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त म दमन चल रहा था। महात्मा गाँधी से मिलने बम्बई जाते समय खान अब्दुल गफ्फार खाँ, प० जवाहरलाल नेहरू तथा शेरवानी साहब गिरफ्तार कर लिये गये। स्थिति पर विचार करने तथा कठिनाइयों के मध्य एक रास्ता निकालने के ध्येय से महात्मा गाधी ने वाइसराय से मुलाकात करना चाहा लेकिन सरकार ने तो दिल्ली के समझौते को बेकार करने तथा काग्रेस के साथ सुलह न करने की ठान रक्खी था, इस

* 'नॉन-वॉयलेंट नान कोऑपरेशन' म सरदार शार्दूलसिंह कवीश्वर द्वारा उद्धृत, पृष्ठ २४६।

लिए मुलाकात पर अपमानपूर्ण शर्तें लाद दी गयीं। मुलाकात की सुविधा देने से पहिले सरकार ने महात्मा जी को सहयोगियों से सम्पर्क तोड़ देने की आज्ञा दी। यदि महात्माजी इस शर्त को स्वीकार कर भी लेते तब भी, शान्ति स्थापित करने के लिए सरकार ने जिस उपाय से काम लिया था उस पर कोई विचार विनिमय न हो सकता था। सरकार कांग्रेस को एक पाठ पढ़ाने पर तुल गयी थी। ऐसी परिस्थिति में कांग्रेस की वर्किङ्ग कमेटी ने एक लम्बा प्रस्ताव पास किया जिसमें राष्ट्र को सविनय अवज्ञा आन्दोलन तब तक जारी रखने का आदेश दिया गया जब तक उसकी माँगों का सरकार कोई उपयुक्त उत्तर न दे दे। इन माँगों के उत्तर में अनेक आर्डिनेन्स जारी कर दिये गये। ये आर्डिनेन्स उसी समय से बन कर तैयार रक्खे थे जब लंदन में गोल मेज कान्फ्रेंस हो रही थी। महात्मा गाँधी, वर्किङ्ग कमेटी के सदस्य, तथा अन्य लोग गिरफ्तार कर लिए गये और बिना मुकदमा चलाये जेल में बन्द कर दिये गये। सविनय अवज्ञा आन्दोलन से निबटने के लिए लॉर्ड विलिंगडन की सरकार ने नयी चालों का प्रयोग किया। सरकार ने पहिला वार किया और आन्दोलन के प्रारम्भ से ही इसने बड़ा कड़ा रुख धारण कर लिया। कांग्रेस कमेटियाँ प्रत्येक प्रान्त में गैर क़ानूनी घोषित कर दी गयीं और उनके नेता गिरफ्तार कर लिए गये। कांग्रेस-आश्रमों तथा दफ्तरों पर सरकार ने अधिकार जमा लिया और उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। डाकखानों तथा तारघरों का प्रयोग कांग्रेस के लिए रोक दिया गया और प्रेस पर बहुत सख्त कड़ाई कर दी गयी। सरकार का इरादा केवल कांग्रेस-संगठन को तोड़ने तथा आन्दोलन को दबाने का ही न था, वह जनता को भी आतंकित तथा पतित कर देना चाहती थी। इस उद्देश्य से अनेक बस्तियों पर सामूहिक रूप से जुर्माना लाद दिया गया और लोगों को विभिन्न प्रकार की कठिनाइयाँ सहन करने के लिए विवश किया गया। कहा जाता है कि लॉर्ड विलिंगडन ने कांग्रेस को छः सप्ताह के भीतर ही कुचल डालने की गर्वोक्ति की थी। फिर भी, यह आन्दोलन डेढ़ वर्ष तक चलता रहा। भारतीयों को इस बात का श्रेय है कि तमाम ज्यादतियों के बावजूद भी उन्होंने हिंसात्मक उपायों का प्रयोग नहीं किया। समाचार-पत्रों पर प्रतिबन्ध लग जाने के कारण कांग्रेस ने बुलेटिनों तथा रेडियो का सहारा लिया और एक जगह से दूसरी जगह तथा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में खबरें भेजने के लिए स्वयं प्रबन्ध किया। विदेशी कपड़ों तथा ब्रिटिश माल के बहिष्कार पर कांग्रेस ने अधिक जोर दिया और इसमें उसे महत्त्वपूर्ण सफलता मिली। कांग्रेस का अधिवेशन अपने स्वाभाविक रूप में करने की सरकार ने आज्ञा न दी इसलिए १६३२ तथा १६३३ के कांग्रेस-अधिवेशन क्रम से दिल्ली तथा कलकत्ता में हुए। इस तीसरे मोर्चे में लोगों ने जितना कष्ट तथा परेशानियाँ सहन कीं, वे पिछली सभी लड़ाइयों से बढ़ गयीं। अनुमान किया जाता है कि लगभग एक लाख व्यक्तियों ने गिरफ्तारी तथा सजा काटी। लोगों पर व्यक्तिगत रूप से भी बहुत अधिक जुर्माना लाद दिया गया, कभी कभी तो इन जुर्मानों की

सख्या चार या पाँच अंकों में होती। पाशविक तथा आत्मिक शक्तियों के बीच की लड़ाई का विस्तृत वर्णन आवश्यक नहीं है। एक ओर था अत्याचार तथा पाशविकता का व्यग्यात्मक कठोर अट्टहास, दूसरी ओर त्याग और कष्ट-सहन की चरम सीमा।

भारत में जब अहिंसात्मक प्रतिरोध चल ही रहा था, १७ अगस्त १६३२ को ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने साम्प्रदायिक समस्या पर अपने निर्णय की घोषणा की। इस घोषणा की अनेक आपत्तिजनक बातों में एक बात यह भी थी कि इंगलैंड के अधिकारियों को महात्मा जी की चेतावनी के बावजूद भी इसने दलित वर्गों के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था की। महात्मा जी की चेतावनी पर कोई ध्यान न दिया गया। दलित वर्गों को हिन्दू समाज से अलग करने के इस प्रयत्न पर महात्मा जी ने मृत्युपर्यन्त उपवास आरम्भ कर दिया। ब्रिटिश-सरकार निर्णय की शर्तों को तब तक नहीं बदल सकती थी जब तक इससे सम्बन्ध रखने वाली पार्टियों में समझौता न हो जाय। उपवास के परिणामस्वरूप प्रसिद्ध 'पूना पैक्ट' बना जिसमें सम्मिलित निर्वाचन-क्षेत्रों के साथ-साथ दलित वर्गों की सीटें दोहरे चुनाव की व्यवस्था के साथ सुरक्षित कर दी गयीं। समझौते के विस्तार में जाना इस अवसर पर आवश्यक नहीं है। इस बात का यहाँ इसलिए जिक्र कर दिया गया है कि इसी से १६३३ में गाँधी जी को २१ दिन के उपवास की प्रेरणा हुई। अपनी तथा अपने साथियों की शुद्धता और हरिजनों की भलाई के कार्य में सतत सतर्कता तथा जागरूकता के लिए ही गाँधी जी ने यह उपवास किया। उपवास ८ मई को प्रारम्भ हुआ और उसी दिन महात्मा जी बिना शर्त के रिहा कर दिये गये। गाँधी जी ने उस समय के कांग्रेस सभापति को सविनय अवज्ञा आन्दोलन छः सप्ताह तक रोक देने की सलाह दी और सरकार से राजनैतिक बन्दियों को छोड़ देने की प्रार्थना की। आन्दोलन पहले छः सप्ताह के लिए और इसके बाद फिर छः सप्ताह के लिए रोका गया लेकिन सरकार ने राजनैतिक बन्दियों को तब तक न छोड़ने का निश्चय किया जब तक आन्दोलन पूर्ण रूप से स्थगित न कर दिया जाय। आन्दोलन को केवल कुछ दिनों के लिए रोक देने से ही सरकार को सन्तोष न हुआ। २४ जुलाई को गाँधी जी ने उस समय कार्यभार सभालने वाले काँग्रेस सभापति को सामूहिक के स्थान पर व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा प्रारम्भ करने की सलाह दी। उन्होंने स्वय अपना साबरमती आश्रम बन्द कर दिया और खेड़ा जिले के रास नामक गाँव में व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा प्रारम्भ करने का निश्चय किया। उन्होंने अन्य लोगों को भी ऐसा ही करने का आदेश दिया। वे गिरफ्तार कर लिये गये और एक साल के लिए यरवदा जेल में डाल दिये गए। लेकिन २३ अगस्त को वे स्वास्थ्य-सम्बन्धी कारणों से रिहा कर दिये गए। गिरफ्तारी, उपवास, रिहाई, और फिर गिरफ्तारी के इस झमेले को प्रतिष्ठा-विरुद्ध समझकर उन्होंने नैतिक कारणों से राजनैतिक कार्यों से अलग रहना तथा अपनी शक्ति एवं समय को सामाजिक, विशेषतः हरिजन-कार्यों में लगाने का निश्चय किया।

हरिजन सेवा से प्रेरित होकर उन्होंने सारे देश का दौरा किया। बिहार का भयंकर भूकम्प उन्हें उस प्रान्त में खींच ले गया। वहाँ अपने सहयोगियों से उन्होंने खूब विचार-विनिमय किया। इस बातचीत, हृदय मथन तथा ईश्वर के आह्वान के परिणामस्वरूप वे इस नतीजे पर पहुँचे कि सविनय अवज्ञा की सारी जिम्मेदारी उन्हें अपने ऊपर ले लेनी चाहिए। इसलिए उन्होंने राष्ट्र को व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा बन्द करने का आदेश दिया।

इसी बीच कुछ कांग्रेसजन इस विचार के हो रहे थे कि उस समय वर्तमान परिस्थितियों के बीच काउन्सिल-प्रवेश (Council Entry) का कार्यक्रम उपयुक्त पड़ता। शीघ्र ही होने वाला चुनाव लड़ने के लिए पुरानी स्वराज-पार्टी को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया।

तीसरी गोलमेज कान्फ्रेंस— सर सैमुएल होर, उस समय के भारत मन्त्री, गोलमेज कान्फ्रेंस का कोई और अधिवेशन करने के पक्ष में न थे। वे साइमन कमीशन योजना के अनुसार भारतीयों को आमन्त्रित करके उनका मामला ब्रिटिश पार्लियामेंन्ट की एक कमेटी के सामने रखवाना चाहते थे। यही कमेटी भारत का भविष्य निश्चित करती। उदारवादियों को प्रसन्न करने के लिए यह विचार स्थगित कर दिया गया क्योंकि उन्हें यह पसन्द न था। इच्छा न होते हुए भी तीसरा अधिवेशन १७ नवम्बर से २४ दिसम्बर १९३२ तक किया गया। चूँकि काँग्रेस अहिंसात्मक प्रतिरोध में लगी थी इसलिए उसका प्रतिनिधित्व न हुआ। ब्रिटिश मजदूर-दल ने भी इसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया क्योंकि इसके द्वारा नियुक्त सदस्य— मि॰ वेजवुड बेन तथा प्रोफेसर लीज स्मिथ— ब्रिटिश सरकार को इसलिये अस्वीकार थे क्योंकि उसे डर था कि कहीं वे ब्रिटिश प्रतिनिधि मण्डल में फूट न पैदा कर दें। पहिले की भाँति भारत से केवल सरकार के विश्वस्त आदमी बुलाये गये। यहाँ तक कि हिन्दू महासभा द्वारा चुने सदस्यों तथा लिबरल फेडरेशन के प्रेसिडेन्ट को भी आमन्त्रित नहीं किया गया। कान्फ्रेंस ने तीन प्रमुख समस्याओं पर विचार किया। ये समस्याएँ थीं— सरक्षण, तथा वे शर्तें जिनके अनुसार भारतीय रियासत सघ में सम्मिलित होतीं तथा बची शक्तियों (Residuary Power) का बँटवारा (Allocation)। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि-मण्डल ने विधान में एक अधिकार-पत्र (Bill of Rights) भी सम्मिलित करना चाहा लेकिन ब्रिटिश अधिकारियों ने इसे अस्वीकार कर दिया।

अधिवेशन की समाप्ति के बाद ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत पत्र के रूप में अपनी योजनाएँ प्रकाशित कीं। ये योजनाएँ भारतीय माँगों से बहुत कम पड़ीं, यहाँ तक कि नरम दल को भी उनसे सन्तोष न हुआ। जिन अधिकारों की प्राप्ति से एक देश को स्वतन्त्र राष्ट्र कहा जा सकता है वे सभी गवर्नर जनरल

के लिए सुरक्षित रक्खे गये, विदेशी सम्बन्ध तथा रक्षा-विभाग से जन प्रिय मन्त्रियों का कोई सम्बन्ध न रक्खा गया। सरकार की योजनाएँ असंतोषजनक तथा निराशा प्रद तो थीं ही, बिल के रूप में जब वे सयुक्त पार्लियामेंटरी कमेटी तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट के सामने रक्खी गयीं तो इन सभाओं ने उनमें और भी कमी कर दी। यह सब पार्लियामेंट के अनुदार (Die Hard) दल को प्रसन्न करने के लिए ही किया गया था। १६२८ म साइमन कमीशन की स्थापना से लेकर पार्लियामेंट में बिल पर वाद-विवाद होने तक चलने वाले इस लम्बे मामले का अन्त हुआ १६३५ के गवनमट ऑफ इण्डिया ऐक्ट के रूप म। इस ऐक्ट का विस्तृत विवेचन इस पुस्तक के दूसरे भाग में है।

अप्रैल १६३४ मे व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा की बन्दी से १६४० तक का समय जब कि देश को महायुद्ध म खींचने के कारण कांग्रेस ने इस्तीफे दिये, एक दृष्टिकोण से बड़ा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी अवधि मे कांग्रेस की नीति म आमूल परिवर्तन हुआ। वह यह था कि १६३७ म उद्घाटित नये विधान के अन्तर्गत उसने पद स्वीकार कर लिया। लेकिन कांग्रेस कार्यों के विकास की इस नयी मंज़िल का वर्णन करने से पहिले पुनर्जीवित स्वराज-पार्टी के जीवन की ओर संक्षिप्त संकेत करना उपयुक्त जँचता है। यह ध्यान म रखना चाहिए कि १६३३ के अप्रैल के अन्त म होने वाले केन्द्रीय विधान-सभा के चुनाव में भाग लेने के लिए गांधी जी ने कांग्रेसियों के एक दल को अपनी शुभेच्छाएँ दी थीं। कांग्रेस ने लगभग सभी साधारण सीटों के चुनाव म भाग लिया और उसे अद्वितीय सफलता मिली। पंजाब को छोड़ कर उसने लगभग सभी प्रान्तों के चुनाव मे विजय प्राप्त की। दक्षिण भारत मे वाणिज्य की सीट के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतियोगता रही। सर षणमुखम चेट्टी, जो ओटावा से लौटने के बाद केन्द्रीय विधान सभा के सभापति चुने गये थे, तथा श्रीयुत वेंकटचालम चेट्टी— इन दो उम्मीदवारों के बीच प्रतियोगिता थी। सर षणमुखम चेट्टी के पक्ष में भारत तथा मद्रास की सरकारें थीं, मद्रास-सरकार के भूतपूर्व गृहमन्त्री सर मोहम्मद ओसमान तथा प्रधान मन्त्री के रूप म बोबिली के राजा— यही दो व्यक्ति उनके चुनाव-घोषणापत्र के प्रथम समर्थकों में से थे। श्री वेंकटचालम चेट्टी के पक्ष में कांग्रेस थी। यह प्रतियोगिता कांग्रेस तथा सरकार यानी ब्रिटेन तथा भारत के बीच थी। निर्वाचन-क्षेत्र था तो छोटा ही लेकिन उसमें पढ़े लिखे समझदार लोग अधिक थे। यह चुनाव देश म और जगहों के चुनावों से पहले रक्खा गया। आशा यह थी कि इसका अन्य चुनावों पर भी प्रभाव पड़ेगा। अनेक दृष्टियों से यह एक परीक्षात्मक प्रतियोगिता थी। जिस इण्डियन नेशनल कांग्रेस को लॉर्ड विलिंग्डन ने अपने दमन कार्यों द्वारा सदैव के लिए समाप्त कर देने की आशा की थी, वह सजीव और शक्तिशालिनी निकली, इसके उम्मीदवार ने सरकारी उम्मीदवार को वोटों की काफी अच्छी संख्या से हराया।

व्यवस्थापिका सभा में भी कांग्रेस का काम काफी अच्छा रहा। असेम्बली के अन्य प्रगतिशील तत्वों की सहायता से इसने सरकार को कई बार हराया।

१६३७ का चुनाव और उसके बाद— नये विधान के अन्तर्गत प्रान्तीय विधान-सभाओं के चुनाव में भी खूब जमकर भाग लेने का कांग्रेस ने निश्चय किया। देश की गतिविधि को भली प्रकार जानने वाले नेताओं का यह विश्वास था कि चुनाव में जीत कांग्रेस की ही होगी गो नौकरशाही को इस पर विश्वास न था। उस वर्ष के कांग्रेस-राष्ट्रपति पंडित जवाहरलाल नेहरू ने देश का तूफानी दौरा किया और शहरों, गाँवों, खुले मैदान में तथा सड़कों के किनारे अगणित सभाओं में भाषण किये। लोगों में जोश तथा उत्साह की कमी न थी। स्वराज का सन्देश देश के कोने कोने में पहुँचाया गया। विधान-सभाओं के चुनाव में इससे पहिले इतनी दिलचस्पी कभी भी न दिखायी दी थी। सारे भारत में कांग्रेस को जो अभूतपूर्व सफलता मिली उससे उसके विरोधियों विशेषतः ब्रिटिश सरकार के आक्षेप झूठे सिद्ध हुए। ब्रिटिश भारत के ग्यारह प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत निकला। दो प्रान्तों में कांग्रेस पार्टी सबसे बड़ी अवश्य रही किन्तु उसका पूर्ण बहुमत नहीं था। केवल बंगाल तथा पंजाब में कांग्रेस कमजोर रही। यह ध्यान में रखना चाहिए कि कांग्रेस का उद्देश्य नये विधान को अमल में लाना नहीं अपितु दूसरों को इसे उस ढङ्ग से कार्य-रूप में परिणत करने से रोकना था जिस ढङ्ग से ब्रिटिश सरकार चाहती थी। कांग्रेस का उद्देश्य था विधान की कमर तोड़ देना।

निर्वाचन की लड़ाई तथा जीत के बाद विधान को तोड़ने के ढङ्ग पर बड़ा वाद-विवाद हुआ। कुछ लोग पद स्वीकार करके सरकार के भीतर घुसकर लड़ाई के पक्ष में थे और कुछ लोग कांग्रेस को पद-स्वीकृति की सलाह न देकर उसे बाहर ही रखना चाहते थे ताकि वह दूसरों को विधान चलाने से रोक सके। महात्मा गांधी ने इस झगड़े में बीच-बचाव किया और कांग्रेस को पद स्वीकृति की सलाह दी बशर्ते के दिन-प्रति दिन के शासन में गवर्नर अपनी विशेष शक्तियों (Special powers) का प्रयोग न करें। प्रारम्भ में तो यह आश्वासन नहीं दिया गया लेकिन कई महीने की प्रतीक्षा के बाद गवर्नर जनरल ने एक घोषणा की जिसमें कांग्रेस की माँगें अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार की गयीं। ग्यारह में आठ प्रान्तों में कांग्रेस ने जुलाई १६३७ में मन्त्रिमण्डल बना लिये। सिन्ध के मन्त्रिमण्डल-निर्माण में भी कांग्रेस का हाथ रहा। इच्छा होने पर वह बंगाल में भी महत्त्वपूर्ण भाग ले सकती थी। केवल पंजाब में कांग्रेस की उपेक्षा अवश्य हुई। शासन चलाना कांग्रेस के लिए एक नया अनुभव था फिर भी इसने यह कार्य अच्छी प्रकार निभाया। इसने जनता को आत्म-सम्मान तथा आत्म विश्वास की एक नयी भावना दी। जब मुस्लिम लीग ने यह शिकायत की कि दो वर्षों के कांग्रेसी शासन में अल्पसंख्यकों पर बड़ी ज्यादतियाँ की गयी थीं तो उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रान्तीय गवर्नरों ने कांग्रेसी मन्त्रियों के काम करने के शानदार और कुशल तरीके की

बड़ी प्रशंसा की। लेकिन यूरोप में द्वितीय महायुद्ध की घोषणा के साथ-साथ भारतीय नेतृत्व में चलने वाला यह प्रगतिशील शासन १६३६ के अन्त में एकाएक समाप्त हो गया। लड़ाई में सहयोग के प्रश्न को लेकर कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफा दे दिया। इन मन्त्रिमण्डलों के इस्तीफा देने के कारणों तथा परिणाम का विवेचन विस्तृत रूप से होना चाहिये।

यूरोपीय महायुद्ध और उसके बाद— महायुद्ध का धक्का जैसे ही इङ्गलैंड पहुँचा, चैम्बरलेन की सरकार ने भारत के साथ वैसा ही बर्ताव किया जैसा ब्रिटिश-सरकार ने उसके साथ अतीत में अनेक बार किया था। अगस्त में भारतीय फौजें ईजिप्ट, अदन तथा सिंगापुर भेज दी गयीं। चीजों को गुप्त रखने की आवश्यकता थी इसलिए वोट, वाद विवाद तथा भारतीय जनता के किसी भी प्रतिनिधि की राय लिये बिना अधिकारियों ने अपने इच्छानुसार कार्य किया। सरकार ने भारतीय सिपाहियों को संसार में उसी प्रकार घुमाया जिस प्रकार शतरंज के खेल में प्यादों को इधर उधर घुमाया जाता है हालाँकि इस लड़ाई से भारतीयों का कोई विशेष सम्बन्ध न था। उसी प्रकार विधान सभाओं की सलाह लिये बिना ही वाइसराय ने भारत को मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में घोषित कर दिया। इण्डियन नेशनल कांग्रेस के रूप में राष्ट्रीय भारत ने उसकी राय के बिना कार्य करने के इस ढंग का बड़ा विरोध किया क्योंकि यह चीज उसके आत्म-गौरव के विरुद्ध पड़ती थी। कांग्रेस ने यह घोषित कर दिया कि लड़ाई या शान्ति के मामले में कोई भी विदेशी सत्ता अपना निर्णय भारत पर नहीं लाद सकती। मानवता के भविष्य के लिए सम्राट ने भारत को महायुद्ध में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया। नात्सीवाद तथा फासिस्ट-वाद का विरोध करते हुए भी भारतीय राष्ट्र ने इस निमन्त्रण का बहुत संकोच के साथ और कटु उत्तर दिया। देश ने ऐसे ही एक निमन्त्रण का १६१४ में जो उत्तर दिया था वह बड़ा ही सहानुभूति एवं सौहार्दपूर्ण था। लॉर्ड रीडिंग तथा लॉर्ड विलिंगडन ने राष्ट्रीय आन्दोलन को जिस ढंग से कुचलने का प्रयत्न किया था तथा इंगलैंड की सरकार ने भारतीय समस्या को गोलमेज़ कान्फ्रेंस से पहिले तथा बाद में जिस रूप से सुलझाने का प्रयास किया था, उसका परिणाम अब स्पष्ट हुआ। भारत के परतन्त्र होते हुए नेशनल कांग्रेस दूसरों की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने के लिए प्रस्तुत न थी। लेकिन देश के राजनैतिक नेताओं ने ग्रेट ब्रिटेन की मुसीबत से नीचतापूर्ण लाभ न उठाने तथा लड़ाई के प्रयत्नों का विरोध करके देश में इतनी जल्दी राजनैतिक उथल-पुथल न मचाने का निश्चय किया। कांग्रेस ने अपने सदस्यों को केन्द्रीय विधान सभा से हटा लिया। बाद में इसने ब्रिटिश सरकार से युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा करने के लिए कहा और उसे उसके प्रयत्नों में पूरे सहयोग का आश्वासन भी दिया यदि लड़ाई का उद्देश्य लोकतन्त्र तथा लोकतन्त्र पर आधारित व्यवस्था की रक्षा करना हो। लेकिन यदि युद्ध साम्राज्यवादी उद्देश्यों से प्रेरित हो तो इसने इससे

अपने हर प्रकार के सम्बन्ध-विच्छेद की घोषणा कर दी। भारत ही सारी समस्याओं का केन्द्र बना दिया गया। यदि ग्रेट ब्रिटेन जर्मनी के साथ लोकतन्त्र के सिद्धान्तों की रक्षा के लिए लड़ रहा था तो उसे भारत में पूर्ण लोकतन्त्र की स्थापना के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिये था। इसका यह अर्थ नहीं कि कांग्रेस भारत के लिये युद्ध के दौरान में ही एक नये विधान की माग कर रही थी, हालाँकि यह चीज कोई अव्यावहारिक न समझी जाती। कांग्रेस की वास्तविक इच्छा यह थी कि एक संविधान परिषद् की सहायता से अपना विधान स्वयं बनाने के भारतीय जनता के अधिकार को सरकार स्वीकार करे। लेकिन इसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि सरकार की केवल प्रतिज्ञाओं से ही भारत सन्तुष्ट नहीं होगा, इसकी माँग थी कि अपने वादों की सत्यता प्रमाणित करने के लिए सरकार निकट भविष्य में ही कोई महत्त्वपूर्ण कदम उठाये। भारतीय लोगों को अपनी प्रतिज्ञाओं की सत्यता का विश्वास दिलाने के लिए सरकार एक काम यह कर सकती थी कि वह केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कर देती। १६३६ के सितम्बर के मध्य में काँग्रेस की वर्किङ्ग कमेटी ने अपने लम्बे, स्पष्ट तथा गौरवपूर्ण प्रस्ताव में इन माँगों को स्पष्ट किया।

ब्रिटिश-सरकार युद्ध-सम्बन्धी अपने उद्देश्यों की स्पष्ट घोषणा से बचना चाहती थी। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री ने एक बार यह घोषणा की कि युद्ध-सम्बन्धी उनका फिलहाल उद्देश्य था अपनी रक्षा। मंत्रिमण्डल के दूसरे मन्त्री ने कहा कि ब्रिटेन का उद्देश्य लड़ाई जीतना था। मि० विन्स्टन चर्चिल ने अपने एक बाद के वक्तव्य में इस बात पर जोर दिया कि अतलान्तक घोषणा भारत पर लागू न होगी और साथ ही साथ यह भी स्पष्ट कर दिया कि वे सम्राट् के प्रधान मन्त्री इसलिए नहीं बने थे कि साम्राज्य का खात्मा कर डालें। इन बातों से यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश सरकार भारत को वह स्वतन्त्रता देने के लिए प्रस्तुत नहीं थी जो उसका जन्मसिद्ध अधिकार था तथा जिसकी प्राप्ति के लिए उसने सैंकड़ों सपूतों ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी तथा हजारों पुत्रों एवं पुत्रियों ने हर प्रकार के कष्टों तथा दुःखों का सामना किया था। वाइसराय महोदय ने एक पूर्वगामी वायसराय की घोषणा उद्धृत की जिसमें यह कहा गया था कि 'भारतीय प्रगति का मुख्य उद्देश्य था औपनिवेशिक पद की प्राप्ति।' कांग्रेस की इस माग पर कि अपने लोकतन्त्र प्रेम को ब्रिटेन सक्रिय रूप में प्रमाणित करे वायसराय ने एक मन्त्रणा-मण्डल जिससे वह समय समय पर लड़ाई के सम्बन्ध में बात कर लेते, बनाने की प्रतिज्ञा की। १६३६ में १७ अक्तूबर को प्रकाशित एक श्वेत-पत्र में सरकार ने अपनी भारत-सम्बन्धी नीति स्पष्ट की। कांग्रेस को इससे सतोष न मिल सका। यह स्पष्ट हो गया कि युद्ध का उद्देश्य लोकतन्त्र की रक्षा करना बिल्कुल नहीं था और ब्रिटिश सरकार भारतीयों को शासन का अधिकार देने के लिए प्रस्तुत नहीं थी। ऐसी परिस्थितियों में कांग्रेस को अपने मन्त्रिमण्डलों से इस्तीफा देने के

लिए कहना आवश्यक हो गया। अपनी मांगों तथा अधिकारों की कुछ चिन्ता न करके ही वह सरकार का साथ दे सकती थी। वह उदासीन भी नहीं रह सकती थी क्योंकि इसका अर्थ होता सरकार की उसके युद्ध-प्रयत्नों में सहायता। इसलिए कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने अक्तूबर १६३६ म इस्तीफा दे दिया। इस बार गवर्नरों ने अल्पसंख्यकों की सहायता से सरकार बनाने का प्रयत्न नहीं किया, और ऐक्ट की धारा ६३ के अनुसार विधान को स्थगित कर दिया और हाईकोर्ट के अधिकार को छोड़ कर सारे अधिकार स्वय ले लिये। कुछ समय बाद दो या तीन प्रान्तों मे से विधान को स्थगित करने की घोषणा उठा ली गयी और कम से कम दिखाने के लिए, विधान फिर से लागू हो गया। बाकी प्रान्तों मे सलाहकारों की सहायता से गवर्नरों ने शासन स्वय चलाया

कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों के इस्तीफे के बाद लगभग एक वर्ष व्यतीत हो गया लेकिन कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन न हुआ। वर्ष के लगभग बीच म एक महत्त्वपूर्ण घटना अवश्य हुई। नार्वे, हालैंड, बेल्जियम तथा फ्रांस के पतन से प्रभावित होकर पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस की वर्किङ्ग कमेटी को एक प्रस्ताव पास करने के लिए प्रेरित किया जिसके अनुसार ब्रिटेन को युद्धकालीन सहायता की घोषणा की गयी। सहयोग की शर्त यह थी कि भारत-सरकार को भारतवासियों के समक्ष उत्तरदायी बना दिया जाय दूसरे शब्दों में कांग्रेस ने यह माँग की कि भारत सरकार १६१६ के ऐक्ट के अनुसार बने केन्द्रीय विधान मडल (इसके सरकारी तथा नामजद सदस्यों को छोड़ कर) के प्रति कानून मे नहीं तो व्यवहार मे उत्तरदायी हो। यह स्मरण रहे कि पूना-अधिवेशन मे पास किया यह प्रस्ताव कांग्रेस की शान्ति तथा उसके अहिंसात्मक सिद्धान्तों के विरुद्ध पड़ता था फिर भी उसने सरकार के प्रति रियायत की और प्रस्ताव का पास किया। ब्रिटेन का पक्ष करने वाले 'स्टेट्समैन' जैसे समाचार-पत्र ने भी इस प्रस्ताव में कोई अव्यावहारिक तथा खतरनाक चीज न देखी और उसने यह विचार प्रकट किये कि 'इस प्रस्ताव की अस्वीकृति से विनाशकारी राजनीतिज्ञता का परिचय मिलेगा जो समय के अनुकूल नहीं है।' सरकार ने कांग्रेस की इस उदारता का उत्तर अगस्त योजना के रूप में दिया। इस योजना ने वाइसराय को अपनी कार्यपालिका मे कुछ भारतीयों को आमन्त्रित करने, तथा एक युद्ध सलाहकार समिति (War Advisory Council), जिसमे भारतीय राज्यों तथा राष्ट्रीय जीवन के अन्य हितों के भी प्रतिनिधि रहते, नियुक्त करने का अधिकार दिया। इस योजना ने औपनिवेशिक-पद प्रदान करने की प्रतिज्ञा भी दुहरायी और साथ ही साथ इस बात पर भी जोर दिया कि 'सम्राट् की सरकार की यह उत्कट इच्छा है कि युद्ध के पश्चात् राष्ट्रीय जीवन के प्रधान तत्वों के प्रतिनिधियों की एक समिति बना ली जाय जिसका कार्य होगा नये विधान की रूपरेखा का निर्माण। इसके अतिरिक्त, अपनी शक्ति के अनुसार सरकार सभी उपयुक्त मामलों के निर्णय में भी शीघ्रता करेगी।' योजना का प्रथम भाग, जिसमे भारतीयों के कार्य-

पालिका में सम्मिलित करने की बात कही गयी थी, कांग्रेस को कुछ सीमा तक लाभप्रद अवश्य था, लेकिन यह शक्ति (Power) की उस वास्तविक प्राप्ति से बहुत हलकी चीज थी जिसकी कांग्रेस बराबर माँग करती चली आ रही थी। उसके दूसरे भाग का अर्थ या तो विधान परिषद् की स्थापना होता या एक दूसरा गोलमेज सम्मेलन। पहले अर्थ से कांग्रेस को संतोष हो सकता था, दूसरे से कदाचित् नहीं। लेकिन कांग्रेस ने अगस्त-योजना को इसलिए अस्वीकृत नहीं किया कि वह समय की माँग के प्रतिकूल थी बल्कि इसका कारण निम्नलिखित शब्दों में छिपा कटु व्यंग्य था

'यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत की सुख शान्ति के लिए वह (ब्रिटिश सरकार) अपने उत्तरदायित्वों को किसी ऐसी सरकार के हाथ में नहीं देना चाहती जिसे भारत के राष्ट्रीय जीवन के बड़े तथा शक्तिशाली तत्व स्वीकार न करते हों। और वह किसी तत्व को ऐसी सरकार की सत्ता मानने के लिए विवश भी करने के लिए प्रस्तुत नहीं है।'

सीधी तथा सरल भाषा में इन वाक्यों का अर्थ यह है कि मुसलमान तथा दलित वर्ग जैसे अल्पसंख्यकों को वीटो पावर (Vetoing power) दे दिया गया। द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर इन अल्पसंख्यकों तथा ग्रेट ब्रिटेन के कट्टर मतवालों (die hards) के बीच गँठ-बन्धन की याद आने पर इस सद्भाव का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। सरकार की इस घोषणा ने ग्रेट ब्रिटेन के राजाओं के प्रति उत्तरदायित्व का भी जिक्र किया। १९४० में १८ से २३ अगस्त तक होने वाली वर्किङ्ग कमेटी की वर्धा मीटिंग में अगस्त योजना पर विचार किया गया और वह अस्वीकार कर दी गयी क्योंकि इसके तत्वों तथा ब्रिटिश सरकार की ओर से किये गये भाषणों से यह स्पष्ट हो जाता था कि ब्रिटिश सरकार भारत के चुने हुए प्रतिनिधियों को राजसत्ता देने के पक्ष में न थी। कमेटी ने इस बात पर अफसोस प्रकट किया कि भारत की संविधानिक प्रगति में अल्पसंख्यकों का प्रश्न एक अत्यंत कठिन समस्या बना दिया गया। यह समस्या एक ऐसा अजगर थी जो शेष सभी राजनैतिक समस्याओं को हड़प जाती।

इस अगस्त योजना के प्रति प्रतिक्रिया के फलस्वरूप महात्मा जी को सविनय अवज्ञा प्रारम्भ करने का अधिकार दिया गया। धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध जीवन मरण की इस लड़ाई में गांधी जी ने ब्रिटेन को द्वेष वश परेशान न करना चाहा और साथ ही उन्होंने संसार के सामने यह घोषित भी कर दिया कि भारत स्वेच्छा से ब्रिटेन की सहायता नहीं कर रहा है बल्कि वह अपने लिए स्वतन्त्रता का इच्छुक है। उन्होंने सविनय अवज्ञा को अपने द्वारा चुने हुए कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित रक्खा। उनकी आज्ञा के अनुसार कांग्रेस के सभी प्रान्तीय तथा स्थानीय नेताओं, विधान मंडल के सदस्यों, प्रान्तीय, जिले तथा शहर की कांग्रेस कमेटियों के सभापतियों तथा सदस्यों ने

लड़ाई के विरुद्ध भाषण करने की सूचना देकर जेल जाना प्रारम्भ कर दिया। स्वतन्त्र भाषण के अधिकार का उपयोग करने के कारण १२००० व्यक्ति उस लड़ाई के बीच जेल भेज दिये गये जो स्वतन्त्रता के लिए लड़ी कही जा रही थी। महात्मा जी ने सामूहिक सविनय अवज्ञा प्रारम्भ नहीं की क्योंकि वे मुसीबत के समय सरकार के ऊपर कोई कड़ा प्रहार न करना चाहते थे।

जब यह महत्त्वपूर्ण सविनय अवज्ञा आंदोलन चल ही रहा था, तो वाइसराय ने अपनी कार्यपालिका समिति विस्तृत कर दी और एक युद्ध-सलाहकार मंडल (War Advisory Board) की भी स्थापना की। भारतीय सदस्यों ने, जिनका अब कार्यपालिका में बहुमत था (यह ध्यान में रखना चाहिए कि उनके हाथ में कोई महत्त्वपूर्ण विभाग न था) सविनय-अवज्ञा कैदियों को १९४१ के दिसम्बर में ही छुड़ा लिया। कांग्रेस ने कुछ शर्तों के साथ भारत की रक्षा में भी भाग लेना चाहा। इस प्रकार उसने अन्य समझौतों के लिए भी रास्ता खुला रक्खा। लेकिन सरकार अपनी अगस्त-योजना के आगे न बढ़ी इसलिए उसके तथा कांग्रेस के बीच खाईं बनी ही रही।

क्रिप्स मिशन और उसके बाद— सिंगापुर, मलाया तथा रंगून का जापानियों द्वारा पतन और बर्मा की निश्चित पराजय ने सम्राट की सरकार को इस बात की आवश्यकता स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया कि वह भारत को सन्तुष्ट करे जिससे भारतीय जीवन की सभी शक्तियों का उपयोग जापानी खतरे के विरुद्ध हो। इसलिए उसने इस देश में सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भेजा क्योंकि कांग्रेस में उनके अनेक मित्र थे। सर स्टैफर्ड क्रिप्स मित्रता का एक सन्देश तथा भारत की संविधानिक समस्याओं का अपनी सरकार द्वारा प्रस्तुत हल लेकर आये। उनके द्वारा सामने रक्खी गयी योजनाओं के दो प्रमुख भाग थे पहला भाग भविष्य से सम्बन्धित था और दूसरा वर्तमान से। भविष्य से सम्बन्ध रखने वाली योजनाएँ काफी लम्बी तथा स्पष्ट थीं। अतीत में सरकार ने भारत को जो कुछ भी दिया था उससे इनका रूप काफी आगे बढ़ा-चढ़ा था। इन योजनाओं में वास्तव में यह सब कुछ निहित था जिसकी कांग्रेस पिछले अनेक वर्षों से माँग करती चली आ रही थी। लेकिन कांग्रेस को संन्निकट वर्तमान में अधिक दिलचस्पी थी इसलिए उसने सर स्टैफर्ड क्रिप्स के साथ उसी के सम्बन्ध में समझौता प्रारम्भ किया। योजना का यह भाग गोलमटोल था और वह कांग्रेस की माँगों के तनिक भी अनुकूल न था। योजना के पहले भाग की अनुपयुक्तता के कारण ही कांग्रेस ने सारी स्टैफर्ड स्कीम अस्वीकृत कर दी। अभाग्यवश ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने योजनाओं को अपरिवर्तनशील बना दिया था और उसने यह कहा कि भारत उन्हें या तो पूरा स्वीकार करे या पूरा अस्वीकार। कुछ छोटी बातों को छोड़कर योजना में और कोई सुधार नहीं किया जा सकता था।

क्रिप्स द्वारा लायी गयी योजनाओं के अनुसार भारत पर खतरे के निवारण के तुरन्त बाद सम्राट् की सरकार भारत में एक निर्वाचित-समिति की स्थापना कर देती जो देश के लिए एक संविधान का निर्माण करती। इस प्रकार संविधान-परिषद् की स्थापना की कांग्रेसी माँग पहली बार स्वीकृत हुई, हालाँकि जिस ढंग से यह परिषद् बनायी जाती वह इतनी अच्छी नहीं थी जितनी कांग्रेस चाहती थी। दूसरी ओर, सरकारी घोषणा ने यह स्पष्ट कर दिया था कि विधान-परिषद् द्वारा निर्मित नये संविधान का आधार औपनिवेशिक तथा संघीय होता। इस प्रकार नवीन भारतीय संघ सम्राट् के प्रति भक्ति के द्वारा ब्रिटेन तथा अन्य उपनिवेशों के साथ रहता, लेकिन वह हर प्रकार से उनके बराबर रहता और बाहरी या भीतरी किसी भी विषय में उनमें से किसी के भी अधीन न होता। इसमें स्वतन्त्रता के तत्व अवश्य थे जिससे महात्मा गाँधी को संतोष मिल सकता था। यह सत्य है कि घोषणा में 'स्वतन्त्रता' शब्द कहीं नहीं आया है लेकिन इसकी वास्तविकता उसमें निहित है क्योंकि उपनिवेशों को साम्राज्य से अलग हट जाने का किसी भी समय अधिकार है। १९३५ के ऐक्ट की तुलना में नये संविधान के अनुसार गवर्नर-जनरल की विशेष शक्तियाँ तथा उनके रिजर्व विभाग न रहते। तीसरे, सम्राट् की सरकार ने यह स्वीकार कर लिया था कि उसके तथा संविधान-परिषद् के बीच समझौते के अनुसार ही नये भारतीय संघ का निर्माण होता और इसी समझौते में वे सभी आवश्यक बातें आ जातीं जो उत्तरदायित्व के अंग्रेजी हाथों से भारतीय हाथों में आने पर उत्पन्न होतीं।

क्रिप्स-योजना में कुछ महत्त्वपूर्ण लाभ थे जिन्हें किसी भी जिम्मेदार संस्था द्वारा ठुकराये जाने की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए काँग्रेस द्वारा उसकी अस्वीकृति के कुछ विशेष कारण होने चाहिएँ जिन्हें जान लेना आवश्यक है। सबसे पहले, काँग्रेस इस सुझाव को नहीं मान सकती थी कि संविधान-परिषद् में राज्य स्वयं अपने प्रतिनिधि नियुक्त करें। इन प्रतिनिधियों के राज्यों की प्रजा द्वारा चुनाव का कोई विधान न था। इसका अर्थ यह था कि संविधान-परिषद् की एक तिहाई संख्या एक ऐसी अड़चन बन जाती जो नये विधान को ब्रिटिश-हितों के अनुसार बनाने का प्रयत्न करती। सम्राट् की सरकार से अन्य आवश्यक मामलों के सम्बन्ध में समझौता करते समय अंग्रेजों का पिट्ठू यह प्रतिनिधि मण्डल राष्ट्रीय हितों के अवश्य विरुद्ध चला जाता। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि संविधान-परिषद् में राज्य-प्रतिनिधियों की नियुक्ति का अधिकार राजाओं के हाथ में दे देना इस योजना का एक बहुत बड़ा दोष है। दूसरे, प्रान्तों को भारतीय संघ से अलग रहने का अधिकार देने पर नये विधान की सफलता की आशा बहुत कम हो जाती। पाकिस्तान की माँग को पहले से ही स्वीकार कर लेना तो और भी भद्दा होता, इससे आगे चलकर साम्प्रदायिक समस्या का हल और भी कठिन हो जाता। लेकिन इससे काँग्रेस के दृष्टिकोण पर कोई विशेष प्रभाव न

पड़ा, योजना ने अलगाव के विचार को जो प्रश्रय दिया, काँग्रेस को उस पर अफसोस था। फिर भी, काँग्रेस ने अपने इस निश्चय का स्पष्टीकरण कर दिया था कि किसी भी प्रादेशिक क्षेत्र के लोगों को वह उनकी घोषित इच्छा के विरुद्ध भारतीय संघ में रहने के लिए विवश नहीं करेगी।

ऊपर बताये हुए कारण तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, लेकिन इनकी वजह से काँग्रेस ने क्रिप्स योजना को अस्वीकृत नहीं किया। यदि वर्किङ्ग कमेटी तथा सर स्टैफर्ड क्रिप्स में सन्तोषप्रद समझौता हो गया होता तो उसने उनकी योजना को स्वीकार कर लिया होता और सर पर लटके जापानी खतरे को दूर करने के लिए उसने ब्रिटिश-सरकार के साथ पूरा सहयोग किया होता। क्रिप्स-योजना में निम्नलिखित शब्द भी सम्मिलित थे : 'भारत के सामने जो विषम परिस्थिति आ पड़ी है उसके निवारण के लिए तथा जब तक नये संविधान का निर्माण नहीं हो जाता तब तक भारत की रक्षा तथा उसके युद्ध-सम्बन्धी प्रयत्नों पर सम्राट् की सरकार का ही नियन्त्रण रहेगा।' विश्वयुद्ध की घोषणा के तुरन्त बाद काँग्रेस ने जो प्रस्ताव पास किया था उसमें उसने यह निश्चित किया था कि ब्रिटिश घोषणाओं की उपयुक्तता का सबसे बड़ा मापदण्ड उनका वर्तमान पर लागू होना है। इस मापदण्ड के अनुसार ब्रिटिश योजना एकदम अनुपयुक्त तथा स्वीकृति के अयोग्य थी। काँग्रेस की स्थिति उसके निम्नलिखित प्रस्ताव में स्पष्ट तथा प्रभावशाली शब्दों के साथ समझायी गयी है :

'भारत के भविष्य के सम्बन्ध में किसी भी योजना की अच्छी प्रकार छान बीन होनी चाहिए, लेकिन आज की विषम परिस्थितियों में वर्तमान पर ही जोर देना चाहिए और भविष्य सम्बन्धी योजनाओं की उपयुक्तता भी वर्तमान को दृष्टि में रख कर जाँचनी चाहिए। इसी लिए वर्किङ्ग कमेटी ने प्रश्न के इस पहलू पर सबसे अधिक जोर दिया है और इसी पर दृष्टि रख कर ही वह उन लोगों को कोई सलाह दे सकती है जो उसकी ओर पथ प्रदर्शन के लिए देखते हैं। इस दृष्टि से ब्रिटिश-युद्ध मन्त्रिमंडल की योजनाएँ गोलमटोल तथा एकदम अपूर्ण हैं और उनमें भारत के वर्तमान शासन की रूप रेखा में किसी भी परिवर्तन की कल्पना नहीं है। ब्रिटिश-सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत की रक्षा प्रत्येक दशा में ब्रिटिश-नियन्त्रण के अन्दर रहेगी। देश की रक्षा तो किसी भी समय एक महत्त्वपूर्ण चीज है; युद्ध-काल में तो इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है और शासन तथा जीवन का प्रत्येक क्षेत्र इसके प्रभाव में आ जाता है। आज की स्थिति में रक्षा को उत्तरदायित्व के क्षेत्र से हटा लेना उस उत्तरदायित्व को एकदम निरर्थक कर देना है तथा यह स्पष्ट कर देना है कि भारत किसी भी प्रकार स्वतन्त्र होने नहीं जा रहा है और न युद्ध काल में उसकी सरकार के स्वतन्त्र रूप में कार्य करने की ही आशा है।

'कमेटी इस बात को फिर से दुहराना चाहेगी कि उत्तरदायित्व का भार ग्रहण करने से पहिले भारतीयों को इस बात का ज्ञान हो जाना चाहिए कि वे स्वतन्त्र हैं और अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखने तथा उसकी रक्षा करने का उन्हें पूरा अधिकार है। जिस चीज की सबसे अधिक आवश्यकता है, वह है जनता का उत्साहपूर्ण सहयोग जो उनमें बिना पूर्ण विश्वास तथा उन पर रक्षा का पूरा उत्तरदायित्व डाले प्राप्त नहीं हो सकता। केवल इसी प्रकार आज की विषम घडी में भी भारत के लोगों को समय की माँग का उत्तर देने के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि अपनी प्रान्तीय शाखाओं के साथ भारत की वर्तमान सरकार भारत की रक्षा करने मे एकदम अयोग्य है। अपने जनप्रिय प्रतिनिधियों के द्वारा भारत की जनता ही रक्षा का पूरा भार ले सकती है। लेकिन यह तभी हो सकता है जब उन्हें पूरी स्वतन्त्रता हो और उन्हें उत्तरदायित्व का पूरा भार सौंप दिया जाय। इन कारणों से ब्रिटिश युद्ध-समिति की योजनाओं को स्वीकार करने में कमेटी असमर्थ है।'

कांग्रेस का ऐसा रुख धारण करना न्यायपूर्ण ही था। यदि भारत स्वतन्त्र होता तो उस स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए कांग्रेस भारतवासियों से रक्त बहाने की माँग उत्साहपूर्ण उत्तर की आशा के साथ कर सकती थी लेकिन दूसरों की स्वतन्त्रता के लिए प्राण गँवाने की माँग पर कोई ध्यान कैसे देता? दूसरों की स्वतन्त्रता के लिए केवल किराये के टट्टू ही लड़ाई लड़ सकते हैं। लोक-युद्ध में भाग लेने के लिए तो केवल स्वतन्त्र देश के नागरिक ही प्रेरित किये जा सकते हैं। ब्रिटिश सरकार ने इस मनोवैज्ञानिक सत्य को सम्भवतः समझने की चेष्टा ही नहीं की।

दिल्ली-वार्ता इस प्रकार असफल रही। असफलता का कारण रक्षा का प्रश्न या कोई साम्प्रदायिक प्रश्न नहीं था जैसा कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने बाद में घोषित किया। कांग्रेस ने रक्षा पर अधिकार की माँग इस तर्क पर की थी कि केवल जनता के सहयोग से ही कोई लड़ाई लड़ी और जीती जा सकती है। फिर भी, ब्रिटिश सरकार ने लोगों पर विश्वास न किया, घोर आवश्यकता के समय भी इसने उन लोगों को हथियारबन्द करना स्वीकृत नहीं किया जिनको इसने अनेक पीढ़ियों से हथियार-हीन कर रखा था। इसलिए यह तथ्य स्पष्ट रूप से सामने रक्खा जा सकता है कि कांग्रेस ने क्रिप्स-योजना इसलिये अस्वीकृत कर दी कि यह रक्षा के क्षेत्र में लोगों को कोई वास्तविक अधिकार नहीं देना चाहती थी।

रक्षा के अतिरिक्त दूसरा प्रश्न, जिस पर दिल्ली वार्ता भंग हुई, वाइसराय की कार्य-पालिका में सम्मिलित होने वाले भारतीय नेताओं का पद था। प्रश्न यह था कि सदस्य के रूप में वे वाइसराय या भारत-मंत्री के प्रति उत्तरदायी होते या विधान-मंडल के लोगों के प्रतिनिधियों के प्रति। कांग्रेस की माँग यह थी कि गवर्नर जनरल राज्य का वैधानिक प्रधान बन जाय जो अपनी कार्यपालिका समिति की राय मानने के लिए

ग्राध्य हो तथा जो इसके निर्णयों को किसी भी प्रकार रद्द न कर सके। सक्षेप में, काग्रेस यह चाहती थी कि कार्यपालिका को मन्त्रिमडल मान लिया जाय। सरकार इस सुझाव से सहमत न थी, इगलैंड तथा भारत के अधिकारी किसी भी राष्ट्रीय सरकार को शक्ति देने के लिए प्रस्तुत न थ। इसलिए वार्ता भग हो गयी और सम्राट् की सरकार ने अपनी योजना लौटा ली।

बाद का घटनाएँ— क्रिप्स-योजना की असफलता ने परिस्थिति और भी नाजुक बना दी, सरकार तथा काग्रेस के बीच की खाई और चौड़ी हो गयी। सरकार द्वारा काग्रेस को माँग अस्वीकृत किया जाना महात्मा गाधी को बहुत बुरा लगा, उन्होंने एक विचारधारा का निर्माण किया जिसे बाद मे 'भारत छोड़ो' माँग का रूप मिला। उन्होंने अग्रेजों को भारत से केवल भारत के हित के लिए ही नहीं बल्कि अपने हित के लिए भी हट जाने का आदेश दिया। पत्र-प्रतिनिधियों से बातचीत तथा अपने पत्र 'हरिजन' द्वारा उन्होंने अपने विचार स्वतन्त्र रूप से प्रकट किये। लेकिन उनकी विचार धारा से सरकार पर कोई प्रभाव न पड़ा, वह काग्रेस पर आक्रमण करने तथा उसे कुचल डालने के लिए अपना सगठन दृढतर बनाती रही। जुलाई के मध्य म वर्किङ्ग कमेटी की वर्धा बैठक मे पास हुए प्रस्ताव म गाँधी जी के विचारों का स्पष्टीकरण हुआ। इसके महत्त्व के कारण इस प्रस्ताव को पूरा उद्धृत करना आवश्यक है। प्रस्ताव इस प्रकार है :

'दिन प्रति दिन होने वाली घटनाओं तथा भारतवासियों को बराबर हो रहे अनुभव से काग्रेस की यह धारणा पक्की होती जा रही है कि भारत म अग्रेजी राज जल्द से जल्द समाप्त हो जाना चाहिए, केवल इसी लिए नहीं कि अच्छे से अच्छा विदेशी शासन भी बुरा है और वह शासित लोगों को बराबर हानि पहुँचाता रहता है, बल्कि इसलिए भा कि बेड़ियों म जकड़ा भारत न स्वय अपना रक्षा कर सकता है और न लड़ाई से बरबाद हो जाने वाली मानवता की ...

'महायुद्ध के प्रारम्भ से ही काग्रेस ने सरकार को परेशान न करने की नीति दृढता के साथ अपनायी है। यहाँ तक कि अपने सत्याग्रह के प्रभावहीन हो जाने का खतरा उठाकर भी उसने उसे एक प्रतीकात्मक रूप दिय, केवल इस आशा से कि इसको परेशान न करने वाली नीति से सरकार उसका मतव्य भली प्रकार समझ ले और जनप्रिय प्रतिनिधियों को शक्ति प्रदान कर दी जाय, ताकि सारा मानवता की उस स्वतन्त्रता की प्राप्ति में, जिसके कुचल डाले जाने का बराबर डर बन हुआ है, भारत भी अपना सहयोग दे सके ... परन्तु इन आशाओं पर पानी फिर गया है। निष्फल क्रिप्स-योजनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश सरकार के भारत सम्बन्धी दृष्टिकोण म कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। वर्किङ्ग कमेटी की यह स्पष्ट राय है कि प्रत्येक प्रकार के दमन का विरोध किया जाय क्योंकि उसे स्वीकार कर लेने का अर्थ होगा भारतीयों का पतन

और उनकी पराधीनता का निरन्तर जारी रहना। कांग्रेस की यह इच्छा है कि देश की ब्रिटेन के प्रति दुर्भावनाएँ सद्भावनाओं में परिवर्तित हो जायँ और संसार के राष्ट्रों तथा जातियों की स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयत्न में वह भारत भी एक स्वेच्छापूर्ण सहयोगी बन जाय, लेकिन यह तभी सम्भव है जब भारतीयों को यह अनुभूति होगी कि वे स्वतन्त्र हो गये।

'साम्प्रदायिक समस्या के हल के लिए कांग्रेस-प्रतिनिधियों ने भरसक प्रयास किया है। लेकिन इस समस्या का हल उस विदेशी सत्ता की उपस्थिति के कारण असम्भव बन गया है जिसकी नीति सदैव विभाजन द्वारा शासन करने की ही रही है। अंग्रेजी शासन के भारत से हटा लिये जाने की माँग में कांग्रेस का उद्देश्य ब्रिटेन या मित्र राष्ट्रों को उनके युद्ध-प्रयत्नों में हानि पहुँचाना नहीं है ...... इसलिए कांग्रेस जापानियों या दूसरों के दबाव को रोकने तथा चीन की रक्षा तथा उसे मदद पहुँचाने के लिए मित्र-राष्ट्रों की फौजों को भारत में ठहराने की नीति से पूरी तरह सहमत है।'

'इस अपील के निरर्थक हो जाने पर कांग्रेस वर्तमान परिस्थितियों में विवशता सहन नहीं कर सकती .... जिस अहिंसात्मक शक्ति का संचय कांग्रेस ने १६२० से किया है उसका उपभोग करने के लिए वह विवश हो जायगी ... ऐसा बड़ी लड़ाई अनिवार्यतः गाँधी जी के नेतृत्व में होगी।'

१६४२ की ८ अगस्त को अखिल-भारतीय-कांग्रेस कमेटी की बम्बई में बैठक हुई जिसमें उसने एक लम्बा प्रस्ताव पास करके वर्किंग कमेटी के उपर्युक्त प्रस्ताव को स्वीकृत किया। अ० भा० कां० क० ने अपना यह विचार फिर से दुहराया कि भारत में ब्रिटिश राज की तुरन्त-समाप्ति अत्यावश्यक है। राष्ट्रीय माँगों के सरकार द्वारा अस्वीकृत किये जाने पर उसने देशवासियों से सविनय-अवज्ञा प्रारम्भ कर देने की अपील की। प्रस्ताव पर ली जाने वाली मतगणना का परिणाम सुनाये जाने के बाद गाँधी जी ने उपस्थित सदस्यों के सामने लगभग ७० मिनट तक भाषण किया जिसके सिलसिले में उन्होंने लोगों को 'करो या मरो' संग्राम के लिए आह्वान किया।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि कांग्रेस ने वास्तव में सविनय अवज्ञा प्रारम्भ नहीं की, इसने केवल एक प्रस्ताव पास करके लोगों को यह आदेश दिया कि ब्रिटिश सरकार द्वारा राष्ट्रीय मांगों के अस्वीकृत किये जाने पर वे सविनय अवज्ञा प्रारम्भ कर दें। इस बात पर विश्वास किया जाता है कि समस्या के शान्ति पूर्ण हल के लिए गांधी जी ने गवर्नर जनरल से विचार विनिमय करना चाहा था। गांधी जी की यह इच्छा कार्य रूप में परिणत न हो सकी क्योंकि सरकार का इस स्थिति के प्रति दूसरा ही दृष्टिकोण था और यह विश्वास करके कि कांग्रेस एक सर्वत्र-व्यापी हिंसात्मक आन्दोलन की ताक में है, उसने दृढ़ तथा शीघ्रतापूर्ण कदम उठाने का निश्चय किया। इसलिए रात के

सवाटे में महात्मा जी तथा वर्किंग कमेटी के अन्य सदस्य गिरफ्तार करके किसी अनिश्चित स्थान को भेज दिये गये। प्रान्तीय तथा स्थानीय नेताओं की देश भर में गिरफ्तारी प्रारम्भ हो गयी। सरकार के इस अप्रत्याशित व्यवहार से सारे देश में हिंसा की अग्नि भड़क उठी। अपने प्रिय नेताओं की गिरफ्तारी पर जनता क्रोध से पागल हो उठी। उसने रेल, तार तथा सरकारी इमारतों आदि को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया, हालाँकि कांग्रेस के सविनय-अवज्ञा-कार्यक्रम में ये चीजें सम्मिलित न थीं। ऐसा प्रतीत होता था कि लोगों में स्वतन्त्रता के लिए एक अन्दरूनी जोश उमड़ रहा था और वे परतन्त्रता का अन्त कर देने के लिए आकुल हो उठे थे। लेकिन जनता के पास न हथियार थे और न नेताओं का पथ-प्रदर्शन। असहाय जनता सरकार का सामना न कर सकी। उन भयानक दिनों का विस्तृत वर्णन यहाँ उपयुक्त नहीं है।

इसमें शंका नहीं कि सरकार की जड़ उखाड़ फेंकने के लिए लोगों ने काफी हिंसा दिखायी लेकिन लोगों को कुचलने के लिए सरकार ने और भी अधिक हिंसा तथा बर्बरता का परिचय दिया। सरकार ने सारी हिंसा की जिम्मेदारी महात्मा जी तथा वर्किंग कमेटी के सदस्यों पर डाल दी। उसका दावा था कि उसके पास ऐसे प्रमाण उपस्थित थे जिनसे यह स्पष्ट होता कि कांग्रेस की वास्तविक इच्छा सरकार से सुलह की न थी और इस बात का भी पता चल जाता कि जहाँ एक ओर कांग्रेस शान्ति तथा अहिंसा की डींग हाँक रही थी, दूसरी ओर वह राष्ट्रव्यापी हिंसात्मक आन्दोलन की तैयारी में व्यस्त थी। महात्मा जी ने इन आक्षेपों का विरोध किया, उन्हें गलत सिद्ध करने के लिए अवसर की माँग की तथा वर्किङ्ग कमेटी के सभी सदस्यों के साथ पूरे प्रश्न पर विचार करने के लिए सुविधाएँ चाहीं। सरकार ने न तो इन प्रमाणों को कभी प्रकाशित हो किया और न गाँधी जी तथा वर्किङ्ग कमेटी के विरुद्ध कोई मामला-मुकदमा ही चलाया जिससे उन्हें इस इल्जाम को असत्य सिद्ध करने का अवसर मिलता। गाँधी जी के विरोध-पत्रों का भी इसने टाल-मटोल के रूप में उत्तर दिया। अपनी निर्दोषता सिद्ध करने तथा हिंसात्मक नीति को प्रश्रय देने के आक्षेप का विरोध करने के लिए गाँधी जी ने २१ दिन का उपवास करने का निश्चय किया। सारे देश में एक हलचल मच गयी और हिंसा की रही सही जो कुछ भी भावना थी दब गयी। उपवास के दिनों में उनकी हालत कई बार चिन्ताजनक हुई लेकिन वृद्धावस्था तथा दुर्बलता के होते हुए भी वे इस कड़ी परीक्षा में सफल निकले और इस प्रकार उन्होंने डाक्टरों को आश्चर्य-चकित कर दिया। इसका भी सरकार पर कोई प्रभाव न पड़ा और न उसकी ऐंठ में ही कोई कमी आयी। श्री होमी मोदी, श्री अणे तथा श्री सरकार, वाइसराय की कार्यपालिका के इन तीन सदस्यों ने सरकारी नीति के विरोध में अपने पदों से इस्तीफा दे दिया। राजनैतिक जिच तूल पकड़ती ही गयी क्योंकि उस समय के वाइसराय लॉर्ड लिनलिथगो जनता या कांग्रेस किसी से भी समझौता करने के 'मूड' में न थे। महात्मा जी जब जेल ही में थे उनके दो सर्वप्रिय सहयोगियों— श्री महादेव

देसाई, जो उनके प्राइवेट सेक्रेटरी थे, तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कस्तूरबा गाँधी—की मृत्यु हो गयी। गाँधी जी बीमार पड़ गये और मई १६४४ मे अस्वास्थ्य के कारण छोड़ दिये गये।

अपनी रिहाई के बाद महात्मा जी गवर्नमेंट से समझौता करने तथा राजनैतिक जिच को हल करने के प्रयत्न मे लगे रहे। लॉर्ड वेवल के नाम, जो लॉर्ड लिनलिथगो के स्थान पर भारत के वाइसराय हुए थे, अपने एक पत्र में उन्होंने यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि वे तथा उनके साथी ब्रिटिश सरकार तथा उसके शासन की कितनी भी कड़ी आलोचना क्यों न करें, वे अंग्रेजों के अभिन्न मित्र हैं। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि यदि सरकार उन पर तथा उनके सहयोगियों पर विश्वास करे तो वह जर्मनों और जापानियों के विरुद्ध लड़ाई मे बड़ी सहायता कर सकेंगे। पत्र के उत्तर मे गवर्नर-जनरल लॉर्ड वेवल ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव वापस लेने तथा कांग्रेस द्वारा असहयोग की नीति के बहिष्कार पर जोर दिया ताकि उसके साथ समझौता करने म आसानी हो सके। वर्किंङ्ग कमेटी के सदस्य अहमदनगर के किले मे बन्द थे और उनसे मिलने की भी मनाही थी, इस-लिए गाँधी जी के लिए इन माँगों को स्वीकार करना असम्भव था। इसका परिणाम यह हुआ कि राजनैतिक जिच बनी ही रही।

इसी बीच श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने मि० जिन्ना तथा उनकी मुस्लिम लीग से पाकिस्तान के प्रश्न पर कुछ समझौता करने का प्रयास किया। इस कार्य म उन्हें महात्मा जी की सहायता मिल रही थी। लेकिन दूसरा कोई परिणाम न निकला। इसी बीच इस बात का भी जिक्र कर देना चाहिए कि मुस्लिम लीग ने 'भारत छोड़ो' माँग मे कांग्रेस का साथ न दिया। कांग्रेस तथा ब्रिटिश गवर्नमेंट के बीच राजनैतिक जिच के हल मे उसने बड़ी ही उपेक्षा दिखायी। देश की प्रगति मे एक बहुत बड़ा रोड़ा बनने वाली हिन्दू-मुस्लिम समस्या के हल के लिए १६४४ की सितम्बर म महात्मा जी ने मि० जिन्ना से कई बार भेंट की, लेकिन समस्या निराकरण से उतनी ही दूर रही जितनी अतीत मे थी।

वेवल योजना और शिमला सम्मेलन— १६४५ की गर्मियों में लॉर्ड वेवल लन्दन गये और ब्रिटिश-मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से उन्होंने पुन विचार-विमर्श किया। लौटने के बाद उन्होंने देश की राजनैतिक जिच समाप्त करने और उसे स्वराज की ओर बढ़ाने के उद्देश्य से भारतीय नेताओं के सामने सम्राट् की सरकार की योजनाएँ रक्खीं। इन योजनाओं का मुख्य तत्व था एक नयी कार्यपालिका कौंसिल (Executive Council) की स्थापना जो देश के सगठित जनमत का अधिक प्रतिनिधित्व करे। इसके प्रधान के रूप म गवर्नर जनरल तथा युद्ध मन्त्री के रूप में कमान्डर-इन-चीफ— इन दो को छोड़ कर शेष सभी सदस्य भारतीय होते। विभिन्न

वर्गों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त इसमें सवर्ण हिंदू तथा मुसलमान प्रतिनिधियों की बराबर संख्या रहती। कार्यपालिका कौंसिल के निर्माण के लिए विभिन्न राजनैतिक पार्टियों के नेताओं की एक बड़ी संख्या वायसराय भवन में आमन्त्रित की गयी। कांग्रेस की वर्किङ्ग कमेटी के सदस्यों को भी विचार विमर्श में सम्मिलित होने का अवसर प्रदान करने के लिए सरकार ने उन्हें जेल से छोड़ दिया। १६४२ से बराबर बिगड़ती जाने वाली देश की राजनैतिक समस्या में सुधार के लिए सरकार द्वारा उठाया गया यह पहला तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कदम था।

कांग्रेस ने शिमला कांग्रेस में सम्मिलित होने का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया, मुस्लिम लीग, सिक्खों, दलित वर्गों तथा केन्द्रीय विधान-सभा के यूरोपियन दल ने भी स्वीकार किया। सम्राट की सरकार की योजनाओं पर विचार-विनिमय करने के लिए शिमला-सम्मेलन २५ जून १६४५ में प्रारम्भ हुआ। पहले दो दिन कार्य करने के पश्चात् सम्मेलन दो दिन के लिए स्थगित हो गया और उसके बाद एक पखवारे से भी अधिक दिनों के लिए स्थगित हुआ। जब कान्फ्रेंस १४ जुलाई को फिर प्रारम्भ हुई तो लार्ड वेवल ने यह घोषित कर दिया कि नयी कार्यपालिका कौंसिल के निर्माण के प्रश्न पर कोई समझौता न होने के कारण सम्मेलन भंग हो गया। सम्मेलन के सामने अन्तिम दिन भाषण करते हुए उन्होंने कहा "मेरा सर्वप्रथम लक्ष्य था कि सम्मेलन नयी बनने वाली कार्यपालिका कौंसिल की संख्या तथा उसके निर्माण का ढंग निश्चित करे और इसके बाद पार्टियाँ हमारे पास नामों की सूची भेजें। इन सूचियों में यदि आवश्यकता होती तो मैं भी अपनी इच्छानुसार कुछ नाम जोड़ देता और इस प्रकार कागज पर एक ऐसी कार्यपालिका कौंसिल का निर्माण हो जाता जो सम्राट् की सरकार को, मुझे तथा सम्मेलन को स्वीकृत होती। मैंने अपने द्वारा चुने नामों की सूची को नेताओं के सामने विचार-विमर्श करने, और अन्त में उसे सम्मेलन के समक्ष रखने की इच्छा की थी। अभाग्य वश, कार्यपालिका कौंसिल के सदस्यों की संख्या और उनके निर्माण के ढंग पर सम्मेलन एकमत न हो सका। इसलिए २६ जून को सम्मेलन की अनुमति से मैंने समस्या का एक ऐसा हल सामने रखने का प्रयास किया जो पहले से ही मान लिये गये किसी 'फारमूले' पर आधारित न हो। मैंने पार्टियों से नामों की सूची माँगी और उनसे यह भी कहा कि यथाशक्ति मैं एक ऐसा हल रखने का प्रयत्न करूँगा जो नेताओं तथा सम्मेलन दोनों को मान्य हो। यूरोपियनों या मुस्लिम लीग को छोड़कर यहाँ सम्मिलित होने वाली सभी पार्टियों ने सूचियाँ भेज दीं। मैंने यह पूरा निश्चय कर लिया था कि सम्मेलन असफल न होने पायेगा और इसीलिए मैंने कुछ नाम भी चुने थे जिनमें मुस्लिम लीग के भी कुछ नाम सम्मिलित थे।

'किसी भी पार्टी के अधिकारों की माग को पूर्ण रूप से स्वीकृत करना मेरे लिए असम्भव था। जब मैंने समस्या का हल मि० जिन्ना के सामने रखा तो उन्होंने मुझे बताया कि वह मुस्लिम लीग को स्वीकृत न था। उनके निश्चय से मुझे यह अनुभव हो गया कि इस विषय पर और बातचीत व्यर्थ है।'

शिमला-सम्मेलन के असफल होने के कारण— शिमला-सम्मेलन की असफलता के कारणों का विवेचन यहाँ अनुपयुक्त न होगा। यह ध्यान में रखने योग्य है कि सम्मेलन इसलिए असफल नहीं रहा कि सम्राट् की सरकार जनता के प्रतिनिधियों को पर्याप्त शक्ति नहीं दे रही थी या उसको कम से कम माँगें स्वीकृत नहीं कर रही थी। इस प्रश्न पर विरोध करने वालों की आवाज प्रभावहीन रही। इसके असफल रहने का कारण यह था कि मि० जिन्ना की माँगें कांग्रेस तथा अन्य पार्टियों को स्वीकार न थीं और मुस्लिम लीग की राय तथा उसके सहयोग के बिना गवर्नर जनरल कोई अन्तरिम हल करना नहीं चाहते थे। वाइसराय का रुख मुस्लिम लीग के हाथ में 'वीटो' देने का था और मि० जिन्ना ने इस शक्ति का पूरा उपयोग किया। अनेक व्यक्तियों का विश्वास था कि मि० जिन्ना की ही आड़ में सरकार अपनी शक्ति बनाये रखना चाहती थी नहीं तो मि० जिन्ना तथा मुस्लिम लीग की माँगों की अनुपयुक्तता पर विचार करके उन्हें छोड़ा जा सकता था। द्वितीय गोलमेज सभा के समय यूरोपियनों तथा मुस्लिम लीग के बीच की मैत्री इस समय तक समाप्त न हुई, वह अब भी जारी थी।

मि० जिन्ना की माँगों को स्वीकार न करने का कारण कांग्रेस-प्रेसिडेन्ट मौलाना अबुल कलाम आजाद ने सम्मेलन के सामने दिये गये अपने वक्तव्य में स्पष्ट किया। उन्होंने यह बताया कि मुस्लिम लीग नयी कार्यपालिका कौंसिल में सभी मुसलमान सदस्यों की नियुक्ति केवल अपना ही अधिकार समझती थी और इस मामले में किसी दूसरे का हिस्सा नहीं चाहती थी। मुस्लिम लीग का यह दावा तर्कहीन तथा निरर्थक था, काँग्रेस यह स्थिति स्वीकार नहीं कर सकती थी। काँग्रेस कोई हिन्दुओं की संस्था नहीं थी। वह अपने पचास वर्षों का इतिहास कैसे भूल सकती थी। एक मुस्लिम की हैसियत से मौलाना आजाद काँग्रेस को केवल हिन्दू संगठन मानने के लिए प्रस्तुत न थे। काँग्रेस को मुसलमानों की भलाई तथा उनके उत्तरदायित्व में भाग लेने का पूरा अधिकार था। पंजाब के प्रधान मन्त्री मलिक खिज्र हयात खाँ तिवाना मौलाना साहब के विचारों से सहमत थे और उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि कार्यपालिका कौंसिल के सभी मुसलमान सदस्यों को नियुक्त करने का अधिकार मुस्लिम लीग को कदापि नहीं मिल सकता। लीग की माँग को स्वीकार करने का अर्थ होता ग़ैर-लीगी मुसलमानों का प्रतिनिधित्व ही न हो पाना। इस सम्बन्ध में इस तथ्य पर भी ध्यान रखना चाहिए कि हिन्दू मुस्लिम

समस्या के निराकरण का काँग्रेस ने पहले जितना भी प्रयत्न किया उसकी असफलता का एक बड़ा कारण यह था कि मुस्लिम लीग को ही भारत के मुसलमानों की एक मात्र प्रतिनिधि संस्था मानने की मि० जिन्ना की माँग को वह स्वीकार न कर सकी। इस माँग को मानने का अर्थ था भारत की एकता का विनाश और साथ ही साथ काँग्रेस के राष्ट्रीय रूप का भी। लेकिन मुस्लिम लीग भी झुकने को तैयार न थी क्योंकि यही माँग तो पाकिस्तान का आधार थी। शिमला सम्मेलन के असफल रहने का स्पष्ट कारण पाकिस्तान के लिए मुस्लिम माँग तथा काग्रेस की अखण्ड भारत की भावना में विरोध था।

गो शिमला-सम्मेलन असफल रहा फिर भी उसका कुछ न कुछ परिणाम तो हुआ ही। एक ओर तो इसने यह स्पष्ट कर दिया कि शक्ति का वास्तविक परिवर्तन होने पर काग्रेस शासन में भाग लेने के लिए प्रस्तुत थी और दूसरी ओर यह कि भारतीय समस्या के हल के लिए सरकार तैयार थी, तैयारी चाहे दिखावटी ही क्यों न रही हो। सम्मेलन में भाग लेने के लिए सरकार ने वर्किङ्ग कमेटी के सभी सदस्यों को कैद से रिहा कर दिया था। देश की राजनैतिक खिंच के सुलझाव के लिए यह अनिवार्य था भी। इस सम्मेलन का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम भी हुआ जिसे ध्यान में रखना आवश्यक है। १६४२ का आन्दोलन कुचल दिये जाने के कारण देश में बड़ी निराशा फैली थी और उसकी हिम्मत पस्त हो गयी थी। शिमला-सम्मेलन के बाद प० जवाहरलाल नेहरू तथा सरदार पटेल के भाषणों तथा काग्रेस पर प्रतिबन्ध उठा लिये जाने से देश में फैली निराशा में काफी कमी हुई।* इन नेताओं ने लोगों को बतलाया कि क्रोध के क्षणों में पथहीन जनता ने जो कुछ भी किया उसके लिए शर्मिन्दा होने की कोई बात नहीं है। हालाँकि अहिंसा के पूर्ण पालन में कभी कभी भूल अवश्य हुई फिर भी, स्वतन्त्रता की भावना से प्रेरित होकर लोगों ने जो वीरता प्रदर्शित की वह प्रशसनीय है। लेकिन ऐसी बातों का गलत अर्थ लगाकर लोग कहीं यह न समझने लगें कि काग्रेस अहिंसा के उस सिद्धान्त से हट गयी जो १६२० से ही उसका आधार-शिला रही। काग्रेस की कार्य समिति ने १६४५ के दिसम्बर में एक प्रस्ताव पास किया जिसमें निम्नलिखित शब्द भी थे - 'देशवासियों ने वीरता तथा त्यागपूर्ण अनेक कार्य किये, फिर भी कुछ ऐसे कार्य हुए जिन्हें अहिंसा में स्थान नहीं मिल सकता।' लोगों के पथ प्रदर्शन के लिए काग्रेस की कार्यकारिणी ने यह निश्चित कर दिया कि अहिंसा में सम्पत्ति जलाने, तार काटने, रेल की पटरियाँ उखाड़ने तथा लोगों पर आतङ्क जमाने का स्थान नहीं है।

शिमला-सम्मेलन के बाद— देश की स्थिति समझने तथा खिंच हटाकर देश में साधारण राजनैतिक जीवन की स्थापना के लिए पहली तथा दूसरी अगस्त

* नेताजी सुभाषचन्द्र बोस द्वारा सगठित आजाद हिन्द फौज और उसके कुछ अफसरों के लाल किला, दिल्ली, में मुकदमे ने देश में एक नया जोश उत्पन्न कर दिया था।

१६४५ में लॉर्ड वेवल ने प्रान्तीय गवर्नरों की एक सभा बुलायी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि उस सभा में धारा ६३ के अनुसार शासित प्रान्तों में गवर्नरों का एकाधिकार तोड़ने तथा साधारण चुनाव करने का निश्चय हुआ था। वाइसराय ने साधारण चुनाव करना चाहा था। इसी बीच ग्रेट ब्रिटेन में परिस्थितियाँ बदल गयीं। जर्मनी के बिना शर्त आत्मसमर्पण के बाद हुए साधारण चुनाव में मजदूर-दल विजयी हुआ। मि० चर्चिल तथा मि० एमरी, भारतीय स्वतन्त्रता के इन चिर विरोधियों के स्थान पर मि० एटली तथा लॉर्ड पेथिक लारेंस को शक्ति मिली। नयी मजदूर-सरकार ने नये सिरे से बातचीत करने तथा भारत-सम्बन्धी सभी समस्याओं पर सम्यक् दृष्टिपात करने के लिए लॉर्ड वेवल को इगलैंड आमन्त्रित किया। लन्दन से लौटने के बाद लॉर्ड वेवल ने एक सन्देश प्रसारित किया जिसमें उन्होंने कहा : 'भारतीय जन-मत के नेताओं की राय से सम्राट् की सरकार स्वराज की शीघ्र से शीघ्र स्थापना के लिए प्रस्तुत है। अपनी लन्दन-यात्रा के सिलसिले में हमने उन सभी चीजों पर विचार-विनिमय किया है जो देश में लागू की जायेंगी। इस विषय में घोषणा की जा चुकी है कि लड़ाई के कारण अब तक बन्द रहने वाले केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान-सभाओं के चुनाव आने वाले जाड़े में किये जायेंगे। इसलिए सम्राट् की सरकार की यह उत्कट इच्छा है कि सभी प्रान्तों के राजनैतिक नेता मन्त्रित्व का भार स्वीकार करें। सम्राट् की सरकार की यह इच्छा भी है कि जितने शीघ्र सम्भव हो एक संविधान-परिषद् बिठायी जाय और इसी लिए, प्रारम्भिक कदम उठाने के सम्बन्ध में उसने मुझे चुनाव के तुरन्त बाद प्रान्तों के विधान-मंडलों के प्रतिनिधियों से बातचीत करने का अधिकार दिया है ताकि यह निश्चित हो जाय कि १६४२ की घोषणा की योजना उन्हें स्वीकार है या इसके बदले में किसी परिवर्धित योजना की आवश्यकता है। भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों से भी यह निश्चित करने के लिए विचार-विनिमय होगा कि संविधान-परिषद् में वे अपना पार्ट किस प्रकार अदा कर सकते हैं।' ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री एटली ने भी इसी आशय की एक घोषणा इसी तिथि को लन्दन से की।

अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक सितम्बर के अन्त में हुई और उसने गवर्नर-जनरल द्वारा रक्खी गयी योजनाओं पर अच्छी प्रकार विचार किया। ये योजनाएँ उसे 'गोलमटोल, अनिश्चित तथा असन्तोषप्रद' प्रतीत हुईं और उसने इस तथ्य पर जोर दिया कि 'कांग्रेस तथा देश को स्वतन्त्रता से कम कोई भी चीज स्वीकृत न होगी।' मताधिकार के संकुचित तथा रास्ते की अनेक अड़चनों के होते हुए भी कांग्रेस ने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान मंडलों के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया।

कांग्रेस मैनिफेस्टो— कांग्रेस ने एक लम्बा चुनाव-घोषणापत्र प्रकाशित किया जिसमें उसने अपने पुराने इतिहास, अपनी सफलताओं तथा भविष्य के कार्य क्रम

की संक्षिप्त चर्चा की और देश के सभी मतदाताओं से आनेवाले चुनाव में हर प्रकार से सम्भव सहायता की माँग की। इन चुनावों में जीवन की छोटी छोटी चीजों व्यक्तिगत स्वार्थों तथा वर्गगत लाभों को स्थान न था। महत्त्व केवल एक चीज का था : मातृभूमि की स्वतन्त्रता, जिससे सभी प्रकार का स्वतन्त्रताएँ अपने आप मिल जाती हैं। अगस्त ८, १९४२, का प्रसिद्ध प्रस्ताव, घोषणापत्र का इन शब्दों में केन्द्र बिन्दु बना दिया गया 'अपनी ८ अगस्त, १९४२, की माँग पर कांग्रेस आज भी आरूढ है। इसी माँग तथा युद्ध-घोष के आधार पर कांग्रेस चुनाव का सामना कर रही है।'[1]

घोषणापत्र इतना लम्बा है कि सम्पूर्ण उद्धृत नहीं किया जा सकता लेकिन इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसकी उपेक्षा भी ठीक नहीं। इसलिए कुछ महत्त्वपूर्ण अंश नीचे दिये जा रहे हैं

'पिछले साठ वर्षों से कांग्रेस राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील रही है अपनी छोटी सी शुरुआत से यह धीरे धीरे विकसित होता गयी और इसने देश के कोने कोने में स्वतन्त्रता का सन्देश पहुँचाया। देश की जनता से शक्ति तथा बल पाकर यह एक विशाल संगठन के रूप में विकसित हो गयी है। देश की स्वातन्त्र्य भावना की यह जीवित प्रतीक है।

'कांग्रेस का अब तक का सारा जीवन जनता की भलाई तथा स्वतन्त्रता के लिए अनवरत युद्ध में बीता है। पिछले तीन वर्षों के अद्वितीय जनोत्थान तथा उसके निर्दयतापूर्ण दमन के बाद कांग्रेस की शक्ति में वृद्धि ही हुई है और यह उन लोगों की ओर भी प्रिय बन गया है जिनकी इसने निराशा तथा अवसादपूर्ण क्षणों में सेवा की है।

'कांग्रेस भारत के प्रत्येक नागरिक के समान अधिकारों के लिए, ... सभी जातियों तथा धार्मिक वर्गों की एकता तथा उनके बीच सौहार्द एवं सहिष्णुता के लिए राष्ट्र के भीतर प्रत्येक इकाई तथा प्रादेशिक क्षेत्र की स्वतन्त्रता के लिए, ... तथा सामाजिक अन्याय तथा उससे पीडित सभी के अधिकारों के लिए बराबर प्रयत्नशील रहे हैं।

'कांग्रेस ने एक स्वतन्त्र तथा लोकतन्त्रात्मक राज्य की कल्पना की है जिसमें सभी नागरिकों के आधारमूल अधिकारों तथा सत्वों की रक्षा हो। देश का विधान संघीय होना चाहिए जिसमें इसकी वैधानिक इकाइयों को स्वायत्त शासन प्राप्त हो तथा इसके विधान-मंडलों का चुनाव बालिग मताधिकार द्वारा हो ...

'राज्य पिछड़े तथा दलित वर्गों के उत्थान की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा............ कबायली इलाकों के विकास के लिए सरकार पूरी सहायता देगी.. ....

विदेशी शासन ने ऐसी अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं जिनका शीघ्र से शीघ्र निराकरण अत्यावश्यक है• • स्वतन्त्रता के सिवाय इन समस्याओं के सुलझाव का और कोई उपाय नहीं है। राजनैतिक स्वतन्त्रता में आर्थिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रताओं का भी स्थान है।'

'भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक समस्या है दरिद्रता का अभिशाप दूर करके जनता का जीवन स्तर ऊपर उठाना• • • • • हमारी समस्या मूलरूप में गाँवों का है • • • • • यह आवश्यक है कि भूमि की समस्या का सुलझाव उसके सभी पहलुओं के साथ हो • • • इस समस्या के सुलझाव में किसान तथा सरकार के बीचवालों का हटाया जाना आवश्यक है। भूमि तथा उद्योगों के विकास में ग्रामीण तथा शहरी अर्थ-नीति में सतुलन होना चाहिए।

'मानसिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक रूप से ऊपर उठने तथा नये प्रकार के कार्यों को सम्यक रूप से सम्पादित करने के लिए लोगों की उपयुक्त शिक्षा का प्रबन्ध आवश्यक है • •

'जहाँ तक शारीरिक श्रम का सम्बन्ध है, सरकार औद्योगिक श्रमिकों के हितों की रक्षा करेगी, उनके लिए न्यूनतम मजदूरी तथा रहन सहन का अच्छा प्रबन्ध करेगी। उनके लिए मकान, काम करने के घंटों तथा श्रम की अन्य शर्तों की व्यवस्था होगी • •

'अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में कांग्रेस स्वतंत्र राष्ट्रों के विश्वव्यापी-संघ के निर्माण का पक्ष लेती है • • भारत को सभी राष्ट्रों से, विशेषकर अपने पड़ोसियों के साथ, मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखना चाहिए। स्वतन्त्रता की अहिंसात्मक लड़ाई लड़ने वाला भारत विश्वशान्ति तथा सहयोग का सदैव पक्ष लेगा।'

निर्वाचन परिणाम— जैसी कि आशा थी कांग्रेस ने साधारण निर्वाचन-क्षेत्रों में पूरी विजय पायी। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं में भी इसके अनेक उम्मीदवारों का कोई विरोध नहीं हुआ और जहाँ कहीं भी हिन्दू महासभा के, नरम दल अर्थात् लिबरल या स्वतंत्र उम्मीदवारों ने विरोध करने की हिम्मत की वहीं उन्हें मुँह की खानी पड़ी, अनेक जगहों में तो उनकी जमानत भी जब्त हो गयी। हालाँकि पंजाब के सिक्ख निर्वाचन-क्षेत्रों में कांग्रेस को कुल वोटों की संख्या के आधे वोट मिले, फिर भी यह सिक्ख सीटों की केवल एक-तिहाई सीटें पा सकी। लेकिन मुस्लिम निर्वाचन-क्षेत्रों में दूसरी ही दशा रही। हिन्दुओं की अधिक संख्या वाले प्रान्तों में उत्तर प्रदेश तथा कुछ सीमा तक आसाम को छोड़कर कांग्रेस द्वारा खड़े किये हुए सभी मुसलमान-उम्मीदवार हार गये। मुसलमानों की अधिक संख्या वाले चार प्रान्तों में से दो प्रान्तों— पंजाब तथा बंगाल— में मुस्लिम लीग को महत्वपूर्ण विजय मिली। सिन्ध में लीग को मुसलमानी सीटों में अधिकतर सीटें मिलीं और कांग्रेस का पक्ष लेने

वाले दलों का वहाँ अल्पमत रहा। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में कांग्रेस को बहुसख्यक सीटें मिलीं हालाँकि १९३७ के चुनाव के मुकाबिले लीग को इस बार अधिक सफलता मिली। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि चुनाव में कांग्रेस तथा लीग दोनों ही देश की मजबूत राजनैतिक पार्टियाँ सिद्ध हुईं। कांग्रेस इस बात का दावा कर सकती थी कि १९४२ के उसके 'भारत छोडो' आन्दोलन को जनता का सहयोग था क्योंकि उसे एक करोड़ नब्बे लाख वोट मिले। उसी तरह मुस्लिम लीग भी यह कह सकती थी कि भारतीय मुसलमानों के बहुसख्यक भाग का उसमें विश्वास था क्योंकि उसे १५ लाख वोट मिले जो वोटों की पूरी सख्या के ७५ % थे। राष्ट्रीय तथा अन्य गैर लागी मुसलमानों को ५ लाख या कुल वोटों के २५ % से कुछ अधिक वोट मिले, फिर भी उन्हें मुसलमान सीटों की आनुपातिक सख्या न मिली। अप्रैल १९४६ मे जब मन्त्रिमण्डल बने तो हिन्दुओं की बहुसख्या वाले सभी प्रान्तों तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त म कांग्रेस को शक्ति मिली और मुस्लिम लीग ने बगाल तथा सिन्ध में सरकार बनायी। पजाब में कांग्रेस, अकालियों तथा यूनियनिस्टों' ने सयुक्त मन्त्रिमडल बना लिया और इस प्रकार अकेले सबसे बड़ी पार्टी वाली मुस्लिम लीग से इनकी सम्मिलित सख्या बहुत बढ गयी।

ऐटली की घोषणा— कांग्रेस स्थिति मे परिवर्तन की प्रतीक्षा में थी, सम्राट् की सरकार से उसे यह आशा थी कि वह १९४५ की वाइसराय की सितम्बर-घोषणा के अनुसार कोई निश्चित कदम उठायेगी। इसी बीच १५ मार्च को ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री मि० ऐटली ने हाउस ऑफ कॉमन्स मे एक महत्त्वपूर्ण घोषणा की जिसमें उन्होंने भारत के स्वातन्त्र्य-अधिकार को स्वीकृत किया और अपनी सरकार का यह निश्चय भी स्पष्ट किया कि वह भारतीयों की स्वतन्त्रता प्राप्ति में पूर्ण सहायक होगी और बहुसख्यक लोगों की उन्नति का ध्यान रखकर वह अल्पसख्यक लोगों को 'वीटो पावर' (Veto power) न देगी, उन्हें तथा उनकी सरकार को अल्पसख्यकों का पूरा ध्यान था। इन शब्दों ने भारतीयों के हृदय म बडी बडी आशाएँ उत्पन्न कर दी और वे यह सोचने लगे कि चर्चिल-सरकार ने मुसलमानों के हाथ में जो 'वीटो' रख छोड़ा था वह अब लौटा लिया गया है। ये आशाएँ अपूर्ण रहीं। पाकिस्तान की माग स्वीकृत हुए बिना लीग भारतीय समस्या के हल मे अब भी अडगा लगा सकती थी।

कैबिनेट मिशन— प्रधान मन्त्री ने यह भी घोषणा की कि ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के तीन उच्च पदासीन सदस्यों— भारत-मन्त्री लॉर्ड पेथिक लारेंस, व्यापार बोर्ड के प्रेसिडेन्ट सर स्टैफर्ड क्रिप्स तथा फर्स्ट लॉर्ड ऑफ दि ऐडमिरैलिटी मि० ए० वी० अलेग्जाण्डर— का एक दल भारतीय जनमत के नेताओं से भारत के विधान के निर्माण के विषय म विचार विमर्श करने हिन्दुस्तान जा रहा है। प्रधान-मन्त्री ने आगे कहा : 'मेरे सहयोगी भारत इस उद्देश्य से जा रहे हैं कि वे वहाँ के

देशवासियों की शीघ्र से शीघ्र स्वतन्त्रता-प्राप्ति में सहायता करें। वर्तमान सरकार के बदले भारत में कौनसी सरकार बनेगी, यह निश्चित करना भारतीयों का कार्य है लेकिन हमारी इच्छा उन्हें शीघ्र निश्चय करने में पूरी-पूरी सहायता देना है।'

कैबिनेट मिशन करांची में २४ मार्च, १९४६, को हवाई जहाज से उतरा और दूसरे ही दिन दिल्ली पहुँच गया। करांची में एक वक्तव्य के अवसर पर लॉर्ड पैथिक लॉरेंस ने कहा, 'ब्रिटिश जनता तथा सरकार की ओर से हम यहाँ के देशवासियों के लिए मित्रता तथा भलाई का एक सन्देश लाए हैं। हमें विश्वास है भारत महान भविष्य के द्वार पर खड़ा है।'

कैबिनेट मिशन ने देश की समस्या जिस रूप में हल करनी चाही उसका यहाँ विस्तृत विवेचन आवश्यक नहीं है। हाँ, इतना ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि वैसे तो कैबिनेट मिशन के सदस्यों ने यह घोषणा कर दी थी कि वे इस देश में खुले दिमाग तथा निष्पक्ष हृदय से काम करने आ रहे हैं किन्तु ऐसा करना बहुत कठिन था। ब्रिटिश सरकार के पिछले वादों से वे कुछ न कुछ अवश्य बँधे थे। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उनका उद्देश्य एक नयी वैधानिक रूपरेखा तैयार करना तथा केन्द्र में एक अस्थायी प्रतिनिधि-सरकार की स्थापना था, विधान का निर्माण नहीं। इस कार्य के लिए देश की विभिन्न राजनैतिक पार्टियों, वर्गों तथा हितों का दृष्टिकोण समझना इन सदस्यों के लिए अत्यावश्यक था। इसलिए उन्होंने भारतीय नेताओं से विचार विनिमय करना तथा उनकी सलाह लेना आरम्भ किया। सबसे पहिले उन्होंने एक सम्मेलन किया जिसमें गवर्नर जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नर सम्मिलित थे। बाद में उन्होंने कांग्रेस, लीग तथा अन्य दलों के प्रतिनिधियों को, जिनमें कुछ राजे तथा बड़े राज्यों के प्रधान मन्त्री भी सम्मिलित थे, आमन्त्रित किया। कुल मिला कर १८२ बैठकें हुईं जिनमें ४७२ नेताओं से विचार विनिमय हुआ। इस संख्या से यह ज्ञात होता है कि विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले दलों की संख्या देश में कितनी अधिक थी। लेकिन कैबिनेट मिशन के सदस्यों का प्रमुख सम्बन्ध तो कांग्रेस तथा लीग के नेताओं से था और इनसे विचार-विनिमय के बाद उन्हें ज्ञात हुआ कि वैधानिक मशीन (Constitutional machinery), संविधान परिषद् तथा अन्तरिम सरकार के सम्बन्ध में इन लोगों का मत एकदम भिन्न था। मिशन ने इन प्रमुख दलों में समझौता कराने का भरसक प्रयत्न किया। उसने शिमला में तीन दलों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन भी किया जिसमें तीन कांग्रेस के प्रतिनिधि, तीन लीग के प्रतिनिधि, वाइसराय तथा मिशन के तीनों सदस्य सम्मिलित थे। समझौते के लिए मिशन के सदस्यों ने एक योजना प्रस्तुत की जो नीचे दिये हुए सिद्धान्तों पर आधारित थी। भारत में संघ-शासन की स्थापना हो जो विदेशी मामलों, रक्षा तथा

यातायात की व्यवस्था करे ; प्रान्तों को दो भागों में श्रेणीबद्ध किया जाय , पहली श्रेणी में हिन्दुओं की बहु सख्या वाले तथा दूसरी में मुसलमानों की बहु-सख्या वाले प्रान्त रहें। प्रत्येक भाग शेष बचे ऐसे विषयों (Subjects) की देखभाल करे जिन्हें उसमें रहने वाले प्रान्त सम्मिलित रूप से चाहें। प्रान्तीय सरकारों को अन्य सभी विषयों की देखभाल करने का अधिकार हो और उन्हें अवशिष्ट शक्तियाँ मिलें।

इस त्रिदल सम्मेलन की बैठक एक सप्ताह— ५ से ११ मई— तक रही। खूब अच्छी प्रकार विचार विनिमय हुआ , कांग्रेस तथा लीग दोनों ही एक दूसरे के साथ रियायत के लिए प्रस्तुत थे लेकिन अन्त में दोनों के बीच खाई न भर सकी और इस लिए कोई समझौता न हो सका। कांग्रेस सूबे के वर्गीकरण के सिद्धान्त के पक्ष में न थी। सम्मेलन की असफलता १२ मई को घोषित कर दी गयी। कैबिनेट मिशन तथा वाइसराय दिल्ली चले आये और १६ मई को उन्होंने एक घोषणा प्रकाशित की जिसमें समझौते के लिए कुछ योजनाएँ दी गयी थीं। सम्राट् की सरकार ने इन योजनाओं को अपनी पूरी स्वीकृति दी थी।

मुसलमानों की इस व्यग्रता से कि कहीं ऐसा न हो कि उन्हें बहु-सख्यक हिन्दुओं के कठोर शासन में रहना पड़े, कैबिनेट मिशन के सदस्य बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने मुसलमानों की पाकिस्तान के स्वतन्त्र सत्ताप्राप्त राज्य की माँग को अच्छी तरह सोचा समझा। अन्त में वे इस निश्चय पर पहुँचे कि मुसलमानों द्वारा निर्धारित की हुई रूपरेखा के अनुसार पाकिस्तान के निर्माण से साम्प्रदायिक समस्या का निराकरण न होगा , और न उन्हें इसमें ही कोई सगत तर्क दिखायी पड़ा कि पजाब, बगाल तथा आसाम के अधिकाशत गैर-मुस्लिम जन सख्या वाले जिलों को पाकिस्तान के अन्दर सम्मिलित कर लिया जाय। उनकी दृष्टि से पाकिस्तान के पक्ष में जो तर्क प्रयुक्त हो सकते थे वही गैर मुस्लिम जिलों के उसमें न रखने के पक्ष में भी लागू थे। पश्चिमोत्तर भाग में, जिसमें पजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिन्ध तथा ब्रिटिश बलूचिस्तान सम्मिलित था, गैर-मुसलमानों की सख्या कुल जन सख्या की ३८ % थी तथा बगाल तथा आसाम वाले उत्तर-पूर्वी भाग में कुल जनसख्या की ४८ %। उन्होंने इस पर भी विचार किया कि मुसलमानों की अधिक सख्या वाले क्षेत्रों तक सीमित पाकिस्तान समझौते का आधार हो सकता है या नहीं, लेकिन यह विचार अव्यवहार्य निकला। इस विचार को व्यवहार रूप में परिणत किये जाने पर पजाब तथा बगाल का शीघ्र विभाजन हो जाता और यह इन प्रान्तों की एक बड़ी सख्या की इच्छाओं तथा हितों के विरुद्ध पड़ता। जहाँ तक मूल्यवान क्षेत्रों के पाकिस्तान से निकल जाने का प्रश्न था, मुस्लिम लीग ने भी उस विचार को स्वीकार नहीं किया।

इसके अतिरिक्त शासन सम्बन्धी, आर्थिक तथा फौजी कुछ और भी महत्त्वपूर्ण कारण थे जो देश के विभाजन के प्रतिकूल पड़ते थे। पाकिस्तान के निर्माण से अखड

भारत के आधार पर स्थापित यातायात तथा डाक-तार का सारा प्रबन्ध छिन्न-भिन्न हो जाता ; देश की सेना का भी विभाजन आवश्यक हो जाता जिससे फौज की प्रतिष्ठा तथा उसकी परम्परा पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता । इन कारणों तथा अन्य कई बातों को ध्यान में रखकर मिशन ने ब्रिटिश सरकार को दो स्वतन्त्र राज्यों को सत्ता हस्तान्तरित करने की सलाह देने में अपने को असमर्थ पाया ।

इसी प्रकार संघ-राज्य की कांग्रेसी योजना पर भी मिशन ने विचार किया । इस योजना के अनुसार विदेशी मामलों, रक्षा तथा यातायात— इन केन्द्रीय विषयों को छोड़कर प्रान्त अपने पूरे शासन में स्वतन्त्र रहते । शासन-सम्बन्धी तथा आर्थिक योजनाओं में ऊँचे परिमाण पर भाग लेने की इच्छा होने पर प्रांतों को इन तीन आवश्यक विषयों के अतिरिक्त कुछ और वैकल्पिक विषय भी देने पड़ते । मिशन के सदस्यों के अनुसार यह योजना ऐसी कुछ महत्त्वपूर्ण परिस्थितियाँ उत्पन्न करती जो वैधानिक रूप से असंगत पड़तीं । इसलिए मिशन ने इस योजना को भी अस्वीकृत कर दिया ।

कैबिनेट-मिशन ने ब्रिटिश भारत तथा भारतीय राज्यों के सम्बन्ध पर भी विचार किया और यह मत प्रकट किया कि नयी परिस्थितियों के अनुसार ब्रिटिश क्राउन को सार्व सत्ता (Paramountcy) अपने हाथ में रखना या उसे ब्रिटिश भारत की सरकार को दे देना असम्भव हो जाता । यह अच्छा हुआ कि भारतीय राज्यों के प्रतिनिधियों ने भारत के नये विकास में पूरे सहयोग की इच्छा प्रकट की । वैधानिक ढाँचे के निर्माण के समय उनके इस सहयोग का क्या रूप होता इसे निश्चित करना ब्रिटिश भारत तथा राज्यों के प्रतिनिधियों का काम था ।

कैबिनेट-मिशन-योजना— मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग को अव्यवहार्य तथा कांग्रेस की संघ-राज्य की योजना को वैधानिक रूप से अनुपयुक्त बताकर कैबिनेट-मिशन ने एक ऐसी योजना रखने का प्रयत्न किया जो सभी दलों की संगत माँगों की पूर्ति तथा समूचे भारत के लिए एक स्थायी तथा व्यवहार्य विधान का निर्माण करती । विधान का रूप निम्नलिखित होता :

(i) ब्रिटिश भारत तथा राज्यों को मिलाकर एक भारतीय संघ होता जो विदेशी मामलों, रक्षा तथा यातायात की देखभाल करता और जो इन विषयों के लिए आवश्यक वित्त (Finance) एकत्रित करने की शक्ति भी रखता ।

(ii) संघ की एक कार्य-कारिणी तथा व्यवस्थापिका होती जिसमें ब्रिटिश भारत तथा राज्यों के प्रतिनिधि रहते । व्यवस्थापिका में उत्पन्न होने वाले किसी बड़े साम्प्रदायिक प्रश्न के हल के लिए दोनों बड़े दलों के अलग-अलग प्रतिनिधियों के बहुमत और साथ ही सभी सदस्यों की पूरी संख्या का बहुमत आवश्यक था ।

(iii) संघीय विषयों को छोड़कर अन्य सभी विषय तथा सभी अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों को मिलतीं।

(iv) संघ को दी हुई शक्तियों तथा विषयों को छोड़कर अन्य सभी विषय तथा शक्तियाँ रियासतों के पास रहतीं।

(v) प्रान्तों को इस बात का अधिकार था कि वे अलग-अलग ग्रुप बनायें और प्रत्येक ग्रुप की अलग-अलग कार्य-पालिका तथा विधान-मंडल होता।

(vi) संघ तथा इन समुदायों के विधान में एक धारा रहती जिसके अनुसार अपने विधान-मंडल के बहुसंख्यक वोट द्वारा किसी भी प्रान्त को विधान की धाराओं पर पुनर्विचार करने का अधिकार रहता। यह अधिकार पहिले-पहल दस वर्षों बाद और फिर प्रत्येक दस वर्षों बाद लागू हो सकता।

कैबिनेट मिशन को देश के लिए भविष्य में बनने वाले विधान के सम्बन्ध में उपरोक्त धाराएँ बनानी पड़ीं क्योंकि समझौते की बातचीत के दौरान में उन्हें यह स्पष्ट हो गया था कि इस प्रकार की योजनाओं के बिना इस बात की कोई आशा नहीं की जा सकती थी कि दोनों प्रमुख दल विधान बनाने वाली मशीन को अपना सहयोग देते।

इसके बाद मिशन ने विधान निर्मित करने वाली संस्था का प्रश्न हाथ में लिया। देश में बालिग़ मताधिकार न होने, विभिन्न प्रान्तों के विधान मंडल के सदस्यों की संख्या उन प्रान्तों की सम्पूर्ण जन-संख्या के अनुसार आनुपातिक न होने तथा प्रत्येक प्रान्त के विधान मंडल की सदस्यता का वहाँ के विभिन्न वर्गों की सम्पूर्ण संख्या से मेल न बैठने के कारण विधान परिषद् की स्थापना एक कठिन कार्य बन गयी। विभिन्न तरीकों के सतर्कतापूर्वक निरीक्षण के बाद कैबिनेट मिशन ने यह निश्चित किया कि सबसे अधिक उपयुक्त योजना यह होगी जिसमें (अ) अपनी जन-संख्या के अनुसार प्रत्येक प्रान्त की सीटें निश्चित कर दी जायँ, जैसे प्रत्येक दस लाख के लिए एक सीट, बालिग मताधिकार के स्थान पर यही सबसे उपयुक्त चीज थी, (ब) प्रत्येक प्रान्त की सीटें उस प्रान्त के बड़े वर्गों में, उनकी जन-संख्या के अनुसार विभाजित कर दी जायें, और (स) यह निश्चित कर दिया जाय कि प्रान्त के प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधियों का चुनाव विधान-सभा में उसके सदस्यों द्वारा होगा। इन उद्देश्यों को ध्यान में रख कर मिशन ने साधारण, मुस्लिम तथा सिक्ख— केवल इन तीनों को ही वर्ग माना।

ऊपर दिये हुए आधार के अनुसार संविधान परिषद् की टोटल संख्या ३८५+४ =३८९ रक्खी गयी। ब्रिटिश भारत में २९२ सदस्य गवर्नरों के प्रान्तों से तथा ४ सदस्य चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों से होते। भारतीय राज्यों के अधिक से अधिक ९३ प्रतिनिधि रहते। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का विभिन्न प्रान्तों तथा वर्गों में विभाजन निम्नलिखित रूप से करने का प्रस्ताव था :

भाग (अ)

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	टोटल
मद्रास	४५	४	४६
बम्बई	१६	२	२१
उत्तर प्रदेश	४७	८	५५
बिहार	३१	५	३६
मध्यप्रान्त	१६	१	१७
उड़ीसा	६	०	६
टोटल	१६७	२०	१८७

भाग (ब)

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	सिक्ख	टोटल
पंजाब	८	१६	४	२८
पश्चिमोत्तर प्रान्त	०	३	०	३
सिन्ध	१	३	०	४
टोटल	६	२२	४	३५

भाग (स)

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	टोटल
बंगाल	२७	३३	६०
आसाम	७	३	१०
टोटल	३४	३६	७०

चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों का प्रतिनिधित्व करने के लिए भाग (अ) में तीन सदस्य— दिल्ली, अजमेर, मारवाड़ा और कुर्ग, इन तीनों से एक एक— जोड़ दिये जाते। ब्रिटिश बलूचिस्तान को प्रतिनिधित्व देने के लिए एक सदस्य भाग (ब) में जोड़ा जाता। भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों की संख्या ९३ से अधिक न होती। इनके चुनाव की निश्चित प्रणाली विचार विनिमय के पश्चात् तय होती। प्रारम्भिक दशा में राज्यों का प्रतिनिधित्व एक समझौता कमेटी (Negotiating Committee) करती।

१६ मई की घोषणा ने संविधान-परिषद् की पहली मीटिंग का कार्य भी निश्चित किया। इस कार्य में चेयरमैन तथा अन्य पदाधिकारियों का चुनाव, नागरिकों, अल्पसंख्यकों, कबायली तथा पृथक् क्षेत्रों (Excluded areas) के अधिकारों

के अनुसार परामर्श समिति (Advisory Committee) का चुनाव तथा ऊपर दिये हुए नक्शे के अनुसार प्रान्तीय प्रतिनिधियों का तीन भागों— अ, ब, स— में विभाजन सम्मिलित था। ये भाग अपने में सम्मिलित प्रान्तों का विधान निश्चित करते और यह भी तय करते कि कोई वर्गीय विधान (Group Constitution) बनता या नहीं, यदि हाँ, तो सम्मिलित विधान के जिसमें कौन-कौनसे प्रान्तीय विषय रहते। प्रान्तों को अपने वर्ग से निकल जाने का अधिकार भी दिया गया।

घोषणा में आयी हुई अन्य चीजों में से केवल दो और का हम यहाँ संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं। सत्ता हस्तान्तरण के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई कुछ परिस्थितियों से निबटने के लिए घोषणा में संघीय विधान परिषद् तथा ब्रिटेन में एक सन्धि कराने की व्यवस्था थी। प्रमुख राजनैतिक दलों के सहयोग से एक अन्तरिम सरकार की शीघ्र स्थापना पर सबसे अधिक जोर दिया गया। अन्तरिम सरकार में युद्ध-विभाग तथा सभी विभाग उन राजनैतिक नेताओं के हाथ में रक्खे जाते जिन पर जनता का पूरा विश्वास रहता। इस प्रकार बनी सरकार को ब्रिटिश सरकार का पूरा सहयोग रहता, शीघ्र से शीघ्र अपने ऊपर सारा उत्तरदायित्व ले लेने की शक्ति प्राप्त करने के लिए वह हर प्रकार की सहायता देती।

कैबिनेट-मिशन-योजना का मूल्यांकन— कैबिनेट मिशन योजना के ठीक-ठीक मूल्यांकन के लिए हमें उन परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए जिनमें इसकी कल्पना तथा घोषणा हुई थी। हम यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि देश में उत्पन्न हुई राजनैतिक जिच के हल के लिए ब्रिटिश सरकार पूर्ण रूप से उत्सुक थी क्योंकि योरप में महायुद्ध की समाप्ति हो गयी थी और विजय मित्र राष्ट्रों के हाथ लगी थी। भारत के एक नये विधान के निर्माण के उद्देश्य से सम्राट् का सरकार तो एक विधान परिषद् की स्थापना के लिए भी प्रस्तुत थी। लेकिन नये विधान के निर्माण के तरीके पर कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच मतभेद ने एक विषम स्थिति उत्पन्न कर दी थी। ये दोनों प्रमुख दल आपस में समझौता नहीं कर सके क्योंकि उनके उद्देश्य तथा लक्ष्य ही भिन्न थे। मुस्लिम लीग की माँग थी भारत का दो स्वतन्त्र राज्यों में विभाजन और जब तक यह माँग स्वीकृत न होती वह विधान के निर्माण में भाग लेने के लिए तैयार न थी। कांग्रेस सम्पूर्ण तथा अविभाजित भारत के पक्ष में तथा पाकिस्तान बनाये जाने के विरुद्ध थी लेकिन साथ ही साथ वह प्रान्तों को अधिक से अधिक सत्ता प्रदान करने के लिए भी प्रस्तुत थी ताकि अपनी अधिक सख्या वाले प्रान्तों में मुसलमान अपनी सभ्यता, संस्कृति तथा जीवन प्रणाली की रक्षा कर सकें। मिशन ने इन दोनों प्रमुख दलों में समझौते का बड़ा प्रयत्न किया लेकिन वह असफल रहा। दोनों दलों के हितों को ध्यान में रखकर एक विधान बनाने वाली संस्था के शीघ्र से शीघ्र निर्माण के अतिरिक्त अन्य और कोई चारा न था। सबकी बातें सुनकर तथा खूब सोच विचार के बाद ही उसने अपनी योजनाएँ लोगों के सामने रक्खीं। योजनाओं की प्रकृति

समझौता कराने वाली थी इसलिए उनसे किसी भी दल को पूरा सन्तोष नहीं मिला। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि कांग्रेस तथा लीग में समझौता कराने के लिए इस योजना द्वारा सच्चा और अच्छा प्रयत्न किया गया था।

प्रान्तों तथा भारतीय राज्यों को मिलाकर एक भारतीय संघ का निर्माण तथा विदेशीय नीति, रक्षा, यातायात और इन विभागों के लिए आवश्यक वित्त का प्रबन्ध कार्यपालिका तथा विधान मंडल के हाथ में देकर और पाकिस्तान की माँग अस्वीकृत करके मिशन-योजना ने काँग्रेस की माँगों को कुछ सीमा तक स्वीकार कर लिया।

वैदेशिक सम्बन्ध, रक्षा तथा यातायात— इन तीन विषयों को संघ के हाथ में देकर शेष सभी विषयों में प्रान्तों को पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करके, प्रान्तों को अनेक गुटों में संगठित होने का अधिकार देकर तथा उन गुटों की अपनी स्वयं की कार्यपालिका तथा विधान-मण्डल की व्यवस्था करके कैबिनेट मिशन ने, देश के विभाजन से उत्पन्न खतरों को बिना आमन्त्रित किये हुए, मुसलमानों को पाकिस्तान के सभी लाभों को देने का प्रयत्न किया। बंगाल तथा आसाम का एक वर्ग (Group) बनता ; पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रान्त, सिन्ध तथा ब्रिटिश बिलूचिस्तान का दूसरा। इन वर्गों का क्षेत्र ठीक उतना ही होता जितना लीग पाकिस्तान में रखना चाहती थी। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, योजना ने यह व्यवस्था की थी कि विधान परिषद् में उत्पन्न हुए किसी बड़े साम्प्रदायिक प्रश्न के हल के लिए प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधियों तथा विधान परिषद् के सभी सदस्यों की संख्या के अधिकांश के निर्णय की आवश्यकता पड़ती। यह व्यवस्था लीग की विचार धारा के अनुकूल बनायी गई थी। लीग की राय तथा उसके सहयोग के लिए ही उसे ये छूटें दी गयीं वर्ना इनके बगैर वह आगे बढ़ने के लिए प्रस्तुत न थी। कैबिनेट मिशन की योजनाओं में लीग को अपनी माँगों का तत्व दिखाई पड़ा ; इसका प्रमाण यह है कि प्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की माँग अस्वीकार करने के कारण योजनाओं की आलोचना करते हुए भी लीग ने जून ६, १९४५ को एक प्रस्ताव पास किया जिसमें उसने योजनाओं को अपनी पूरी स्वीकृति दी।

कैबिनेट-मिशन योजना की और भी अच्छाइयाँ थीं। विधान-परिषद् का निर्माण लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर होता ; प्रतिनिधियों की संख्या जन-संख्या के अनुपात से रक्खी जाती। अल्पसंख्यकों को जन-संख्या के अनुपात से अधिक स्थान देने का पुराना सिद्धान्त एकदम समाप्त कर दिया गया। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व केवल मुसलमानों तथा सिक्खों के लिए सुरक्षित रक्खा गया, १९३५ के ऐक्ट के अनुसार आंग्ल भारतीयों, भारतीय ईसाइयों तथा अन्य छोटे छोटे वर्गों के लिए ऐसी जो सुविधा मिली थी वह समाप्त करदी गयी। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त पूर्ण रूप से

समाप्त तो नहीं हुआ, हाँ, उसका क्षेत्र सीमित अवश्य कर दिया गया और यह कोई मामूली लाभ न था। इस सम्बन्ध म यह बता देना उपयुक्त होगा कि आग्ल-भारतीयों, भारतीय ईसाइयों तथा गैर काग्रेसी हिन्दुओं को मिशन-योजना के अनुसार बनाया सविधान सभा में कुछ 'जनरल' साटें देकर काग्रेस ने बड़ी बुद्धिमत्ता तथा उदारता का परिचय दिया।

कैबिनेट-मिशन-योजना का यह भी एक बड़ा गुण था कि सविधान-सभा के सारे सदस्य भारतीय ही रहते। कैबिनेट-मिशन का ध्यान इस ओर आकर्षित किये जाने पर कि उनकी योजना के अनुसार बगाल तथा कुछ अन्य प्रान्तों के विधान मडलों के यूरोपियन सदस्य संविधान सभा म कुछ यूरोपियन सदस्यों को निर्वाचन द्वारा भेज सकते थे, उसने तथा गवर्नर-जनरल ने इस बात पर पूरा ध्यान रक्खा कि सविधान-परिषद् के सदस्यों के चुनाव म यूरोपियन सदस्य भाग न लें। उत्तर प्रदेश के विधान-मडल के यूरोपियन सदस्य ही इस नियम के अपवाद रहे। मिशन ने यह भी व्यवस्था की कि सविधान सभा के कार्य में ब्रिटिश सरकार तथा सरकारी अफसर किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर सके। योजना के ढाँचे के भीतर सविधान-सभा को पूर्ण सत्ता प्राप्त थी।

१७ मई को लार्ड वेवल ने अपने एक रेडियो भाषण म कैबिनेट-मिशन योजना की अच्छाइयाँ बडे अच्छे ढग से प्रदर्शित की थीं। भाषण के कुछ उपयुक्त अश नीचे दिये जा रहे हैं

'मैं आपको इस बात का विश्वास दिला सकता हूँ कि इन सुधारों के निर्माण में हम लोगों की शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक अध्ययन, सोच विचार, नेक-नीयती तथा सचाई का उपयोग हुआ है। हम लोग तो यही अच्छा समझते थ कि भारतीय नेता आपस में ही समझौता कर लेते और इसके लिए हमने पूरा प्रयत्न भी किया, लेकिन यह चीज सम्भव न हुई हालाँकि दोनों ओर के नेता एक दूसरे के प्रति पर्याप्त रियायत के लिए प्रस्तुत थे।

'आपके सामने जो योजनाएँ रक्खी गयी हैं वे ऐसी नहीं हैं जिन्हें कोई अकेली पार्टी पसन्द करती। लेकिन मेरा यह विश्वास है कि इन योजनाओं को ही आधार बनाकर भारत के सुव्यवस्थित तथा सगठित सविधान का निर्माण सम्भव है। इनसे भारत की उस मूलभूत एकता की रक्षा सम्भव है जिसे दो बडे वर्गों के बीच वैमनस्य से बराबर खतरा बना हुआ है, और ये विशेष रूप से भारतीय-सैनिक-शक्ति को छिन्न भिन्न होने से बचा लेंगी और इसी शक्ति के सगठन पर भारत की भविष्य रक्षा सम्भव है।

'मुसलमानों को अपने धर्म, अपनी शिक्षा, सस्कृति, अपने आर्थिक तथा अन्य हितों की रक्षा का पूरा अधिकार मिलेगा ·· सिक्खों के लिए उनका पजाब

अविभाजित रक्खा जायगा, अल्पसंख्यकों को अपनी आवश्यकताओं को सामने रखने तथा अपने हितों की रक्षा का पूरा अवसर मिलेगा " " " इन योजनाओं से भारत में पूर्ण शान्ति स्थापित होने की आशा है; यह शान्ति वर्गगत विद्वेषों से परे रहेगी।'

कांग्रेस दृष्टिकोण योजना के प्रति— योजना पर विचार विनिमय करने के लिए कांग्रेस-प्रेसिडेन्ट ने १७ मई को कार्य-समिति की एक बैठक बुलायी। समिति ने कुछ बातों की ओर स्पष्ट रूप से समझना चाहा क्योंकि या तो वे कांग्रेस-दृष्टिकोण के विरुद्ध पड़ती थीं या उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति न कर पाती थीं। वे बातें निम्नलिखित थीं (१) प्रान्तों को अलग-अलग समूहों में श्रेणीबद्ध करने का सिद्धान्त, (२) विधान सभा का स्वतन्त्र सत्ताप्राप्त रूप, और (३) सम्भावित अन्तरिम सरकार की रूप रेखा तथा उसका आधार। प्रान्तों को अनेक समूहों में श्रेणीबद्ध करने का प्रश्न बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था और कार्य समिति ने कैबिनेट मिशन का ध्यान योजनाओं में दो अलग अलग जगहों पर कही गयी दो भिन्न बातों की ओर दिलाया। १५वें पैराग्राफ के पाँचवें भाग के अनुसार 'प्रान्तों को कार्य-पालिका तथा विधान मंडल के साथ वर्ग बनाने या न बनाने की स्वतन्त्रता थी, और १६वें पैराग्राफ की पाँचवीं धारा के अनुसार प्रान्तों के लिए वर्ग में सम्मिलित होना अनिवार्य था। यदि सम्मिलित होना या न होना प्रान्तों की इच्छा पर छोड़ दिया जाता तो कांग्रेस को वर्ग बनाने पर कोई आपत्ति न थी लेकिन वर्ग बनाने के अनिवार्य सिद्धान्त पर उसे आक्षेप अवश्य था। कांग्रेस की कार्य-समिति ने घोषणा का अपने निम्नलिखित उद्देश्यों का ध्यान में रखते हुए मूल्यांकन किया '(१) भारत के लिए स्वतन्त्रता, (२) शक्तिपूर्ण किन्तु सीमित केन्द्रीय सरकार, (३) प्रान्तों के लिए स्वायत्त शासन (Autonomy), (४) केन्द्र तथा इकाइयों में लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था की स्थापना, (५) प्रत्येक व्यक्ति के मूल अधिकारों की रक्षा जिससे वह अपना पूरा विकास कर सके, और (६) एक वृहत्तर ढाँचे के भीतर प्रत्येक वर्ग को अपनी इच्छानुसार जीवन बिताने का अवसर तथा अधिकार।' चूँकि मिशन ने अपनी घोषणा में भविष्य का कोई पूरा चित्र नहीं खींचा, विशेषतया केन्द्र में स्थापित होने वाली राष्ट्रीय सरकार के सम्बन्ध में, इसलिए कार्य-समिति ने घोषणा पर उस समय कोई निश्चित मत प्रकट करने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

लीगी दृष्टिकोण— *मुस्लिम लीग की कौंसिल २२ मई को बैठी। इस बैठक में योजनाओं पर अनेक आक्षेप किये गए और उनके अनेक अंगों के स्पष्टीकरण की माँग की गयी। लीग ने भी इसे स्वीकार या अस्वीकार करने के सम्बन्ध में कोई विचार प्रकट नहीं किये।*

कैबिनेट मिशन का स्पष्टीकरण— *२५ मई को कैबिनेट मिशन ने एक घोषणा प्रकाशित की जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि योजना एक अविभाज्य*

इकाई है और आपस मे सहयोग के साथ कार्यान्वित करने मे ही यह पूर्ण रूप से सफल हो सकती है। घोषणा में यह भी स्पष्ट किया गया कि सविधान सभा के एक बार सगठित होने और कार्य प्रारम्भ करने पर उसके निर्णयों मे कोई हस्तक्षेप न होगा। काग्रेस द्वारा उठाये गये 'वर्ग बनाने' के प्रश्न पर मिशन ने यह विचार प्रकट किया कि काग्रेस का यह अर्थ कि प्रान्त वर्ग बनाने या न बनाने मे स्वतन्त्र हैं, मिशन के विचारों से मेल नहीं खाता।

अन्तरिम सरकार के विषय में वाद-विवाद— देश की प्रमुख पार्टियों के सहयोग से एक अन्तरिम सरकार की स्थापना कैबिनेट-मिशन-योजना का प्रमुख अंश था। यह कार्य वाइसराय के ऊपर छोड़ा गया और उन्होंने इस सम्बन्ध मे भारतीय नेताओं से पत्र व्यवहार प्रारम्भ किया। अन्तरिम सरकार स्थापित करने की व्यवस्था को तात्कालिक योजना कहा गया क्योंकि यह सविधान बनाने की व्यवस्था से, जिसे लम्बी योजना कहा गया, भिन्न थी। लॉर्ड वेवल और काग्रेस तथा लीग के प्रेसिडेन्टो में इस विषय पर काफी पत्र व्यवहार हुआ। काग्रेस यह चाहती थी कि अन्तरिम-सरकार औपनिवेशिक मन्त्रिमण्डल के रूप मे कार्य करने के साथ साथ केन्द्रीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी रहती और गवर्नर-जनरल केवल सविधानिक प्रधान होता। इसके उत्तर में गवर्नर-जनरल ने कहा कि सम्राट की सरकार की यह इच्छा थी कि देश के दिन-प्रति दिन के शासन में भारतीय सरकार को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जाती और उनकी अपनी यह इच्छा थी कि सम्राट् की सरकार के इस वादे को पूरा किया जाय। मुस्लिम लीग यह चाहती थी कि नयी सरकार मे उसके तथा काग्रेस के प्रतिनिधियों की सख्या समान हो। लेकिन काग्रेस इस व्यवस्था के एकदम विरुद्ध थी। काग्रेस प्रेसिडेन्ट के पास वाइसराय ने जो सुझाव भेजे उसमे बराबरी के इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया। काग्रेस-प्रेसिडेन्ट ने इस सम्बन्ध मे वाइसराय को एक लम्बा पत्र लिखा जिसका उपयुक्त अश नीचे लिखा है 'कैबिनेट के निर्माण में आपने जो सुझाव रक्खे हैं उसमे मुस्लिम लीग के सदस्यों की सख्या दलित वर्गों तथा हिन्दुओं की सम्मिलित सख्या के बराबर है, सवर्ण हिन्दुओं की सख्या तो सचमुच लीगियों से कम है। १९४५ के जून म शिमला मे जो स्थिति थी आज वह उससे भी असतोष-जनक है क्योंकि आपकी उस समय की घोषणा के अनुसार सवर्ण हिन्दुओं तथा लीगियों की सख्याएँ समान रहतीं और दलित वर्ग के हिन्दुओं को अलग सीटें मिलतीं। मुस्लिम सीटें केवल मुस्लिम लीग के लिए सुरक्षित न थीं, उसमें गैर लीगियों को भी स्थान मिल सकता था। आज की स्थिति तो हिन्दुओं के प्रति न्यायपूर्ण नहीं है और उसमे गैर लीगियों को कोई स्थान नहीं दिया जा रहा है। मेरी कार्यसमिति ऐसा कोई भी सुझाव स्वीकार नहीं कर सकती ··· · ··· हम लोग समानता को किसी भी रूप मे स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं।' और भी कई ऐसे दृष्टिकोण

थे जिन्होंने कांग्रेस को गवर्नर जनरल के सुझाव अस्वीकृत करने के लिए बाध्य कर दिया।

१६ जून की घोषणा— कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने के लिए वाइसराय ने समय समय पर जो सुझाव रक्खे उन्हें कांग्रेस-कार्य समिति न स्वीकार कर सकी। कारण स्पष्ट था : वे कांग्रेस तथा छोटे-छोटे अन्य वर्गों के प्रति अनुचित तथा अन्यायपूर्ण थे। इसलिए कैबिनेट मिशन तथा वाइसराय को अन्तरिम सरकार की स्थापना के सम्बन्ध में अपने सुझाव रखने पड़े। इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर १९४६ की १६ जून को एक सरकारी वक्तव्य प्रकाशित किया गया जिसका उपयुक्त अंश नीचे है :

'वाइसराय तथा कैबिनेट मिशन के सदस्यों की कुछ समय से यह इच्छा रही है कि देश की दो प्रमुख तथा अल्पसंख्यक पार्टियों के सहयोग से एक सम्मिलित सरकार बनायी जाय। विचार-विनिमय से यह स्पष्ट हो चुका है कि ऐसा कोई उभयनिष्ट आधार नहीं है जिसे मान कर दोनों पार्टियाँ कोई ऐसी सरकार बना सकें।

'वाइसराय तथा कैबिनेट मिशन के सदस्य कांग्रेस तथा लीग की कठिनाइयों से भली भाँति परिचित हैं······ इसलिए वाद-विवाद को और अधिक बढ़ाना ठीक नहीं है। इस प्रकार अब केवल एक मार्ग शेष है और वह है सभी वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली एक अन्तरिम सरकार की स्थापना··········

'इसलिए वाइसराय कुछ प्रतिष्ठाप्राप्त व्यक्तियों को इस बात का निमन्त्रण दे रहे हैं कि वे अन्तरिम सरकार में रहकर सेवा-कार्य करें और साथ ही साथ १६ मई की घोषणा के अनुसार संविधान बनाने में सहायक बनें। ये व्यक्ति हैं : सरदार बलदेव सिंह, सर एन० पी० एञ्जीनियर, श्री जगजीवनराम, पंडित जवाहरलाल नेहरू, मि० एम० ए० जिन्ना, नवाबजादा लियाकत अली खाँ, श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, श्री० एच० के० मेहताब, डॉ० जॉन मथाई, नवाब मोहम्मद इस्माइल खाँ, ख्वाजा सर नाजिमुद्दीन, सरदार अब्दुर्रब निश्तर, सरदार वल्लभभाई पटेल, और डॉ० राजेन्द्रप्रसाद। इन आमन्त्रित व्यक्तियों में से यदि कोई किसी व्यक्तिगत कारण से नहीं आ सकता तो विचार के बाद वाइसराय उनकी जगह पर किसी अन्य व्यक्ति को आमन्त्रित करेंगे।

'विभागों का विभाजन वाइसराय दोनों प्रमुख दलों के नेताओं की सलाह से करेंगे।

'अन्तरिम सरकार में देश के दोनों प्रमुख दलों का रहना आवश्यक है। यदि वे दोनों या उनमें से कोई एक सम्मिलित रहने में अपनी असमर्थता प्रकट करेगा तो वाइसराय एक ऐसी अन्तरिम सरकार की स्थापना करेंगे जो १६ मई की घोषणा स्वीकार करने वालों का अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व कर सके।'

वाइसराय ने इस घोषणा की एक एक प्रति कांग्रेस तथा लीग के प्रेसिडेन्टों के पास भेजदी और यह आशा प्रकट की कि देश के शासन में दोनों प्रमुख दलों का भाग रहे। उन्होंने दोनों दलों से योजना को समझौते की दृष्टि से देखने तथा देश की बड़ी समस्याओं तथा अनिवार्य आवश्यकताओं को ध्यान में रखने की अपील की।

कांग्रेस को जून १६-योजना अस्वीकृत— कांग्रेस-कार्य-समिति की बैठक दिल्ली में १८ जून से २५ जून तक हुई और पर्याप्त विचार-विनिमय के बाद उसने अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने में अपनी असमर्थता प्रकट की। २५ जून को उसने वाइसराय के नाम एक लम्बा पत्र लिखा जिसमें उसने अपनी इस असमर्थता के कारण स्पष्ट किये। इन सभी कारणों को यहाँ व्यक्त करना आवश्यक नहीं है; हाँ, कुछ महत्त्वपूर्ण कारण स्पष्ट किये जा सकते हैं। कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था थी जिसमें मुसलमान सदस्य भी थे, इस लिए वह अन्तरिम सरकार के कांग्रेस सदस्यों में एक राष्ट्रीय मुसलमान भी सम्मिलित करना चाहती थी और इसे वह अपना अधिकार भी समझती थी। वाइसराय तथा कैबिनेट मिशन के सदस्यों को कांग्रेस की यह माँग स्वीकृत न हो सकी क्योंकि मि० मुहम्मदअली जिन्ना इसका सख्त विरोध करते थे। मि० मुहम्मदअली जिन्ना के नाम एक पत्र में लॉर्ड वेवेल ने दलित वर्गों को अल्पसंख्यकों की श्रेणी में रखना स्वीकार कर लिया और उन्होंने उन्हें यह आश्वासन भी दिया कि इन वर्गों के लिए निश्चित सीटों को भरने के लिए किसी सदस्य की भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर वह मुस्लिम लीग के नेता की राय लेते। वाइसराय ने मि० जिन्ना को कुछ ऐसे और भी आश्वासन दिये थे जिनके कारण अन्तरिम सरकार सुचारू रूप से न चल पाती और राजनैतिक झिंझों की उत्पत्ति अनिवार्य हो जाती। यदि जून १६ की घोषणा के अनुसार सरकार-निर्माण में कांग्रेस कार्य-समिति वाइसराय की सहायता न कर सकी तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। फिर भी, उसने कैबिनेट मिशन की १६ मई की योजना स्वीकार कर ली और संविधान-सभा में सम्मिलित होना भी निश्चित किया। हाँ, घोषणा के कुछ अंशों का उसने अपने अनुकूल अर्थ अवश्य किया। जून २६, १९४६, को पास किए हुए कांग्रेस-प्रस्ताव के निम्नलिखित उद्धरण से लम्बी तथा तात्कालिक योजनाओं के सम्बन्ध में कांग्रेस की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है: 'एक स्थायी या किसी अन्य सरकार के निर्माण में कांग्रेस-जन कांग्रेस के राष्ट्रीय रूप का त्याग नहीं कर सकते, वे किसी प्रकार का अन्यायपूर्ण समझौता नहीं स्वीकार कर सकते और किसी साम्प्रदायिक वर्ग को 'वीटो' की शक्ति प्रदान करने के सिद्धान्त से भी वे सहमत नहीं हैं। जून १६ की घोषणा के अनुसार एक अन्तरिम सरकार की स्थापना का कांग्रेस पूरा विरोध करती है। लेकिन संभावित संविधान सभा में सम्मिलित होने का उसने निश्चय किया है ताकि स्वतन्त्र, संगठित और लोकतन्त्रात्मक भारत के लिए एक संविधान का निर्माण हो सके।'

जैसा कि पहले प्रदर्शित किया जा चुका है, मुस्लिम लीग ने जून ६, १९४६, को एक प्रस्ताव पास करके योजनाओं को अपनी स्वीकृति दे दी और संविधान परिषद् में भी सम्मिलित होने की अपनी इच्छा प्रकट की हालाँकि उसकी दृष्टि प्रान्तीय वर्गों के संघ से अलग हो जाने के उस अधिकार पर बराबर बनी रही जो कैबिनेट मिशन की योजना में निहित है। अन्तरिम सरकार की स्थापना के सम्बन्ध में प्रेसिडेन्ट ने वाइसराय से खूब पत्र व्यवहार किया और वह अन्तरिम सरकार बनने की प्रतीक्षा ही में थे। चूँकि कांग्रेस ने १६ मई की योजना को तो स्वीकार किया था और १६ जून की घोषणा को अस्वीकार, इसलिये लॉर्ड वेवेल कुछ उलझन में पड़ गये और उन्होंने अन्तरिम सरकार बनाने का निश्चय कुछ दिनों के लिए स्थगित रक्खा। अन्तरिम सरकार की स्थापना स्थगित हो जाने से मोहम्मदअली जिन्ना को बड़ी निराशा हुई। कैबिनेट मिशन के सदस्यों ने जून २६ को एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें उन लोगों ने कांग्रेस तथा लीग के वक्तव्यों का स्वागत किया किन्तु इस बात पर खेद प्रकट किया कि इन वक्तव्यों में अन्तरिम सरकार की स्थापना के लिए कोई निश्चित तथा सम्भव आधार नहीं रक्खा गया था। उन्होंने यह इच्छा भी प्रकट की कि उनकी १६ जून की घोषणा के पैरा ८ की शर्तों के अनुसार प्रयत्नों को फिर से प्रारम्भ किया जाता। इस बीच शासन तथा संविधान सभा के चुनाव का कार्य चलाने के लिए एक काम-चलाऊ सरकार बना ली गई। २६ जून को कैबिनेट-मिशन के सदस्य इङ्गलैंड के लिए रवाना हुए और उसी दिन काम-चलाऊ सरकार के सात सदस्यों के नाम प्रकाशित किये गये।

सिक्ख तथा अन्य वर्गों का मिशन के प्रति दृष्टिकोण— कैबिनेट मिशन तथा उसकी योजनाओं के ऊपर दिये वर्णन में सिक्खों, हिन्दू महासभा, भारतीय रियासतों, उनकी जनता तथा देश के अन्य लोगों के दृष्टिकोण का जिक्र नहीं हुआ; सारा ध्यान कांग्रेस और मुस्लिम लीग पर ही रहा। इन सभी दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में कुछ शब्द जोड़ देना अनुपयुक्त न होगा।

सिक्ख प्रतिनिधियों ने पाकिस्तान का बड़ा जोरदार विरोध किया और कैबिनेट मिशन के सदस्यों को उन्होंने यह बता भी दिया कि पाकिस्तान की माँग से वे किसी भी प्रकार सहमत न थे। यदि उनकी इच्छा के विरुद्ध पाकिस्तान की स्थापना हो जाती तो वे अपने लिए सिक्खिस्तान की माँग करते। सिक्ख-संगठन ने १६ मई की योजना को अस्वीकार किया और आगे आने वाली लड़ाई के लिए सिक्खों का आह्वान किया। इसमें कोई शंका नहीं कि १६ मई की योजना सिक्खों के प्रति अनेक दृष्टियों से अन्यायपूर्ण थी। यद्यपि उन्हें महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यकों की श्रेणी में रक्खा गया— इस दृष्टि से देश में उनका तीसरा नम्बर रहा— और संविधान परिषद् में उन्हें अलग प्रतिनिधित्व भी दिया गया, लेकिन कोई ऐसा संरक्षण न मिला जैसा

मुसलमानों को मिला था। सिक्खों का प्रमुख विरोध इस बात पर था कि योजना ने उन्हें पूर्ण रूप से मुसलमानों की दया पर छोड़ दिया। उनकी एक शिकायत यह भी थी कि उन्हें वे अधिकार न दिये गये जो मुसलमानों तथा हिन्दुओं को योजना के भाग १५ (२) तथा १९ (७) के अन्दर मिले थे। फिर भी, संविधान-सभा में प्रतिनिधि भेजने के लिए कांग्रेस ने उन्हें राज़ी कर लिया लेकिन इस शर्त पर कि वह उनके अधिकारों तथा हितों की रक्षा करेगी।

हिन्दू महासभा की कार्य-समिति ने भी योजनाओं—विशेषतः पाकिस्तान, प्रतिनिधित्व की समानता, बंगाल आसाम की संविधान-सभा यानी संविधान परिषद् के भाग 'स' में यूरोपीय हस्तक्षेप—का पूर्ण विरोध किया। इस संस्था की अखिल-भारतीय समिति ने यह आक्षेप भी किया कि महासभा के आधारभूत सिद्धान्त अर्थात् भारत की एकता तथा उसके संगठन को कैबिनेट मिशन ने केवल सिद्धान्त रूप में माना था, व्यवहार में नहीं। उसके अनुसार कैबिनेट मिशन का प्रमुख दोष अन्य अल्पसंख्यकों का ध्यान न रखते हुए केवल मुस्लिम-लीग को प्रसन्न करना था। वह 'तीन सीढ़ियों वाले संविधान' का विरोध करती रही क्योंकि उसके अनुसार पंजाब, बंगाल, आसाम, सिन्ध, पश्चिमोत्तर-प्रदेश तथा पूरी सिक्ख जाति पाकिस्तानियों की दया पर आश्रित हो जाती। प्रान्तों को गुटों में विभाजित करने तथा अर्ध-समूहीकरण के सिद्धान्त का भी उसने विरोध किया।

मिशन-योजनाओं के प्रति देशी राजाओं का दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए इतना बता देना पर्याप्त है कि ७ जून १९४६ को नवाब भोपाल की अध्यक्षता में 'चेम्बर ऑफ प्रिन्सेज़' की बम्बई में हुई एक सभा में योजनाओं को पूरी स्वीकृति प्रदान की गयी।

ऑल इण्डिया स्टेट्स पीपुल्स कान्फ्रेन्स ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें इस बात पर आश्चर्य तथा दुःख प्रकट किया गया कि कैबिनेट मिशन की योजनाओं में देशी रियासतों के जन प्रतिनिधियों का कोई ध्यान न रक्खा गया था। संविधान परिषद् के लिए रियासतों के प्रतिनिधियों के चुनाव में वहाँ की जनता का हाथ होने तथा मई १६ की घोषणा के अनुसार परामर्श-समिति में अपने प्रतिनिधियों को रखने की भी उन्होंने माँग की।

मिशन-योजना के सम्बन्ध में गाँधी जी के विचार— कांग्रेस, मुस्लिम लीग, सिक्ख-संगठन, हिन्दू-महासभा तथा जन-मत का प्रतिनिधित्व करने वाली देश की अन्य संस्थाओं ने कैबिनेट-मिशन-योजना को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा और मेल न खाने वाले विभिन्न दृष्टिकोणों से इन सबने इसके ऊपर आक्षेप किये। महात्मा गाँधी ने इन योजनाओं को एक दूसरी ही दृष्टि से देखा और वे इस बात से अच्छी प्रकार सन्तुष्ट भी हो गये कि वर्तमान परिस्थितियों के बीच ब्रिटिश सरकार अच्छी से

अच्छी यही योजना दे सकती थी। महात्मा जी के अनुसार योजना ने हमारी अपूर्णताओं को स्पष्ट कर दिया। कांग्रेस तथा लीग एकमत न हो सकीं, वे एकमत नहीं हो सकती थीं— योजना के विधाताओं को यह अच्छी प्रकार ज्ञात हो गया। उन्होंने उन कम से कम शर्तों को लोगों के सामने रक्खा जिन पर दोनों प्रमुख पार्टियों के बीच भारत की स्वतन्त्रता का सविधान बनाने के सम्बन्ध में समझौता हो जाता। कैबिनेट-मिशन-योजना के निर्माताओं का प्रमुख मतव्य था भारत म ब्रिटिश-राज का शीघ्र से शीघ्र अन्त। यदि सम्भव होता तो कैबिनेट मिशन के सदस्यों की इच्छा भारत को ऐसी सगठित दशा मे छोड़ जाने की थी जिसमे भीतरी झगडे, विरोध तथा मनमुटाव गृह-युद्ध का रूप न ले सकते। योजनाओं में कुछ ऐसी बातें भी हैं जो यह भूल जाने वाले जल्दबाज पाठक को परेशानी में डाल देंगी कि योजना राष्ट्र के प्रति एक अपील थी तथा उसे नेक सलाह के रूप में दी गयी थी जिससे यह प्रदर्शित होता था कि थोडे से थोडे समय में भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति कैसे सम्भव थी। यह बात नहीं है कि महात्मा जी योजना के प्रमुख दोषों से अपरिचित थे, जून २ १९४६ के 'हरिजन' में उन्होंने इन दोषों की ओर सकेत किया था। इन दोषों का विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं है, हमारा उद्देश्य तो केवल यह प्रदर्शित करना था कि योजना के बहिष्कार तथा उसकी आलोचना के बीच भी गाधी जी उसके पक्ष म कहाँ तक थे।

राष्ट्रीय सरकार की स्थापना— जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लगभग चार महीने के प्रयत्न के पश्चात् कैबिनेट मिशन २९ जून को इगलैंड के लिए रवाना हो गया। कैबिनेट मिशन को अपने प्रयत्नों मे कोई महत्त्वपूर्ण सफलता न मिल सकी। कांग्रेस ने मई १६ की लम्बी योजना स्वीकार की लेकिन जून १६ की तात्कालिक योजना अस्वीकार कर दी, सविधान-परिषद् में सम्मिलित होने के लिए वह प्रस्तुत हुई किन्तु अन्तरिम सम्मिलित सरकार में सम्मिलित होना उसे स्वीकार न हुआ क्योंकि लॉर्ड वेवल की शर्तें इसकी राय के अनुसार हिन्दुओं तथा अल्पसंख्यकों के प्रति अन्यायपूर्ण थीं। मुस्लिम लीग ने इस बात का बड़ा प्रयत्न किया कि कांग्रेस की अनुपस्थिति में ही सरकार की स्थापना हो जाती किन्तु गवर्नर-जनरल ने इसकी अनुमति न दी। लॉर्ड वेवल सम्मिलित सरकार बनाने के प्रयत्न में बराबर लगे रहे। और २२ जुलाई को उन्होंने कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के प्रेसिडेन्टों के पास निम्न लिखित योजनाएँ भेजी और उन पर उनकी राय मांगी' '(i) अन्तरिम सरकार में १४ सदस्य रहते जिसमे छ सदस्य कांग्रेस नियुक्त करती (दलित वर्ग का एक सदस्य मिला कर), पाँच सदस्य मुस्लिम लीग नियुक्त करती और अन्य अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि के रूप में तीन सदस्य वाइसराय स्वय नियुक्त करते। इन अन्तिम तीन सदस्यों में एक सदस्य सिक्ख होता। (ii) कांग्रेस तथा लीग को

एक दूसरे के दिये नामों पर आक्षेप करने का अधिकार न रहता यदि वे नाम वाइसराय को स्वीकृत होते। (iii) इन दो प्रमुख दलों के सम्मिलित सरकार में भाग लेने का निश्चय कर लेने तथा आवश्यक नाम पेश कर देने पर ही विभागों का विभाजन होता। महत्वपूर्ण विभागों का विभाजन कांग्रेस तथा मुस्लिम-लीग के बीच बराबर बराबर हो जाता। (iv) यदि कांग्रेस स्वीकार करे तो मैं इस नियम का स्वागत करूँगा कि बड़े साम्प्रदायिक प्रश्न केवल दोनों बड़े दलों की राय से ही निबटाये जा सकते हैं। कोई सम्मिलित सरकार इसके अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर कार्य नहीं कर सकती।'

लीग ने दो कारणों से सम्मिलित सरकार में भाग लेना अस्वीकार कर दिया। योजनाएँ कांग्रेस-लीग समानता के सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ती थीं और इसी समानता पर जुलाई १९४५ में हुई शिमला-कान्फ्रेंस के समय से ही लीग ज़ोर देती चली आ रही थी। इसके अतिरिक्त अपने सदस्यों में कांग्रेस को एक गैर लीगी मुस्लिम भी सम्मिलित करने का अधिकार मिल गया था। दूसरी ओर कांग्रेस ने योजनाएँ स्वीकार कर लीं और अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने का निश्चय किया। अन्तरिम सरकार की स्थापना के लिए वाइसराय ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को आमन्त्रित किया। अगस्त २४, १९४६, को वाइसराय ने निम्नलिखित वक्तव्य प्रकाशित किया: 'सम्राट् ने गवर्नर-जनरल की कार्यपालिका समिति के वर्तमान सदस्यों के इस्तीफे स्वीकार कर लिये हैं। सम्राट् ने निम्नलिखित व्यक्तियों को सदस्य नियुक्त किया है: पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, डा० राजेन्द्र प्रसाद, श्री आसफ अली, श्री सी० राजगोपालाचारी, श्री शरतचन्द्र बोस, डा० जॉन मथाई, सरदार बल्देवसिंह, सर शफात अहमद खाँ, श्री जगजीवनराम, सैयद अली ज़हीर और श्री सी० एच० भाभा। दो अन्य मुस्लिम सदस्यों की भी नियुक्ति होगी। अन्तरिम सरकार दो सितम्बर को कार्यभार ग्रहण करेगी।

इस प्रकार अन्तरिम सरकार की स्थापना का कार्य सम्पन्न हुआ। हाँ, इस कार्य को मुस्लिम लीग का सहयोग न मिल सका और इसलिए वह नव निर्मित सरकार से बाहर रही। अन्तरिम सरकार के रूप पर कोई निर्णय देने के पहले उसकी स्थापना के के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को भली भाँति समझ लेना चाहिए। प्रमुख कठिनाई यह थी कि कांग्रेस तथा लीग के उद्देश्य भिन्न थे, दृष्टिकोण भिन्न थे। ब्रिटिश भारत की सम्पूर्ण जनसंख्या का २५ % होते हुए भी वाइसराय की कार्यपालिका के निर्माण में मुस्लिम लीग कांग्रेस के साथ समानता चाहती थी। कांग्रेस इस निरर्थक माँग को स्वीकार भी कैसे करती? दूसरे, मुस्लिम लीग गैर-लीगी मुसलमान की नियुक्ति कैसे सहन करती? इसी बात पर शिमला सम्मेलन असफल रहा और कांग्रेस ने कैबिनेट मिशन की १६ जून वाली तात्कालिक योजना को अस्वीकृत कर दिया। अन्त में वाइसराय तथा ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस दृष्टिकोण को तर्कपूर्ण समझ

और अन्तरिम सरकार की स्थापना के लिए २२ जुलाई की योजना को सबसे अधिक उपयुक्त समझा।

लेकिन, वाइसराय के इस निश्चय से लीग ने मिशन के प्रति असहयोग की नीति अपना ली। जुलाई २६ के अपने प्रस्ताव द्वारा लीग ने कैबिनेट मिशन की लम्बी तथा तात्कालिक योजनाओं के प्रति अपने सहयोग की समाप्ति कर दी और पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष कार्रवाई का निश्चय किया। मि० जिन्ना ने कैबिनेट मिशन पर किये वादों को तोड़ने का आक्षेप लगाया। उनके क्रोध-पूर्ण उद्गारों का वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है।

मुस्लिम लीग ने अगस्त १६ को 'प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस' मनाना निश्चित किया। उसकी प्रत्यक्ष कार्रवाई कांग्रेस के आन्दोलन की तरह विदेशी सरकार के विरुद्ध नहीं थी; उसका उद्देश्य एक विरोधी सरकार के हाथों से पाकिस्तान छीन लेना भी नहीं था। यह प्रत्यक्ष कार्रवाई हिन्दुओं के विरुद्ध संगठित की गयी थी। उसने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच खुल्लमखुल्ला लड़ाई प्रारम्भ कर दी। अगस्त, १९४६, में कलकत्ते में चार दिन तक होनेवाले भयङ्कर रक्तपात, उसी वर्ष के अक्तूबर में नोआखाली के हिन्दुओं पर होनेवाले असाधारण अमानुषिक कार्यों, बिहार के हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों से भयङ्कर बदला लेने तथा पंजाब में देश के विभाजन के पहिले और बाद होने वाले अत्याचारों के लिए यही प्रत्यक्ष कार्रवाई उत्तरदायी है। इस भयावह अतीत की दुःखद गाथा दुहराने से कोई लाभ न होगा इसलिए १६ अगस्त, १९४६, के बाद देश में पूरे एक वर्ष तक होनेवाली भयंकर घटनाओं के वर्णन को यहाँ प्रश्रय नहीं दिया जा रहा है। फिर भी इतना तो बतला ही देना चाहिये कि जब कलकत्ते में हिन्दू धन-जन का भयंकर विनाश हो रहा था, तो शान्ति तथा न्याय के संरक्षक निष्क्रिय तथा निश्चित पड़े थे। पहले दो या तीन दिनों तक सरकार कलकत्ते के विनाश को रोकने में एकदम असफल रही। १९४२ के आन्दोलन को दबाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने जो कुछ किया उससे यह अवस्था एकदम विपरीत रही। इस अन्तर का कारण स्पष्ट था। बंगाल में लीगी मन्त्रिमण्डल का आधिपत्य था; मन्त्रिमण्डल के प्रधान श्री एच० एस० सुहरावर्दी हिन्दुओं तथा कांग्रेस पर अपना प्रभाव जमाना चाहते थे। केन्द्रीय सरकार के किसी भी बड़े अधिकारी ने कलकत्ते तथा नोआखाली का दौरा नहीं किया और न लीगी नेताओं ने अपने अनुयायियों के अमानुषिक कार्यों की निन्दा ही की।

अन्तरिम सरकार में लीग का पदार्पण— कैबिनेट मिशन की लम्बी तथा तात्कालिक योजनाओं को अस्वीकृत करने के लीगी प्रस्ताव तथा उसकी प्रत्यक्ष कार्रवाई के निश्चय ने लॉर्ड वेवल को निराश नहीं किया। उसके विपरीत उन्होंने लीग को उसका प्रस्ताव लौटा लेने, अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने तथा संविधान-सभा के कार्यों में पूरा भाग लेने के लिए प्रयत्न जारी रक्खा। उन्हें आंशिक सफलता

भी मिली। लीग ने कार्यपालिका में सम्मिलित होने का निश्चय तो किया लेकिन अपने उस प्रस्ताव को न लौटाया जिसम मिशन क लम्बी योजना अस्वीकृत की गयी थी। दूसरे शब्दों में, वाइसराय ने अपनी कार्यपालिका म मुस्लिम लीग को पॉच सीटें दीं किन्तु उससे वह संविधान निर्माण में सहयोग देने का वादा न करा सके। यह एक बहुत बड़ी भूल थी जैसा कि बाद की घटनाओं ने स्पष्ट कर दिया। दूसरे, यह ध्यान में रखना चाहिए कि मुस्लिम लीग अन्तरिम सरकार म दूसरे दलों से सहयोग करके स्वतन्त्रता निकट लाने के उद्देश्य से सम्मिलित नहीं हुई थी, न वह उसे एक औपनिवेशिक मन्त्रिमण्डल का रूप ही देना चाहती थी। अन्तरिम सरकार में भाग लेकर वह अपनी स्थिति मजबूत बनाना चाहती थी ताकि पाकिस्तान तथा अन्य लीगी हितों के लिए वह अपनी इच्छानुसार प्रयत्न कर सकती। ऐसी दशा म 'सम्मिलित उत्तरदायित्व' रह ही कैसे सकता था, कार्यपालिका का कैबिनेट क रूप म कार्य करना असम्भव था। लोगों का पहिले यह विचार था कि घटनाओं क दबाव से कार्यपालिका का काम सम्मिलित रूप से चलने लगता किन्तु यह विचार कार्य रूप में परिणत न हुआ। केवल एक सप्ताह के अनुभव से ही पंडित नेहरू ने यह विचार प्रकट किया कि २६ अक्तूबर को लीग प्रतिनिधियों के आने से लेकर आगे तक लॉर्ड वेवल कैबिनेट की गाड़ी के पहियों को एक एक करके हटाने का बराबर प्रयत्न करते रहे, उनकी यह इच्छा होने लगी थी कि सब कार्य ठप पड़ जाय और देश की प्रगति उस रास्ते पर न हो जिस पर कांग्रेसी नेता चाहते थे। कांग्रेस के मेरठ अधिवेशन म पंडित नेहरू ने यह स्पष्ट कर दिया कि मुस्लिम लीग 'सम्राट् की पार्टी' के रूप म कार्य कर रही थी। भारतीय सरकार प्रशासी (Administrative) विभागों का एक समूह बन गयी थी, एक सम्मिलित शक्ति नहीं जैसा कि कांग्रेस उसे बनाना चाहती थी।

अन्तरिम सरकार म मुस्लिम लीग के पॉच सदस्यों के आ जाने से उसके पुनर्निमाण की आवश्यकता पड़ गयी। २६ अक्तूबर १९४६ की बनने वाली नयी अन्तरिम सरकार में निम्नलिखित व्यक्ति थे पंडित जवाहरलाल नेहरू (वैदेशिक मामले तथा कामनवेल्थ सम्बन्ध), सरदार वल्लभभाई पटेल (गृहविभाग, सूचना तथा समाचार प्रसार), श्री लियाकत अली खॉ (अर्थ), श्री आई० आई० चुन्द्रीगर (वाणिज्य, व्यवसाय), डा० राजेन्द्र प्रसाद (कृषि और खाद्य), श्री आसफ अली (रेलवे और यातायात), सरदार बलदेवसिंह (रक्षा), श्री अब्दुर्रब निश्तर (डाक और तार), श्री जगजीवनराम (श्रम), श्री गजनफर अली खॉ (स्वास्थ्य), श्री योगेन्द्रनाथ मण्डल (कानून), डा० जॉन मथाई (उद्योग और पूर्ति), श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी (शिक्षा), और श्री सी० एच० भाभा (शक्ति, खान तथा वर्क्स)। चौदह सदस्यों के मन्त्रिमडल म कांग्रेस को छ सीटें मिलीं, मुस्लिम लीग को पॉच तथा अन्य अल्पसंख्यकों को तीन। २४ अगस्त १९४६ को मन्त्रिमडल निर्माण के समय मुस्लिम लीग के लिए दो सीटें खाली रक्खी

१

गयी थीं लेकिन लीग-सदस्यों का स्थान देने के लिए कांग्रेस के तीन सदस्यों को निकलना पड़ा। कांग्रेस के निकलने वाले सदस्यों में श्री शरतचन्द्र बोस भी थे।

लीग और विधान परिषद्— यह पहले ही कहा जा चुका है कि लीग ने एक प्रस्ताव पास करके कैबिनेट मिशन की १६ मई की योजना अस्वीकृत कर दी। जब लॉर्ड वेवल लीगी सदस्यों को अन्तरिम सरकार में लाने के लिए प्रस्तुत हुए तो पंडित नेहरू लीग से यह आश्वासन चाहते थे कि वह सरकार तथा संविधान सभा के कार्यों में पूरा सहयोग देगी। इसके उत्तर में वाइसराय ने पंडित नेहरू के पास निम्नलिखित आशय का पत्र भेजा : 'श्री जिन्ना ने मुझे यह आश्वासन दिया है कि मुस्लिम लीग अन्तरिम सरकार तथा संविधान-सभा में सहयोग के उद्देश्य से ही सम्मिलित होना चाहती है। लेकिन कैबिनेट मिशन की योजना को कार्यान्वित करने के लिए जब संविधान-परिषद् के सदस्यों को नयी दिल्ली में ६ दिसम्बर को एकत्रित होने की सूचना दी गयी तो श्री जिन्ना ने यह घोषणा की : 'इन परिस्थितियों में यह स्पष्ट है कि मुस्लिम लीग का कोई भी सदस्य संविधान-सभा में भाग नहीं लेगा और २९ जुलाई को लीग का बम्बई में पास किया हुआ प्रस्ताव ही उसे मान्य है।'

६ दिसम्बर को जब संविधान-परिषद् की नयी दिल्ली में बैठक हुई तो मुस्लिम लीग के सदस्य अपने पूर्व निश्चय के अनुसार उससे अलग रहे। यह स्पष्ट करना कठिन है कि इन परिस्थितियों के बीच भी लीग-सदस्यों को अन्तरिम सरकार में रहने कैसे दिया गया। यहाँ यह बतला देना भी आवश्यक है कि एक पत्रकार सम्मेलन में श्री जिन्ना से यह पूछने पर कि उन्होंने लार्ड वेवल को लीग की बैठक बुलाकर २९ जुलाई के प्रस्ताव पर विचार करने तथा उसे अपनाने का वायदा किया था, उन्होंने यह साफ कह दिया कि उन्होंने इस प्रकार का कोई वायदा नहीं किया था।

जुलाई १९४६ में कैबिनेट मिशन के विदा होने के पश्चात् देश की राजनैतिक प्रगति का प्रदर्शन इस प्रकार किया जा सकता है। कांग्रेस ने मिशन की लम्बी योजना स्वीकृत कर ली और वह अन्तरिम सरकार में भी सम्मिलित हो गयी। लीग ने पहिले तो लम्बी तथा तात्कालिक दोनों योजनाएँ स्वीकृत कीं किन्तु बाद में दोनों को अस्वीकृत कर दिया। इस अस्वीकृति के बावजूद भी लॉर्ड वेवल ने लीग से पाँच सदस्य लिए और उन्होंने लीग के २९ जुलाई वाले प्रस्ताव को भी लौटवा लेने की चेष्टा नहीं की। अन्तरिम सरकार में यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि लीग का उद्देश्य सम्मिलित उत्तरदायित्व के साथ कार्य करने का नहीं था, वह केवल अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में लगी थी। अन्तरिम सरकार इस प्रकार ढीली पड़ती जा रही थी। वाइसराय ने संविधान सभा के सदस्यों को नयी दिल्ली में ६ दिसम्बर को एकत्रित होने का निमन्त्रण दिया। मुस्लिम-लीग ने इसमें सम्मिलित

होना अस्वीकार कर दिया। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि कैबिनेट मिशन योजनाओं का कोई परिणाम न निकला, कांग्रेस तथा मुस्लिम-लीग— देश के दो बड़े राजनैतिक दल— १९४६ के अन्त मे भी एक दूसरे से उतनी ही दूर रहे जितनी उस वर्ष के प्रारम्भ में थे।

लन्दन-सम्मेलन— इन परिस्थितियों में लॉर्ड वेवल ने ब्रिटिश कैबिनेट से विचार-विमर्श प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने वाइसराय, पंडित नेहरू, सरदार पटेल, श्री जिन्ना तथा श्री लियाकत अली को लन्दन में एक सम्मेलन के लिए आमन्त्रित किया। कांग्रेस नेता लन्दन जाने के लिए प्रस्तुत न थे क्योंकि वे यह जानते थे कि सम्मेलन में उन्ही बातों पर फिर विचार होगा जिन पर कैबिनेट मिशन के आने से लेकर तब तक हुआ था और इन बातों में कोई भी परिवर्तन करने का अर्थ होता लीग की कट्टरता, उसकी ऐंठ तथा हिंसात्मक प्रवृत्ति के समक्ष सिर झुकाना। श्री ऐटली ने पंडित नेहरू के पास यह सामुद्रिक तार भेजा कि संविधान परिषद् की बैठक का दिन टालने और कैबिनेट मिशन योजनाओं में संशोधन या उन्हें रद्द कर देने का उनका उद्देश्य न था, सम्राट् की सरकार की यह इच्छा थी कि योजनाओं को पूर्ण रूप से कार्यान्वित किया जाय। इसलिए पंडित नेहरू तथा सरदार बलदेवसिंह सम्मेलन में भाग लेने के लिए लन्दन रवाना हुए। यह अनुमान किया जाता है कि प्रान्तों को समूहों में श्रेणीबद्ध करने का प्रश्न ही लन्दन-सम्मेलन का प्रमुख विषय रहा। कांग्रेस की बराबर यह राय रही कि किसी समूह में सम्मिलित होना प्रान्तों की इच्छा पर निर्भर था, प्रान्तों के स्वायत्त शासन का यही प्रमुख अर्थ था जिस पर कैबिनेट-योजना ने जोर दिया था। लीग का कहना यह था कि प्रत्येक विभाग के लिए निश्चित किये हुए सदस्यों के बहुसंख्यक वोटों से ही इस प्रश्न का निबटारा होता, इस मामले में अपनी इच्छा पर निर्भर रहने का प्रान्तों का अधिकार न था। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि आसाम तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त ने प्रारम्भ से उस वर्ग में रहना अस्वीकार किया था जिसमें कैबिनेट-मिशन योजना ने उन्हें डाल रक्खा था। लन्दन का यह सम्मेलन अपने उद्देश्य में असफल रहा इसलिए संविधान सभा में सभी दल सम्मिलित न हो सके। सम्मेलन के सम्बन्ध में सम्राट् की सरकार द्वारा प्रकाशित वक्तव्य में प्रमुख समस्याओं के सम्बन्ध में कैबिनेट मिशन के विचारों को प्रकट किया गया था। इस वक्तव्य को पूरा उद्धृत कर देना उपयुक्त होगा

'सबसे बड़ी कठिनाई वर्गों के बनाने के सम्बन्ध में कैबिनेट मिशन की १६ मई की घोषणा के पैराग्राफ १९ (५) तथा (८) के अर्थ लगाने में हुई है

'कैबिनेट मिशन ने प्रारम्भ से ही इस बात पर जोर दिया है कि वर्गों के बनाने के सम्बन्ध में वर्गों के प्रतिनिधियों के बहुसंख्यक वोट द्वारा निश्चय किया

जायगा। यह विचार मुस्लिम लीग को मान्य है किन्तु कांग्रेस का विचार उसके विपरीत है। उसके अनुसार प्रान्तों को अपने विधान तथा वर्ग बनाने का पूरा अधिकार है।

'सम्राट् की सरकार ने जो कानूनी सलाह ली है उससे यह निश्चित हुआ है कि १६ मई की घोषणा का वही अर्थ है जिस पर कैबिनेट मिशन ने बराबर जोर दिया है। घोषणा के इस भाग को १६ मई की योजना का अनिवार्य अंग समझना चाहिए ताकि भारतीय जनता को संविधान-निर्माण में सहायता मिल सके। सम्राट् की सरकार इस संविधान को पार्लियामेन्ट के सामने रखने के लिए प्रस्तुत होगी। इसलिए यह आवश्यक है कि संविधान परिषद् के सभी दलों को स्वीकृत हो।

... .

'संविधान परिषद् की सफलता की तब तक कोई आशा नहीं है जब तक उसकी कार्य-प्रणाली पर समझौता न हो जाय। यदि कोई ऐसा संविधान तैयार होता है जिसमें भारतीय जनसंख्या के किसी बड़े भाग का प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है तो सम्राट् की सरकार उसे देश के किसी अनिच्छुक भाग पर लाद नहीं सकती।'

लन्दन सम्मेलन कांग्रेस तथा लीग में समझौता न करा सका, फिर भी उसने श्री जिन्ना का पर्याप्त पक्ष लिया। प्रान्तों के वर्ग निर्माण के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार का रुख लीग के अनुकूल हो गया। उसके अतिरिक्त मुस्लिम लीग को यह आश्वासन भी मिला कि मुस्लिम जाति पर कोई ऐसा संविधान नहीं लादा जायगा जिसको निर्माण करने वाली संविधान-परिषद् में लीग का प्रतिनिधित्व न हो। ब्रिटिश सरकार के इस वक्तव्य तथा श्री ऐटली की पहले की हुई उस घोषणा मे बड़ा अन्तर था, जिसमें उन्होंने यह कहा था कि बहु-संख्यकों की राजनैतिक प्रगति में अड़चन डालने का अल्पसंख्यकों को कोई अधिकार नहीं है। इन सबके अतिरिक्त १६ मई की घोषणा अस्वीकृत कर देने के बावजूद भी अन्तरिम सरकार में अपने सदस्य बनाये रखने के लीगी कार्य को प्रश्रय दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने यह तर्क भी रक्खा कि १६ मई की योजना कांग्रेस को भी तब तक स्वीकृत नहीं मानी जा सकती जब तक वह वर्ग निर्माण के सिद्धान्त का वही अर्थ नहीं लगाती जो मिशन ने लगाया था।

लन्दन-सम्मेलन पर कांग्रेस की प्रतिक्रिया— कांग्रेस कार्य समिति तथा अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी ने ६ दिसम्बर की घोषणा पर विचार किया और यह निश्चय किया कि '• विभिन्न अर्थ लगाने के कारण जो कठिनाई उत्पन्न हो गयी है उसे दूर करने के उद्देश्य से कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के वर्गों के सम्बन्ध में लगाये गए अर्थ के अनुसार कार्य करने की राय देती है। लेकिन यह बात सदैव ध्यान म

रखनी चाहिए कि किसी प्रान्त के साथ जबरदस्ती न होगी और न पंजाब में सिक्ख हितों की ही उपेक्षा की जायगी।'

विधान परिषद्— जैसा कि पहले निश्चित हुआ था, संविधान परिषद् की पहली बैठक ६ दिसम्बर १६४६ को हुई। कांग्रेस नेताओं ने श्री जिन्ना की बैठक टाल देने की दलील स्वीकार न की क्योंकि अपना मतलब साधने के लिए लीग का यह बहाना मात्र था।

पहले दिन ब्रिटिश भारत के २८६ सदस्यों में केवल २०७ ने अधिवेशन में भाग लिया। लीग के कुल ७४ सदस्य अनुपस्थित थे। केवल चार राष्ट्रीय मुसलमान उपस्थित थे। स्थायी प्रेसिडेन्ट का चुनाव होने तक डॉ० सच्चिदानन्द सिनहा परिषद् के चेयरमैन चुने गये। अपने सर्वप्रथम सन्देश में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने विधान-परिषद् के इस अधिकार पर जोर दिया कि वह 'एक स्वतन्त्र सत्ता है जिसकी प्रगति में कोई बाहरी शक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकती और जिसका निर्णय बदलने, सुधारने तथा फेरफार करने का किसी भी बाहरी व्यक्ति को अधिकार नहीं है।' चार दिन बाद पंडित नेहरू ने एक प्रस्ताव रक्खा जिसमें विधान-परिषद् का उद्देश्य एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का निर्माण बताया गया। परिषद् की कार्रवाई तथा उसके द्वारा निर्मित विधान का संक्षिप्त से संक्षिप्त वर्णन भी इस अध्याय के क्षेत्र में सम्मिलित नहीं है, यहाँ हम केवल इतना कहेंगे कि मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण अनिश्चित रहने के कारण पहले दो अधिवेशनों का वातावरण निराशा एवं अन्यमनस्कता से परिपूर्ण रहा। यहाँ यह बतला देना अनुपयुक्त न होगा कि देश का पिछले पचास वर्षों से मार्ग प्रदर्शन करने वाले नेता— पंडित नेहरू, सरदार पटेल, मौलाना आजाद, श्री राजगोपालाचारी, आचार्य कृपलानी तथा पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त— भी संविधान निर्माण के कार्य में संलग्न थे, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ही ऐसे एक व्यक्ति थे जो संविधान परिषद् के सदस्य नहीं थे। शान्ति का यह अग्रदूत उस समय नोआखाली तथा बिहार में साम्प्रदायिक एकता तथा मानवता के प्रसार में संलग्न था।

फरवरी २० की घोषणा— १६४६ के अंतिम छः महीनों में बदलने वाली देश की परिस्थितियों ने ब्रिटिश सरकार के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया कि १६४८ के बाद देश के ऊपर आधिपत्य रखना असम्भव हो जायगा। आजाद हिन्द फौज के अफसरों— सहगल, ढिल्लन, शाहनवाज— के सम्बन्ध में होने वाले प्रदर्शनों ने ब्रिटिश सरकार को उसकी जड़ के खोखलेपन का पता दे दिया। उसने यह भी अनुभव किया कि आजाद हिन्द फौज के इन सेनानियों के मुकदमे ने भारतीय फौजों के नैतिक स्तर में बड़ा परिवर्तन कर दिया था। भारतीय जल सेना का विद्रोह खतरे का एक दूसरा सिगनल था। अगस्त १६४६ में कलकत्ते में हुई हत्याएँ, पूर्वी बंगाल के

नोआखाली तथा टिपरा जिलों में साम्प्रदायिक विद्वेष की विषम ज्वाला, इन घटनाओं की प्रतिक्रिया के स्वरूप बिहार तथा उत्तर प्रदेश में होने वाली मारकाट और लाहौर, रावलपिंडी तथा मुलतान में होने वाला पाशविकता का ताडव नृत्य— ये सभी घटनाएँ इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण थीं कि भारत का शासन शिथिल हो रहा था। अन्तरिम सरकार की दशा भी कुछ अच्छी न थी। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि इतिहास में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के समान दो विरोधी दलों का उदाहरण नहीं मिलता। कांग्रेस की इच्छा थी कि मुस्लिम लीग अन्तरिम सरकार से निकल जाय क्योंकि संविधान-परिषद् के कार्य में वह कोई सहयोग नहीं दे रही थी, लीग चाहती थी कि कांग्रेस ही अन्तरिम सरकार से निकल जाय क्योंकि १६ मई की योजना उसे पूर्णरूप से स्वीकृत न थी। परिस्थितियाँ प्रतिक्षण विषमतर होती जा रही थीं। देश की इस अव्यवस्थित दशा के साथ एक यह सत्य भी सामने आया कि द्वितीय महायुद्ध ने ब्रिटेन को विश्व शक्ति के स्तर से बहुत नीचे गिरा दिया था। वहाँ के राजनीतिज्ञों ने यह स्पष्ट अनुभव कर लिया कि वे पूरे ब्रिटिश साम्राज्य का भार सभालने में समर्थ नहीं थे। दुनिया की निरन्तर बदलने वाली स्थिति से ब्रिटेन की मजदूर-सरकार इस नतीजे पर पहुँची कि एक निश्चित समय पर भारत पर से आधिपत्य हटा लेना उसके हित में होगा। यह सत्य है कि भारत पर कुछ और वर्षों तक अपना आधिपत्य बनाये रखने के लिए ब्रिटिश-सरकार शक्ति का प्रयोग कर सकती थी। किन्तु इससे उसे कोई स्थायी लाभ न होता। उसने यह सोचकर बड़ी ही बुद्धिमत्ता का परिचय दिया कि सम्मान एवं सौजन्य के साथ आधिपत्य हटा लेने में उसकी भलाई थी, इस प्रकार उसके आर्थिक हितों की रक्षा बहुत साल के लिए निश्चित हो जाती। इन सभी बातों पर सर्वाङ्गीण दृष्टि से विचार करके ब्रिटेन की मजदूर-सरकार के प्रधान मन्त्री मि० क्लीमेन्ट ऐटली ने २० फरवरी १९४७ को हाउस ऑफ कॉमन्स में एक घोषणा की जिसमें भारतीय जनता को शक्ति हस्तान्तरित करने का निश्चय किया गया। शक्ति हस्तान्तरित करने की अन्तिम तिथि ३० जून १९४८ निश्चित की गयी। उस घोषणा के कुछ अंश नीचे दिया जा रहा है :—

'सम्राट् की सरकार की यह इच्छा है कि उत्तरदायित्व का भार उन लोगों के हाथ में दे दिया जाय जिन्हें भारत के सभी दलों द्वारा बनाया गया संविधान स्वीकृत हो। सत्ता हस्तान्तरित करने का यह कार्य कैबिनेट मिशन-योजना के अनुसार हो रहा है, उसी के अनुसार होना भी चाहिए। लेकिन अभाग्यवश अभी ऐसी कोई संभावना दृष्टिगत नहीं हो रही है कि भारत में ऐसा कोई विधान बनेगा। भारत की वर्तमान अव्यवस्था से अनेक खतरे उत्पन्न हो सकते हैं इसलिए उसे अधिक समय तक नहीं बने रहने दिया जा सकता। सम्राट् की सरकार इसे स्पष्ट कर देना चाहती है कि वह उत्तरदायित्वपूर्ण भारतीय हाथों में सत्ता हस्तान्तरित करने के लिए प्रस्तुत है और सत्ता हस्तान्तरण का अन्तिम समय जून १९४८ ही है।'

इस घोषणा म निम्नलिखित महत्वपूर्ण विधान भी था : 'यदि यह प्रतीत होगा कि पैराग्राफ ७ म दिये गए समय से पहले भारत के सभी प्रमुख दलों की स्वीकृति प्राप्त करने वाले संविधान का निर्माण न हो सकेगा तो सम्राट् की सरकार को यह निश्चित करना पड़ेगा कि निश्चित समय पर सत्ता किसे हस्तान्तरित की जाय— ब्रिटिश भारत की किसी केन्द्रीय सरकार को, वर्तमान प्रान्तीय सरकारों को, अथवा किसी अन्य रीति से जो भारतीयों के हित में सबसे उपयुक्त हो।'

घोषणा के पहले भाग का पंडित जवाहरलाल ने ही भारत की वर्तमान अव्यवस्था के लिए वास्तविकता तथा विभिन्न अन्छाइयों के लाने वाले के रूप म स्वागत किया। उन्होंने इसे आवश्वास तथा गलतफहमी दूर करने वाला बताया। घोषणा के दूसरे भाग को श्री मोहम्मद अली जिन्ना ने पाकिस्तान का सदेशवाहक बताया। इस बात म कोई सदेह नहीं कि घोषणा ने मुस्लिम लीग की अलगाव की भावना को कुछ न कुछ बल अवश्य दिया। कांग्रेस कार्यसमिति ने भी २० फरवरी की घोषणा पर विचार किया और सम्राट् की सरकार के उस निश्चित उद्देश्य का स्वागत किया जिसमे भारतीय लोगों को सत्ता हस्तान्तरित करने का आश्वासन दिया गया था। इसने १६ मई १९४६ की योजना की स्वीकृति फिर से दुहराई और ६ दिसम्बर की अपनी घोषणा म योजना का ब्रिटिश सरकार द्वारा लगाया अर्थ भी स्वीकार कर लिया और मुस्लिम लीग को यह निमत्रण दिया कि वह अपने कुछ प्रतिनिधि भेजे जो कांग्रेस के प्रतिनिधियों से मिलकर देश की अवस्था के बारे म विचार विमर्श करे। किन्तु लीग ने इस निमत्रण की ओर ध्यान न दिया।

लॉर्ड वेवल को बुलावा जून ३ की घोषणा— यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ब्रिटिश प्रधान मत्री श्री क्लीमेंट ऐटली की घोषणा से मुस्लिमलीग को बड़ा उत्साह मिला। घोषणा यह थी कि भारतीय लोगों को सत्ता हस्तान्तरित करने का समय आने पर सम्राट् की सरकार यह निश्चय करती कि सत्ता किसी केन्द्रीय सरकार को दी जाती या देश के कुछ भागों में प्रान्तीय सरकारों को ही। इस घोषणा से मुस्लिम लीग को अपने तरीके पर दृढ़ रहने का और भी उत्साह मिला, वह सोचने लगी कि सत्ता-हस्तान्तरण के समय जिनके हाथ म शक्ति होगी वही शक्ति प्राप्ति के सच्चे अधिकारी बनेंगे। इसी भावना से प्रेरित होकर मुस्लिम लीग पजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा आसाम में शक्ति प्राप्ति के लिए अन्धाधुन्ध रीति से प्रयत्न करने लगी। इन प्रान्तों में लीग ने किन किन हथकन्डों का प्रयोग किया इसके वर्णन की यहाँ आवश्यकता नहीं है। इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि पजाब तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश के अनेक भागों में साम्प्रदायिक विद्वेष की भयकर ज्वाला धधक उठी और आसाम में एक ऐसा सघर्ष प्रस्तुत हो गया जिसे 'नागरिक अधिकार आन्दोलन' का नाम दिया जाता है। लोगों का यह विश्वास था कि पजाब का गवर्नर लीग के पक्ष

में था ; फिर भी, वहाँ लीग मन्त्रिमण्डल स्थापित न किया जा सका। सम्मिलित सरकार के पदत्याग के कारण वहाँ ९३ धारा लागू करनी पड़ी।

परिस्थितियों के इसी अव्यवस्थित विकास ने कदाचित् ब्रिटिश सरकार को लॉर्ड वेवल को हटा कर उनके स्थान पर लॉर्ड लुई माउन्टबेटन को पदासीन करने के लिए प्रेरित किया। श्री ऐटली ने इस सम्बन्ध में २० फरवरी १९४७ को एक घोषणा की। लॉर्ड लुई माउन्टबेटन ने २३ मार्च को वाइसराय के पद की शपथ ली।

भारत में पदार्पण के तुरन्त बाद लॉर्ड माउन्टबेटन ने अपने को उस कार्य में जी जान से लगा दिया जिसके लिए उनकी नियुक्ति हुई थी। यह महत्त्वपूर्ण कार्य था भारत के जिम्मेदार नेताओं के हाथ में बड़ी ही शीघ्रता व सरलतापूर्वक सत्ता-प्रदान। लॉर्ड माउन्टबेटन ने भारतीय समस्याओं पर ताजे मस्तिष्क तथा नवीन दृष्टिकोण से विचार प्रारम्भ किया। उन्होंने अधिक से अधिक वर्गों तथा हितों के नेताओं तथा प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श प्रारम्भ किया। महात्मा गाधी और श्री जिन्ना से उनकी अनेक बार बातें हुईं। इन नेताओं के साथ बातचीत में उन्होंने अपने को उनके विचारों तथा दृष्टिकोणों से अवगत करने का प्रयत्न किया और उन लोगों से कैबिनेट मिशन की १६ मई की योजना स्वीकार कर लेने की माँग की। किन्तु यह उन्हें शीघ्र ही विदित हो गया कि उन लोगों में न तो कैबिनेट मिशन-योजना पर ही समझौता हो सकता था और न भारत की एकता तथा सुदृढ़ता की रक्षा करने वाली किसी अन्य योजना पर। बहुसंख्यक हिन्दुओं के शासन में रहने के लिए मुसलमानों को विवश करने का चूँकि प्रश्न ही नहीं उठ सकता था इसलिए देश के विभाजन को छोड़ कर अन्य कोई मार्ग ही न था। लेकिन कैबिनेट-मिशन-योजना के अनुसार यह बात भी स्पष्ट हो गयी कि पाकिस्तान के स्वतन्त्र राज्य में पजाब, बगाल तथा आसाम के वे प्रदेश न सम्मिलित होते जहाँ गैर-मुस्लिम जन सख्या का बाहुल्य था। कांग्रेस तथा सिक्खों की पजाब को विभाजित करने की माँग और बगाल के विभाजन की हिन्दू महासभा की तथा कांग्रेस की माँग की उपेक्षा भी असम्भव थी। पाकिस्तान की माँग के लिए जो तर्क प्रस्तुत किए जा सकते थे वही पजाब तथा बगाल के ग़ैर-मुस्लिम क्षेत्रों को पाकिस्तान से अलग रखने के लिए भी रक्खे जा सकते थे। पडित जवाहरलाल नेहरू ने यह विचार भी प्रकट किया था कि मुस्लिम लीग को पाकिस्तान दिया जाय पर इस शर्त पर कि उन्हें कोई ऐसे प्रदेश न मिलें जिनमें मुसलमानों का बहुमत न हो। संविधान-परिषद् के प्रेसिडेन्ट डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने एक मुलाकात के सिलसिले में इस बात की घोषणा की थी कि यदि भारत का विभाजन अनिवार्य हो तो उसे अधिक से अधिक पूर्ण तथा तर्कसंगत होना चाहिये ताकि भविष्य में फिर किसी झगड़े की गुंजायश न रह जाय और यदि इस कार्य के लिए सेना के विभाजन की आवश्यकता पड़ती तो वह भी हो सकता था और वह जितना शीघ्र होता उतना ही अच्छा था।

लॉर्ड लुई माउन्टबैटन को यह विचारधारा तर्कसंगत व अग्राह्य लगी। श्री जिन्ना को अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी, उन्हें अपनी भावना के अनुकूल पूर्ण पाकिस्तान न मिल सका; और उन्होंने बंगाल तथा पंजाब के विभाजन का बड़ा विरोध किया। ऐसा प्रतीत होता है कि माउन्टबैटन की मध्यस्थता में ही लीग तथा कांग्रेस ने पाकिस्तान के विषय में अन्य बातों का भी निबटारा किया। १८ मई को लॉर्ड माउन्टबैटन सम्राट् की सरकार से विचार-विमर्श करने के लिए इङ्गलैंड रवाना हो गये। वे २ जून को इङ्गलैंड से लौटे और ३ जून को उन्होंने एक घोषणा प्रकाशित की जिसमें एक या दो सरकारों को सत्ता हस्तान्तरित करने का निश्चय किया गया।

जून ३, १९४७ की घोषणा बड़ी ही महत्वपूर्ण थी, इसलिए उसका थोड़ा विस्तृत विवेचन आवश्यक है। हम यहाँ उसके महत्वपूर्ण अंशों पर ही प्रकाश डालेंगे।

घोषणा में इस बात की चर्चा की गई थी कि सम्राट् की सरकार को यह आशा थी कि भारत के दोनों प्रमुख दल कैबिनेट मिशन की १६ मई १९४६ की योजना कार्यान्वित करने में पूरा सहयोग देते। यह आशा पूरी न हो सकी क्योंकि पंजाब, बंगाल, सिन्ध, इत्यादि से चुने मुस्लिम लीगी सदस्यों ने संविधान-परिषद् की कार्यवाही में कोई भाग नहीं लिया था। सम्राट् की सरकार की इच्छा संविधान-परिषद् के कार्यों में बाधा डालने की न थी किन्तु वह विधान-परिषद् द्वारा निर्मित विधान देश के उन भागों पर लागू भी नहीं कर सकती थी जो उसके स्वागत के लिए प्रस्तुत न थे। देश के ऐसे भागों की इच्छा जानने के लिए घोषणा ने व्यवस्था भी की। यह व्यवस्था घोषणा के ५ से १३ तक पैराग्राफों में लिखी हुई है। इसका संक्षिप्त वर्णन नीचे है।

बंगाल तथा पंजाब की विधान सभाओं को (यूरोपीय सदस्यों को छोड़कर) दो भागों में बैठना था। एक भाग मुसलमानों की अधिक संख्या वाले जिलों का प्रतिनिधित्व करता और दूसरा शेष प्रान्त का। दोनों प्रान्तों के मुसलमानों की अधिक संख्या वाले जिले घोषणा में ही गिना दिये गये थे। प्रत्येक भाग बहुसंख्यक वोटों द्वारा यह निश्चित करता कि प्रान्त का विभाजन हो या नहीं। दोनों भागों में से यदि कोई भी विभाजन के पक्ष में होता तो उसी के अनुसार विभाजन कर दिया जाता। प्रान्त के विभाजन का निश्चय हो जाने पर व्यवस्थापिका के प्रत्येक भाग को यह निश्चित करना पड़ता कि दिल्ली में काम करने वाली संविधान-परिषद् में भाग लेने के लिए वह प्रस्तुत था या नहीं, या वह उस संविधान-परिषद् में भाग लेने का इच्छुक था जो उन भागों के प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित होती जो वर्तमान परिषद् में भाग नहीं लेना चाहते थे। इस सम्बन्ध में यह बता देना आवश्यक है कि बंगाल विधान सभा के सदस्यों ने २० जून को प्रान्त के विभाजन के पक्ष में वोट दिया और तीन दिन पश्चात् पंजाब व्यवस्थापिका के सदस्यों ने भी उसी प्रकार

वोट दिया। यह कहा जा सकता है कि देश के प्रमुख अल्पसंख्यकों ने यदि देश के विभाजन का निश्चय किया तो प्रान्तीय अल्पसंख्यकों ने प्रान्तों के विभाजन का।

सिन्ध की विधान-सभा अपनी एक विशेष बैठक करके यह निश्चित करती कि पूरा सिन्ध दिल्ली की सविधान-परिषद् में भाग लेने का इच्छुक था या इस परिषद् मे भाग न लेने वाले देश के अन्य भागों की सविधान परिषद् में। जून २६ का इसने पाकिस्तान के पक्ष मे वोट दिया।

आसाम ग़ैर मुस्लिम प्रान्त है किन्तु इसका एक जिला— सिलहट— पूर्वी बगाल से मिला हुआ है और वहाँ मुसलमानों की सख्या अधिक है। लोगों ने यह माँग की कि यदि बगाल का विभाजन हो तो सिलहट के लोगों से राय ली जाय कि आया वह आसाम का एक भाग बना रहेगा या पूर्वी बंगाल के रूप मे बनने वाले नये प्रान्त मे मिल जाना चाहेगा। सिलहट के लोगों ने पूर्वी बगाल नाम के नये प्रान्त मे सम्मिलित होने का निश्चय किया।

पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के लिए घोषणा ने एक अलग प्रबन्ध किया। प्रान्तीय विधान-सभा के सदस्यों के बीच यह जानने के लिये वोट लिया जाता कि वह पाकिस्तान में सम्मिलित रहना चाहते थे या भारतीय सघ मे। यह वोट प्रान्तीय सरकार की सलाह तथा गवर्नर-जनरल के निरीक्षण में होता। पजाब, बगाल तथा सिन्ध की भाँति इस प्रान्त की विधान-सभा को अन्तिम निर्णय का अधिकार नहीं दिया गया। ६ और १७ जुलाई के बीच वोट का कार्य सम्पन्न हुआ। कांग्रेस ने वोट का बहिष्कार किया। वोटरों ने पाकिस्तान के पक्ष मे वोट किया। २६ जून को ब्रिटिश बिलूचिस्तान ने भी पाकिस्तान के पक्ष मे निश्चय किया।

जून ३ की घोषणा की एक विशेषता यह भी थी कि इसने २० फरवरी की घोषणा द्वारा निश्चित की हुई सत्ता-हस्तान्तरण की तारीख को और भी निकट ला दिया। पैराग्राफ २० का निम्नलिखित अश महत्त्वपूर्ण है : 'देश के प्रमुख राजनैतिक दलों ने अपनी इस इच्छा पर बार-बार जोर दिया है कि सत्ता-हस्तान्तरण शीघ्र से शीघ्र हो। सम्राट् की सरकार को इस इच्छा से पूरी सहानुभूति है········· इस इच्छा की सबसे अच्छी तरह तथा व्यावहारिक रूप से पूर्ति के लिए सम्राट् की सरकार औपनिवेशिक आधार पर एक या दो सरकारों को सत्ता-हस्तान्तरण के लिए इसी प्रचलित वर्ष मे कानून बनाना चाहती है·········।'

भारतीय स्वातन्त्र्य-बिल ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने सर्वसम्मति तथा बड़ी ही शीघ्रता से पास कर दिया। यह शीघ्रता सारे अगरेजी इतिहास मे बेमिसाल है। इसी ऐक्ट के अनुसार १५ अगस्त १६४७ की रात के १२ बजे भारत तथा पाकिस्तान— दो स्वतन्त्र उपनिवेशों— का निर्माण हुआ।

जून ३-योजना पर विचार-विमर्श करने के लिए अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी की १४ तथा १५ जून को दिल्ली में बैठक हुई। कांग्रेस ने सदैव से अखण्ड भारत का पक्ष लिया था, फिर भी उसे विवश होकर घोषणा म दी हुई योजनाएँ स्वीकृत करनी पड़ीं। जिन कारणों से कांग्रेस को देश का विभाजन स्वीकृत करना पड़ा उनका विवेचन यहाँ अनुपयुक्त न होगा।

देश का विभाजन अनिवार्य— भारत का दो टुकड़ा मे विभाजन अनिवार्य बन गया। भारतीय शासन मे अंग्रेजों ने हमेशा से विभाजन द्वारा शासन करने की नीति से काम लिया है। १८५७ म भारतीय स्वतन्त्रता के असफल प्रयास से निरन्तर चलने वाले इस क्रम की इस प्रकार आकर इतिश्री हुई। इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से मुस्लिम लीग द्वारा मुसलमानों मे निरन्तर भरी जाने वाली साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना भी विभाजन के लिए उत्तरदायी है। कांग्रेस की यह घोषणा भी कि देश के किसी भी भाग के लोगों को उनकी इच्छा के विरुद्ध भारतीय संघ म रहने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता विभाजन के लिए कुछ हद तक उत्तरदायी है। ब्रिटिश सरकार ने अपनी अनेक प्रतिज्ञाओं तथा वक्तव्यों द्वारा इस घोषणा का समर्थन किया। २० फरवरी की घोषणा लीग के प्रति की हुई पाकिस्तान देने की प्रतिज्ञा थी। अनिवार्य को स्वीकृत करने के अतिरिक्त कांग्रेस के लिए अन्य कोई मार्ग न रह गया। लेकिन, कांग्रेस-नेताओं द्वारा विभाजन स्वीकार कर लेने का वास्तविक कारण यह था कि अन्तरिम सरकार के कांग्रेस सदस्यों को यह भली भाँति ज्ञात हो गया कि आंग्ल-मुस्लिम गँठबन्धन अनेक प्रकार से हानिकारक बन रहा था और राज्य के प्रत्येक विभाग मे ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों द्वारा भारतीय हितों के प्रति विश्वासघात हो रहा था। राजनैतिक विभाग की कार्य प्रणाली पर सरदार वल्लभभाई पटेल ने निम्नलिखित शब्दों द्वारा प्रकाश डाला - 'मैंने तब यह जाना कि राजनैतिक विभाग की चालबाजियों द्वारा हमारे हितों की हर प्रकार से कितनी अवहेलना हो रही थी और मैं इसी निश्चय पर पहुँचा कि जितना ही शीघ्र इनसे हमारा पीछा छूटे उतना ही अच्छा।' 'धीरे-धीरे मैं इसी परिणाम पर पहुँचा कि देश के विभाजन तक से भी यदि हमारा विदेशियों के चंगुल से छुटकारा मिल जाय तो अच्छा है। और तभी मैंने यह अनुभव भी किया कि देश को शक्तिशाली तथा सुरक्षित बनाने का एक ही तरीका था और वह था शेष भारत का संगठन।' काशी विश्वविद्यालय के विशेष दीक्षान्त-समारोह के अवसर पर उन्होंने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित शब्द कहे: 'मैंने यह अनुभव किया कि देश का विभाजन स्वीकार न करने पर देश अनेक टुकड़ों मे बँटकर पूर्ण रूप से बरबाद हो जाता। एक वर्ष तक सरकारी पद पर आसीन रहने से हमें यह विश्वास हो गया कि हमारे आगे बढ़ने का ढंग हमें विनाश की ओर लिये जा रहा था। इस प्रकार एक नहीं अनेक पाकिस्तान बन जाने की आशंका थी। एक एक दफ्तर मे पाकिस्तानी कीटाणु घर कर जाते।'

इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि अन्तरिम सरकार के लीगी सदस्य अपने विभाग के प्रमुख पदों से हिन्दुओं तथा सिक्खों को निकाल कर उनके स्थान पर मुसलमानों को रखते जा रहे थे ताकि पाकिस्तानी हितों की रक्षा के लिए उनसे सहायता मिल सकती। मई १६४७ के दूसरे सप्ताह में 'अमृत बाजार पत्रिका' के पत्र प्रतिनिधि ने अपने पत्र को यह समाचार भेजा कि उसे प्राप्त भीतरी सूचना से यह प्रतीत होता था कि पंजाब तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त की भाँति दिल्ली भी शीघ्र ही प्रत्यक्ष कार्रवाई (Direct Action) का अखाड़ा बन जायगी। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच कांग्रेस नेताओं के समक्ष देश का विभाजन स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई दूसरा रास्ता न था, विदेशियों को देश से बाहर करने और आगे आने वाले विनाश से बचने के लिए यह आवश्यक था। जो देश के विभाजन का रोना रोते हैं भावना के प्रवाह में आकर 'अखण्ड भारत' की बात करते हैं, कांग्रेस-निर्णय का विरोध करने के पहले उन्हें सरदार पटेल जैसे व्यक्तियों के प्रमाण पर विचार कर लेना चाहिए। प्रारम्भ से विरोध करने पर भी परिस्थितियों के प्रभाव ने महात्मा गाँधी तक को विभाजन स्वीकार कर लेने के लिए विवश कर दिया।

विभाजन के कारण देश के लाखों नर नारियों को अपने पैतृक घर-बार से अलग होकर कष्ट तथा दुखों की असीम ज्वाला से निकलना पड़ा, फिर भी, यह विभाजन एक प्रकार से आवरण में छिपा वरदान सिद्ध हुआ। देश से वह सभी कूड़ा कचरा साफ हो गया जो हमारी राजनैतिक प्रगति में बाधक बन रहा था। जिस प्रकार कोई समझदार व्यक्ति शरीर के किसी निकृष्ट तथा सड़ते भाग के काट दिये जाने पर दुखी नहीं होता, उसी प्रकार अपने कुछ देशवासियों से अलग हो जाने पर हम अफसोस न होना चाहिए, देश के विभाजन को एक प्रकार का डाक्टरी आपरेशन समझना चाहिए जो देश को आगे आने वाले रक्तपात तथा अव्यवस्था से बचाने के लिए आवश्यक था।

संविधान सभा ने अब साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों को बिलकुल हटा दिया है, दस वर्षों के लिए दलित वर्गों की सीटें सुरक्षित छोड़ कर इसने सीटें सुरक्षित रखने की प्रथा को भी अन्तिम नमस्कार किया है, देवनागरी लिपि में इसने हिन्दी को भारत की राष्ट्र भाषा स्वीकृत किया है और केन्द्रीय सरकार को शक्तिपूर्ण बनाने के लिए इसने अन्य प्रबन्ध भी किये हैं। विधान सभा में भाग लेकर यदि मुस्लिम लीग ने संविधान निर्माण में सहयोग दिया होता तो क्या ये निर्णय कभी हो सकते थे? कैबिनेट मिशन की १६ मई की योजना का यह अंश नहीं भूलना चाहिए कि प्रत्येक वर्ग के बहुसंख्यक वोट के बिना किसी भी साम्प्रदायिक समस्या पर निर्णय नहीं दिया जा सकता। योजना का यह विधान हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने तथा साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों के तोड़ने के मार्ग में बाधक

जनता। हमें यह किसी भी प्रकार भूलना न चाहिए कि किसी बाहरी शक्ति द्वारा विभाजन हम पर लादा नहीं गया, लोगों की भलाई तथा शीघ्र स्वतन्त्रता-प्राप्ति की इच्छा से हमारे मान्य नेताओं ने इसे स्वयं स्वीकार कर लिया। स्वतन्त्रता का इतना मूल्य चुकाना अनिवार्य था। सरदार पटेल के ऊपर उद्धृत शब्दों को सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

ब्रिटिश पार्लियामेंट में १९४७ की जुलाई में भारतीय स्वतन्त्रता ऐक्ट पास होने और १५ अगस्त को भारत तथा पाकिस्तान के स्वतन्त्र राज्य-निर्माण से राष्ट्रीय आन्दोलन की हमारी कहानी अपने आप समाप्त हो जाती है। भारत को दासता के बन्धन से मुक्त करने में इण्डियन नेशनल कांग्रेस को सफलता प्राप्त हुई, गो उसे स्वतन्त्र किन्तु संगठित एवं अखण्ड भारत की प्राप्ति न हो सकी। देश की जनता को दरिद्रता एवं निरक्षरता के अभिशाप से मुक्त करने के लिए यह अब भी प्रयत्नशील है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से अब तक इस क्षेत्र में प्राप्त सफलता बहुत कम है, इस थोड़ी सफलता के कारणों तथा राष्ट्रीय सरकार के मार्ग में आई बाधाओं के विवेचन का यह उपयुक्त स्थल नहीं है। हम अपना विवेचन भारतीय स्वतन्त्रता ऐक्ट के संक्षिप्त विवरण तथा महात्मा गाँधी के बलिदान वर्णन से समाप्त करेंगे।

भारतीय स्वतन्त्रता ऐक्ट के अनुसार १५ अगस्त, १९४७, को भारत तथा पाकिस्तान— दो स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ और उनकी सीमायें भी निश्चित कर दी गयीं। प्रत्येक उपनिवेश की व्यवस्थापिका को अपने लिये संविधान बनाने तथा उस संविधान से सम्बन्धित ब्रिटिश पार्लियामेंट के किसी ऐक्ट, ऑर्डर या रूल को सुधारने या हटाने का अधिकार दिया गया। ऐक्ट द्वारा यह घोषणा भी कर दी गयी कि भारत के गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नरों को दिया हुआ आदेश पत्र १५ अगस्त से रद्द कर दिया गया। दूसरे शब्दों में, इस दिन से गवर्नर जनरल तथा प्रान्तों के गवर्नर अपने मन्त्रिमण्डलों की राय पर कार्य करने वाले वैधानिक प्रधान मात्र रह गये। भारतीय राज्यों पर भी सम्राट् की सत्ता समाप्त हो गई, लेकिन यह भारत-सरकार को हस्तान्तरित नहीं की गई।

१५ अगस्त को सारे देश में बड़ा ही उत्साह तथा प्रसन्नता प्रदर्शित की गई। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ही केवल एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने अपने को इस आनन्दोत्सव से अलग रक्खा। इस समय वे बंगाल तथा बिहार की दुखी मानवता को अपनी शिक्षाओं की अमृत घूँट पिला रहे थे। दुख है कि इस महान् आत्मा का पार्थिव जीवन दिल्ली में ३० जनवरी १९४८ को एक प्रार्थना सभा में भाषण करने जाते समय एक पागल हत्यारे की गोलियों द्वारा समाप्त कर दिया गया। भारत ही नहीं अपितु सारे जगत् के नर-नारियों के हृदय को प्रकाशित करने वाली ज्योति इस प्रकार बुझा दी गई।

कांग्रेस के भीतरी दल— राजनीति के विद्यार्थी को यह ध्यान में रखना चाहिए कि १६४७ के पहिले कांग्रेस के सभी सदस्य बिल्कुल एक ही विचारधारा को मानने वाले न थे; इसके अन्दर ऐसे व्यक्ति तथा छोटे-छोटे दल थे जिनकी देश की भविष्य में होने वाली व्यवस्था के विषय में भिन्न-भिन्न राये थीं। एक तरफ तो महात्मा जी तथा उनके सरदार वल्लभभाई पटेल और राजेन्द्रबाबू जैसे अनुयायियों को लेकर चलने वाला प्रमुख दल था जो अहिंसा पर आधारित समाज पर विश्वास करता है। दूसरी ओर, अपने भिन्न जीवन-दर्शन से प्रेरणा लेने तथा वर्ग संघर्ष (Class war) में विश्वास करने वाला कम्यूनिस्ट दल अपनी संख्या बढ़ा रहा था। इन दोनों दलों के बीच पंडित नेहरू तथा श्री जयप्रकाश नारायण को अग्रणी बनाकर चलने वाले कांग्रेस-समाजवादी थे जो अहिंसा में विश्वास रखते हुए भी देश में समाजवाद की स्थापना चाहते थे। एक समय सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में चलने वाला फॉरवर्ड ब्लॉक भी शक्तिशाली था जो देश में और शीघ्र परिवर्तन का पक्षपाती था। कुछ अन्य छोटे छोटे दल भी थे जिन्हें छोड़ा जा सकता है।

पिछले दो वर्षों से कांग्रेस के स्वरूप में बड़ा परिवर्तन हुआ है। १६४२ के आन्दोलन के समय विश्वासघात तथा देशविरुद्ध कार्यों के लिए कम्युनिस्ट दल कांग्रेस से निकाल दिया गया। समाजवादियों ने भी अपना अलग संगठन बना लिया। श्री जयप्रकाश नारायण, डॉ॰ राममनोहर लोहिया तथा आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे अनेक पुराने तथा विश्वस्त कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं के साथ समाजवादी दल आज कांग्रेस का प्रतिस्पर्धी है। इन परिवर्तनों के बाद कांग्रेस का पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल तथा डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद नेतृत्व कर रहे हैं।

भारतीय राष्ट्रीयता : स्वरूप और उद्देश्य— इण्डियन नेशनल कांग्रेस ही, जिसके आधी शताब्दी या उससे भी अधिक वर्षों के महत्त्वपूर्ण इतिहास का हमने संक्षिप्त वर्णन करने का प्रयास किया है, भारतीय राष्ट्रीयता की जननी और उसका विकास करने वाली प्रमुख संस्था है। इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने ही भारतीय राष्ट्रीयता को वह रूप-रंग दिया है जो अन्य देशों की राष्ट्रीयताओं से कुछ अंशों में भिन्न है। यहाँ उन भिन्नताओं में से कुछ पर प्रकाश डालना अनुपयुक्त न होगा।

आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता की प्रशंसा तथा उसका मूल्यांकन करते समय यह सदैव ध्यान में रखना चाहिये कि पिछले तीस वर्षों से महात्मा गाँधी ने ही उसका पथ-प्रदर्शन किया था। प्रमुखतः उन्हीं के कारण इसने भारत की अधभूखी तथा मूक जनता की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं को महत्त्व दिया। आज भी यह उसी पथ पर चल रही है; देश के थोड़े से पढ़े लिखे तथा सम्पन्न लोगों के हितों पर वह अपना समय नहीं देती। महात्मा गांधी ने भारतीय राष्ट्रीयता के इस पहलू पर

उस समय प्रकाश डाला जब द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर कांग्रेस की ओर से उन्होंने यह घोषित किया कि भारत में बसने वाली मूक जनता के हितों के लिए वह अपने सभी हितों की आहुति दे सकती थी। कांग्रेस धनिक लोगों का सगठन नहीं है, यह देश के कुछ पढे लिखे बुद्धिमान लोगों का ही प्रतिनिधित्व नहीं करती। भारतीय राष्ट्रीयता की वेदी पर इसने दरिद्र-नारायण की मूर्ति स्थापित कर रक्खी है।

दूसरे, भारतीय राष्ट्रीयता ने अपने ध्येय की प्राप्ति शान्तिपूर्ण तथा अहिंसात्मक ढङ्ग से की है। इसका तरीका सत्याग्रह था, पाशविक शक्ति नहीं; इसने मानव के सर्वोच्च तथा सर्वोत्तम रूप को प्रभावित किया, निकृष्ट रूप को नहीं। कांग्रेस का सत्याग्रह के तरीके पर जोर देना बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह है कि कि नव-निर्मित भारत राष्ट्र साम्राज्यवादी महत्त्वाकाक्षाओं से दूर रहेगा। भारत की पददलित मानवता की यह सेवा करेगा, उस पर शासन नहीं। यह एक लोकतन्त्रात्मक राज्य है और लोकतन्त्रात्मक आदर्शों की प्राप्ति के लिए यह बराबर प्रयत्नशील रहेगा।

साम्प्रदायिक एकता तथा समानता कांग्रेस का प्रमुख उद्देश्य रहा है। विदेशी शासन में इसकी सफलता-प्राप्ति कठिन थी, ब्रिटिश सरकार ने हम लोगों के मतभेद का अपने लाभ के लिए ही प्रयोग किया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से अब स्थिति बहुत बदल गयी है। साम्प्रदायिक दंगे अब अधिकतर निःशेष हो गये हैं; हिन्दू तथा मुसलमान अपने पुराने भेद भूल गये से प्रतीत होते हैं। यह आशा की जाती है साम्प्रदायिक सद्भावना तथा शान्ति निकट भविष्य में पूर्णरूप से स्थापित हो जायगी।

दी इण्डियन लिबरल फेडरेशन तथा अन्य दल— इण्डियन नेशनल कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग, जो दूसरी प्रमुख सस्था मानी जाती थी, के अतिरिक्त देश में अन्य राजनैतिक दल भी हैं जिनका वर्णन आवश्यक है। नेशनल लिबरल फेडरेशन इनमें से एक है जो कांग्रेस की ही तरह एक राष्ट्रीय सस्था है, लीग की तरह साम्प्रदायिक, वर्गगत तथा सकीर्ण नहीं। देश में कांग्रेस का अत्यधिक प्रभाव बढ जाने के कारण लिबरल फेडरेशन के कार्यों में जनता थोड़ा या बिल्कुल ही ध्यान नहीं देती थी और राजनैतिक शक्ति के रूप में लिबरलिज्म लगभग मर चुका है, फिर भी, इस सस्था की उत्पत्ति तथा उसके कांग्रेस से भेद के विषय में कुछ शब्द कह देना आवश्यक है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि इण्डियन नेशनल कांग्रेस का प्रारम्भ भारत-सरकार के आलोचक के रूप में हुआ था और अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए इसने केवल वैधानिक उपायों के प्रयोग की प्रतिज्ञा की थी। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में बाल गगाधर तिलक, लाला लाजपतराय तथा बिपिनचन्द्र पाल के नेतृत्व में एक नये दल के प्रादुर्भाव के पहले कांग्रेस के उदारवादियों तथा उग्रवादियों में कोई अन्तर न था; अंग्रेजी न्यायप्रियता तथा कर्त्तव्य निष्ठा पर पूर्ण विश्वास रखने वाले

व्यक्ति ही इसके सर्वेसर्वा थे। लेकिन लॉर्ड कर्जन के शासन को बदनाम करने वाली भूलों ने भारतीय नवजवानों को यह प्रश्न पूछने के लिए बाध्य किया : 'वैधानिक माँगों से क्या लाभ, यदि इसका अर्थ केवल अपमान तथा बंगाल का विभाजन ही है?' देश में उग्रवादिता के जन्म के कारणों का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं। इसलिए उन्हें यहाँ फिर दुहराने की आवश्यकता नहीं। सूरत में होने वाले मतभेद के बाद उग्रवादी दल के निष्कासन तथा इसके नेताओं की गिरफ्तारी और उन्हें देश से दूर भेज देने के कारण कांग्रेस १६१५ तक उदार (moderate) तथा वैधानिक बनी रही। दोनों दलों के लखनऊ मिलन के बाद कुछ परिवर्तन अवश्य हुए। कांग्रेस के प्रस्तावों में नयी रूढ़ दृष्टिगत होने लगी। लेकिन, मान्टफोर्ड-सुधार-योजना पर दोनों दलों में फिर मतभेद हो गया। उदारवादी (नरम दल) योजना को स्वीकार करके उसे कार्यान्वित करना चाहते थे; तिलक तथा एनी बेसेंट के नेतृत्व में उग्रवादी उसे अनुपयुक्त तथा असन्तोषजनक बता कर अस्वीकृत कर देना चाहते थे। उदारवादी कांग्रेस से अलग हो गये और नेशनल लिबरल फेडरेशन के नाम से उन्होंने अपना एक नया संगठन बना लिया। इसका पहला अधिवेशन सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के सभापतित्व में बम्बई में १६१८ में हुआ। समय के साथ-साथ नेशनल कांग्रेस ने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में सक्रिय विरोध अपनाया और बाद में चल कर अपना उद्देश्य पूर्ण स्वराज बना लिया। इस प्रकार नये तथा पुराने संगठन का मतभेद स्पष्टतर हो गया। यह कहा जा सकता है कि नेशनल फेडरेशन तथा कांग्रेस में साध्य और साधन— दोनों का भेद हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर रहकर स्वराज-प्राप्ति और आवश्यकता पड़ने पर उससे बाहर होकर अन्त में पूर्ण स्वराज प्राप्त करना कांग्रेस का उद्देश्य था; लेकिन नेशनल फेडरेशन ने औपनिवेशिक पद या साम्राज्य में रहकर उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार-प्राप्ति को ही अपना उद्देश्य बनाये रक्खा। दूसरे, महात्मा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने सत्याग्रह या सविनय अवज्ञा को अपनी एक विशेषता बना ली, किन्तु नेशनल फेडरेशन सदा वैधानिक तथा शान्तिपूर्ण साधनों का पक्षपाती रहा। सविनय अवज्ञा आन्दोलनों में न इसने कभी भाग लिया न उनका समर्थन किया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ इन संगठनों के ये अन्तर समाप्त हो चुके हैं, फिर भी, उनकी स्वतन्त्र सत्ता शेष है। कांग्रेस की आन्दोलनात्मक प्रवृत्ति तथा फेडरेशन की अंग्रेजी उदारता के सिद्धान्तों में आस्था— इन दोनों संगठनों को एक दूसरे से अलग करती है।

लिबरल फेडरेशन कांग्रेस की भाँति सर्वप्रिय न बन सका और इसकी सदस्यता भी सीमित ही रही। फिर भी, देश के राजनैतिक जीवन में इसने बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया और उस पर बड़ा लाभदायक प्रभाव डाला है, विशेषकर अपने प्रादुर्भाव के प्रारम्भिक पाँच या छः वर्षों में। जब तक मि० माटेग्यू भारत-सेक्रेटरी रहे और कौंसिलों का कांग्रेस-बहिष्कार पूरे जोर पर रहा तब तक उदारवादियों ने माटफोर्ड-सुधारों को कार्यान्वित किया और कुछ लाभदायक कार्य भी किया।

मि० माटेग्यू का इण्डिया ऑफिस से निकल जाना उनके लिए प्रतिकूल सिद्ध हुआ और जनता पर उनका प्रभाव तभी से धीरे धीरे घटने लगा। प्रथम गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर वे फिर प्रभाव में आये लेकिन कुछ ही दिनों के लिए। ऐसा प्रतीत होता था कि काग्रेस की बढ़ती शक्ति के कारण इस सगठन के लिए देश में कोई स्थान ही नहीं था। इसके सदस्यों को निर्वाचन क्षेत्रों में काग्रेस के मुकाबले कभी भी सफलता न मिली। कौंसिलों तथा व्यवस्थापिकाओं म भी वे तभी जा सकते जब काग्रेस उनमें स्थान ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत न रहती।

लिबरल फेडरेशन के अनुयायियों की सख्या कभी भी अधिक न रही, फिर भी, इसमें बुद्धि-वैभव की कमी कभी न रही। इसके जावन काल में अनेक राजनैतिक नेताओं का इससे साथ रहा। इनमें से प्रमुख व्यक्ति सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, सर सी० वाई० चिन्तामनि, सर शिवस्वामी ऐयर, सर बी० एन० बसु, आनरेबुल श्रीनिवास शास्त्री, सर चिमनलाल सेटलवाड तथा सर तेजबहादुर सप्रू थे। इसके वर्तमान नेताओं में हम पडित हृदयनाथ कुजरू, डा० परांजपे तथा श्री चन्दावरकर का नाम ले सकते हैं। फेडरेशन ने अपनी स्थिति अनेक रूपों से प्रकट की है। इसके नेताओं ने सामाजिक प्रश्नों पर समय समय पर अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं और आवश्यकता पड़ने पर काग्रेस तथा सरकार दोनों की उन्होंने उपयुक्त तथा रचनात्मक आलोचना की है। उदारवादी नेताओं ने अनेक बार काग्रेस तथा सरकार के बीच खिंच हटाने का प्रयत्न किया है। १६३०—३१ में प्रथम सविनय अवज्ञा आन्दोलन के अवसर पर सर तेजबहादुर सप्रू तथा डा० जयकर ने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उदारवादी नेताओं ने कई बार नॉन पार्टी लीडर्स कान्फ्रेन्स सगठित करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया। पडित मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में होने तथा प्रसिद्ध नेहरू रिपोर्ट प्रकाशित करने वाली ऑल-पार्टीज कान्फ्रेंस में भी उन्होंने भाग लिया। साइमन कमीशन का बहिष्कार करने में उन्होंने काग्रेस का साथ दिया। द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर उन्होंने युद्ध का पक्षपात करने तथा काग्रेस से मिलती जुलती माँगे सामने रखने की दोहरी नीति का प्रयोग किया।

काग्रेस के समान लिबरल फेडरेशन भी अपने वार्षिक अधिवेशन करता है; लेकिन बड़े शहरों में, गाँवों में नहीं। इन अधिवेशनों में प्रमुख राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार-विमर्श होता और उनका उदारवादी समाधान लोगों के सामने रखा जाता है।

अन्य दल— काग्रेस तथा लिबरल फेडरेशन के अतिरिक्त देश में अन्य राजनैतिक सगठन भी हैं जिनके कार्यों का देश के राजनैतिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इन दलों में मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, जमायत उल उलेमाए-

हिन्द, अकाली दल, तथा कम्यूनिस्ट पार्टी का प्रमुख स्थान है। कम्यूनिस्ट पार्टी को छोड़ कर इसमें से सभी साम्प्रदायिक तथा सकीर्ण दृष्टिकोण के हैं। राष्ट्रीय न होने के कारण उनका यहाँ विवेचन नहीं किया जा रहा है, उसके लिए अगले अध्याय में स्थान सुरक्षित है। यहाँ कम्यूनिस्ट पार्टी के सम्बन्ध मे कुछ शब्द कहे जा सकते हैं।

कम्यूनिस्ट पार्टी— अपनी उत्पत्ति तथा उद्देश्य मे कम्यूनिस्ट पार्टी काग्रेस तथा लिबरल फेडरेशन से बिल्कुल भिन्न है। इसका विकास देश मे ट्रेड यूनियन आन्दोलन से सबद्ध है। कम्यूनिस्ट नेताओं ने प्रारम्भ से ही श्रम-सस्थाओं पर अधिकार स्थापित करने की ओर ध्यान दिया और १६२६ तक कम्यूनिस्टों ने अहमदाबाद के टेक्सटाइल यूनियन को छोडकर सभी प्रमुख सगठनों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उनके कन्ट्रोल में चलनेवाला सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सगठन बम्बई का गिरनी कामगर यूनियन था। पूँजीपतियों के विरुद्ध मोर्चा बनाने के लिए वे शोषित सर्वहारा वर्ग का सगठन बनाते और इस प्रकार देश में साम्यवाद की पूर्ण स्थापना के लिए वे बराबर प्रयत्नशील होते। इस आन्दोलन के ३१ नेता गिरफ्तार कर लिये गये और षड्यन्त्र का अभियोग लगाकर उन पर मेरठ मे मुकदमा चलाया गया। बाद में चलकर कम्यूनिस्टों ने काग्रेस मे सम्मिलित होकर स्थानीय काग्रेस कमेटियों पर अधिकार करना चाहा। द्वितीय महायुद्ध मे रूस के सम्मिलित होने के बाद उन्होंने 'पीपुल्स वार' (जन-युद्ध) का नारा बुलन्द करना चाहा। १६४२ मे काग्रेस-नेताओं तथा कार्यकर्त्ताओं की गिरफ्तारी के बाद उन्होंने मिल मजदूरों के ऊपर अपने प्रभाव का सरकार की सहायता के लिए उपयोग किया और सरकार को उसके युद्ध-प्रयत्नों में अपनी पूरी शक्ति से सहयोग दिया। अपनी इस नीति के कारण वे काग्रेस से अलग कर दिये गये हैं और आज वे अपनी खिचड़ी अलग पका रहे हैं। उनका एक केन्द्रीय सगठन है जिसकी शाखाएँ देश भर में फैली हुई हैं। सक्रियता तथा अविश्रात परिश्रम उनके कार्यकर्त्ताओं का एक विशेष गुण है। उनका आर्थिक समानता का सिद्धान्त नवजवानों को अक्सर बहुत प्रिय लगता है। हाल ही में उन्होंने पश्चिमी बगाल तथा हैदराबाद में बड़ी अव्यवस्था मचानी चाही और अनेक हत्याओं तथा लूटपाट के लिए भी वही उत्तरदायी माने जाते हैं।

भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी रूस की गाडी के पहिये से बँधी हुई है और भारतीय राष्ट्रीयता की घोर शत्रु है। देश में शीघ्र परिवर्तन के उद्देश्य से व्यवस्थित जीवन मे उलट फेर के लिए यह हरदम प्रयत्नशील रहती है। अपने ध्येय की प्राप्ति में यह किसी भी तरीके को प्रशसनीय मानती है; इसलिए कुछ प्रान्तीय सरकारों ने इसको अवैध घोषित कर दिया है और केन्द्रीय सरकार इस पर सतर्क दृष्टि रखती है।

अध्याय ५ का पूरक

कांग्रेस का ग़ैर-राजनैतिक कार्य

परिचय— इण्डियन नेशनल कांग्रेस मुख्यतः एक राजनैतिक संस्था है और देश के लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति ही इसका प्रमुख ध्येय था, फिर भी इसने केवल राजनैतिक क्षेत्र तक ही अपने को सीमित नहीं रक्खा है, आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में भी इसने बहुत कार्य किये हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखने योग्य है कि कांग्रेस के जन्मदाताओं का उद्देश्य था 'भारत का आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, औद्योगिक तथा राजनैतिक, सभी क्षेत्रों में पुनरोद्धार', हालाँकि अपने प्रारम्भिक वर्षों में इसकी शक्ति राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति में ही अधिक खर्च होती रही। दादाभाई नौरोजी ने सबसे पहले कांग्रेस का ध्यान देश की भयंकर ग़रीबी की ओर दिलाया लेकिन शताब्दी के दो दहाई वाले वर्षों के आने तक कांग्रेस ने जनता की दशा-सुधार के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। यह जो कुछ भी कर सकती थी वह था स्वदेशी पर जोर देकर भारतीय उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन देना। महात्मा गाँधी के प्रादुर्भाव ने सारी स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया। उनके रचनात्मक कार्य-क्रम में हाथ से कातने, अस्पृश्यता निवारण तथा साम्प्रदायिक सद्भाव को विशेष महत्त्व दिया गया और कांग्रेस कार्यों की दिशा आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में मोड़ दी गयी। यह कहा जा सकता है राजनैतिक क्षेत्र में हमारी सफलता बहुत कुछ आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में सफलता पर निर्भर रही है। इस पूरक अध्याय में हम कांग्रेस के ग़ैर राजनैतिक कार्यों का संक्षिप्त विवरण देंगे।

(१) **आर्थिक**— कांग्रेस ने देश के उद्योग धन्धों को बड़ी सहायता दी है। बंगाल के विभाजन के समय से ही इसने स्वदेशी को प्रोत्साहन दिया है और समाप्त-प्राय उद्योग धंधों को फिर से जीवन दिया है। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के विदेशी कपड़ों तथा अंग्रेज़ी माल के बहिष्कार ने भी भारतीय उद्योगों को बड़ी सहायता दी है। पिछले पचीस वर्षों में इसने पुराने तथा मृतप्राय कुटीर उद्योग-धंधों— विशेषतः कातने बुनने— को पुनर्जीवित किया है। महात्मा जी के नेतृत्व में ही अखिल भारतीय कताई संघ तथा अखिल-भारतीय ग्रामोद्योग संघ की स्थापना हुई थी। आज वे कांग्रेस से अलग रहकर कार्य कर रहे हैं। धान कूटना, आटा पीसना, तेल निकालना, गुड़ बनाना, मधुमक्खी पालना, कागज तथा साबुन बनाना, चमड़े का काम, कातना बुनना, भावे चटाई बनाना, सींगों से सामान बनाना, बटन तथा स्लेट पेंसिलें बनाना, आदि कुछ ऐसे कार्य हैं जिन्हें ग्रामोद्योग संघ ने उपयुक्त केन्द्रों पर प्रारम्भ किया है। १९३५ के ऐक्ट के अनुसार पद ग्रहण के पश्चात् पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस ने एक राष्ट्रीय-योजना समिति (National Planning

Committee) बिठायी। इस सम्बन्ध में ध्यान में रखने योग्य सबसे महत्त्वपूर्ण चीज यह है कि कांग्रेसियों ने अब जनता के लिए सोचना और अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया है, उसकी आर्थिक-दशा सुधार को वे अपना कर्त्तव्य समझने लगे हैं।

(ii) सामाजिक— जबसे गाँधी जी ने कांग्रेस का नेतृत्व ग्रहण किया, साम्प्रदायिक सद्भावना, नशाबन्दी तथा अस्पृश्यता-निवारण को कांग्रेस कार्यक्रम में प्रमुख स्थान मिला है। साम्प्रदायिक विद्वेष ने जब भयंकर रूप धारण कर लिया और निर्दोष जनता के रक्तपात से पृथ्वी रंगी जाने लगी, महात्मा जी ने दिल्ली में २१ दिन के उपवास का निश्चय किया। यह दुःख के साथ कहना पड़ता है कि राजनैतिक दाँव-पेंच के कारण साम्प्रदायिक स्थिति विषमतर होती गयी, कांग्रेस प्रयत्नों का कोई विशेष परिणाम न निकला। शराब की दुकानें बन्द करने के प्रयत्न में हजारों स्त्री पुरुषों ने जेल-यातनाएँ सहीं और पुलिस के हाथों लाठियों की बौछारें भी सहर्ष सहन की। कांग्रेस ने जब कई प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनाये, इसने कुछ चुने क्षेत्रों में अनिवार्य नशाबन्दी प्रारम्भ की और इस प्रकार तीन वर्षों में वह पूरी नशाबन्दी करना चाहती थी। कांग्रेस का यह प्रयोग सफल हो गया होता यदि वह कुछ वर्षों तक और पदासीन रहती। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के पदत्याग के पश्चात् यह कार्यक्रम धारा ९३ के अनुसार लौटा लिया गया। अस्पृश्यता निवारण में कांग्रेस का बहुत बड़ा हाथ रहा है। श्री ठक्कर बापा के उत्साहपूर्ण मन्त्रित्व में अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ का निर्माण गाँधी जी ने किया था। राष्ट्रीय चेतना के नारी-समुदाय पर प्रभाव का भी वर्णन आवश्यक है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के युद्ध में भाग लेने के लिए हजारों स्त्रियाँ पर्दे का बन्धन तोड़ कर बाहर निकल आयीं। स्त्रियों की चेतना अब स्थायी बन गयी है, कांग्रेस की यह एक प्रमुख गैर राजनैतिक सफलता है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि कांग्रेसी हिन्दुओं तथा मुसलमानों में गैर कांग्रेसी हिन्दुओं तथा मुसलमानों की अपेक्षा अधिक भ्रातृभाव है। लेखक कई ऐसे कांग्रेसी हिन्दुओं तथा मुसलमानों को जानता है जो एक दूसरे से खूब अच्छी प्रकार मिलते-जुलते तथा एक दूसरे के सुख-दुःख में पूरा भाग लेते हैं।

(iii) शिक्षा सम्बन्धी— अभी कुछ थोड़े ही वर्षों से कांग्रेस ने राष्ट्र के शिक्षा सम्बन्धी कार्यों में कुछ सहयोग दिया है। महात्मा गाँधी ने अपनी शिक्षा योजना देश के सामने रक्खी जिसे वर्धा योजना कहते हैं। इस योजना ने लोगों को बहुत प्रभावित किया है और यह वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन कर सकता है। आगे आने वाले अध्याय में हम इसका विस्तृत विवेचन करेंगे।

वर्तमान शताब्दी के दो दहाई वाले प्रारम्भिक वर्षों में जब कांग्रेस ने देश-वासियों से सरकारी या सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों तथा कॉलिजों का बहिष्कार करने की

अपील की, देश में अनेक स्थानों पर राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ जिनमे से कुछ अब भी शेष हैं। देश के लिए एक राष्ट्रभाषा की, जिसका पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त का रहने वाला व्यक्ति भी बगाल, मद्रास या महाराष्ट्र पहुँचने पर प्रयोग कर सकना, आवश्यकता का अनुभव करके कांग्रेस ने हिन्दुस्तानी को देश की राष्ट्रभाषा बनाना चाहा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, देवनागरी लिपि में हिन्दी देश की राष्ट्रभाषा स्वीकृत हो चुकी है।

(iv) *राष्ट्रीय एकता*— राष्ट्रीय एकता के विकास मे भी कांग्रेस ने बड़ा महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। हाँलाकि देश का एकता म सहायक तत्व सदैव से रहे हैं, फिर भी यह स्वीकार करना पडेगा कि राष्ट्रीय एकता की भावना की उत्पत्ति अभी हाल मे हुई है और इसको विकसित करने का श्रेय कांग्रेस को है। प्रान्तीयता की भावना धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है और देश का प्रत्येक भाग अब अपने को एक दूसरे से अभिन्न समझता है। बगाल के विभाजन का सारे देश में विरोध किया गया और जलियाँवाला बाग के हत्याकाड ने सारे देशवासियों के हृदय में क्रोध की ज्वाला धधका दी। बिहार तथा क्वेटा के भयकर भूकम्प सारे देश की विपत्ति समझे गये। महात्मा जी, खान अब्दुल गफ्फार खाँ, मौलाना अबुल कलाम आजाद, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल तथा डा० राजेन्द्रप्रसाद जैसे राष्ट्रीय नेताओं का प्रत्येक प्रान्त मे स्वागत हुआ है। देश के विभाजन से उसकी राष्ट्रीय एकता को बहुत बड़ा धक्का अवश्य लगा है लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में वह आवश्यक था।

राष्ट्रीय आत्मा : विशेषताएँ— राष्ट्र-निर्माण के कार्य में कांग्रेस की सबसे बड़ी देन यह है कि इसने सर्वसाधारण के चरित्र तथा दृष्टिकोण मे बड़ा परिवर्तन कर दिया है। कांग्रेस द्वारा प्रारम्भ किये जाने वाले सविनय अवज्ञा आन्दोलन का चाहे जो गुण दोष देखा जाय, इतना तो स्पष्ट होता है कि इन्होंने लोगों में निर्भयता की भावना भर दी। 'राष्ट्रीय चेतना ने मानसिक दासता के बन्धन तोड़ डाले हैं। नर-नारियों तथा बच्चों ने सर ऊँचा करके चलना सीख लिया है। कैद का भय अब भाग गया है; गोलियों तथा लाठियों का भय भी जा रहा है'— १९३२ मे एक पत्रकार ने इस प्रकार लिखा। १५ अगस्त १९४७ के पहले भी एक हिन्दुस्तानी किसी अंग्रेज के सामने पहले की अपेक्षा अधिक निर्भयता से खड़ा होता; उसके हृदय से सरकारी अफसरों तथा पुलिस का भय समाप्त हो गया। सरकार की आलोचना मे भी अब वह अधिक निर्भय हो गया है। सत्य तथा न्याय के प्रति अब आस्था अधिक हो गयी है। १९३१ में लॉर्ड इरविन से समझौते मे सफल होने के बाद महात्मा गाँधी ने दिल्ली की एक विराट् सभा में कहा था कि कष्टसहन तथा त्याग की अग्नि-परीक्षा से निकलने के बाद देश की नैतिक उच्चता आधा इन्च बढ़ गयी थी।

अध्याय ६

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता

साम्प्रदायिकता : भारतीय राजनीति की एक विशेषता— ब्रिटिश प्रेस तथा राजनीतिज्ञों का चरम सीमा तक ध्यान आकर्षित करने वाली भारत की स्वतन्त्रता की कभी न बुझने वाली प्यास नहीं बल्कि उसकी साम्प्रदायिकता थी। स्वराज के मार्ग में साम्प्रदायिकता ने सबसे बड़ा रोड़ा अटकाया है। स्वराज प्राप्ति के पहले तो भारत साम्प्रदायिकता का घर ही था; साम्प्रदायिक हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, सभी अपनी-अपनी संस्थाओं की सहायता करते। ऐसे वातावरण में राष्ट्रीयता का विकास कैसे सम्भव था? लोगों की जो शक्ति राष्ट्रीयता तथा राष्ट्र-हित के अन्य कार्यों में खर्च होती वह संकीर्ण साम्प्रदायिकता की ओर मुड़ गयी। आखिर यह साम्प्रदायिकता है कौन बला? इसके विकास में किन चीजों ने सहायता पहुँचायी? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनमें भारतीय राजनीति का विद्यार्थी अब भी दिलचस्पी रखता है। आगे आने वाले पृष्ठों में इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया जायगा।

साम्प्रदायिक समस्या को कभी-कभी हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न या हिन्दू-मुस्लिम-सिक्ख प्रश्न कहा जाता था। समस्या को यह नाम देना बहुत ही त्रुटिपूर्ण है। इस नामकरण से तो यह प्रतीत होता है कि समस्या पूर्णतः या मुख्यतः धार्मिक थी। इसका यह अर्थ भी होता है कि केवल हिन्दू मुस्लिम तथा सिक्ख ही इससे सम्बद्ध थे। लेकिन ये दोनों विचार त्रुटिपूर्ण हैं। साम्प्रदायिक समस्या धार्मिक होने की बनिस्बत राजनैतिक अधिक थी, यह मुख्यतः राजनैतिक थी। इसके स्वरूप-निर्माण तथा विकास में ब्रिटिश साम्राज्यवादिता का भी उतना ही हाथ रहा है जितना हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच राजनैतिक हितों के संघर्ष का। समस्या को जो केवल हिन्दुओं मुसलमानों के बीच का धार्मिक संघर्ष समझते हैं और उसकी तह में छिपी अंग्रेजी चालों को नहीं देखते, वे उसका सर्वांगीण अवलोकन नहीं कर सकते। वास्तविक रूप में समस्या यह थी कि देश में बसने वाले विभिन्न वर्गों— हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, आंग्ल-भारतीय, यूरोपियन, जमींदार, उद्योगपति, श्रमिक तथा वणिज व्यवसाय में लगे रहने वालों— की राजनैतिक शक्ति में हिस्सा लेने की माँग को कैसे संतुलित किया जाता। अंग्रेजी सरकार द्वारा अपनायी नीति ने कुछ वर्गों को अपनी माँग सर्वोपरि रखने के लिए प्रोत्साहित ही नहीं किया बल्कि वर्गों के आपसी समझौते द्वारा समस्या के हल को असम्भव बना दिया। भारत में चलने वाली स्पर्धा राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करने वाली कांग्रेस, संकीर्ण साम्प्रदायिकतापूर्ण मुस्लिम-लीग, हिन्दू महासभा तथा ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितों के बीच थी। इस प्रकार अपने देश में एक साम्प्रदायिक त्रिभुज निर्मित हुआ, जिसकी ब्रिटिश साम्राज्यवादिता एक

महत्त्वपूर्ण भुजा थी। श्री अशोक मेहता की पुस्तक 'दी कम्यूनल ट्रैंगिल इन इण्डिया' में यह चीज बहुत स्पष्ट रूप से समझाई गयी है।

साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति— देश की राजनीति के दो तत्वों— उद्दाम (insurgent) भारतीय राष्ट्रीयता का विदेशी शासन को फेंक देने का प्रयत्न तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादिता का इस उठती शक्ति को कुचल देने का प्रयत्न— के आपसी संघर्ष के कारण ही साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति हुई। इन दो तत्वों में से किसी की भी अनुपस्थिति में साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति असम्भव थी। इन दोनों तत्वों में ब्रिटिश साम्राज्यवादिता पुरानी तथा अधिक शक्तिशालिनी थी। भारतीय राष्ट्रीयता को पुनर्जीवित तथा शक्तिपूर्ण बने अभी बहुत समय नहीं हुआ। जब यह सर उठाकर कुछ-कुछ शक्तिपूर्ण बनने लगी, ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने उसे साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाकर कुचल देना चाहा। यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच पहले से चले आते मनमुटाव को और बढ़ाकर उससे लाभ उठाया। हिन्दू मुस्लिम विद्वेष को उसने शून्य में से उत्पन्न नहीं किया। अपने दुर्भाग्य के लिए हमारा भी उत्तरदायित्व है।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने बहुत पहले यह अनुभव कर लिया था कि भारत में अंग्रेजी राज्य की रक्षा के लिए वहाँ के विभिन्न वर्गों को सदैव एक दूसरे के विरुद्ध रखने की आवश्यकता थी। विभाजन द्वारा शासन करने की नीति ही ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य की आधार रही है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में बम्बई के गवर्नर माउन्टस्टुअर्ट एलफिन्स्टन ने एक बार लिखा था 'विभाजन द्वारा शासन करना रोम का पुरानी कहावत है और हमें भी उसी का अनुसरण करना चाहिये।' अंग्रेज इस नीति में निपुण तो थे ही, भारत में आते ही उन्होंने उसे देश की वर्तमान स्थिति पर लागू करना प्रारम्भ कर दिया।

अपनी इस नीति का सबसे पहला प्रयोग अंग्रेजों ने १८५७ के विद्रोह के पश्चात् भारतीय सेना के संगठन में किया। इस समय से पहले सभी भारतीय सेना में साथ-साथ रहते। जाति या सम्प्रदाय के कारण कोई विभाजन या भेद न था। हिन्दू, मुसलमान, जाट, सिक्ख तथा शकिया सभी भेदभाव भूलकर साथ साथ रहते और इसी एकता की भावना ने १८५७ के विद्रोह को सम्भव बनाया। लेकिन अंग्रेजों द्वारा किये पुनःसंगठन ने इस एकता का विनाश कर दिया। रेजिमेन्टों, बटैलियनों तथा कम्पनियों का निर्माण जाति, वर्ग तथा साम्प्रदायिक भेदों के आधार पर हुआ। सिक्ख रेजिमेन्ट, डोगरा रेजिमेन्ट, जाट रेजिमेन्ट तथा अन्य अनेक रेजिमेन्ट बन गये। इस नये आधार ने वर्ग विद्वेष की नींव डाली और राष्ट्रीय भावना के विकास में इससे बड़ी अड़चन पड़ी।

सेना के बाहर इस नीति का प्रयोग एक सम्प्रदाय को प्रश्रय देकर दूसरे को दबाने के लिए किया गया। अंग्रेजों ने मुसलमानों को दबाने का निश्चय किया क्योंकि उनका विश्वास था कि सन् ५७ के विद्रोह के लिए यही लोग उत्तरदायी थे। सेना तथा सरकारी नौकरियों में मुसलमानों को जानबूझकर जगह न दी जाती और हिन्दुओं के प्रति खूब रियायत की जाती। १८७१ में बंगाल सरकार के २१४१ सरकारी नौकरों में केवल ७२ मुस्लिम, ७११ हिन्दू तथा १३३८ यूरोपियन थे। मुसलमानों को आर्थिक तथा शिक्षणात्मक, दोनों रूपों से नष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल का स्थायी बन्दोबस्त इसी उद्देश्य से किया गया था। इसने मुसलमानों को निर्धन बनाकर हिन्दुओं को सम्पन्न बना दिया। लेकिन कुछ ऐसी शक्तियाँ कार्य कर रही थीं जिन्होंने अंग्रेजों के मुसलमानों के प्रति दृष्टिकोण को बदल दिया। सर सैयद अहमद खाँ ने यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया कि सरकार का अविश्वास निराधार था, उन्होंने मुसलमानों तथा सरकार के बीच सद्भाव की उत्पत्ति के लिए बड़ा प्रयत्न किया। अपने इस प्रयत्न में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। देश की राजनैतिक स्थिति बहुत कुछ उनके अनुकूल बन गयी। देश में राजनैतिक चेतना का भी पर्याप्त विकास हो गया। इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हो गयी थी और उसने सरकारी नीतियों की आलोचना भी प्रारम्भ कर दी थी। अल्लामा शिबली नूमानी, मौलाना रशीद अहमद गंगोही तथा अलीगढ़ के मौलवी लुतफुल्लाह जैसे नेता हिन्दुओं के साथ साथ राजनैतिक लड़ाई लड़ते। १८८४ में गुरदासपुर की अपनी एक वक्तृता में सर सैयद अहमद खाँ ने निम्नलिखित शब्द कहे 'हम लोगों—हिन्दुओं तथा मुसलमानों—को एक हृदय तथा आत्मा बन कर एकतापूर्वक कार्य करना चाहिये। एक बन कर हम एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं, लेकिन भिन्नता तथा विरोध में दोनों का विनाश है।' एक दूसरे अवसर पर बोलते हुए उन्होंने कहा था कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तथा भारत में रहने वाले अन्य लोगों का एक ही राष्ट्र था और जनता को उन्होंने यह ध्यान में रखने की अपील भी की कि हिन्दुओं तथा मुसलमानों में तो केवल थोड़ी धार्मिक भिन्नताएँ थीं लेकिन इसका यह अर्थ न था कि देश में रहने वाले सभी लोगों का राष्ट्र एक न था। विदेशी सरकार को ऐसी भावनाओं का विकास कैसे प्रिय लगता, उसने अपनी सुदृढ़ता के लिए मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग न लेने देना चाहा। उसने मुसलमानों के प्रति अपना दृष्टिकोण बदल कर उनका पक्ष लेने तथा हिन्दुओं को दबाने का निश्चय किया। उत्तरी भारत के मुसलमानों को इण्डियन नेशनल कांग्रेस से अलग रखने में नये प्रारम्भ हुए एम० ए० ओ० कॉलिज के प्रिंसिपल मि० बेक ने बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया। मि० बेक ने सर सैयद अहमद खाँ को बहुत प्रभावित किया और उन्हें उनकी वृद्धावस्था में उन चीजों का विरोध करने के लिए प्रस्तुत कर लिया जिनका वह जीवन भर पक्ष करते रहे थे। मि० बेक एक बहुत बड़े साम्राज्य-निर्माता थे, उन्होंने

मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रख कर साम्राज्य-निर्माण म बड़ी सहायता पहुँचायी।

मुस्लिम लीग की स्थापना तथा अलग निर्वाचन-क्षेत्र की माग— हॉलांकि उत्तरी भारत के मुसलमानों ने कांग्रेस मे हिस्सा न लिया, फिर भी अभी तक उनका कोई अलग सगठन न था जिसका ब्रिटिश सरकार कांग्रेस के विरोध के लिए उपयोग कर सकती। मुस्लिम लीग तथा अलग निर्वाचन-क्षेत्रों की स्थापना से यह पता चलता है कि एक वर्ग को दूसरे के विरुद्ध खड़ा करने क अपने उद्देश्य म सरकार कितनी सफल हुई। अब हम इसका अध्ययन प्रारम्भ करते हैं।

लॉर्ड कर्जन के शासन से उत्पन्न हुए असन्तोष को दबाने के लिए उस समय के भारत मन्त्री लॉर्ड मार्ले ने भारत-सरकार को यह सुझाव दिया कि जन-प्रिय दिशा म सुधार करने का यही उपयुक्त समय था।* इस विचार को कार्यान्वित करने के लिये प्रयत्न किया गया। यह घटना १९०६ की है। मि० मौरीसन के बाद एम० ए० ओ० कॉलिज के नये प्रिंसिपल मि० आर्चबोल्ड ने सर सैयद अहमद के बाद मुसलमानों के नेता तथा कॉलिज के प्रेसिडेन्ट नवाब मुहसिन-उल मुल्क को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने लॉर्ड मिन्टो के पास मुसलमानों का एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजने की सलाह दी। उन्होंने नवाब साहब को यह सूचना दी कि वाइसराय मुसलमानों के प्रतिनिधि मण्डल से मिलने के लिए प्रस्तुत थे लेकिन इस मण्डल म देश के विभिन्न भागों के प्रतिनिधियों का रहना आवश्यक था। उन्होंने इस बात का भी जिक्र किया कि प्रतिनिधि मण्डल का सम्राट् के प्रति स्वामिभक्ति प्रदर्शित करना तथा सरकार द्वारा किये जाने वाले सुधारों के प्रति आदर-भाव दिखाना मुसलमानों के अनुकूल पड़ता। उन्होंने प्रतिनिधि-मण्डल को यह विचार प्रदर्शित करने की भी राय दी कि मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्र के निर्माण के बिना चुनाव का सिद्धान्त मुस्लिम हितों के लिए हानिकारक सिद्ध होता। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का विचार मुसलमानों की सृष्टि नहीं है, इसकी प्रेरणा उन्हें किसी अन्य जगह से मिली। ग्रेट ब्रिटेन क भूतपूर्व प्रधान मन्त्री मि० रैमसे मेकडोनल्ड ने अपनी पुस्तक 'अवेकनिंग ऑफ इण्डिया' म यह विचार प्रदर्शित किया है कि अलग साम्प्रदायिक क्षेत्र की माँग तथा उसकी स्थापना का उत्तरदायित्व ब्रिटिश नौकरशाही पर है। स्वर्गीय मौलाना मोहम्मद अली के शब्दों मे लॉर्ड मिन्टो से मिलने वाला प्रतिनिधि मण्डल 'निर्देशित प्रदर्शन' था। इसका सगठन शिमले से हुआ था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि लॉर्ड मिन्टो को दिये जाने वाले सम्मान-पत्र की रचना स्वय मि० आर्चबोल्ड ने ही की थी। इस सम्मान-पत्र का विस्तृत वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है। इतना बतला देना पर्याप्त है कि इसने मुसलमानों के लिए निम्नलिखित

* कुछ लेखकों की राय है कि सुधार योजनाएँ लॉर्ड मिन्टो ने बनाई थीं।

माँगें कीं : अलग निर्वाचन-क्षेत्र, reformed legislature में weightage, सरकारी नौकरियों में और अधिक प्रतिनिधित्व, मुस्लिम यूनीवर्सिटी की स्थापना में सहायता, तथा गवर्नर जनरल की कार्य-कारिणी में किसी भारतीय की नियुक्ति होने पर उनके हितों की रक्षा। इसके उत्तर में लॉर्ड मिन्टो ने कहा था कि प्रतिनिधि मण्डल के विचारों से वह सहमत थे और उन्होंने उसे यह आश्वासन भी दिया कि उनके शासन में मुसलमानों के राजनैतिक अधिकारों तथा हितों की पूरी रक्षा होगी। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का निकृष्ट सिद्धान्त लॉर्ड मिन्टो ने ही प्रारम्भ किया। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि अलग निर्वाचन क्षेत्र की माँग का स्वयं लॉर्ड मार्ले ने, जिन्होंने विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए संयुक्त निर्वाचक कॉलिजों की स्थापना की राय दी थी, विरोध किया था। सरकार का हमेशा पक्ष करने वाले कलकत्ते के 'स्टेट्समैन' ने भी इसका विरोध किया था। देश की राष्ट्रीय विचार-धारा इसके सख्त विरुद्ध थी क्योंकि हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच की खाई इससे और बढ़ती और राष्ट्रीय भावना के विकास में इससे बड़ा धक्का पहुँचता। लेकिन भारतीय नौकरशाही तथा इंगलैंड में इसके समर्थक अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए और इस सिद्धान्त को मार्ले मिन्टो-सुधार-योजना में स्थान दिया गया। पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि द्विराष्ट्र-सिद्धान्त तथा पाकिस्तान के जन्मदाता मोहम्मद अली जिना अलग निर्वाचन-क्षेत्र के विरुद्ध थे। १९१० में कांग्रेस के इलाहाबाद-अधिवेशन में उन्होंने इस घृणित सिद्धान्त के विरुद्ध प्रस्ताव पेश किया था। इस प्रस्ताव का बिहार के प्रसिद्ध मौलवी मजहर उल-हक ने अनुमोदन किया था।

मुस्लिम लीग—शिमला-डेपुटेशन की सफलता से मुसलमानों को अलग संगठन बनाने वाले लोगों को बड़ी प्रेरणा मिली। १९०६ के दिसम्बर मास में ढाका में होने वाले एक सम्मेलन के लिए लोगों को आमन्त्रित किया गया और वहीं पर अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। स्थापना करने वाले ऊँचे घर के कुछ सम्भ्रान्त मुस्लिम व्यक्ति थे। उनका उद्देश्य था : 'मुसलमानों के पढ़े लिखे तथा मध्यम वर्ग को उस भयङ्कर राजनीति में सम्मिलित होने से रोकना जिसे इण्डियन नेशनल कांग्रेस अपना रही था।'* मुस्लिम लीग के संविधान ने अपने उद्देश्य तथा लक्ष्य को इस प्रकार व्यक्त किया :

'(१) भारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामिभक्ति उत्पन्न करना तथा सरकार द्वारा अपनायी गयी नीति के विषय में उनकी गलतफहमी दूर करना, (२) भारतीय मुसलमानों के राजनैतिक अधिकारों की रक्षा तथा उनकी माँगों को ब्रिटिश सरकार के समक्ष संयत तथा शिष्ट भाषा में प्रकाशन, (३) जहाँ

* हुमायूँ कबीर, मुस्लिम पालिटिक्स, पृष्ठ २

तक सम्भव हो सके (१) और (२) मे व्यक्त किये हुए उद्देश्यों के प्रति विरुद्ध न जाते हुए मुसलमानों तथा भारत के अन्य वर्गों के बीच सद्भाव प्रसार।'

लीग प्रारम्भ से ही एक साम्प्रदायिक संस्था रही है और यह विशेषता इसके जीवनसे सदा सम्बद्ध रही। लीग ने सदैव एक विशेष वर्ग के राजनैतिक अधिकारों तथा हितों की ओर ध्यान दिया है, पूरे भारत के हित की ओर नहीं, वह अंग्रेजी राज की पिट्ठू रही है, भारतीय राष्ट्रीयता की पोषक नहीं। मुस्लिम लीग की इन विशेषताओं से स्पष्ट पता चलता है कि हिन्दुओं तथा मुसलमानों को एक दूसरे से अलग रखने के लिये अंग्रेज-कूटनीतिज्ञ कितने प्रयत्नशील थे।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि अपना यह रूप रखते हुए भी लीग को सभी पढे लिखे मुसलमानों का समर्थन प्राप्त न हो सका। श्री मुहम्मद अली जिन्ना इसके साम्प्रदायिक रूप के कट्टर विरोधी थे। नवाब सैयद मोहम्मद ने इससे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध बनाये रखना उचित न समझा। मौलाना शिबली नौमनी इसकी नीति की बराबर आलोचना करते। मौलाना मुहम्मद अली ने दिल्ली से अंग्रेजी तथा उर्दू मे 'कामरेड' तथा 'हमदर्द' नामक दो पत्र निकाले जिनमें लीग की साम्प्रदायिकता तथा स्वामि भक्ति पर खूब आक्रमण होता था। मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कलकत्ते से 'अल हिलाल' नामक अपना एक पत्र निकाला जिसका उद्देश्य था भारतीयों में एक नवीन भावना तथा उत्साह का विकास। इन शक्तियों के प्रभाव, तुर्किस्तान तथा अन्य मुसलमानी देशों में घटने वाली घटनाओं तथा ब्रिटेन के उनके प्रति रुख तथा, अन्त मे, अलीगढ के एम० ए० ओ० कॉलिज के अंग्रेज प्रिंसिपलों के प्रभाव की समाप्ति के कारण मुस्लिम राजनीति में बड़ा परिवर्तन आ उपस्थित हुआ। मौलाना मोहम्मद अली, मौलाना मजहर उल-हक, सैयद वजीर हसन, हसन इमाम तथा मुहम्मद अली जिन्ना जैसे प्रगतिशील नेताओं ने मुस्लिम लीग को कांग्रेस के साथ लाने के लिए उसके संविधान को प्रगतिशील तथा राष्ट्रीय आधार पर बदलने की इच्छा प्रकट की। इसी इच्छा के अनुसार इसके संविधान मे १९१३ मे कुछ सुधार हुए। मुसलमानों तथा अन्य भारतीय वर्गों के बीच अधिक से अधिक सद्भाव और मैत्री तथा ब्रिटिश राज की सरंक्षता में भारतीय आवश्यकताओं के अनुकूल स्वराज प्राप्ति को भी लीग के उद्देश्यों मे सम्मिलित किये गए। इस परिवर्तन ने कांग्रेस के साथ सहयोग का मार्ग खोल दिया। बम्बई मे होने वाले कांग्रेस-अधिवेशन के अवसर पर लीग-अधिवेशन भी आमन्त्रित करके मुहम्मद अली जिन्ना ने दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। इसके पश्चात् आने वाले अनेक वर्षों तक दोनों संगठनों के अधिवेशन एक ही स्थान पर होते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों संस्थाओं ने युद्धोत्तर सुधार योजनाएँ एक साथ मिल कर बनायीं। कांग्रेस तथा लीग ने १९१६ मे लखनऊ

में होने वाले अपने अधिवेशनों में कांग्रेस-लीग-योजना स्वीकृत की। श्री जिन्ना द्वारा उठाये गये कदम के परिणामस्वरूप ही महात्मा गांधी, श्रीमती सरोजिनी नायडू तथा पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे कांग्रेस-नेताओं ने १९१५, १९१६ तथा १९१७ में होने वाले लीग अधिवेशनों में भाग लिया और कई प्रस्तावों के पक्ष में भाषण दिये। लीग के कलकत्ता-अधिवेशन के सभापति राजा महमूदाबाद ने अपने सभापति-पद से भाषण में निम्नलिखित शब्द कहे : 'देश का हित ही सर्वोपरि है। हमें यह सोचने में शक्ति व्यय नहीं करनी चाहिये कि हम पहले मुसलमान हैं या भारतीय। वास्तविकता यह है कि हम दोनों हैं और इसलिए किसी को भी पहले महत्त्व देने का प्रश्न ही नहीं उठता। लीग ने मुसलमानों में देश तथा धर्म के लिए त्याग की भावना भर दी है।'

ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति स्वामिभक्ति से राष्ट्रीयता की ओर यह परिवर्तन बड़ा महत्त्वपूर्ण था। इसी के कारण पंजाब तथा खिलाफत की गलतियों को दूर करने के लिए कांग्रेस द्वारा १९२० में चलाये गये असहयोग आन्दोलन में लीग का भी सहयोग मिल सका। लेकिन भारतीय मुसलमानों की ओर से चलायी गयी लड़ाई का संगठन खिलाफत-कमेटी ने किया, लीग ने नहीं। इस अवसर पर इस ओर भी ध्यान आकर्षित किया जा सकता है कि मुस्लिम राजनीति से लीग की वर्तमान सत्ता के प्रति चापलूसी तथा स्वामिभक्ति प्रदर्शन की नीति के कारण अलग रहने वाले उलमाओं ने भी आन्दोलन में पूरा सहयोग दिया। उन्होंने जमायत उल-उलेमाए-हिन्द नामक प्रसिद्ध संस्था का संगठन किया। यह संस्था बराबर एक राष्ट्रीय संस्था रही है और विदेशी सत्ता के विरुद्ध मुस्लिम विचारों को सदृढ़तर बनाने में इसने बड़ा प्रभाव डाला है। ब्रिटेन विरोधी कार्यों के लिए माल्टा में नजरबन्द रहने वाले मौलाना मुहम्मद उल-हसन इसके संस्थापक थे। उनकी मृत्यु के बाद इसके नेतृत्व का भार मुफ्ती किफायत उल्लाह के कन्धों पर आ पड़ा। जमायत ने सदैव हिन्दू-मुस्लिम एकता का पक्ष लिया है और इण्डियन नेशनल कांग्रेस के ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के विरुद्ध होने वाले युद्ध में इसने सदैव सहयोग किया है।

खिलाफत-कमेटी तथा जमायत की प्रसिद्धि तथा मुस्लिम जनता पर उनके प्रभाव के कारण १९२० के पश्चात् मुस्लिम लीग कुछ समय तक प्रभावहीन होकर लोगों की दृष्टि से छिपी रही। इसके अनेक सदस्यों ने सरकारी कृपा दृष्टि प्राप्त करके सक्रिय राजनीति से हाथ खींच लिया।

महात्मा गांधी द्वारा प्रथम असहयोग आन्दोलन उठा लिये जाने के पश्चात् देश में फैलने वाले हिन्दू-मुस्लिम दंगा, शुद्धि तथा संगठन के कार्यक्रम के साथ हिन्दू महासभा के प्रादुर्भाव तथा कांग्रेस द्वारा वैधानिक कार्यक्रम अपना लिये जाने से मुहम्मद अली जिन्ना को लीग को पुनर्जीवित करने का अवसर मिल गया। यह ध्यान

में रखना चाहिये कि श्री जिन्ना एक समय कट्टर काँग्रेसी थे ; उन्होंने इण्डियन नेशनल काँग्रेस से उस समय सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया जब उसने राजनैतिक भीख मांगने के रास्ते को (Mendicancy) छोड़ कर Direct Action अपना लिया। लीग पुनर्जीवित तो हुई किन्तु श्री जिन्ना इसके जीवन-शून्य अधिवेशनों को अनुप्राणित न कर सके। ऑल-व्हाइट साइमन कमीशन की स्थापना से लीग दो भागों में विभाजित हो गयी। श्री जिन्ना के नेतृत्व में एक भाग कमीशन का बहिष्कार करता किन्तु सर मुहम्मद शफी के नेतृत्व में दूसरा भाग कमीशन के साथ सहयोग करने के पक्ष में था। इन दोनों लीगों में से एक ने अपना अधिवेशन कलकत्ते में किया, दूसरी ने लाहौर में। जिन्ना के नेतृत्व में चलने वाले भाग ने प्रसिद्ध नेहरू रिपोर्ट के अनुसार एक निश्चित सविधान निर्माण के लिए काँग्रेस तथा अन्य राजनैतिक दलों से सहयोग किया। शफी-लीग की राय के अनुसार नेहरू-रिपोर्ट द्वारा दिये साम्प्रदायिक समस्या के हल पर विचार विमर्श करने के लिए एक 'मुस्लिम ऑल-पार्टीज सम्मेलन' का सगठन हुआ। नेहरू रिपोर्ट ने अल्पसख्यकों के लिये सीटें रिजर्व रखने के साथ सम्मिलित निर्वाचन-क्षेत्रों का अनुमोदन किया था। राष्ट्रीय मुसलमानों द्वारा इसका पक्ष लिए जाने पर भी सम्मेलन ने सम्मिलित निर्वाचन क्षेत्रों का विचार त्याग दिया। इस कारण प्रभावशाली मुसलमानों में मतभेद उत्पन्न हो गया। राष्ट्रीय मुसलमानों ने अपना एक अलग दल संगठित कर लिया। हकीम अजमल खाँ, डॉ० एम० ए० अन्सारी, सर अली इमाम, सर वजीर हसन, डॉ० सैयद महमूद, मि० आसफ अली, डॉ० आलम, डॉ० किचलू और मौलाना अबुलकलाम आजाद प्रसिद्ध राष्ट्रीय मुसलमान थे।

ऊपर वर्णित विकास का परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम राजनीतिज्ञ दो दलों में विभाजित हो गये। ये दोनों दल मुस्लिम वर्ग को भिन्न दिशाओं में प्रेरित करते। एक ओर कुछ सम्पन्न लोगों का एक दल जो सरकारी नौकरियों तथा रियायतों के लिए, हमेशा की तरह, ब्रिटिश सरकार की ओर देखता। सरकार इस दल के सदस्यों की ओर अनुदार न थी, उसने उन्हें देश के शासन में प्रभावशाली जगहों पर नियुक्त कर दिया जहाँ से वे अपने मित्रों तथा सगे-सम्बन्धियों का कुछ भला कर सकते थे। सर फजली हुसैन और सर मोहम्मद शफी इस दल के नेता थे। ये लोग मुस्लिम लीग को अपने कन्ट्रोल में रखते। दूसरा दल इण्डियन नेशनल काँग्रेस के राष्ट्रीय मुसलमानों द्वारा निर्मित था। इसका नेतृत्व हकीम अजमल खाँ, डॉक्टर अन्सारी और मौलाना अबुल कलाम आजाद के हाथों में था। इस दल के हाथ में शक्ति नहीं थी इसलिये पहले दल के मुकाबले मध्यमवर्गीय मुसलमानों पर इसका प्रभाव कमजोर था, यद्यपि बुद्धि वैभव सम्पन्न तथा चरित्रपूर्ण व्यक्तियों की इसमें कमी न थी। एक तीसरे तत्व का भी जिक्र आवश्यक है। इसका निर्माण पजाब के शक्तिपूर्ण अहरार तथा बगाल के कृषक प्रोजा दलों से हुआ था।

इस तीसरे दल के सदस्य अधिकतर कांग्रेस की राजनैतिक आकांक्षाओं का पक्ष लेते, किन्तु उनकी दृष्टि में उसकी आर्थिक नीति तथा कार्यक्रम उपयुक्त न थे। इस तरह लीग को उनका सहयोग प्राप्त न था।

इस अवसर पर श्री मुहम्मद अली जिन्ना अकेले पड़ गये। नरम दल मुसलमानों के बीच वे फिट न बैठते क्योंकि राजनैतिक दृष्टि से वे कांग्रेस विचारधारा से अधिक प्रभावित थे। वे प्रगतिशील मुसलमानों में भी सम्मिलित न हो सकते क्योंकि अपने कट्टर तथा सकीर्ण आर्थिक दृष्टिकोणों के कारण वे उन्हें कोरा क्रान्तिकारी समझते। वे कांग्रेस में भी नहीं आ सकते थे क्योंकि इसने Direct Action का निश्चय कर लिया था और इससे उन्होंने बहुत पहले अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने भारतीय राजनीति में हिस्सा न लेने और विलायत जाकर कानूनी प्रैक्टिस करने का निश्चय किया। किन्तु नियति ने उनकी सहायता की। कुछ ही वर्षों के बीच मृत्यु ने अखिल-भारतीय ख्यातिप्राप्त कुछ प्रसिद्ध मुसलमान राजनीतिज्ञों को कार्य-क्षेत्र से हटा दिया। हकीम अजमल खाँ, मौलाना मुहम्मद अली, डॉक्टर अन्सारी, सर फजली हुसैन तथा सर मुहम्मद शफी की मृत्यु ने श्री जिन्ना के लिए रास्ता साफ कर दिया। उन्होंने इंगलैंड से लौट कर लीग का नेतृत्व अपने हाथ में लिया और वह उसे शक्तिपूर्ण बनाने के प्रयत्न में जी जान से लग गये। १९३७ के चुनाव ने उन्हें बड़ा सुनहला अवसर दिया। उनके नेतृत्व में लीग ने विभिन्न प्रान्तों के विधान-मण्डलों के चुनाव में भाग लिया किन्तु उसे बहुत थोड़ी सफलता मिली। मुसलमानों की अधिक सख्या वाले प्रान्तों—पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, बंगाल तथा सिन्ध— में लीग को प्रतिस्पर्द्धी मुस्लिम-पार्टियों के मुकाबले हार खानी पड़ी। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में इसे कांग्रेस ने हराया, सिन्ध में मि० अल्लाहबख्श की आजाद मुस्लिम पार्टी विजयिनी रही, पंजाब में सर सिकन्दर हयात खाँ के नेतृत्व में यूनियनिस्ट पार्टी ने इसे उखाड़ दिया; बंगाल में कृषक प्रोजा पार्टी सबसे अधिक शक्तिशालिनी रही। उत्तर प्रदेश तथा बिहार जैसे मुसलमानों की अल्पसख्या वाले प्रान्तों में ही लीगी उम्मीदवारों को गैर लीगी प्रतिस्पर्द्धियों के मुकाबले सफलता मिली। लीग को सभी प्रान्तों की मुस्लिम सीटों की २५ % से भी कम सीटें मिलीं। कुल ४८५ (कुछ के अनुसार ४८७) मुस्लिम-सीटों में से लीग को केवल ११० सीटें मिलीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि मुस्लिम लीग को मुस्लिम जनता का प्रतिनिधित्व प्राप्त न था।

लेकिन विधान मंडल में अपनी बहुसख्या वाले प्रान्तों में कांग्रेस द्वारा पद-ग्रहण अस्वीकार करने तथा सम्मिलित मन्त्रिमण्डल बनाने के कांग्रेस-लीग समझौता हो सकने के कारण एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसमें लीग को अपना खोया पद मिल गया और उसे कुछ ऐसी सफलताएँ मिलीं जो उसे कभी न मिली थीं। इसने मुसलमानों का वास्तविक विश्वास प्राप्त कर लिया। बंगाल में प्रोजा पार्टी तथा लीग

श्री फजलुल हक की अध्यक्षता में सम्मिलित हो गयी। श्री फजलुल हक ने लीग की खोई प्रतिष्ठा-प्राप्ति तथा उसके लिये देश की जनता का सहयोग प्राप्त करने में बहुत कुछ किया। पंजाब में सर सिकन्दर हयात खाँ ने लीग में सम्मिलित होकर उसकी शक्ति में बड़ा योग दिया। मुस्लिम दलों के इस जोड़-तोड़ के कारण १६३७ तथा १६४२ के बीच लीग की प्रतिष्ठा और प्रभाव में बड़ी वृद्धि हुई। अब यह भारत की सारी मुस्लिम आबादी के प्रतिनिधित्व का दावा करने लगी। मुस्लिम लीग का यह दावा न राष्ट्रीय मुसलमानों को स्वीकृत था न कांग्रेस को; फिर भी, इसमें सन्देह नहीं कि लीग एक बड़ी ही शक्तिपूर्ण संस्था बन गई; श्री मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में उसकी शक्ति बराबर बढ़ती गई। यह सत्य है कि पंजाब में सर सिकन्दर हयात खाँ की मृत्यु तथा बंगाल में मि० फजलुल हक के पतन के पश्चात् मुस्लिम लीग की शक्ति को काफी धक्का लगा, लेकिन युद्ध काल में, जब कांग्रेस सरकार से लड़ाई लड़ रही थी और लीग का कोई प्रभावपूर्ण विरोध न था, इसने अपनी शक्ति फिर बढ़ा ली। इसकी बढ़ती शक्ति १६४० तथा बाद में आने वाले वर्षों के इसके प्रस्तावों में स्पष्ट दृष्टिगत होती है। १६४० में अपने लाहौर अधिवेशन में इसने हिन्दू तथा मुस्लिम भारत के रूप में देश के विभाजन की माग की और एक वर्ष बाद इसने एकदम अलग होकर पाकिस्तान के स्वतन्त्र राष्ट्र निर्माण के अधिकार की माग की। १६४६ के साधारण निर्वाचनों में प्राप्त सफलता से भी मुस्लिम जनता के ऊपर लीग के प्रभाव का पता चलता है। इसे अन्त में अपने उद्देश्य में सफलता मिली और १५ अगस्त १६४७ को पाकिस्तान की स्थापना हो गई।

लीग की निरन्तर शक्ति-वृद्धि में अनेक बातों से सहायता मिली है। इनमें सबमें महत्त्वपूर्ण थी प्रतिक्रियात्मक ब्रिटिश दल से प्राप्त सहायता जो उसे द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर इस दल से गुप्त मैत्री द्वारा मिली थी। सर सिकन्दर हयात खाँ के लीग से इतने गहरे सम्बन्ध का भी यही कारण बताया जा सकता है। १६३६ में कांग्रेस-मंत्रिमण्डलों के इस्तीफे से भी लीग को पर्याप्त शक्ति मिली, पदच्युत होने से पद के साथ लगी शक्ति भी कांग्रेस के हाथ से निकल गई और प्रभाव की दृष्टि से वह लीग की बराबरी में आ गई। स्व शासन के लिये उत्पात (Agitation) से दूर रह कर तथा उसका विरोध करके लीग ने देशी रजवाड़ों का भी शुभेच्छा तथा मैत्री प्राप्त कर ली। अन्त में, कांग्रेस ने जहाँ ब्रिटिश सरकार के युद्ध-प्रयत्नों में सम्मिलित होने से इन्कार करके सविनय अवज्ञा प्रारम्भ कर दी, लीग के अधिकतर सदस्यों ने युद्ध-प्रयत्नों में जी-जान से सहायता की। लीग की कौंसिल ने निम्नलिखित घोषणा की: 'यदि ब्रिटिश-सरकार इस विषम स्थिति में मुसलमानों का पूरा सहयोग चाहती है तो उसे मुसलमानों में पूरी रक्षा तथा सन्तोष की भावना उत्पन्न करके मुस्लिम लीग को अपना विश्वासपात्र बनाना चाहिये क्योंकि इसी एक संस्था को भारत के सभी मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का अधिकार है।'

वेवल योजना, कैबिनेट-मिशन-योजना तथा अन्तरिम सरकार की स्थापना के विषय में लीगी दृष्टिकोण का हम पहले विवेचन कर चुके हैं, इसके विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

पाकिस्तान— चूँकि मुस्लिम लीग की राजनीति के ऊपर पाकिस्तान के विचार का बड़ा प्रभाव था और चूँकि इसी को आधार मानकर लीग प्रत्येक राजनैतिक विकास का मूल्यांकन करती थी, इसलिये उसके सम्बन्ध में यहाँ भी कुछ कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। पाकिस्तान की कल्पना सबसे पहले सर मुहम्मद इकबाल ने १६३० में मुस्लिम लीग के अध्यक्ष पद से भाषण करते समय लोगों के सामने रक्खी थी। लन्दन में रहकर वहाँ से पाकिस्तान के लिये आन्दोलन चलाने वाले चौधरी रहमत अली भी इसका बड़ा पक्ष कर रहे थे। फिर भी, इस विचार ने बहुत जोर न पकड़ा, मुस्लिम लीग ने इसको वैधानिक रूप से १६४० में ही अपनाया। १६४० में अपने लाहौर-अधिवेशन में लीग ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें यह निश्चय किया कि उसे ऐसी कोई भी वैधानिक योजना स्वीकृत न होगी जो निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित न होगी। 'भौगोलिक दृष्टि से आपस में सम्बन्धित इकाइयों को निश्चित विभागों में बाँट देना चाहिये और आवश्यक भूमि सम्बन्धी संगठन से इन विभागों का निर्माण इस प्रकार होना चाहिये कि मुसलमानों की सर्वाधिक संख्या वाले क्षेत्र— भारत के पश्चिमोत्तर तथा पूर्वी भाग— आपस में एकत्रित होकर स्वतन्त्र राज्य बन जायँ।' पाकिस्तान का विचार मुस्लिम मस्तिष्क पर एकदम हावी हो गया और मुस्लिम लीग को इसने एक नया लक्ष्य दिया। लीग ने Weightages, Percentages तथा सरकारी नौकरियों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) का ध्यान छोड़ दिया और मुसलमानों के समक्ष एक मुस्लिम राज्य की ऐसी कल्पना रक्खी जिसमें उन्हें हिन्दू-शासन से मुक्ति के साथ-साथ प्रभाव तथा शक्ति की प्राप्ति होती। १६४१ में लीग के मद्रास-अधिवेशन में इस माँग को फिर दुहराया गया। इसी समय से श्री जिन्ना की पाकिस्तान माँग कभी शिथिल न पड़ी और अन्त में उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई।

अविभाजित भारत में हिन्दू प्रभुत्व के डर ने ही पाकिस्तान की माँग को जन्म दिया। लोकतन्त्र तथा अलग साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों पर आधारित एक अखिल भारतीय शासन में एक अल्पसंख्यक जाति होने के नाते मुसलमान यह कभी आशा नहीं कर सकते थे कि वे कभी हिन्दुओं के बराबर शक्ति प्राप्त कर सकेंगे। चूँकि वे पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन को छोड़ना नहीं चाहते थे इसलिए हिन्दू प्रभुत्व से बचने का उनके सामने केवल यही उपाय था कि भारत दो स्वतन्त्र देशों में विभाजित हो जाय। उनकी माँग का सैद्धान्तिक आधार यह था कि हिन्दू तथा मुसलमान दो अलग-अलग राष्ट्रों में विभाजित थे, इसलिए उनकी अलग-अलग जन्म-भूमि भी होनी

चाहिए। यदि हिन्दू तथा मुसलमान दो अलग-अलग जातियां हैं और उनमें उभयनिष्ट कोई चीज नहीं है तो अलग जन्म-भूमि के लिए मुसलमानी माँग का विरोध नहीं हो सकता ; यह तो आत्म-निर्णय (Self determination) के सिद्धान्त के अनुकूल ही है। यदि हिन्दू तथा मुसलमान दो अलग राष्ट्र हैं तो उन्हें एक उभयनिष्ट शासन में रखना मूर्खतापूर्ण तथा व्यर्थ होगा, यह बहुत उपयुक्त नीति है कि उन्हें एक दूसरे से आपसी सद्भाव तथा शान्ति के साथ अलग हो जाना चाहिये। लेकिन इस द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के त्रुटि-पूर्ण तथा मनगढन्त होते हुए भी भारत का विभाजन रुक न सका। इसलिए इस सिद्धान्त का सांगोपांग निरीक्षण तथा उसकी अनुपयुक्तता सिद्ध करना अनावश्यक है। हमें पाकिस्तान के स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य को ऐतिहासिक सत्यता स्वीकार कर लेनी चाहिये और उसे अपनी चिंता स्वय कर लेने के लिए छोड़ देना चाहिये। भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता के और अधिक सम्यक् विवेचन के लिए हमें कांग्रेस-लीग तथा लीग सरकार के सम्बन्ध पर भी कुछ शब्द कहना आवश्यक है।

लीग और कांग्रेस— देश की इन दोनों प्रतिनिधि संस्थाओं के आपसी सम्बन्धों में समय के साथ-साथ परिवर्तन होते रहे हैं, यह ध्यान में रखना चाहिये कि कांग्रेस का विरोध करने तथा पढ़े लिखे मुस्लिम वर्ग को उसके प्रभाव से अलग रखने के उद्देश्य से ही लीग की स्थापना हुई थी। लेकिन यह स्थिति बहुत दिनों तक न चली। १९१३ में लीग के विधान में कुछ परिवर्तन हुए जिनके कारण लीग तथा कांग्रेस में आपसी सद्भाव उत्पन्न हो गया। लेकिन प्रथम असहयोग-आन्दोलन तथा खिलाफत कमेटी के उठा लिये जाने के पश्चात्, दोनों संस्थाएँ फिर एक दूसरे से अलग हो गयीं। लेकिन अभी तक दोनों के बीच कोई विषमता न आयी थी। कांग्रेस वैधानिकता की ओर लौट आयी और लीग में बहुत थोड़ा जीवन शेष रह गया। शफी तथा जिन्ना विभागों में मतभेद तथा राष्ट्रीय मुसलमानों के लीग से निकल जाने के कारण लीग उदारवादियों तथा प्रतिक्रियावादियों के हाथों पड़ गयी और वह १९१० के पहले की स्थिति में लौट गयी। जब इंगलैंड में भारतीय संविधानिक समस्या पर विचार तथा १९३५ की सुधार-योजनाओं का निर्माण हो रहा था, श्री जिन्ना के प्रतिनिधित्व में लीग सक्रिय हो उठी और उसने कांग्रेस से सहयोग की इच्छा प्रकट की। १९३४ में इसने एक प्रस्ताव पास करके भारत के अन्य वर्गों से सहयोग करने का निश्चय प्रकट किया ताकि भारत के सभी वर्गों को मान्य एक संविधान का निर्माण हो सकता। १९३५ में इसने भारत-सरकार के १९३५ ऐक्ट की संघ योजना को इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया कि इससे भारत की स्वराज प्राप्ति में अनिश्चित देर होती या उसकी सम्भावना ही समाप्त हो जाती। १९३६ में इसके प्रेसिडेन्ट सर वजीर हसन ने भारत के सभी वर्गों के बीच एकता की अपील की। लेकिन १९३७ में सब चीजों का पूरा रवया ही बदल गया। १९१३ की तरह यह वर्ष भी लीग की नीति-परिवर्तन के

लिए प्रसिद्ध है यद्यपि इस परिवर्तन की दिशा भिन्न थी। काग्रेस से सहयोग करने के बदले उसके नेतृत्व पर विष उगला जाने लगा और उसे एकमात्र हिन्दुओं का ही हितैषी बताया जाने लगा। यह सिद्ध करना एक प्रकार का फैशन बन गया कि काग्रेस के हाथों मुसलमानों की भलाई असम्भव थी। १९३८ के लीग-अधिवेशन मे दी गयी वक्तृताएँ काग्रेस-विरोध से परिपूर्ण थीं। काग्रेस का नेतृत्व करने वालों को फासिस्ट तथा Totalitarian तथा काग्रेस को सभी छोटे वर्गों, विशेषतः मुसलमानों, को कुचलने के लिये सन्नद्ध एक हिन्दू-सस्था बताया गया। काग्रेस द्वारा शासित प्रान्तों में मुसलमानों के ऊपर मनगढ़न्त अत्याचारों के प्रदर्शन के लिए बड़ी ही रोषपूर्ण भाषा का प्रयोग किया गया। इन आक्षेपों को निर्मूल सिद्ध करना हमारा यहाँ काम नहीं है। इतना कह देना पर्याप्त है कि काग्रेस प्रेसिडेन्ट ने लीग को अत्याचार का कोई भी प्रत्यक्ष प्रमाण खोजने के लिये आमन्त्रित किया, लेकिन लीग ने उसे अस्वीकृत कर दिया। इस पर भी विचार करना बड़ा दिलचस्प है कि काग्रेस के केवल दो वर्षों के शासन में लीग को दुनिया के सामने रखने के लिए अनेक अत्याचार मिले, किन्तु लगभग सौ वर्षों तक ब्रिटिश सरकार ने सारे भारत के मुसलमानों को जिस सगठित रूप से सताया था उसके विषय में लीग ने एक शब्द भी न कहा। मुसलमानों के प्रति अपनी नीति का ब्रिटिश सरकार ने पिछली शताब्दी के आठ दहाई वाले वर्षों मे ही बदला। बगाल के लीगी मन्त्रिमण्डल में मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर अत्याचार की भी इसने कोई चर्चा न की।

काग्रेस के विरुद्ध इस रोषपूर्ण आवेग के कारण स्पष्ट तो हैं किन्तु उपयुक्त नहीं। '१९३७ मे उत्तर प्रदेश के चुनाव के अवसर पर एक प्रसिद्ध मुस्लिम राजनीतिज्ञ ने, जो तब तक काग्रेस में सम्मिलित थे, काग्रेस के हार की आशका से उससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और अपने अनुयायियों के साथ जाकर मुस्लिम लीग का दामन पकड़ा। लेकिन उनका यह विचार गलत निकला। काग्रेस विजयिनी हुई और उसने अपना मन्त्रिमण्डल बना लिया। इस व्यक्ति ने काग्रेस में फिर से स्वीकृत होने तथा मन्त्रिमण्डल मे जगह पाने की माँग की। स्वभावतः, लेकिन कदाचित् त्रुटिपूर्ण ढग से, काग्रेस ने यह माँग अस्वीकृत कर दी— जैसा कि इस दशा मे कोई भी ब्रिटिश पार्टी करती। इसका परिणाम बुरा और अङ्गरेजी मस्तिष्क के लिए तो आश्चर्यजनक हुआ। लीग ने काग्रेस का और जोरों से विरोध प्रारम्भ कर दिया और इस तथा इसी प्रकार के अन्य मामलों के आधार पर काग्रेस को शक्ति संगठित करने वाली एक Totalitarian Party कहा।'* यहाँ इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता नहीं कि अपने बहुमत वाले प्रांतों म केवल काग्रेसी-मन्त्रिमडलों की स्थापना से काग्रेस ने गलती की या नहीं। इसमें आवश्यक

* ब्रेल्सफोर्ड : सब्जेक्ट इण्डिया, पृष्ठ ८३।

बात यह है कि अपने आर्थिक तथा राजनैतिक कार्यक्रमों के आधार पर कांग्रेस लीग के साथ सहयोग करने के लिए प्रस्तुत थी। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इस सम्बन्ध में जिन्ना को लिखा था और लीग से समझौता करने के लिए उन्होंने प्रयत्न भी किए। किन्तु लीग अपने तथा कांग्रेस के कार्यक्रमों के अन्तर पर ही जोर देती रही। उसने इस अन्तर को कभी स्पष्ट न किया और कांग्रेस का मैत्रीपूर्ण हाथ पकड़ने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार सम्मिलित मन्त्रिमण्डल न बन सकने का उत्तरदायित्व लीग पर है, कांग्रेस पर नहीं।

लीग और सरकार— मुस्लिम लीग की प्रगतिशील विचारधारा का राष्ट्रीयता की ओर विकास, १६१३ में उसकी नीति में परिवर्तन तथा कांग्रेस के साथ उसके सद्भावपूर्ण सम्बन्ध की कहानी बतायी जा चुकी। इन दोनों संस्थाओं के पारस्परिक सहयोग से सुधारों की कांग्रेस-लीग योजना का निर्माण हुआ। इस योजना में देश के विभिन्न विधानमण्डलों में मुस्लिम प्रतिनिधित्व की समस्या का हल भी था। ब्रिटिश सरकार ने, देश की सभी पार्टियों की स्वीकृति मिलने पर भी, योजना के संविधानिक तथा शासन-सम्बन्धी सुधारों को अस्वीकृत कर दिया, लेकिन साम्प्रदायिक समस्या के हल को उसने स्वीकृत कर लिया और उसे १६१६ के ऐक्ट के अनुसार लागू किये जाने वाले सुधारों का आधार बना दिया। उसने हिन्दुओं तथा मुसलमानों को बंगाल में दी हुई सीटों के अनुपात की आलोचना की ओर यह सुझाव सामने रक्खा कि मुसलमानों को दिया हुआ प्रतिनिधित्व अपर्याप्त था। लखनऊ पैक्ट के अनुसार मुसलमानों को दी हुई ३४ सीटों के बजाय ४४ सीटें मिलनी चाहिये थीं। इन सब बातों का यह अर्थ स्पष्ट था कि विधान मण्डलों में प्रतिनिधित्व इत्यादि मामलों में मुसलमानों को कांग्रेस की अपेक्षा सरकार से अधिक उदारतापूर्ण व्यवहार प्राप्त हो सकता था। लेकिन मुसलमानों को अधिक सीटों का लाभ देने की इस सरकारी नीति से लखनऊ-पैक्ट पर बहुत धक्का पहुँचा।

राजनैतिक मामलों में कांग्रेस तथा लीग के बीच बढ़ते सद्भाव के कारण सरकार में प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उसने राजनैतिक सुधारों को और अधिक उपयुक्त समय के लिए टाल कर अपना ध्यान आर्थिक समस्याओं पर केन्द्रित कर लिया। मुसलमानों को अपने पक्ष में करने के लिए उसने पठानों तथा पंजाबी मुसलमानों की सेना में नियुक्ति बढ़ा दी। यह ध्यान में रखना चाहिये कि पंजाबी मुसलमान सरकार के बराबर स्वामिभक्त रहे हैं। मुसलमानों का पक्ष लेने तथा उनके साथ उदारतापूर्ण व्यवहार करने की यह नीति गोलमेज सम्मेलन के समय अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गयी। Communal Award के निष्पक्ष निरीक्षण से यह स्पष्ट हो जायगा कि राष्ट्रीयता को दबा कर साम्प्रदायिकता को प्रश्रय देना ही सरकारी नीति का प्रमुख उद्देश्य था।

अभी थोड़े समय पहले की राजनैतिक प्रगति के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश सरकार की सहायता के बिना मुस्लिम लीग को इतना महत्त्व कभी भी न मिलता। १९३७ के निर्वाचन में कांग्रेस द्वारा प्राप्त अद्वितीय सफलता ने सरकार को चौकन्ना कर दिया और उसने कांग्रेस की बढ़ती शक्ति को कुचल देने का निश्चय कर लिया। श्री जिन्ना तथा उनकी लीग का कांग्रेस के विरुद्ध प्रयोग करने के अतिरिक्त उसके लिए कुछ और स्वाभाविक न था। चुनाव में लीग को हराकर भी सर सिकन्दर हयात खाँ के उसके प्रति आत्मसमर्पण को इसी आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है कि सरकार ने श्री जिन्ना के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदल दिया और वह उन्हें अपना मित्र बनाना चाहती थी। महात्मा गाँधी तथा कांग्रेस कार्य समिति के सदस्यों की मुक्ति तथा देश की राजनैतिक स्थिति की समाप्ति के सम्बन्ध में श्री जिन्ना के दृष्टिकोण से यह शक्ति और पक्की हो जाती है। श्री फजलुल हक को पदच्युत करके बंगाल के गवर्नर द्वारा लीगी-मन्त्रिमंडल निर्माण के भद्दे तरीके, लीग के लिए रास्ता साफ करने के उद्देश्य से सिन्ध के गवर्नर द्वारा श्री अल्लाहबख्श की पदच्युति तथा आसाम तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में लीगी मन्त्रिमंडल निर्माण के तरीके को केवल इसी आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है कि सरकार तथा लीग के बीच एक गुप्त समझौता हो गया था।*

इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि ब्रिटिश अनुदार दल (British Conservative Party) तथा उसके प्रेस ने लीगी स्वत्वों का सदैव समर्थन किया है। वाइसराय भी यदि विचार विमर्श करते तो केवल मुस्लिम लीग से; राष्ट्रीय मुस्लिम पार्टियों को वे सदैव अस्वीकृत कर देते। किसी महत्त्वपूर्ण नियुक्ति के लिए भी केवल मुस्लिम लीग चुनी जाती। इन सबके बदले में मुस्लिम लीग सभी महत्त्वपूर्ण अवसरों पर सरकार से सहयोग करती।

हिन्दू महासभा तथा अन्य साम्प्रदायिक संस्थाएँ— देश के एक विशेष धार्मिक वर्ग के राजनैतिक हितों के लिए सबसे पहले मुस्लिम लीग की स्थापना हुई, लेकिन अपने ढंग की वह अकेली संस्था न थी। हिन्दुओं ने भी कुछ बाद में चलकर अपने हितों की रक्षा के लिए इसी के समकक्ष एक संस्था संगठित कर ली। जैसा कि अध्याय ४ में प्रदर्शित किया जा चुका है हिन्दू महासभा की स्थापना हिन्दुओं को संगठित करके उनकी सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा के तथा विकास के ध्येय से हुई थी। यह उन गैर राजनैतिक तथा सामाजिक समस्याओं को अपने हाथ में लेती जिनका सभी हिन्दुओं से सम्बन्ध रहता। लेकिन इसने शीघ्र ही राजनैतिक कार्यक्रम भी बना

---

* देखिये हुमायूँ कबीर : op. cit., postscript पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में कांग्रेस मन्त्रिमंडल फिर बन गया था।

लिए और इस सम्बन्ध मे यह हिन्दू विचारधारा का भी प्रतिनिधित्व करने का प्रयत्न करने लगी। १९३२ से इसने कांग्रेस पर हिन्दू-अधिकारों की अवहेलना का आक्षेप लगाना तथा उसे मुसलमानों का हितैषी बताना प्रारम्भ कर दिया। Communal Award के विरोध के आधार पर इसने केन्द्रीय विधान-सभा के चुनाव में भी भाग लिया। समय के साथ-साथ इसने अपने सांस्कृतिक उद्देश्य भुला दिये और मुस्लिम लीग के प्रतिउत्तर-स्वरूप यह हिन्दुओं की एक साम्प्रदायिक राजनैतिक संस्था बन गयी। लेकिन एक राजनैतिक संस्था के रूप में यह कांग्रेस या मुस्लिम लीग की बराबरी न कर सकी। ब्रिटिश सरकार ने इसे कभी भी हिन्दुओं की प्रतिनिधि-संस्था न माना। १९४६ में इसने कांग्रेस के विरुद्ध चुनाव में भी हिस्सा लिया लेकिन उसे बड़ी बुरी हार खानी पड़ी, इसके अधिकतर उम्मीदवारों की जमानतें जब्त कर ली गयीं।

राजनैतिक क्षेत्र में इसने कांग्रेस के पूर्ण स्वराज के ध्येय को अपनाया किन्तु औपनिवेशिक पद को तुरन्त स्वीकृति के लिए भी यह प्रस्तुत थी। अहिंसा के प्रश्न पर इसका कांग्रेस से मतभेद है, यह हिन्दुओं में सैनिक वीरता भरना चाहती है। यह प्राचीन हिन्दुओं की सैनिक वीरता लौटाना चाहती है और कुछ सदस्य तो 'हिन्दू राज' स्थापित करना चाहते हैं। यह भारत को Secular State बनाने के कांग्रेसी ध्येय का निश्चित रूप से विरोध करती है, और यदि इसमें शक्ति होती तो यह पाकिस्तान के मुस्लिम राज के विरुद्ध भारत को हिन्दू राज बना देता। यह पाकिस्तान का एक स्वतन्त्र राज के रूप में स्थापना का सदैव विरोध करती रही और आज भी इसका अखंड हिन्दुस्तान में विश्वास है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हिन्दू महासभा ने हिन्दुओं को १५ अगस्त १९४७ को खुशियाँ न मनाने का आदेश दिया क्योंकि देश का दो टुकड़ों में विभाजन हो गया था। बाद में चलकर उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा अपनी साम्प्रदायिक माँगें अस्वीकृत करने पर इसने Direct Action प्रारम्भ कर दिया लेकिन थोड़े दिनों पश्चात् यह आन्दोलन उठा लिया गया।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ शुद्ध रूप से एक राजनैतिक संस्था नहीं है और हिन्दू महासभा से इसका कोई वैधानिक सम्बन्ध नहीं है, फिर भी दोनों में बड़ी समानता है। इन दोनों का अखण्ड भारत में विश्वास है और दोनों हिन्दू राज्य की स्थापना के इच्छुक हैं। ३० जनवरी १९४८ को महात्मा गाँधी की हत्या के बाद दोनों संस्थाएँ अवैध घोषित कर दी गयी थीं।

सिक्खों, दलित वर्गों, यूरोपियनों तथा आंग्ल भारतीयों की भी अपनी-अपनी राजनैतिक संस्थाएँ थीं। किसी भी नये संविधान में उनमें से प्रत्येक राजनैतिक शक्ति में कुछ न कुछ हिस्से की इच्छुक रहती। विधान सभाओं तथा सरकारी नौकरियों में

अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व की उनकी माँगों ने बड़ी विषम साम्प्रदायिक समस्या उत्पन्न कर दी थी जिसके सम्बन्ध म पहले प्रकाश डाला जा चुका है। इस प्रश्न पर अनेक वर्गों के आपसी समझौते के अभाव के कारण देश की स्वतन्त्रता की योजना के विकास में बड़ी अड़चन पड़ी है। ब्रिटिश सरकार ने साम्प्रदायिक समस्या के हल को वैधानिक प्रश्न पर विचार-विमर्श के लिए एक आवश्यक शर्त बनाये रक्खा। गोलमेज सम्मेलन की अल्पसख्यक सहायक समिति (Minorities Sub Committee) इस गम्भीर प्रश्न का कोई हल न दे सकी, परिणाम-स्वरूप ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री को इस मामले म हस्तक्षेप करना पड़ा और उन्होंने एक ऐसा Award दिया जिसने पूना पैक्ट द्वारा सशोधित होकर १९३५ के ऐक्ट म देश की विधान सभाओं मे विभिन्न वर्गों की सीटें निश्चित कीं।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का विस्तार— १९०९ के मार्ले मिन्टो सुधारो के अनुसार मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्रों के निर्माण की कहानी पहले कही जा चुकी है। हालाँकि लॉर्ड मार्ले इस सिद्धान्त के एकदम विरुद्ध थ लेकिन भारत सरकार के आगे उनका एक न चली, वह मुसलमानों के साथ विशेष व्यवहार करना चाहती थी इसलिए मुसलमानों के लिए अलग साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की स्वीकृति तथा उसके सविधान म सम्मिलित हुए बिना वह किसी भी वैधानिक सुधार योजना को स्वीकृत करने के लिए प्रस्तुत न थी। भारत सरकार की इस निश्चित माँग की लॉर्ड मार्ले किसी भी प्रकार उपेक्षा न कर सकते थे क्योंकि ब्रिटिश कैबिनेट ने उन पर यह शर्त लाद दी थी कि अपनी किसी भी सुधार-योजना म उन्हें भारत-सरकार को अपने साथ ले चलना था। राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र, दोनों के प्रतिकूल होने के कारण कांग्रेस भी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं थी, फिर भी उसे मुस्लिम लीग के आगे झुकना पड़ा और १९१६ की कांग्रेस लीग-योजना म इस सिद्धान्त को भी स्थान दिया गया। बाद म चलकर यह सिद्धान्त अन्य वर्गों— सिक्ख, ईसाई, यूरोपियन, आग्ल भारतीय, श्रमिक, उद्योग तथा वाणिज्य-व्यवसाय, जमींदार तथा देशी राजों तक— के लिए भी स्वीकृत कर लिया गया। बाद म आने वाली प्रत्येक सुधार योजना से इस सिद्धान्त की व्याप्ति (Scope) बढ़ती गयी। भारत सरकार के १९१९ के ऐक्ट के अनुसार बने नियमों के अन्तर्गत मुसलमानों, सिक्खों तथा यूरोपियन वाणिज्य व्यवसाय (Commerce) को केन्द्रीय विधानमडल तथा इनके साथ जमींदारों को प्रान्तीय विधान सभाओं म साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व दिया गया। भारतीय ईसाइयों, आग्ल भारतीयों, श्रम तथा दलित वर्गों को यह सुविधा नहीं दी गयी, धारा-सभाओं में उनके प्रतिनिधियों को सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता था। इस दिशा में Communal Award और भी आगे बढ़ा, इसने भारतीय ईसाइयों, आग्ल-भारतीयों, श्रम, उद्योग तथा वाणिज्य

व्यवसाय तथा स्त्रियों तक के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त स्वीकृत कर लिया, गा वे इसका सन्त विरोध कर रही थीं। Communal Award ने दलित वर्ग के लिए भी अलग प्रतिनिधित्व की योजना बनाई। लेकिन १९३२ म यरवदा जेल मे गाधी जी ने ऐतिहासिक उपवास के कारण सवर्ण हिदुओ तथा दलित वर्गों में समझौता हो गया और यह योजना हटा लेनी पड़ी।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के दोष— साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली को स्वतन्त्र भारत ने त्याग दिया है, फिर भी, उसके दोषों के सम्बन्ध म यहाँ कुछ शब्द कह देना उपयुक्त होगा। धर्म तथा जाति के आधार पर वोट देने वाला का विभाजन और अपने प्रतिनिधि चुनने का उन्हें अधिकार भारत के लिए ये नई चीजें थी, लका और केनया को छोड़ कर यह प्रथा ससार म और कहीं नहीं पाई जाती। अन्य देशों म निर्वाचन-क्षेत्र क्षेत्रफल के आधार पर बँट हैं, धार्मिक या जातीय आधार पर नहीं। देशी की राष्ट्रीय विचारधारा ने इसे कभी भी उपयुक्त और लाभप्रद नहीं माना, इसने इसे सदैव राष्ट्र विरुद्ध, लोकतन्त्र विरुद्ध तथा इतिहास की शिक्षाओं के विरुद्ध माना है। इस प्रणाली से देश अनेक धार्मिक तथा जातीय टुकडों मे बट जाता है और प्रत्येक एक दूसरे का ध्यान न रख कर अपने मनमानी हितों की रक्षा के लिए ही प्रयत्नशील रहता है। कोई भी साम्प्रदायिक प्रतिनिधि दूसरे वर्ग के सदस्यों को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानता है, ऐसा नागरिक नहीं जिसकी सद्भावना और सहयोग दोनों का भलाई के लिए आवश्यक हैं। साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों ने इस प्रकार देश की नागरिकता के विकास म बडा धक्का पहुँचाया है। इस प्रणाली का राष्ट्र-विरोधी रूप सबसे अच्छी प्रकार इस बात द्वारा स्पष्ट होता है कि मुस्लिम लीग के सिद्धान्त के अनुसार हिन्दू तथा मुसलमान ऐसे दो राष्ट्रों क नागरिक हैं जिनमें कोई भी चीज उभयनिष्ट नहीं। पाकिस्तान की माग भी इसी गर्हित प्रणाली का परिणाम थी।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त लोकतन्त्र विरुद्ध है—इसके अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है। इस सत्य को ब्रिटिश राजनीतिज्ञ लॉर्ड माल और मॉन्टेग्यू से लेकर १९२८ म भारत म आने वाले वैधानिक कमीशन के अध्यक्ष सर जान साइमन तक ने स्वीकृत किया है। यह पारस्परिक नागरिकता तथा सद्भाव की उन भावनाओं को नष्ट कर देता है जिनके अभाव मे वास्तविक लोकतन्त्र की कल्पना असम्भव है। लोकतन्त्र का मूल इस बात में सन्निहित है कि राजनैतिक दृष्टि से जो अल्पसख्यक हैं वे भी कल बहुसख्यक बनकर सरकार बना सकते हैं। लेकिन साम्प्रदायिक क्षेत्रों के निर्माण से जब तक कोई अनहोनी घटना न हो जाय यह चीज असम्भव है। इस प्रणाली के अनुसार मुसलमान न तो केन्द्रीय सरकार म राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित कर सकते थे न उन प्रान्तों म जहाँ वे अल्पसख्यक थे।

उसी प्रकार हिन्दू भी बगाल तथा पजाब जैसे प्रान्तों के शासन में भाग नहीं ले सकते थे। इसी वास्तविकता से श्री मुहम्मद अली जिन्ना तथा मुस्लिम लीग ने यह अर्थ निकाल लिया था कि लोकतन्त्र को भारत म सफलता नहीं मिल सकती। यह सत्य है कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली जब तक किसी देश के सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन को दूषित करती रहेगी, वास्तविक लोकतन्त्र की उसम स्थापना असम्भव है।

लोकतन्त्रात्मक सस्थाओं को चलाने के लिए राजनैतिक पार्टियों की आवश्यकता पडती है। आर्थिक तथा राजनैतिक आधारों पर राजनैतिक पार्टियों का निर्माण सबसे अच्छा होता है। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली मे उनका निर्माण धार्मिक आधार पर होता है। प्रतिनिधियों का चुनाव धार्मिक आधारों पर होने लगता है जिसमें धार्मिक कट्टरता तथा विद्वेष को अपना प्रभाव दिखलाने का पूरा अवसर मिलता है। अनेक लोगों की यह धारणा है कि साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों के ऊपर हिन्दू मुस्लिम विद्वेष का बहुत कुछ उत्तरदायित्व है। यह भी कहा जाता है कि यह सिद्धान्त शासन सम्बन्धी कुशलता के लिए भी हानिप्रद है। अपने धर्मानुयायियों की इच्छा पर निर्भर रहने वाले मन्त्रियों से पद-नियुक्ति या शासन के अन्य कार्यों में साम्प्रदायिक विचारों की उपेक्षा की आशा कैसे की जा सकती है।

साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली के दोषों के ऊपर दिए हुए विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि अल्पसख्यकों के हितों की रक्षा के लिए सबसे अधिक लाभप्रद तथा सतोषप्रद व्यवस्था नहीं है। इस व्यवस्था से न तो अल्पसख्यकों का हित होता है न राष्ट्र का। अपने देश म हुए अनुभवों से इस कथन की सत्यता अच्छी प्रकार सिद्ध हो जाती है। हानिप्रद होते हुए भी ब्रिटिश सरकार ने इसे हटाया नहीं। ब्रिटिश सरकार का इस व्यवस्था को सुरक्षित रखने तथा कुछ अल्पसख्यकों को इससे चिपके रहने के कारणों का विवेचन यहाँ अनुपयुक्त न होगा।

ब्रिटिश सरकार द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों को प्रश्रय देने तथा उन्हें विस्तृत करने के कारणों का विवेचन हो चुका है। यह व्यवस्था सरकार के 'विभाजन द्वारा शासन' करने की नीति के एकदम अनुकूल पडती थी।* इसी

* १९०६ में जिस दिन गवर्नर-जनरल ने मुस्लिम डेपुटेशन से मुलाकात की थी, दिन एक ऊँचे सरकारी पदाधिकारी द्वारा लेडी मिन्टो के पास लिखे पत्र से इस विषय पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। पत्र म निम्नलिखित शब्द भी थे:

"मुझे आपके पास यह बतलाने के लिए एक पक्ति अवश्य लिखनी चाहिये कि आज एक बहुत बडी घटना हुई है। यह घटना भारत तथा भारतीय इतिहास पर बहुत समय तक प्रभाव रक्खेगा। यह घटना ६ करोड़ २ लाख व्यक्तियों को राजनैतिक विद्रोह में भाग लेने से रोक लेगी।"

लेडी मिन्टो ने अपनी डायरी में यह लिख लिया था कि भारतीय इतिहास में यह अभूतपूर्व घटना थी।

व्यवस्था द्वारा वह एक वर्ग को दूसरे के विरुद्ध खड़ा करके अपने शासन को स्थायी बनाए रखना चाहती थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा भारतीय राष्ट्रीयता के बीच लड़ाई में अड़चन डालने के लिए यह नीति अपनायी गयी थी। इसी उद्देश्य से भारतीय समाज के कुछ राष्ट्र विरोधी तत्वों ने भी इस गर्हित नीति को अपना लिया था। ऐसा करके वे ऊँचे ऊँचे पद तथा नौकरियाँ प्राप्त करना चाहते थे। अल्प-सख्यकों के अधिकारों की रक्षा के लिए ही साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों की माँग की गयी थी। लेकिन इन अधिकारों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि बेकारी दूर करने तथा नौकरियों के आश्वासन के अतिरिक्त वे अन्य कुछ नहीं हैं। नेता बनने का इच्छुक व्यक्ति ही साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों का पक्ष करेगा क्योंकि वह जानता है कि इसी की शरण लेने से वह ऊँचा पद प्राप्त कर सकेगा। अन्य वर्गों के योग्य व्यक्तियों के मुकाबले उसका कुछ भी मूल्य न रहेगा। डा० बी० कृष्ण ने इस सत्य को इन शब्दों में बहुत अच्छी प्रकार व्यक्त किया है : 'भारत में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का इतिहास पढ़े लिखे पिछड़े मध्यम वर्ग तथा राजनैतिक रूप से प्रभावशाली नौकरी-पेशावालों के बीच वर्ग सघर्ष का इतिहास है।'*

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि साम्प्रदायिक समस्या का धार्मिक मामलों से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसका मुख्य सम्बन्ध तो सदी सीटों तथा सरकारी नौकरियों से था। इसके अतिरिक्त इसका देश की साधारण जनता से भी कोई सम्बन्ध नहीं था, यह विभिन्न वर्गों के कुछ थोड़े लोगों तक ही सीमित था। कांग्रेस के Election Manifesto के निम्नलिखित शब्दों से इस कथन की पुष्टि होती है

'यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सारी साम्प्रदायिक समस्या का, चाहे वह कितनी भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, देश की प्रमुख समस्याओं— भयंकर गरीबी तथा बेकारी— से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह कोई धार्मिक समस्या नहीं है और इससे कुछ इने गिने लोगों पर ही प्रभाव पड़ता है। किसानों, मजदूरों, व्यापारियों, सौदागरों तथा सभी वर्गों के निचले मध्यम स्तर के लोगों से इस समस्या का कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके ऊपर लदा बोझ ज्यों का त्यों है।'

साम्प्रदायिक समस्या का प्रादुर्भाव भारतीय स्थिति के प्रति ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनायी नीति के फलस्वरूप ही हुआ था— इस कथन की पुष्टि इस सत्य से होती है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अब ऐसी कोई समस्या नहीं रह गयी है। आज सभी धर्मानुयायी पारस्परिक सद्भाव तथा शान्ति से रह रहे हैं। साम्प्रदायिक झगड़े तथा वैमनस्य अतीत की वस्तु बन गये हैं।

साम्प्रदायिक निर्णय— जिन परिस्थितियों में ब्रिटिश सरकार को साम्प्रदायिक समस्या में हस्तक्षेप करना तथा उस पर अपना निर्णय देना पड़ा, उनका विवेचन हो

* दी प्रॉब्लम ऑफ माइनॉरिटीज, पृष्ठ २०८।

चुका है। प्रथम गोलमेज सम्मेलन में साम्प्रदायिक समस्या का कोई हल न हो सका। पहले तथा दूसरे गोलमेज सम्मेलन के बीच भारत में भी इसे सुलझाने का प्रयत्न असफल रहा। अल्पसंख्यक समिति (The Minorities Committee), जिसमें महात्मा गाँधी भी सम्मिलित थे, भी इस समस्या पर कोई समझौता करा सकने में असफल रही। इस समस्या का बिना निबटारा हुए फेडरल स्ट्रक्चर कमेटी भी अपना कार्य प्रारम्भ नहीं कर सकती थी। मुस्लिम लीग ने अपनी मांगें स्वीकृत हुए बिना इसकी कार्रवाई में भाग लेने से इन्कार कर दिया। इसलिये ब्रिटिश सरकार के लिए इस मामले में हस्तक्षेप करना तथा प्रतिनिधित्व की अपनी योजना की घोषणा करना आवश्यक हो गया। यह योजना १६ अगस्त १६३२ को लन्दन तथा शिमला से साथ साथ प्रकाशित होने वाले Communal Award में दी हुई है।

Award विधान मंडलों में विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों की संख्या तथा चुनाव के तरीके— केवल इन दो आधारमूल प्रश्नों तक ही सीमित है। अलग निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा हो रही महान् क्षति का ध्यान करके भारत की राष्ट्रीय विचारधारा अल्पसंख्यक वर्गों के लिए सीटें सुरक्षित रखने तथा अतिरिक्त (Additional) सीटों के लिए चुनाव लड़ने के उनके अधिकार के साथ सम्मिलित निर्वाचन-क्षेत्रों के पक्ष में थी। लेकिन चूँकि मुस्लिम लीग अलग निर्वाचन क्षेत्रों के त्याग के लिए प्रस्तुत नहीं था, इसलिए Award ने अलग निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त सुरक्षित रक्खा और इसे १६१६ के एक्ट के नियमों के अनुसार ग़ैर-मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों में सम्मिलित वर्गों पर भी लागू कर दिया। दलित वर्गों के लिए भी अलग निर्वाचन-क्षेत्रों का निर्माण इस Award की निकृष्टतम विशेषता थी और इसी ने महात्मा जी को यरवदा जेल में अपना ऐतिहासिक उपवास प्रारम्भ करने के लिए विवश किया। बाद में चलकर सवर्ण हिन्दुओं तथा दलित वर्गों में 'पूना पैक्ट' के अनुसार समझौता हो गया और परिणामस्वरूप योजना का यह विधान नष्ट कर देना पड़ा।

Award ने मुसलमानों, सिक्खों, भारतीय ईसाइयों, आंग्ल-भारतीयों, यूरोपियनों, श्रम, उद्योग तथा वाणिज्य व्यवसाय, जमींदारों, विश्वविद्यालयों तथा औरतों के लिए प्रान्तीय विधान मण्डलों में सीटें निश्चित कर दीं और चुनाव के लिए विशेष प्रबन्ध भी किया। बम्बई में मराठों तथा पिछड़े क्षेत्रों के प्रतिनिधियों के लिए सीटें सुरक्षित रक्खी गयीं।

रैमसे मैक्डानल्ड के अनुसार Award में दी गयी प्रतिनिधित्व की योजना 'विरोधी तथा प्रतिस्पर्द्धी अधिकारों के बीच सन्तुलन का सच्चा प्रयत्न था, फिर भी यह सरलतापूर्वक प्रदर्शित किया जा सकता है कि कुछ वर्गों का तो अत्यधिक पक्ष लिया गया था

और कुछ की उपेक्षा की गयी थी। यह योजना यूरोपियनों तथा आंग्ल भारतीयों के प्रति सबसे अधिक उदार थी। मुसलमानों की भी अधिकतर माँगें स्वीकृत कर ली गयी थीं। किन्तु हिन्दुओं के प्रति सबसे अधिक अन्याय हुआ था।

बंगाल के हिन्दुओं के प्रति सरासर अन्याय तथा उस प्रान्त के यूरोपियनों तथा आंग्ल भारतीयों का अत्यधिक पक्ष इस तथ्य से प्रकट होता है कि पूरी जन-संख्या के ४४.८ % हिन्दुओं को प्रान्तीय विधान सभा की सीटों का ३२ % दिया गया था किन्तु यूरोपियनों को, जो पूरी जन संख्या के एक प्रतिशत के एक दसवें से भी कम अर्थात् .०१ % थे, सीटों का २५ % दिया गया। आंग्ल भारतीयों की संख्या कुल जन संख्या की एक प्रति हजार थी, फिर भी उन्हें सीटों का १.६ % दिया गया। दूसरे शब्दों में, हिन्दुओं को जहाँ जन-संख्या के अनुपात से कम सीटें दी गईं, यूरोपियनों को २५००० % तथा आंग्ल-भारतीयों को ३००० % weightage दिया गया।*
यदि विभिन्न वर्गों के बीच सीटों का यह विभाजन उपयुक्त तथा न्यायपूर्ण है तो समझ में नहीं आता अनुपयुक्त तथा अन्यायपूर्ण विभाजन क्या होगा। पंजाब में हिन्दू अल्पसंख्यक थे, फिर भी जन संख्या के आधार पर उन्हें जितनी सीटें मिलनी चाहियें थीं, उससे बहुत कम दी गईं। पंजाब में सिक्खों को, जो कुल जन संख्या के लगभग १३ % थे, सीटों का १८.३ % दिया गया। लेकिन अन्य प्रान्तों में इसी प्रकार के मुस्लिम अल्पसंख्यकों को अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया, उदाहरण-स्वरूप उत्तर प्रदेश में, जहाँ वे कुल जन संख्या के १५ % थे, उन्हें सीटों का ३० % दिया गया। यही दशा बम्बई, मध्य-प्रदेश, मद्रास, बिहार तथा आसाम की भी थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुसलमानों के मुकाबिले सिक्खों का ध्यान कम रक्खा गया। Award द्वारा विभिन्न वर्गों को दी गयी सीटों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जायगा कि किसी वर्ग की स्थिति उसकी राष्ट्रीयता के विरोध तथा शासकों के लिए उसके महत्त्व से जाँची गयी थी।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों का निर्माण अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के उद्देश्य से हुआ था। लेकिन Award ने पंजाब, सिन्ध, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा बंगाल के बहुमतों को अलग साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्र दे दिये। इन प्रान्तों के अल्पमतों ने अपने लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्रों की कभी भी माँग न की, लेकिन उनके ऊपर वे जबरदस्ती लाद दिये गए। Award ने काँग्रेस तथा लीग के बीच हुए लखनऊ समझौते को अस्वीकृत कर दिया किन्तु मुसलमानों को इसमें दिये Weightage को सुरक्षित रक्खा। Award का यह कार्य एकदम अन्यायपूर्ण तथा तर्कहीन था। लखनऊ-पैक्ट या तो

* दी कम्यूनल ट्रैंगिल, पृष्ठ ७४।

पूर्ण रूप से स्वीकृत होता या एकदम से अस्वीकृत, इसके एक भाग को स्वीकृत तथा दूसरे को अस्वीकृत करने में कोई तर्क नहीं।

ब्रिटिश सरकार का कहना यह था कि यह Award अस्थायी था। जिसका अर्थ यह था कि इससे अच्छी वह ऐसी कोई भी योजना स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत थी जिस पर सभी वर्गों में समझौता हो गया होता। यह समझौता 'सुधार बिल' के कानून बन जाने के पूर्व ही हो जाना चाहिए था।

निर्णय के प्रति देश के व्यापक असन्तोष, तथा पूना पैक्ट द्वारा दलित वर्गों की समस्या के निराकरण ने मौलाना अबुलकलाम आजाद, डा० सैयद महमूद, प० मदनमोहन मालवीय तथा मौलाना शौकतअली को नए सिरे से प्रयत्न करने के लिए प्रेरित किया जिससे न केवल Award को हटा कर एक दूसरी योजना का निर्माण होता बल्कि साम्प्रदायिक समस्या का भी हमेशा के लिए एक प्रतिष्ठापूर्ण हल हो जाता। मौलाना शौकतअली ने सरकार से महात्मा गांधी को इस कार्य में सहायता देने के लिए छोड़ देने या जेल में ही उनसे मिलने-जुलने की अनुमति देने की अपील की। सरकार ने मौलाना साहब की विनय अस्वीकृत कर दी और साम्प्रदायिक समझौते का कार्य महात्मा गांधी की सहायता या उनके पथ-प्रदर्शन के बिना ही प्रारम्भ किया गया। हिन्दू, सिक्ख, मुसलमान तथा ईसाई प्रतिनिधियों की सहायता से १६३२ की नवम्बर में इलाहाबाद में एक ऐक्य-सम्मेलन (Unity Conference) किया गया। इस सम्मेलन ने विभिन्न वर्गों में समझौता कराने के उद्देश्य से योजनाओं पर विचार विमर्श के लिये एक कमेटी नियुक्त की। इसके सदस्यों में रामानन्द चटर्जी, अबुलकलाम आजाद, शौकतअली, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी तथा प० मालवीय भी सम्मिलित थे। इस कमेटी की बैठक ३ नवम्बर से १७ नवम्बर तक हुई और उसमें कुछ निर्णय भी किये गये। इन निर्णयों को विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों ने अपने अपने वर्ग के समक्ष रखा। इन योजनाओं पर विभिन्न वर्गों के विचारों तथा उनके द्वारा सुझाये सुधारों पर ऐक्य सम्मेलन ने २३ दिसम्बर १६३२ से इलाहाबाद में हुये अपने तीसरे अधिवेशन में विचार-विमर्श किया। इस सम्मेलन में सभी प्रमुख समस्याओं पर पूर्ण समझौता हुआ। यह समझौता काफी लम्बा है जिसमें केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान-मंडलों में विभिन्न वर्गों की सीटों तथा चुनाव के तरीके के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों— नागरिकों के मूल अधिकारों, अल्पसंख्यकों के धार्मिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों तथा व्यक्तिगत कानूनों की रक्षा, कैबिनेटों के निर्माण— का भी विवेचन है। पारस्परिक सद्भाव द्वारा साम्प्रदायिक समस्या के हल में यह समझौता अद्वितीय है।

लगभग सभी विवादास्पद विषयों पर समझौता प्राप्त करके बंगाल विधान मण्डल में यूरोपियन-वर्ग के प्रतिनिधित्व की समस्या सुलझाने के लिये

ऐक्य सम्मेलन की सहायक-समिति (Sub-committee) ने कलकत्ता जाने का निश्चय किया। बंगाल में यूरोपियनों की संख्या कुल जनसंख्या की ·०१ % थी, फिर भी उन्हें सीटों का २५ % दिया गया था। उसे इतना अधिक Weightage देना सम्भव नहीं था। इस महत्वपूर्ण अवसर पर ब्रिटिश सरकार ने अप्रत्याशित रूप में हस्तक्षेप कर दिया, गोलमेज सम्मेलन के तीसरे अधिवेशन के अवसर पर भारत-मन्त्री ने यह घोषणा कर दी कि ऐक्य सम्मेलन में मुसलमानों द्वारा स्वीकृत सीटों र ३२ % के बजाय वे उन्हें केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा की ब्रिटिश भारत की सीटों का ३३⅓ % देने के लिए प्रस्तुत थे। उन्होंने उपयुक्त आर्थिक सहायता के साथ सिंध को बम्बई से अलग करके उसे एक नया सूबा बना देने के अपने निश्चय की भी घोषणा की। इस नए प्रान्त में हिन्दू अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया। ऐक्य-सम्मेलन भी सिन्ध का एक अलग प्रान्त बना देने के लिए प्रस्तुत था किन्तु हिन्दू-अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा तथा केन्द्रीय सरकार से बिना किसी प्रकार की सहायता लिए हुए। इन घोषणाओं ने ऐक्य-सम्मेलन का कार्य व्यर्थ कर दिया। ब्रिटिश चालबाजी को धन्यवाद है जिसने सम्मेलन का सारा परिश्रम व्यर्थ कर दिया और साम्प्रदायिक समस्या वहीं रह गई जहाँ Award ने उसे छोड़ा था।

अध्याय ७

भारत में शिक्षा

परिचय— शिक्षा को अच्छे नागरिक जीवन का आधार ठीक ही कहा है। शिक्षा की अच्छाई तथा शिक्षित लोगों की संख्या पर ही किसी समाज की भलाई बहुत सीमा तक निर्भर है। जो व्यक्ति शिक्षा-प्रणाली तथा उसके सिद्धान्तों में परिवर्तन करता है वही लोगों की आदतों तथा जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में भी परिवर्तन करता है। इसलिए भारतीय नागरिक जीवन के विद्यार्थी के लिए यह जानना आवश्यक है कि यहाँ के नागरिकों को किस प्रकार की शिक्षा दी जाती है और उस शिक्षा का उद्देश्य तथा लक्ष्य क्या है।

अपने देश में प्रचलित आज की शिक्षा-प्रणाली ब्रिटिश शासकों द्वारा समय-समय पर अपनायी गयी नीति का परिणाम है। कुछ गुरुकुलों, रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रारम्भ किए हुए शान्तिनिकेतन, असहयोग आन्दोलन के अवसर पर प्रारम्भ हुई कुछ संस्थाओं, कुछ मुस्लिम मदरसों तथा परम्परागत प्रणाली पर चलाई जाने वाली अनेक पाठशालाओं को छोड़ कर, शिक्षा की सारी प्रणाली विदेशों की नकल है। यह राष्ट्रीय नहीं है क्योंकि यह राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति की ओर उन्मुख नहीं है। यह राष्ट्रीय नहीं है क्योंकि इसकी उत्पत्ति इस देश से नहीं हुई है। यह हमारे अतीत, हमारे वातावरण तथा हमारी आवश्यकताओं से सम्बन्धित नहीं है। इसलिए इसका स्वरूप समझने और इसके गुण-दोषों की विवेचना के लिए अतीत की ओर मुड़ने और अपने इतिहास के हिन्दू तथा मुसलमान-युगों में प्रचलित शिक्षा प्रणाली के विवेचन की आवश्यकता नहीं है। हम केवल इतना ही कहना उपयुक्त समझेंगे कि अंग्रेजों के आने से पहले देश निरक्षर नहीं था। शिक्षा की दृष्टि से वह अपने समय के किसी भी यूरोपियन देश से कहीं आगे था। मिस्टर कर हार्डी की रचना के निम्नलिखित अंश से इस कथन की पुष्टि होती है 'सरकारी कागजों तथा मिशन सम्बन्धी रिपोर्टों के आधार पर अंग्रेजों के आने से पहले बंगाल की शिक्षा स्थिति के विषय में मैक्स मूलर का कहना है कि बंगाल में ८०,००० स्कूल या कुल जन-संख्या के प्रत्येक ४०० व्यक्तियों के पीछे एक स्कूल था।" अपने ब्रिटिश भारत के इतिहास में लडलाऊ कहते हैं, "मुझे विश्वास है कि अपनी पुरानी परम्परा बनाये रखने वाले प्रत्येक हिन्दू ग्राम के अधिकतर बच्चों को लिखने, पढ़ने तथा कुछ गणित का ज्ञान अवश्य है। लेकिन बंगाल की तरह जहाँ हमने ग्राम-प्रणाली का विनाश कर दिया है, ग्राम स्कूल भी लुप्त हो गया है।"* यह ध्यान में रखना चाहिये कि अंग्रेजी शासन के पहले के भारत में

---

* मेजर बी० डी० बसु द्वारा उद्धृत एजुकेशन इन इण्डिया अण्डर ईस्ट इण्डिया कम्पनी, पृष्ठ १६।

शिक्षा का भार राज्य के ऊपर नहीं रहता था। जो धन शिक्षा पर व्यय किया जाता था वह जनता से कर के रूप में वसूल नहीं किया जाता था। उच्च शिक्षा के अनेक विद्यालय धनी व्यक्तियों तथा शासकों की उदारता पर निर्भर रहते थे। स्कूलों तथा विद्यार्थियों की प्रमुख सहायता लोगों के स्वेच्छापूर्वक दान द्वारा होती थी। प्राचीन तथा मध्य-कालीन शिक्षा-प्रणाली पर इन थोड़े शब्दों से हम इसके ब्रिटिश युग में विकास की ओर बढ़ते हैं।

ब्रिटिश सरकार के शिक्षा-सम्बन्धी उद्देश्य— शिक्षा के उद्देश्य से ही शिक्षा के वास्तविक रूप तथा सगठन का पता चलता है। इसलिए हम यह जानना आवश्यक हो जाता है कि भारतीय नवजवानों के लिए वर्तमान शिक्षा प्रणाली निश्चित करने में ब्रिटिश शासकों का उद्देश्य क्या था। यदि शिक्षा-प्रणाली भिन्न हुई होती तो अंग्रेजों को भारत में वह स्थान न मिलता जो उनको मिला। जापान की शिक्षा-प्रणाली हमारी शिक्षा-प्रणाली से एकदम भिन्न है और इसी लिए उसके परिणाम भी एकदम भिन्न हैं। इस भिन्नता का कारण यह है कि द्वितीय महायुद्ध के पहले जापानी सरकार के उद्देश्य बिल्कुल भिन्न थे।

इतिहास के एक नाजुक समय पर जिन लोगों ने हमारी शिक्षा प्रणाली का रूप निश्चित किया उनके उद्देश्यों का पता लगाना कठिन नहीं है। वारेन हेस्टिंग्ज ने सबसे पहले १७८१ में कलकत्ता मदरसा की स्थापना की और १८१३ के चार्टर ने भारतीयों की बौद्धिक उन्नति के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी को एक लाख रुपया अलग रख लेने का अधिकार भी दिया, फिर भी भारत की शिक्षा-सम्बन्धी नीति के वास्तविक जन्मदाता लॉर्ड मैकाले थे। उनके ही शक्तिपूर्ण पत्र के कारण प्राच्य (Oriental) विद्याओं को प्रश्रय देने की पुरानी नीति को छोड़कर पश्चिमी ज्ञान विज्ञान के प्रसार की नीति अपनायी गयी। इसी समय से पाश्चिमी ज्ञान विज्ञान की रक्षा तथा प्रसार भारत सरकार की निश्चित नीति बन गयी। भारतीय दर्शन, साहित्य तथा धर्म की उपेक्षा और भारतीयों को अंग्रेजी— एक विदेशी भाषा— द्वारा शिक्षा प्रदान इस नीति के परिणाम हुए।

हमारा सम्बन्ध अभी भारतीय शिक्षा प्रणाली के दोषों से उतना नहीं है जितना लॉर्ड मैकाले को इसे १८३५ में अंग्रेजियत के रंग में रँग देने के लिए प्रेरित करने वाले उद्देश्यों से। इन उद्देश्यों का सर्वोत्तम स्पष्टीकरण उनके अपने ही शब्दों द्वारा किया जा सकता है। १८३६ में उन्होंने अपने एक मित्र को इस प्रकार लिखा "अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त कोई भी हिन्दू अपने धर्म के प्रति सच्चा नहीं रह पाता। मेरा यह पक्का विश्वास है कि यदि हम लोगों की शिक्षा-योजना पूर्ण रूप से कार्यान्वित हो गई तो आज से तीस वर्ष बाद बंगाल के प्रतिष्ठित वर्गों में कोई भी मूर्तिपूजक न रहेगा। और यह सब उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता में बिना कोई अड़चन पहुँचाये, केवल

पश्चिमी ज्ञान के प्रसार से अपने आप हो जायगा।' मैकाले के इस पत्र से कुछ लोग यह अर्थ निकालेंगे कि उनका उद्देश्य भारतीयों को उनके परम्परागत धर्म से अलग हटाकर ईसाई बना लेना था। ऐसा होना सम्भव हो सकता है किन्तु उनका आन्तरिक उद्देश्य कुछ और था। पाश्चात्य शिक्षा के उनकी ही तरह कट्टर पोषक तथा उनके अपने बहनोई सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने इसे बड़ी अच्छी प्रकार व्यक्त किया है। १८५३ में हाउस ऑफ लॉर्ड्स की कमेटी के सामने अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा था कि अपने धार्मिक दृष्टिकोण के कारण हिन्दू अंग्रेजों को म्लेच्छ या अपवित्र मानते थे और इसी लिए उनके साथ वे कोई सम्बन्ध रखना धर्मविरुद्ध समझते थे। मुसलमानों के विचार भी इसी प्रकार के थे, वे उन्हें काफिर या अपवित्र लुटेरे समझते थे। इस प्रकार भारत की इन दो प्रमुख जातियों को अंग्रेजों से स्वभावतः घृणा थी। सर ट्रेवेलियन के अनुसार पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भारतीयों के स्वभाव में आवश्यक परिवर्तन किया जा सकता था। अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त युवक से यह आशा थी कि वह स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए प्रयत्न छोड़ देता और अंग्रेजो को अपना रक्षक तथा मित्र मानने लगता। ऐसी ही कोई चाल लॉर्ड मैकाले के मस्तिष्क में भी रही होगी— यह इस बात से सिद्ध होता है कि वह अपनी शिक्षा-योजना से भारतीयों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करना चाहते थे जो 'रक्त तथा रंग से तो भारतीय होता किन्तु रुचि, विचार, शब्द तथा मस्तिष्क से अंग्रेज'। इस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा प्रसार का प्रमुख उद्देश्य पढ़े-लिखे वर्ग की ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामिभक्ति का सर्व-साधारण में प्रसार तथा अन्त में भारत की सांस्कृतिक विजय था।

इसके अतिरिक्त एक और उद्देश्य भी था। देश के शासन के लिए सरकार को अंग्रेजी पढ़े लिखे ऐसे भारतीयों की आवश्यकता थी जो इंगलैंड से आये सिविल सर्वेन्टों की अपेक्षा बहुत कम वेतन पर कार्य करने के लिए प्रस्तुत रहते। स्वयं लॉर्ड मैकाले के अनुसार अंग्रेजी पढ़े लिखे ऐसे भारतीयों की आवश्यकता थी जो 'हमारे तथा हमसे शासित लाखों व्यक्तियों के बीच दुभाषिये का काम कर सकें'। कलकत्ते के न्यायालय में योग्य हिन्दुओं तथा मुसलमानों की सेवाएँ प्राप्त करने के उद्देश्य से ही वारेन हेस्टिंग्ज ने कलकत्ते में मुसलमानों के लिए एक मदरसा तथा हिन्दुओं के लिए बनारस में इससे बहुत पहले एक संस्कृत कॉलिज खोला था। इस प्रकार ब्रिटिश शासकों की शिक्षा-सम्बन्धी नीति का प्रमुख उद्देश्य राजनैतिक था। भारतीयों की दशा में उन्नति, उनके बीच ज्ञान के प्रसार, या राष्ट्रीय उद्योग धंधों के विकास या अच्छी नागरिकता या नागरिक उत्तरदायित्व की किसी भी भावना को प्रश्रय देने के ध्येय से पाश्चात्य शिक्षा का प्रारम्भ नहीं हुआ था। प्रारम्भ में तथा बहुत काल तक सरकार की आवश्यकताओं द्वारा ही शिक्षा का मूल्यांकन होता रहा।

पाश्चात्य शिक्षा के अन्य उद्देश्य तथा परिणाम— सरकारी नीति का एक विनाशकारी प्रभाव यह हुआ कि उसी वर्ग की शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाने लगा जिससे सरकारी नौकरियों के लिए ग्रजुएट लिए जाते। सार्वजनिक शिक्षा की उपेक्षा की जाने लगी क्योंकि सरकारी ध्येय की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक नहीं थी। बहुत समय पश्चात् इसने लोगों को शिक्षित करने के अपने कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व की ओर ध्यान दिया। आज दिन भी कुछ वर्गों की उच्च शिक्षा से जनता की प्रारंभिक शिक्षा बहुत पिछड़ी हुई है।

दूसरा परिणाम यह हुआ कि शिक्षा को केवल शाब्दिक तथा साहित्यिक ज्ञान पर आधारित किया गया, औद्योगिक शिक्षा की एकदम उपेक्षा की गयी। विद्यार्थियों के पाठ्य क्रम में केवल उन्हीं विषयों का समावेश किया गया जिनसे शासकों तथा शासितों के बीच दुभाषिये का कार्य सम्पन्न हो सकता। ब्रिटिश युग में औद्योगिक तथा हस्तकला सम्बन्धी शिक्षा के प्रति सौतेली माँ का बर्ताव होता रहा।

तीसरे, निश्चित विषयों की पाठ्य पुस्तकों को पढ़ने तथा परीक्षा में सफलता प्राप्त करने उपाधियाँ लेने की ओर ही विद्यार्थियों की सारी शक्ति केन्द्रित कर दी गयी। परीक्षा में सफलता प्राप्त करना ही शिक्षा का अर्थ समझ लिया गया, संस्कृति तथा ज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति की ओर कोई ध्यान न दिया गया। ज्ञान की प्राप्ति केवल भौतिक उन्नति के ध्येय से की जाने लगी गुण सम्पन्न तथा सुखमय जीवन की प्राप्ति के लिए नहीं। आज दिन भी यही क्रम चल रहा है।

अन्त में, इस प्रणाली में शिक्षा राज्य के अन्तर्गत रख दी गयी। १८५४ से लेकर आज तक हमारे देश की शिक्षा राज्य के अन्तर्गत स्कूलों, कॉलिजों तथा विश्व विद्यालयों की प्रणाली पर निर्भर रही है। १९२० में मान्ट फोर्ड सुधारों के कार्यान्वित किये जाने तक शिक्षा विभाग का शासन प्रान्तीय सरकार के अन्तर्गत रहा किंतु उसके पश्चात् अनेक कानूनों तथा धाराओं की सहायता से केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत कर दिया गया। जन-प्रिय मन्त्रिमंडलों के अन्तर्गत जब शिक्षा को Transferred Subject का रूप दे दिया गया केन्द्रीय सरकार के उस पर प्रभाव में कमी आ गयी। इसी व्यवस्था के अन्तर्गत नये विश्वविद्यालयों को स्वायत्त शासन (Autonomy) का आंशिक अधिकार भी दिया गया। लेकिन इन परिवर्तनों से शिक्षा की प्रणाली में कोई विशेष परिवर्तन न आया। शिक्षा पर सरकारी शासन आवश्यक है या नहीं— इस प्रश्न से हमारा यहाँ सम्बन्ध नहीं है। हमें तो इसके परिणामों पर ही अधिक ध्यान देना है। सबसे पहले, इसने शिक्षा के राष्ट्रीय विकास को रोक दिया है। शासकों ने इस ओर बड़ी सतर्कता रक्खी है कि लोगों में राष्ट्रीय तथा देशभक्ति की भावनाओं का विकास न होने पाये। दूसरे, उसने लोगों का ध्यान केवल नियमों-उपनियमों की पाबन्दी की ओर मोड़ा है जिससे उनके स्वतन्त्र चिन्तन तथा नैसर्गिक विकास को

बड़ा धक्का पहुँचा है। इसके अतिरिक्त शिक्षा तथा धर्म का पारस्परिक सम्बन्ध समाप्त कर दिया गया। सरकारी नियमों-उपनियमों के हेर-फेर में धार्मिक महत्त्व का ध्यान किसको रहता? भारत जैसे धर्म प्रधान देश में धर्म को शिक्षा से अलग करना शिक्षा को निराधार तथा विश्वास से परे बना देना है। अन्त में, यह कहा जा सकता है कि शिक्षा की इतनी धीमी गति का भी बहुत कुछ उत्तरदायित्व इसी नीति पर है। अभी कुछ समय पहले तक पढ़े-लिखे लोगों की संख्या कुल जन-संख्या की १२ % थी २१ % पुरुषों में तथा ३ % स्त्रियों में। जनता की शिक्षा का सरकार की नीति से सामञ्जस्य न बैठा। निरंकुश तथा अनुत्तरदायी होने के कारण जनता की निःशुल्क तथा अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की माँग की सरकार आसानी से उपेक्षा कर सकती थी और करती रही। सार्वजनीन शिक्षा का प्रश्न आने पर सदैव रुपये की कमी का बहाना कर दिया जाता। इस सम्बन्ध में पाठकों को यह याद दिला देना अनुपयुक्त न होगा कि राज्य के अन्तर्गत न होते हुए भी अतीत में शिक्षा सार्वभौम थी। लेकिन शिक्षा के राज्य के अन्तर्गत होने का कदाचित् जो सबसे बड़ा दुष्परिणाम हुआ है, वह यह है कि शिक्षा के प्राचीन आदर्शों तथा गुरु-शिष्य के बीच के सम्बन्ध की समाप्ति हो गयी। शिक्षा का प्राचीन आदर्श विद्यार्थी को गृहस्थ-जीवन के व्यावहारिक उत्तरदायित्वों के लिए प्रस्तुत करना था। जीवन की अन्तिम दो अवस्थाओं में व्यक्ति की आध्यात्मिक भलाई का भी शिक्षा में ध्यान रक्खा जाता था। ब्रह्मचारी गुरु के आश्रम में बड़ी छोटी ही अवस्था में चला जाता और लगभग बीस वर्ष की आयु तक उसके अनुशासन में रहता। इस समय तक गुरु तथा शिष्य के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क रहता और गुरु का सारा व्यक्तित्व शिष्य की शिक्षा में सहायक बनता। गुरु वास्तव में अपने शिष्यों का आध्यात्मिक पिता होता और समाज में उसे बहुत ऊँचा स्थान दिया जाता। वह शिक्षण-कार्य को जीविकोपार्जन के उद्देश्य से नहीं बल्कि लोक-कल्याण, आत्म-साक्षात्कार तथा धर्म पालन के उद्देश्य से अपनाता। उसे तथा उसके आश्रम को समाज के धनिक वर्गों तथा राजाओं महाराजाओं के स्वेच्छापूर्वक दान से आर्थिक सहायता मिलती। उसकी आर्थिक सहायता करने वाले लोग उस पर शिष्यों की शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में कोई बन्धन न लगाते। शिक्षा का रूप गुरु निश्चित करता, राजा नहीं। लेकिन नई शिक्षा-पद्धति में इन सबको बदल दिया गया। जीवन के उत्तरदायित्वों के लिए प्रस्तुत करने वाला शिक्षा का प्राचीन आदर्श अब नहीं रहा; हमारी शिक्षण-संस्थाएँ सरकारी नौकरियों के लिए क्लर्क पैदा करने वाली मशीनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में शिष्यों की शिक्षा पर गुरु के व्यक्तित्व का प्रभाव नहीं पड़ता; गुरु तथा शिष्य के बीच का सम्बन्ध दिखावटी है, व्यक्तिगत तथा वास्तविक नहीं। 'किसी भारतीय स्कूल की कक्षा में वास्तविक जीवित मनुष्य बहुत ही कम

दृष्टिगत होते हैं ··· जिन चीजों से मनुष्य के आन्तरिक जीवन का निर्माण होता है वे स्कूल के बाहर ही छोड़ दी जाती हैं।'*

शिष्यों की शिक्षा प्रणाली तथा शिक्षा-क्रम का निश्चय भी अब गुरु की इच्छा पर निर्भर नहीं है। 'भारतीय प्रणाली के अन्तर्गत शिक्षक केवल नियमों-उपनियमों का पाबन्द रहता है। उसके लिए कोई लिखा हुआ कानून या परम्परा नहीं है। उसे एक निश्चित समय पर अपने काम का ब्यौरा देना है, नियमों का पालन रखना है, परीक्षा में परीक्षार्थियों को निश्चित संख्या में सफल बनाना है और इन्स्पेक्टर को, जो अकाल या प्लेग से भी अधिक अपने निश्चित समय पर आता है, केवल कुछ ही मिनटों के समय में यह विश्वास दिला देना है कि कोई भी नियम भंग नहीं हुआ है और कुछ रचनात्मक कार्य भी हुए हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसी अवस्था में ग्रिन, आर्नोल्ड या सैन्डर्सन जैसे व्यक्ति पैदा नहीं हो सकते। यह व्यवस्था भारत में किसी शंकर, कबीर या टैगोर को जन्म नहीं दे सकती।'

स्वामी श्रद्धानन्द तथा कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार तथा कलकत्ते के समीप बोलपुर में शान्तिनिकेतन की स्थापना करके प्राचीन आदर्शों तथा परम्पराओं को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में अभी हाल ही में प्रारम्भ हुए उदयपुर के विद्याभवन का भी जिक्र किया जा सकता है।

मैकाले के उद्देश्यों के पाठ्य क्रम पर प्रभाव का संक्षिप्त वर्णन करके हम अपनी शिक्षापद्धति की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन समाप्त करेंगे। प्राच्य विद्याओं के सम्बन्ध में मैकाले की बड़ी ही त्रुटिपूर्ण धारणा थी किन्तु पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के प्रति अटूट विश्वास। इसी लिये उसने भारतीय नवयुवकों को पढ़ाये जाने वाले विषयों से भारतीय दर्शन साहित्य तथा धर्म को एकदम निकाल कर अंग्रेजी इतिहास, दर्शन तथा साहित्य को सम्मिलित करने का निश्चय किया। लेकिन यह नीति बड़ी ही त्रुटिपूर्ण निकली क्योंकि यह इस धारणा पर आधारित था कि मानव मस्तिष्क एक श्वेत पट्टी के सदृश है जिस पर उसकी प्रकृति या पूर्व इतिहास का बिना कोई ध्यान रक्खे शिक्षक जो निशान चाहे बना सकता है। प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्याओं का तर्कसंगत तथा उपयुक्त सम्मिश्रण भारतीयों की शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं के कहीं अनुकूल हुआ होता। भारतीय दर्शन तथा साहित्य की इतनी उपेक्षा ठीक न हुई। पाश्चात्य साहित्य तथा दर्शन की बनिस्बत वहाँ के विज्ञान का समावेश अधिक उपयुक्त होता। इस तरह प्राच्य विद्याओं की कमी पाश्चात्य विज्ञान के समावेश से पूरी हो जाती। लेकिन पाश्चात्य विज्ञान की बनिस्बत वहाँ के साहित्य

---

* मेह्यू . दी एजुकेशन ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ७३।

तथा दर्शन को अधिक प्रश्रय दिया गया। विषयों के ऐसे चुनाव का प्रभाव बड़ा ही विनाशकारी सिद्ध हुआ। इस व्यवस्था ने पढे-लिखे भारतीयों की जडें उनकी प्राचीन परम्पराओं से अलग हटाकर विदेशी भूमि में लगानी प्रारम्भ कीं। पढे-लिखे भारतीयों का पाश्चात्य लेखकों तथा विचारकों विषयक ज्ञान अपने देश की महान् साहित्यिक विभूतियों तथा दार्शनिकों से कहीं अधिक होता था। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि पढे लिखे वर्ग तथा निरक्षर किसानों तथा श्रमिकों के बीच का अन्तर निरन्तर बढ़ता गया। काफी बाद में चलकर हमारे विश्वविद्यालयों ने भारतीय साहित्य तथा दर्शन की महत्ता भी स्वीकार की और शिक्षा-क्रम मे अन्य सुधार भी किये।

शिक्षा-सम्बन्धी विकास की सीढियाँ— ब्रिटिश राज्य में शिक्षा सम्बन्धी इतिहास को हम तीन युगों म विभाजित कर सकते हैं। १७८१ मे वारेन हेस्टिंग्ज द्वारा कलकत्ता मदरसा की स्थापना से प्रारम्भ होने वाला युग १८३५ तक चला। इस युग को हम 'पूर्वीकरण' समय (Orientalising period) कह सकते हैं क्योंकि इस समय कुछ ऐसी संस्थाओं की स्थापना हुई जिनके दोहरे उद्देश्य— प्राच्य विद्याओं का प्रश्रय और कम्पनी द्वारा बगाल म स्थापित न्यायालयों के लिए हिन्दू तथा मुसलमान कर्मचारियों की प्राप्ति— थे। कम्पनी की सरकार ने १८१३ तक भारतीयों की शिक्षा का कोई सीधा उत्तरदायित्व नहीं लिया किन्तु पार्लियामेण्ट द्वारा कम्पनी को इस समय दिये चार्टर की एक धारा (Clause) में गवर्नर जनरल को साहित्य के पुनरुद्धार, विकास, भारतीय विद्वानों के प्रश्रय तथा पाश्चात्य विज्ञान के अध्ययन की प्रारब्धि के लिए प्रतिवर्ष एक लाख रुपया अलग रख लेने का अधिकार दिया गया। यह रुपया कुछ वर्षों तक केवल प्राच्य विद्याओं के अध्ययन पर व्यय किया जाता रहा किन्तु १८२५ में राजा राममोहन राय ने गवर्नर-जनरल के समक्ष इस व्यवस्था का बड़ा विरोध किया। यह भी ध्यान म रखना चाहिए कि यह धन केवल कुछ वर्गों की शिक्षा पर ही व्यय किया जा रहा था, जनता की शिक्षा का उस समय कोई ध्यान न था। कुछ वर्गों की शिक्षा तक में भी भारतीयों ने ही प्रेरणा दी। राजा राममोहन राय ने ही सबसे पहले अपने देशवासियों का स्तर ऊँचा करने के लिए पाश्चात्य शिक्षा की आवश्यकता तथा महत्त्व स्वीकार किया। १८१६ में कलकत्ते के हिन्दू कॉलिज की स्थापना में उनका प्रमुख हाथ था। बम्बई के एलफिंस्टन कॉलिज की स्थापना भी इसी तरह गैर-सरकारी प्रयत्नों द्वारा ही हुई। देश मे कार्य कर रहे ईसाई मिशनो ने भी पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार को बड़ा प्रोत्साहन दिया। १८१८ में सेरामपुर म पहला मिशनरी कॉलिज खोला गया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार में सरकार की बनिस्बत अन्य व्यक्तियों तथा संस्थाओं का अधिक हाथ रहा।

दूसरा युग १८३५ मे मैकाले की अंग्रेजी भाषा के माध्यम के द्वारा पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार की नीति से प्रारम्भ हुआ जो १८५४ में सर चार्ल्स वुड की शिक्षा-सम्बन्धी प्रसिद्ध योजना तक रहा। इसे 'पाश्चिमीकरण' का काल कहा जा सकता है। प्राच्य

विद्याओं के अब तक प्रश्रय के स्थान पर अंगरेजी भाषा के माध्यम द्वारा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के प्रसार को प्रमुख उद्देश्य बनाया गया। लोगों की मातृभाषाओं को कहीं भी स्थान न दिया गया। मैकाले ने उन पर ध्यान देना उचित न समझा। पहले की तरह अब भी केवल कुछ उच्च वर्गों की शिक्षा पर ध्यान दिया गया, अन्तर केवल इतना था कि प्राच्य शिक्षा के बदले अंगरेजी शिक्षा को स्थान मिला। जनता की शिक्षा अब भी गैर सरकारी उपायों पर निर्भर थी। सरकार ने जो कुछ भी किया वह केवल इतना कि तीनों प्रेसिडेन्सियों के ग्राम स्कूलों का निरीक्षण करा डाला गया। बंगाल तथा बिहार के कुछ चुने क्षेत्रों का निरीक्षण करके रेवरेन्ड विलियम ऐडम ने ग्राम स्कूलों को राष्ट्रीय तथा सार्वजनीन शिक्षा का आधार बताया और उनके सुधार की एक योजना भी रक्खी किन्तु उस पर कोई ध्यान न दिया गया। अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना ने सरकार को पर्याप्त काम दे दिया और प्रारम्भिक शिक्षा के लिए उसके पास पर्याप्त धन शेष न रहा।

तीसरा युग, जिसे हम ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर युग कह सकते हैं, १८५४ में सर चार्ल्स वुड की शिक्षा सम्बन्धी प्रसिद्ध योजना से प्रारम्भ होता है। भारत के शिक्षा-सम्बन्धी इतिहास में यह एक नवीन युग है। प्राच्य विद्याओं के स्थान पर पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान के प्रसार का उद्देश्य रखते हुए भी मैकाले की १८३५ की शिक्षा-सम्बन्धी नीति से यह अनेक अर्थों में भिन्न है। सबसे पहले, इसने इस पुरानी नीति का निश्चित रूप से परित्याग कर दिया कि समाज के उच्च वर्गों को दी गयी शिक्षा निम्न वर्गों तक अपने आप उतर आयेगी और जनता की प्रारम्भिक शिक्षा के सरकारी उत्तरदायित्व को इसने पहले पहल स्वीकृत किया। इस प्रकार इसने प्रारम्भिक शिक्षा पर बहुत जोर दिया क्योंकि लोगों के अज्ञान का भयंकर अभिशाप इसी तरह दूर किया जा सकता था। इससे एक नयी चीज उत्पन्न हुई। अंग्रेजी भाषा को प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया जा सकता था; इसके लिए तो जिले या प्रान्त में बोली जाने वाली भाषा ही सबसे उपयुक्त होती। योजना ने इसलिए अंग्रेजी के साथ साथ मातृभाषाओं के अध्ययन पर भी जोर देना प्रारम्भ किया। भारतीय विद्यार्थियों को दो भाषाएँ— अंग्रेजी तथा अपनी मातृभाषा— सीखनी पड़तीं। इसी लिए इस नवीन प्रथा को ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर नाम दिया गया। अज्ञान के अन्धकार को दूर करने के लिए योजना (Despatch) ने प्रत्येक प्रान्त में एक शिक्षा विभाग की स्थापना का विधान किया। सरकार ने यह विधान स्वीकृत कर लिया और आजकल के शिक्षा-विभागों से मिलते-जुलते शिक्षा-विभागों की प्रत्येक प्रान्त में स्थापना हुई। सरकार ने एक दूसरी दिशा में भी निश्चित कदम उठाया। १८३५ से आगे सरकार शिक्षा-सम्बन्धी सारा रुपया कुछ थोड़े से सरकारी स्कूलों तथा कॉलिजों पर व्यय कर देती। किन्तु १८५४ के पश्चात् इसने गैर सरकारी संस्थाओं को भी आर्थिक सहायता देना प्रारम्भ किया और इस प्रकार व्यक्तिगत तथा सामूहिक प्रयत्नों को भी प्रश्रय मिलने लगा।

योजना ने विश्वविद्यालयों की शिक्षा योजना की भी रूपरेखा निर्मित की। विश्वविद्यालयों की इसी शिक्षा योजना के अनुसार, तीन वर्ष पश्चात् कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई।

१८५७ में स्थापित होने वाले ये विश्वविद्यालय विद्यार्थियों को शिक्षा देने वाली संस्थाएँ न थे। वे ऐसे लोगों के संगठन-स्वरूप थे जो उनसे सम्बन्धित कॉलिजों के विद्यार्थियों की परीक्षा लेते और सफलता-प्राप्त विद्यार्थियों को उपाधियाँ प्रदान करते। वे पाठ्य क्रम भी निश्चित करते किन्तु अपने से सम्बन्धित कालिजों में शिक्षा कैसे दी जाती, इसके ऊपर उनका अधिकार न था। कॉलिजों की संख्या वृद्धि के साथ ऐसे ही अन्य विश्वविद्यालयों की स्थापना की आवश्यकता पड़ी, और फलस्वरूप १८८२ में पंजाब तथा १८८७ में प्रयाग विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। १९०४ के विश्वविद्यालय ऐक्ट द्वारा सुधार किये जाने तक ये पाँचों विश्वविद्यालय केवल परीक्षक-संस्थाएँ बने रहे। किन्तु अब उन्हें पढ़ाई का कार्य संगठित करने तथा इसके लिए उपयुक्त व्यवस्था करने का अधिकार दिया गया। इस अधिकार का उपभोग करते हुए उन्होंने एम० ए० की शिक्षा तथा अनुसन्धान का कार्य अपने हाथ में लिया। इसके पहिले की सारी शिक्षा विभिन्न कॉलिजों के ऊपर निर्भर रही। ऐक्ट ने विश्वविद्यालयों के ऊपर सरकारी तथा कालिजों के ऊपर विश्वविद्यालयों के अधिकारों को और कस दिया। लेकिन १८५४ से अपनायी नीतियों में इसने कोई मूल परिवर्तन नहीं किया। आधुनिक विकासों के विवेचन से पहिले १८८२ के हंटर कमीशन का भी जिक्र किया जा सकता है। इस कमीशन ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र से सरकारी हस्तक्षेप की धीरे धीरे कमी और उस क्षेत्र को अर्ध सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं के ऊपर छोड़ देने की राय दी।

आधुनिक विकास— शिक्षा सम्बन्धी नीति पर भारत सरकार द्वारा १९१३ में पास किये प्रस्ताव में एक नया सिद्धान्त प्रचलित किया। उस समय की Affiliating Universities का प्रभाव-क्षेत्र कम करने के लिए इसने प्रत्येक बड़े प्रान्त में एक अलग विश्वविद्यालय के निर्माण का विधान किया। इन नये विश्वविद्यालयों का निर्माण विद्यार्थियों को पढ़ाने तथा उन्हें रहने का स्थान देने के ढंग पर हुआ। इस प्रकार एक-एक करके कई विश्वविद्यालयों की बड़ी शीघ्र स्थापना हो गयी। बनारस तथा मैसूर विश्वविद्यालयों की स्थापना १९१६ में, पटना विश्वविद्यालय की १९१७ में, ओस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद, की १९१८ में, अलीगढ़ तथा लखनऊ विश्वविद्यालयों की १९२० में, ढाका विश्वविद्यालय की १९२१ में, दिल्ली विश्वविद्यालय की १९२२ में, नागपुर विश्वविद्यालय की १९२३ में, आंध्र विश्व-विद्यालय की १९२६ में, आगरा विश्वविद्यालय की १९२७ में, अन्नामलाई विश्वविद्यालय की १९२९ में और ट्रावनकोर विश्वविद्यालय की १९३७ में हुई। १९४० के समाप्त

होते होते भारत में १८ विश्वविद्यालय—१५ ब्रिटिश भारत में तथा ३ भारतीय राज्यों मे— बन गये। उत्कल, सागर तथा राजपूताना विश्वविद्यालयों की भी क्रम से १९४३, १९४६ और १९४७ मे स्थापना हो गयी। देश के विभाजन से ढाका तथा पंजाब विश्वविद्यालय पाकिस्तान के अन्तर्गत आ गये। पूर्वी पंजाब के नये प्रान्त की सेवा के लिये पूर्वी पंजाब विश्वविद्यालय की दिसम्बर १९४७ म स्थापना हो गयी। इस प्रकार भारतीय संघ में आज २६ विश्वविद्यालय हैं। इसके अनन्तर पूना में महाराष्ट्र विश्वविद्यालय, आसाम में गोहाटी विश्वविद्यालय और श्रीनगर मे काश्मीर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। और प्रा० कार्वे के महिला विश्वविद्यालय को भी सरकार तथा दूसरे विश्वविद्यालयों ने स्वीकार कर लिया है। बम्बई के विधान-मंडल ने अहमदाबाद म गुजरात विश्वविद्यालय और धारवार मे कर्नाटक विश्वविद्यालय विषयक बिल पास कर दिये हैं। हाल ही म गोरखपुर विश्वविद्यालय की नींवशिला माननीय पण्डित पन्त जी के करकमलों द्वारा रक्खी गई। अभी कुछ और विश्वविद्यालय बनने की आशा है। अलीगढ़, इलाहाबाद, अन्नामलाई, बनारस, दिल्ली और लखनऊ जैसे कुछ वर्तमान विश्वविद्यालय एकाकी (Unitary) हैं, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, आंध्र और नागपुर जैसे विश्वविद्यालय शिक्षात्मक तथा Affiliating दोनों हैं। बनारस तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालय साम्प्रदायिक हैं और उनका रूप अखिल-भारतीय है। भारत-सरकार इन विश्वविद्यालयों को उदार आर्थिक सहायता देती है। इन दोनों विश्वविद्यालयों के नामों से हिन्दू तथा मुस्लिम शब्दों को हटाने का भी विचार हो रहा है जिससे इनका साम्प्रदायिक रूप परिवर्तित हो जाय। मैसूर, ट्रावनकोर और हैदराबाद विश्वविद्यालय भी शिक्षात्मक हैं। इस सम्बन्ध मे इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स, बंगलोर, का भी जिक्र किया जा सकता है। भारत-सरकार द्वारा स्वीकृत न होने पर भी ये संस्था किसी विश्वविद्यालय के सदृश ही कार्य कर रही हैं।

'यूनिटरी' तथा 'ऐफिलिएटिंग' विश्वविद्यालयों का अन्तर स्पष्ट कर लेना चाहिए। एकाकी विश्वविद्यालय केवल परीक्षात्मक ही नहीं अपितु शिक्षात्मक कार्य भी सम्पादित करता है। यह अपने अध्यापकों की स्वयं नियुक्ति करता तथा द्वार पर आये प्रत्येक जिज्ञासु को ज्ञान-दान देता है। इस प्रकार यह ज्ञान की आराधना का एक केन्द्र है। एक केन्द्र मे सीमित होने के कारण इसका बाहरी कॉलिजों से कोई सम्बन्ध नहीं। १९१३ या उसके बाद स्थापित होने वाले विश्वविद्यालयों में अधिकतर ऐसे हैं जो अपने विद्यार्थियों की छात्रावासों द्वारा रहने की व्यवस्था भी करते हैं। अधिकारियों की बिना अनुमति के विद्यार्थियों को नागरिक घरों म रहने की अनुमति नहीं दी जाती। लखनऊ तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय विद्यार्थियों के रहने की भी व्यवस्था करते हैं, दिल्ली विश्वविद्यालय अभी ऐसा नहीं करता।

कलकत्ता विश्वविद्यालय की दशा तथा उसके भविष्य के सम्बन्ध म जाँच-पड़ताल के लिए नियुक्त हुए सैडलर कमीशन ने ढाका मे एक 'युनिटरी' तथा

Residential विश्वविद्यालय की स्थापना की राय दी। कमीशन का उद्देश्य कलकत्ता विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों की अत्यधिक भीड़ को कम करना था। कमीशन की यह राय अन्य क्षेत्रों पर भी लागू की गई और अन्य प्रान्तों में शिक्षात्मक विश्वविद्यालयों की स्थापना हो गई। सैडलर कमीशन ने हाई स्कूल तथा इन्टरमीडिएट कक्षाओं को बी० ए० तथा ऐम० ए० की शिक्षा से अलग करने और उनके लिए एक अलग सेकेण्डरी तथा इन्टरमीजिएट एज्यूकेशन बोर्ड की स्थापना की राय दी। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने इस राय को कार्यान्वित नहीं किया किन्तु उत्तर-प्रदेश की सरकार ने इसे स्वीकृत कर लिया और हाई स्कूल तथा इण्टरमीजिएट की शिक्षा के लिए उसने इलाहाबाद में एक बोर्ड भी स्थापित किया। वर्तमान समय में देश में छः 'हाई स्कूल तथा इण्टरमीडिएट एजुकेशन बोर्ड' हैं।

भारत-सरकार के १६१६ के ऐक्ट के १६२१ में लागू होने पर शिक्षा को प्रान्तीय विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी शिक्षा-मन्त्री के जिम्मे एक हस्तान्तरित प्रान्तीय विषय बना दिया गया। इस प्रकार प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-सम्बन्धी नीति तथा शासन को जनता के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया। ऊपर दिये नये विश्वविद्यालयों के निर्माण तथा प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बना देने के सिद्धान्त को लागू करने के अतिरिक्त शिक्षा-नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। नयी परिस्थितियों में शिक्षा के ऊपर केंद्रीय अधिकार में कमी हो गई। १६३५ के ऐक्ट के अनुसार विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों की स्थापना के पश्चात् कुछ प्रान्तों में प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा में प्रारम्भ से उलट फेर करने तथा बेसिक शिक्षा पर जाकिर हुसैन कमेटी के सुझावों के अनुसार उसे ग्रामीण रूप देने का बड़ा प्रयत्न हुआ। किन्तु कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम होने के पहले ही कांग्रेस ने पद त्याग कर दिया और अनेक प्रान्तों में जन-प्रिय सरकारों की समाप्ति हो गयी।

वुड डेस्पैच के अनुसार प्रत्येक बड़े प्रान्त में जन शिक्षा-विभाग की स्थापना हो गयी थी, फिर भी भारत सरकार का कोई अपना शिक्षा-विभाग न था। यह कमी १६१० में पूरी की गयी और शिक्षा-विभाग की स्थापना करके उसे गवर्नर-जनरल की कार्य-कारिणी के एक सदस्य के हाथ में कर दिया गया। १६२३ में शिक्षा-विभाग को और विस्तृत करके उसे 'शिक्षा, स्वास्थ्य तथा भूमि विभाग' नाम दिया गया। १५ अगस्त १६४७ से केन्द्र में मौलाना अबुल कलाम आजाद की प्रधानता में एक अलग शिक्षा-विभाग की स्थापना हो गयी है। वर्तमान समय में भारत-सरकार का एक और शिक्षा अफसर है जिसे एजुकेशनल ऐडवाइजर या शिक्षा परामर्शदाता कहते हैं। इस विभाग का सेक्रेटरी भी वही होता है। १६२० में एक केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की स्थापना हुई थी जिसका चेयरमैन एक शिक्षा-कमिश्नर (अब शिक्षा परामर्शदाता) होता है। १६२३ में यह व्यवस्था तोड़ दी गयी, किन्तु १६३५ में फिर प्रारम्भ हुई।

शिक्षा सम्बन्धी उन्नति— शिक्षा की दृष्टि से हम संसार के सबसे पिछड़े हुए राष्ट्रों में से एक हैं। निम्नलिखित आँकड़ों से, जो इण्डियन ईयर बुक में उद्धृत हैं, स्पष्ट होता है कि हमारी शिक्षा सम्बन्धी उन्नति की गति धीमी रही है।

वर्ष	पुरुष-विद्यार्थी	स्त्री विद्यार्थी	योग
१९३३–३४	१०,४१७,८३९	२,७५५,०५१	१३,१७२,८९०
१९३५–३६	१०,८०२,७०६	३,०१३,४४०	१३,८१६,१४६
१९३७–३८	१०,८१६,५६२	३,०१२,२९८	१३,८३१.८६०
१९३९–४०	११,८४७,४६४	३,४२१,६०७	१५,२६९,३९९
१९४१–४२	१२,२६६,३११	३,७२६,८७६	१५,९९३,१८७
१९४५–४६	१२,७९१,८२५	४,०२८,१२६	१६,८१९ ९५१

दूसरे शब्दों में, उपरोक्त बारह वर्षों में पुरुष विद्यार्थियों की संख्या में २,३७३ ९८६ की वृद्धि हुई और स्त्री-विद्यार्थियों की संख्या में १,२७३,०७५ की। इस प्रकार, सभी प्रकार की शिक्षण-संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों की संख्या में ३,६४७,०६१ की वृद्धि हुई। ये संख्याएँ बड़ी उत्साहप्रद प्रतीत हो सकती हैं किन्तु देश की निरन्तर बढ़ती जन-संख्या का ध्यान करने और स्कूल जाने योग्य उम्र के बच्चों में से शिक्षा प्राप्त कर रहे तथा शिक्षा प्राप्त नहीं कर रहे बच्चों की संख्या की तुलना करने पर हमारा उत्साह ठंडा हो जाता है। १९३६ से १९४१ तक पाँच वर्षों में ब्रिटिश भारत की जन-संख्या के हिसाब से सरकार द्वारा स्वीकृत शिक्षण संस्थाओं में पुरुष विद्यार्थियों का प्रतिशत ७ ४१ से बढ़ कर ७ ७४ हो गया और स्त्री विद्यार्थियों का २ २८ से २ ५१। सभी प्रकार की शिक्षण संस्थाओं— सरकार द्वारा स्वीकृत तथा अस्वीकृत— में पुरुष विद्यार्थियों का प्रतिशत ७·८६ से बढ़कर ८ ०१ हो गया, स्त्री विद्यार्थियों का २ ,८ से २·६१ और पूरी जन संख्या के हिसाब से पुरुष तथा स्त्री विद्यार्थियों का प्रतिशत ५ २० से ५ ४० हो गया। इस गति से तो सारे देश को शिक्षित करने में शताब्दियाँ लग जायँगी। यह जानना दिलचस्प होगा कि १९४१–४२ में ब्रिटिश भारत में शिक्षा पर २६,१७,६५ १८६ रुपये खर्च हुए जिसमें जनता ने १८,०४,५४,५१२ रुपयों से सहयोग दिया। १९३३–३४ में इस प्रकार की संख्यायें २६ १७,६५,१८६ तथा १५,३६,३६,४६१ रुपये थीं। १९४५–४६ में यह खर्च ४६,००,३७,१६१ रुपये हो गया। पूरे खर्च का सरकार लगभग ४३ % और म्यूनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड लगभग १५·५ % देते हैं। लगभग २७ ५ % फीस से और १३ ८ % लोगों के दान से मिलता है। कुछ तुलनाओं से चीज स्पष्टतर हो जायगी। भारतीय राजस्व का लगभग ८ % प्रारम्भिक शिक्षा पर व्यय होता है। ग्रेट ब्रिटेन ४ करोड़ की जन-संख्या के लिए ८६ करोड़ व्यय करता है, १३ करोड़ की जन-संख्या के लिए अमेरीका ३३४७ करोड़। भारत ४० करोड़ की

जन-संख्या के लिए लगभग १८ करोड़ व्यय करता है। सेना तथा शासन द्वारा पूरे लगान का ५० % से अधिक खींच लिये जाने के कारण ही यह दुर्व्यवस्था है।

सन् १६४७ के अन्त में स्कूलों और कॉलिजों में शिक्षा प्राप्त करने वाले लड़कों की संख्या १०,२८१,२३३, लड़कियों की संख्या ३,२४७,८०३ थी जो क्रमशः जन-संख्या की ७७ % और २६ % होती है। इस वर्ष शिक्षा प्राप्त कर रहे लड़के और लड़कियों की सबसे अधिक प्रतिशत कुर्ग, अजमेर व मारवाड़ और बम्बई प्रान्त में थी। जब से भारत में राष्ट्रीय सरकार स्थापित हुई है, इसने शिक्षा की ओर अत्यधिक ध्यान दिया है और स्कूल जाने वाले लड़के व लड़कियों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है।

भारतीय शिक्षा-प्रणाली— अपने देश में पाई जाने वाली विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं : सरकार द्वारा स्वीकृत तथा अस्वीकृत (Recognised and unrecognised)। विभिन्न विश्वविद्यालय तथा उनसे सम्बन्धित कॉलिज, प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों द्वारा स्वीकृत परीक्षाओं के लिए विद्यार्थियों को तैयार करने वाले हाई, मिडिल तथा प्राइमरी स्कूलों को पहले भाग में रक्खा जा सकता है और गुरुकुलों, पाठशालाओं तथा मस्जिदों से सम्बन्धित मदरसों, बोलपुर बंगाल में रवीन्द्रनाथ टाकुर के शान्तिनिकेतन* तथा इस प्रकार की अन्य संस्थाओं को दूसरे भाग में। दूसरे भाग की संस्थाओं की संख्या काफी अधिक है और वे अपने देश के पाँच लाख स्त्री-पुरुषों को शिक्षा देती हैं। लेकिन अब ऐसी संस्थाओं तथा उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या घट रही है।

अब हम सरकार द्वारा स्वीकृत संस्थाओं के प्रमुख रूपों तथा गैर-स्वीकृत संस्थाओं का कुछ संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

(अ) सरकार द्वारा स्वीकृत संस्थायें— अपने देश की सरकार द्वारा स्वीकृत शिक्षा-प्रणाली के तीन रूप निश्चित किये जा सकते हैं : प्राइमरी, सेकेन्डरी और यूनिवर्सिटी। इनमें से प्रत्येक का अपना अलग संगठन है और प्रत्येक की अपनी-अपनी समस्याएँ।

प्राइमरी शिक्षा— प्राइमरी शिक्षा की सरकार तथा जनता—दोनों ने बहुत काल तक उपेक्षा की है। सरकार ने इसकी उपेक्षा इसलिए की कि उसे अपने दफ्तरों के लिए पर्याप्त क्लर्कों की आवश्यकता थी; ज्ञान का प्रसार तथा नागरिकों की उत्तरोत्तर मानसिक उन्नति इसके उद्देश्य नहीं थे। जनता अन्यमनस्क इसलिए था कि उनके बच्चों का इतना समय नहीं था कि खेतों के काम से छुट्टी पाकर वे पढ़ाई के काम में लगते। माँ-बाप बच्चों की शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति को अधिक महत्त्व भी नहीं देते थे। उनकी भीषण गरीबी भी इस मार्ग में बाधक बनती। लेकिन १६२१ में लागू किये गए सुधारों के अनुसार शिक्षा के जनप्रिय मन्त्रियों के हाथ में

---

* अब यह संस्था स्वीकृत हो गई है।

चले जाने के पश्चात् राज्य से शिक्षा प्रसार को पहले की अपेक्षा अधिक सहायता मिलनी शुरू हो गई। उसी समय से जनता के दृष्टिकोण में भी बड़ा परिवर्तन हुआ है। प्रान्तों की कांग्रेस-सरकारों ने प्रारम्भिक शिक्षा को बड़ा प्रश्रय दिया। लेकिन यह अभी सेकेन्डरी तथा यूनिवर्सिटी-शिक्षा से बहुत पीछे है।

प्राइमरी शिक्षा मुख्यतः स्थानीय संस्थाओं की चीज है— शहरी क्षेत्रों में नगर-पालिकाओं की तथा देहाती क्षेत्रों में डिस्ट्रिक्ट बोर्डों की। स्कूलों तथा पुस्तकालयों का निर्माण, रक्षा तथा प्रबन्ध उनके प्रमुख कार्यों में से हैं। उत्तर-प्रदेश में प्रत्येक नगर-पालिका तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की एक-एक शिक्षा-समिति है जो अपने प्रभाव-क्षेत्र के नागरिकों की प्रारम्भिक शिक्षा की देखभाल करती है। जनशिक्षा-विभाग के अफसर प्राइमरी स्कूलों का निरीक्षण करते हैं। यही विभाग उनके पाठ्यक्रम तथा उनकी पाठ्य-पुस्तकों का निश्चय भी करता है। अपने धनाभाव और लोगों की उपेक्षा तथा गरीबी के कारण इन प्राइमरी स्कूलों की उन्नति बड़ी मन्द गति से हुई है। प्राइमरी स्कूलों की संख्या में धीरे-धीरे कमी होती गयी है। अनेक प्राइमरी स्कूलों का मिडिल स्कूलों में परिवर्तित हो जाना भी इसका कारण हो सकता है।

जनता की उपेक्षा समाप्त करने के लिए प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बनाना पड़ा। लगभग पिछले ३० वर्षों में अनेक प्रान्तों में प्रारम्भिक-शिक्षा-ऐक्ट पास हुए हैं, जिनके अनुसार स्थानीय संस्थाओं को अपने प्रभाव-क्षेत्रों के भीतर अनिवार्य प्रारम्भिक-शिक्षा चलाने का अधिकार दिया गया है। सबसे पहिले बम्बई ने १६१८ में प्रारम्भिक-शिक्षा-ऐक्ट पास किया। बिहार और उड़ीसा, पंजाब, बंगाल तथा उत्तर-प्रदेश ने भी १६१६ में ऐसे ऐक्ट बनाये। मध्य-प्रदेश तथा मद्रास ने १६२० में और आसाम ने १६२५ में इन प्रान्तों का अनुकरण किया। अनेक प्रान्तों में इन ऐक्टों के स्थान पर अन्य ऐक्ट भी पास हुए हैं लेकिन उनकी रूपरेखा वही है। यदि कोई स्थानीय संस्था अपने प्रभाव क्षेत्र के किसी भी भाग में प्रारम्भिक शिक्षा प्रचलित करना चाहती है तो उसे इस उद्देश्य से बैठायी गयी सभा में दो तिहाई बहुसंख्यकों द्वारा एक प्रस्ताव पास करना चाहिये और अपनी योजना को स्वीकृति के लिए सरकार को देना चाहिये। अनिवार्य शिक्षा के लिए अवस्था-बन्धन (age-limit) छः और ग्यारह वर्ष है; वैसे, विशेष मामलों में यह अवस्था बढ़ाई जा सकती है। *यह नियम लड़के-लड़कियों दोनों पर* लागू हो सकता है। इस नियम के अन्तर्गत सभी वर्ग आ जाते हैं, परन्तु विशेष वर्गों और जातियों को मुक्त भी किया जा सकता है। जहाँ-जहाँ अनिवार्य शिक्षा है, स्कूल जाने वाली उम्र के बच्चों को नौकर रखना अवैध है। बच्चों को स्कूल न भेजने के लिए थोड़ा जुर्माना होता है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि भारत जैसे गरीब देश में अनिवार्य शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिये। प्रान्तीय विधान-मण्डलों द्वारा पास किये ऐक्टों में इस तरह की अक्सर एक धारा होती है।

प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए स्थानीय सस्थाओं को सरकार की अनुमति लेनी पडती है चूँकि सरकार ही आवश्यक धन का एक भाग इस कार्य के लिए देती है। व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा चलाये जाने वाले स्कूल कभी-कभी इस धारा से बरी रक्खे जाते हैं।

प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए आवश्यक कानून बना देने से ही स्थिति में कोई विशेष सुधार न हुआ। उन्नति की गति मन्द की मन्द ही रही। जिन क्षेत्रों में अनिवार्य शिक्षा प्रचलित की गयी उनकी सख्या बडी ही कम रही। अनिवार्य शिक्षा की दृष्टि से पजाब सबसे आगे बढा हुआ प्रान्त था। १९४०-४१ मे अनिवार्य शिक्षा ६६ शहरी तथा २,६०८ देहाती क्षेत्रों या कुल मिलाकर १०,५२२ गाँवों में प्रचलित थी। ३६ शहरी तथा ३५७ देहाती क्षेत्रों के साथ उत्तर प्रदेश का नम्बर दूसरा था, २४ शहरी तथा ७ देहाती क्षेत्रों के साथ मद्रास का तीसरा। मध्य-प्रान्त और बरार में ३३ और ८ और बिहार मे १६ और १ क्षेत्र थे। इन आँकडों से यह पता चलता है कि स्थानीय सस्थाओं ने प्रारम्भिक शिक्षा-ऐक्ट के निर्माण से लाभ उठाने के लिए कोई अधिक उत्साह न दिखाया। उनकी उपेक्षा के कारण प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य कर देने का सम्भावित तथा आशाप्रद परिणाम न हुआ। रुपये की कमी तथा लोगों का असहयोग भी इस निराशापूर्ण परिणाम के लिए उत्तरदायी है। पूरे ब्रिटिश शासन में जनता की भयकर निरक्षरता एक अभिशाप बनी रही।

कुछ प्रान्तों में प्रारम्भिक शिक्षा को स्थानीय सस्थाओं के हाथ से हटाकर स्थानीय सरकार के हाथ में दे देने की आवाज भी उठाई गयी। मद्रास-सरकार ने १९३५-३६ में प्रारम्भिक शिक्षा ऐक्ट में प्रारम्भिक शिक्षा पर और अधिक प्रभाव जमाने के उद्देश्य से कुछ परिवर्तन किये। बम्बई सरकार ने भी इसी प्रकार के कानून बनाये। उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा १९३८ में बैठायी गयी प्रारम्भिक और सेकेन्डरी शिक्षा पुनर्निर्माण-कमेटी ने यह सलाह दी कि प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा को एक केन्द्रीय शक्ति के हाथ में रखना चाहिये स्थानीय सस्थाओं के हाथ में नहीं।

प्रारम्भिक शिक्षा के दोषों के विवेचन से पहले देशी भाषाओं की शिक्षा के सम्बन्ध में भी कुछ शब्द कह देना उपयुक्त होगा। यह ध्यान में रखना चाहिये कि देशी भाषाओं के अध्ययन का मैकाले कट्टर विरोधी था और सबसे पहले वुड डेसैच ने ही प्रारम्भिक शिक्षा के माध्यम के लिए उनकी आवश्यकता स्वीकार की। उसी समय से देशी भाषाओं के अध्ययन को भी बराबर स्थान मिलता रहा है। वर्तमान समय में स्थानीय सस्थाएँ ऐसे अनेक वर्नाक्यूलर स्कूल चलाती हैं जहाँ प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है। अब वर्नाक्यूलर और अगरेजी स्कूलों का भेद मिटाकर सभी प्राथमिक पाठशालाओं को समकक्ष बना दिया गया है।

इस प्रणाली के दोष— ब्रिटिश शासन में देश में प्रचलित प्रारम्भिक तथा वर्नाक्यूलर शिक्षा प्रणाली में अनेक दोष थे। इसका सबसे बड़ा दोष यह था कि गाँवों के वास्तविक जीवन से असम्बद्ध होने के कारण यह लोक-प्रिय न बन सकी। शिक्षा के लिए निश्चित पाठ्य-क्रम बड़ा ही असन्तोषप्रद था, गाँवों की खेती या वहाँ के उद्योग-धन्धों से कोई सम्बन्ध न रक्खा गया। शिक्षा सम्बन्धी केवल तीन आवश्यकताओं— लिखना, पढ़ना और थोड़ी गणित जानना— तथा मशीनवत् रहने पर ही विशेष जोर दिया जाता। यह चीज भी थोड़ा बहुत यह स्पष्ट करती है कि अनिवार्य शिक्षा को आशातीत सफलता क्यों नहीं मिली। दूसरे, यह प्रणाली पहले भी बहुत खर्चीली थी और अब भी है। प्राइमरी स्कूलों में जाने वाले विद्यार्थियों की संख्या से स्थिति का वास्तविक पता नहीं चलता। प्राइमरी स्कूलों में जाने वाले सभी विद्यार्थी पूरा कोर्स नहीं पूरा कर पाते। यह अनुमान लगाया गया है कि ८५ % बच्चे प्राइमरी स्कूल से बिना पास हुए ही पढ़ाई छोड़ जाते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि थोड़े दिनों बाद वे फिर ज्यों के त्यों बन जाते हैं। साइमन कमीशन को शिक्षा सम्बन्धी पहलू पर परामर्श देने के लिए बैठाया गयी हारटोग कमेटी ने १९२९ में यह रिपोर्ट दी थी कि ग्राम-स्कूलों पर किया गया परिश्रम अकारथ था। ग्रामीण बच्चों की शिक्षा पर खर्च हुए समय, शक्ति, धन तथा प्राप्त परिणामों के बीच कोई अनुपात न था। कुछ पढ़ लिख सकने योग्य बनने के लिए अधिकांश बच्चे स्कूलों में अधिक समय तक न रहते।

बंगाल के प्राइमरी स्कूलों में प्रत्येक कक्षा में बच्चों की हुई भर्ती की नीचे दी हुई संख्याओं से यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रारम्भिक शिक्षा पर व्यय किया धन कितना अकारथ है —

छोटे बच्चों की कक्षा	पहली कक्षा	दूसरी कक्षा	तीसरी कक्षा	चौथी कक्षा
२१	६५	४५	२०	१५

श्री जे० जी० सैयदैन ने इन संख्याओं के वास्तविक महत्त्व को निम्नलिखित ओजस्वी शब्दों में व्यक्त किया है :—

'इसका अर्थ यह है कि कक्षा चार तक में केवल ७ प्रतिशत बच्चे जा सके और शेष बच्चों ने पढ़ना छोड़ दिया। शिक्षा मशीन सौ घोड़ों की शक्ति वाले एक ऐसे इञ्जिन के सदृश है जो ७ प्रतिशत कुशलता से कार्य करता है। इस प्रकार शिक्षा-सम्बन्धी खर्च लाभहीन, शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्न प्रभावहीन और स्कूल निष्प्रयोजन बन जाते हैं।'*

अन्त में, शिक्षकों को पहले भी बहुत कम वेतन मिलता था और अब भी बहुत कम मिलता है। वास्तविक रूप से योग्य व्यक्ति इस पेशे की ओर नहीं आकर्षित

* ऑक्सफोर्ड पैम्फलेट्स न० १५, दी एजुकेशनल सिस्टम्स, पृष्ठ ११।

है जिसका परिणाम यह होता है कि प्राइमरी स्कूलों के शिक्षक अधिकतर अयोग्य होते हैं। जब तक अच्छे शिक्षकों की व्यवस्था नहीं होती, परिणाम निराशापूर्ण ही होते रहेंगे।

प्रारम्भिक शिक्षा के मार्ग में सबसे बड़ी अड़चन है देश की विशाल जन सख्या। ३० करोड लोगों की जन-सख्या वाले देश के लिए प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था खिलवाड नहा है। अभी हम लोग समस्या का एक अश भी हल कर सकने मे समर्थ नहीं हो सके हैं, स्कूल जाने की उम्रवाले केवल १४ प्रतिशत लडके लड़कियां को शिक्षा दी जा रही है। इसे अनिवार्य तथा सार्वजनीन बनाने में लगनेवाला खर्च एक दूसरी बड़ी अड़चन है। प्रारम्भिक शिक्षा का सारे राष्ट्र के लिए अनिवार्य बनाने म लगभग तीस करोड़ रुपये वार्षिक व्यय होंगे, जहाँ वर्तमान समय म हम चारों ओर से इस पर १८ करोड से अधिक खर्च नहीं कर पा रहे हैं। यह बाकी खर्च कहाँ से आयेगा? जहाँ तक शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाने का सम्बन्ध है, केवल महात्मा जी की योजना ही एक व्यावहारिक योजना है। उनकी शिक्षा-योजना का निर्माण ही नए आधार पर हुआ है। इसो अध्याय म दूसरी जगह हम उसका विवेचन करेंगे।

सेकेन्डरी या माध्यमिक शिक्षा— प्रारम्भिक शिक्षा के बाद माध्यमिक शिक्षा आती है। यह शिक्षा सभी प्रान्तों म एक-सी नहीं है। प्रमुख अन्तर इण्टरमीजियेट कक्षाओं की स्थिति में है। उत्तर-प्रदेश जैसे प्रान्तों म, जहाँ सैडलर कमीशन के सुझावों को कार्यान्वित किया गया, इण्टरमीजिएट कक्षाओं की शिक्षा को विश्वविद्यालय से अलग कर दिया गया और उसे हाई स्कूल के साथ मिलाकर हाई स्कूल एण्ड इण्टरमीजियेट नामक एक नई इकाई का निर्माण कर दिया गया। ऐसे प्रान्तो म माध्यमिक शिक्षा दो भागों— मिडिल स्कूल और हाई स्कूल तथा इण्टरमीजिएट— मे बँट जाती है। अन्य प्रान्तो म इनम केवल मिडिल स्कूल तथा हाई स्कूल तक की शिक्षा सम्मिलित रहती है, इण्टरमीजिएट की शिक्षा विश्व विद्यालय की शिक्षा का अङ्ग बन जाती है। दिल्ली प्रान्त म अभी हाल ही म एक नयी योजना कार्यान्वित की गई है। इण्टरमीजिएट कक्षाएँ, जिनम दो वर्ष लगते थे, तोड़ दी गयी हैं। एक वर्ष डिग्री कोर्स में जोड दिया गया है और दूसरा हाई स्कूल म। बी० ए० कोर्स इस प्रकार तीन वर्षों का हो जाता है और यही स्थिति हाई स्कूल पर भी लागू होती है। अब इसे हायर सेकण्डरी कोर्स कहा जाने लगा है। कुछ प्रान्तो में हाई स्कूल परीक्षा को मैट्रिकुलेशन कहते हैं और कुछ में स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट परीक्षा। यह परीक्षा पश्चिमी बगाल, पूर्वी पजाब तथा अन्य प्रान्तों मे विश्व-विद्यालयों के अन्तर्गत है और उत्तर-प्रदेश मे बोर्ड ऑफ हाई स्कूल एण्ड इण्टरमीजिएट एजुकेशन के।

नागरिकों की माध्यमिक शिक्षा में लगी संस्थाएँ दो प्रकार की हैं। कुछ संस्थाएँ पूर्ण रूप से सरकार पर निर्भर हैं। दूसरे स्कूलों तथा कॉलिजों के सामने उदाहरण रखने के लिए साधारणतः प्रत्येक जिले के हेड-क्वार्टर पर एक गवर्नमेंट हाई स्कूल है और सभी प्रमुख स्टेशनों पर एक इण्टरमीजिएट कॉलिज। इन संस्थाओं का पूरा खर्च सरकार उठाती है। दूसरे प्रकार की संस्थाओं में अधिकतर गैर-सरकारी हाई स्कूल और इण्टरमीजिएट कॉलिज हैं। इन संस्थाओं को आर्थिक सहायता के रूप में सरकार इन्हें ग्रान्ट देती है और अपने इन्स्पेक्टरों तथा स्वीकृति सम्मिलित आदि करने के नियमों द्वारा इन पर अपना प्रभाव भी रखती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हमारे प्रान्त में बोर्ड ऑफ हाई स्कूल एण्ड इण्टरमीजिएट एजुकेशन है। अंग्रेजी के, जो अनिवार्य है, अतिरिक्त मैथेमेटिक्स, साइन्स, क्लासिकल भाषाएँ, इतिहास और भूगोल, ड्राइंग तथा अन्य विषय पढ़ाये जाते हैं। कुछ कक्षाओं में अब अंग्रेजी अनिवार्य नहीं रही। माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर रहे सभी लड़के-लड़कियों की संख्या लगभग दो तीन वर्ष पूर्व तीस लाख थी।

अपने देश की माध्यमिक शिक्षा प्रणाली का प्रमुख दोष यह रहा है कि यह सदैव विश्वविद्यालयों की आवश्यकताओं से प्रभावित रही है। पाठ्य क्रम तथा परीक्षाओं का स्तर विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयों में भेजने और वहाँ की परीक्षाएँ पास करने के विचार से ही निश्चित किया जाता है। हमारे हाई स्कूल और इण्टरमीजिएट कॉलिज इस प्रकार केवल विश्वविद्यालयों में भेजे जाने योग्य विद्यार्थी तैयार करते हैं। विद्यार्थियों के स्वभाव की जाँच और उसके विकास के लिए वे बहुत कम प्रयत्न करते हैं। उनमें दी गई शिक्षा का भी हमारे वातावरण तथा हमारी सामाजिक आवश्यकताओं से बहुत कम सम्बन्ध रहता है। विद्यार्थियों को कुछ दस्तकारी का काम भी सिखाना चाहिये जिससे वे अपनी जीविका उत्पन्न करने के साथ-साथ शारीरिक श्रम का भी आदर करना सीखें। हाई स्कूलों तथा इण्टरमीजिएट कॉलिजों से निकले विद्यार्थियों को शारीरिक श्रम से एक प्रकार की घृणा सी हो जाती है जिससे वे क्लर्की छोड़ अन्य किसी कार्य के उपयुक्त नहीं रहते। नये प्रकार के सेकेन्डरी स्कूलों में इस दोष को कुछ सीमा तक दूर करने का प्रयत्न हो रहा है।

विश्वविद्यालय-शिक्षा— हमारी शिक्षा-प्रणाली के सबसे ऊँचे सिरे पर विश्वविद्यालय हैं जिनकी संख्या अब छब्बीस है। १९४१-४२ में इन विश्वविद्यालयों के पास ७६ अपने कॉलिज तथा ३४३ सम्बन्धित कॉलिज थे और उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या १७ लाख से कुछ ही कम थी। पिछले आठ वर्षों में विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कॉलिजों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। केवल उत्तर-प्रदेश में आगरा विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कॉलिजों की संख्या में १९४५ में २४ तथा १९४८ में ३३ से बढ़कर ५० से ऊपर हो गयी है। फिर भी, जहाँ तक

विश्वविद्यालय शिक्षा का सम्बन्ध है, हमारा देश सबसे पिछड़े देशों में से एक है, हालाँकि हमारे देश में प्रत्येक चार विद्यार्थियों म से एक लड़का विश्वविद्यालय में जाता है और पश्चिम में सात में से एक। भारत में लगभग २२०६ की जन-सख्या के पीछे एक विश्वविद्यालय-विद्यार्थी है ; ग्रेट ब्रिटेन मे ८३७ के पीछे एक , युद्ध पूर्व जर्मनी मे ६६० के पीछे एक , रूस म ३०० के पीछे एक और सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में २२५ व्यक्तियों के पीछे एक। पिछले चार वर्षों में इन आँकड़ों में परिवर्तन हुआ है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सभी विश्वविद्यालय एक ही प्रकार के नहीं हैं। आगरा विश्वविद्यालय की तरह कुछ केवल परीक्षात्मक सस्थाएँ हैं , वे स्वय शिक्षा नहीं देते किन्तु अपने से सम्बन्धित कॉलिजों के विद्यार्थियों की परीक्षा लेते हैं। कुछ विश्वविद्यालय शिक्षात्मक भी हैं और सम्बन्धात्मक (Affiliating) भी। वे अपने से सम्बन्धित कॉलिजों के पाठ्य-क्रम का निश्चय करते, परीक्षाएँ लेते और उपाधियाँ प्रदान करते और ग्रेजुएशन के पश्चात् शिक्षण तथा अनुसधान-कार्य की व्यवस्था भी करते हैं। केवल कुछ विश्वविद्यालय ही एकाकी तथा शिक्षात्मक हैं। ये सभी विश्वविद्यालय स्वशासी सस्थाएँ हैं। जिस विधि द्वारा उनकी स्थापना हुई उसकी परिधि में रहकर हर एक विश्वविद्यालय को पाठ्य क्रम तथा शिक्षा सम्बन्धी सगठनों और स्तर के निश्चय का पूरा अधिकार है। सरकार उन्हें आर्थिक सहायता अवश्य देती है किन्तु उनके आन्तरिक शासन म हस्तक्षेप नहीं करती। परन्तु यह हर विश्वविद्यालय का सिनेट या कोर्ट म जो कि इसकी सबसे बड़ी देखभाल करने वाली सस्था है, कुछ सदस्य मनोनीत करती है। प्रान्त का गवर्नर ही उस प्रान्त म स्थित विश्वविद्यालय का कुलपति (Cahancellor) होता है। बनारस तथा अलीगढ विश्वविद्यालयों को अपने चान्सलरों को स्वय चुनने का अधिकार है। उत्तर प्रदेश का गवर्नर इन दोनों विश्वविद्यालयों का 'विज़िटर' है।

भारतीय विश्वविद्यालय अनेक विषयों की शिक्षा देते हैं। ये विषय आर्ट्स, साइन्स, कॉमर्स, एग्रिकल्चर, एजुकेशन, एन्जीनियरिंग, मेडिसिन, लॉ, ओरियन्टल लर्निङ्ग, टेक्नोलॉजी, थियोलॉजी और फारेस्ट्री फैकल्टियों म विभाजित हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय नौ फैकल्टियों म डिग्रियाँ देता है, बनारस भी नौ में और बम्बई आठ म , फिर भी, वे बिलकुल एक ही प्रकार के नहीं हैं। आगरा विश्वविद्यालय में १६४०-४१ म आर्ट्स, साइन्स, लॉ कॉमर्स और ऐग्रिकल्चर— ये पाँच ही फैकल्टियाँ थीं जिनमें मेडिसिन और एजुकेशन फैकल्टियाँ अभी हाल ही में जोड़ी गयी हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी विश्वविद्यालयों की स्थापना ब्रिटिश सरकार को देश के शासन म सहायता देने वाले अंग्रेजी पढे लिखे भारतीयों के निर्माण के उद्देश्य से हुई थी— वे सरकारी दफ्तरों म खप सकने वाले ग्रेजुएटों की सख्या से कहीं अधिक ग्रेजुएट हर वर्ष उत्पन्न कर रहे हैं और इस प्रकार

पढे लिखे मध्यम वर्ग की बेकारी एक भीषण समस्या बन गयी है— फिर भी, यह स्वीकार करना पडेगा कि शिक्षा का अब भी प्रमुख उद्देश्य भौतिक उन्नति है। मध्यम वर्ग के नवजवान विश्वविद्यालय में जीवन के संघर्ष में सफल होने के उद्देश्य से नाम लिखाते हैं। विश्वविद्यालय की शिक्षा अब भी अच्छी नौकरी दिलाने वाली समझी जाती है। भौतिक जीवन की साधना ही आज ज्ञान की आराधना का प्रमुख उद्देश्य है। सांस्कृतिक मूल्यों के लिए विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त कर रहे लोगों की संख्या बहुत कम है।

भारत में विश्वविद्यालय— शिक्षा की एक दूसरी विशेषता भी ध्यान देने योग्य है। एक विशेष प्रकार की ट्रेनिंग लेने या हाई-स्कूल शिक्षा की समाप्ति के तुरन्त बाद किसी पेशे में लग जाने के बदले भारतीय नवजवान किसी विश्वविद्यालय में किसी नौकरी के लिए तैयार होने के उद्देश्य से नाम लिखाता है। इसका परिणाम यह होता है कि ऐसे विद्यार्थियों की एक बड़ी संख्या को विश्वविद्यालयों में जगह मिल जाती है जिनका बौद्धिक स्तर वहाँ की शिक्षा के उपयुक्त नहीं होता। इएटरमीजिएट शिक्षा को विश्वविद्यालयों से अलग करने का उद्देश्य यही था कि माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति के बाद ऐसे विद्यार्थी अपने लिए उपयुक्त पेशे या नौकरी की तलाश कर लें। दिल्ली प्रान्त की शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन का भी यही उद्देश्य है और यह व्यवस्था अन्य प्रान्तों तक भी विकसित की जा सकती है। इस व्यवस्था के अनुसार इएटरमीजिएट कक्षाएँ तोड़ दी गयी हैं और हाई स्कूल का समय एक वर्ष और बढा दिया गया है। वर्तमान समय में ऊँची सरकारी नौकरियों तथा कानून, डॉक्टरी, इंजीनियरिंग जैसे बौद्धिक पेशों के लिए विश्वविद्यालय ग्रेजुएट ही लिये जा रहे हैं। यहाँ यह कह देना भी उपयुक्त है कि खर्चीली होने के कारण विश्वविद्यालयों की शिक्षा बहुत से प्रतिभावान नवयुवकों की पहुँच के बाहर है। शिक्षा की इस प्रणाली में परीक्षा का भूत हरदम सिर पर सवार रहता है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि माध्यमिक शिक्षा की भाँति विश्वविद्यालय शिक्षा भी देश की आर्थिक तथा व्यावहारिक आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है। यह शिक्षा अधिकतर साहित्यिक होती है, पेशे-सम्बन्धी नहीं। विश्वविद्यालय-ग्रेजुएटों के आज बेकार मारे-मारे फिरने का एक यह भी कारण है। यह अनुमान लगाया गया है कि १०० ग्रेजुएटों में ९० बेकार रहते हैं और केवल ३० को ऐसे कार्य मिलते हैं जिनका उनकी योग्यताओं और उनकी शिक्षा पर व्यय किये समय तथा धन से ठीक सामञ्जस्य बैठता है। यह अच्छा होता यदि विश्वविद्यालय पेशे सम्बन्धी और टेकनिकल शिक्षा पर अधिक ध्यान देते।

अन्तर-विश्वविद्यालय बोर्ड (Inter-University Board)— अपने देश के २६ विश्वविद्यालयों में से प्रत्येक अपनी अपनी व्यवस्था में स्वतन्त्र है। १९२५

के पहले उनके कार्यों को एक दूसरे से सम्बन्धित करने वाला कोई और संगठन न था। इसी वर्ष अन्तर-विश्वविद्यालय बोर्ड की स्थापना इस उद्देश्य से हुई। उसके कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) एक अन्तर-विश्वविद्यालय संगठन तथा सूचना के एक ब्यूरो (Bureau) के रूप में कार्य करना।

(ii) प्रोफेसरों की अदला-बदली में सहायता पहुँचाना।

(iii) विश्वविद्यालयों के पारस्परिक सम्पर्क का माध्यम बनना और उनके कार्यों को एक दूसरे से सम्बन्धित करना।

(iv) उच्च शिक्षा पर ब्रिटिश साम्राज्य या अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेने के लिए भारतीय विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधियों की नियुक्ति करना या नियुक्ति के सम्बन्ध में सलाह देना।

(v) भारतीय विश्वविद्यालयों में होने वाली नियुक्तियों के लिए एक ब्यूरो के रूप में कार्य करना।

इस बोर्ड की सालाना बैठकें विभिन्न विश्वविद्यालयों में हुआ करती हैं जहाँ विश्वविद्यालय-शिक्षा तथा अन्य विषयों पर विचार-विमर्श होता है। उदाहरण के लिए, कुछ वर्षों पहले सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन के सभापतित्व में हैदराबाद में हुई बैठक में सार्जेन्ट-स्कीम नाम से जानी जाने वाली युद्धोत्तर-शिक्षा विकास-योजना पर विचार-विमर्श हुआ। इसने योजना के सम्बन्ध में सरकार को अपनी रायें दीं। इस बैठक ने पाँच वर्ष की उम्र वाले प्रत्येक लड़के या लड़की के लिए आठ वर्षों तक अनिवार्य शिक्षा की सलाह दी और डिग्री कोर्स को कम से कम तीन वर्षों का निश्चित किया।

शिक्षा-प्रणाली के दोष— भारतीय शिक्षा-प्रणाली के प्रचलित करने के रूपों और उसे विभाजित करने वाली सीढ़ियों का विवेचन करते समय उसके अधिकांश दोषों का वर्णन हो चुका है; फिर भी, यह विषय इतना महत्त्वपूर्ण है कि उस पर अलग विमर्श आवश्यक है— ऐसा करने में चाहे थोड़ी पुनरावृत्ति हो क्यों न हो। वर्धा-शिक्षा-योजना की पूरी प्रशंसा तब तक नहीं हो सकती जब तक उसके द्वारा हटाये जाने वाले दोषों का पूर्ण ज्ञान न हो जाय।

इसका एक सबसे बड़ा दोष यह है कि इसका विकास लोगों की प्रकृति एवं आवश्यकताओं के प्रतिकूल हुआ है। इसी प्रणाली के जन्मदाता मैकाले ने पाठ्य-विषयों के निर्वाचन और उन विषयों की शिक्षा देने वाली व्यवस्था (Machinery) का निश्चय करते समय भारतीय मस्तिष्क और उससे जन्म पाने वाली सभ्यता पर कोई ध्यान न दिया। पाठ्य-क्रम से भारतीय साहित्य एवं दर्शन को अलग रखने और

भारतीय मस्तिष्क के विकास को केवल अंग्रेजी तथा अङ्गरेजियत के आधार पर ले चलने के उसके निश्चय ने बड़ी हानि पहुँचायी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भारतीय मस्तिष्क के लिए शिक्षा असत्य एवं असन्तोषप्रद बन गयी। भारतीय जीवन के लिए यह इस अर्थ में अनुपयुक्त है कि जीवन की जटिल एवं व्यावहारिक समस्याओं के हल में यह लोगों की कोई सहायता नहीं करती। किसी भारतीय किसान का कोई लड़का भारतीय खेती, भारतीय पेड़ पौधों, भूमि तथा ऋतुओं के सम्बन्ध में बिना कोई ज्ञान प्राप्त किये बी० ए०, एम० ए० की उपाधियाँ ले सकता है। किसी भारतीय विश्वविद्यालय का एक ग्रेजुएट शेक्सपियर, मिल्टन, मिल तथा स्पेन्सर के विषय में कालिदास, तुलसीदास या रामानुज तथा शंकराचार्य की अपेक्षा अधिक जानता है।

राष्ट्रीय जीवन के प्रमुख केन्द्र से भी इस शिक्षा-प्रणाली का कोई सम्पर्क नहीं है। वास्तविक भारत जहाँ बसता है उन गाँवों को छोड़ कर इसने उन्हें नष्ट करने तथा चूसने वाले शहरों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। भारत को आज ग्राम्य-शिक्षा द्वारा गाँवों के पुनर्निर्माण की आवश्यकता है।

इसका दूसरा बड़ा दोष यह है कि इसने थोड़े से पढ़े-लिखे लोगों तथा गाँवों के अधिकांश निरक्षर व्यक्तियों के बीच बहुत बड़ा अन्तर उत्पन्न कर दिया है। सूट-बूट से लैस और शारीरिक श्रम के प्रति घृणा से भरा हुआ नवजवान ग्रामीण वातावरण में उद्विग्न हो उठता है। मैकाले का यह स्वप्न कि उसकी योजना से रक्त तथा वर्ण से भारतीय किन्तु रुचि, व्यवहार तथा नैतिक दृष्टि से अंग्रेजों का निर्माण होगा, बहुत अंशों में सत्य हुआ।

इसका तीसरा बड़ा दोष इसके अत्यधिक साहित्यिक तथा अपर्याप्त रूप से पेशा-सम्बन्धी होने में है। यह पर्याप्त रूप से व्यावहारिक नहीं है। पाठ्य-क्रम इतना संकीर्ण होता है वह किसी व्यक्ति को सरकारी नौकरियों और कानून तथा डॉक्टरी जैसे कुछ बौद्धिक पेशों को छोड़ अन्य किसी ईमानदार पेशे या कला-कौशल के योग्य नहीं बनाता। बौद्धिक पेशों में जगह न रहने तथा यूनिवर्सिटियों द्वारा प्रतिवर्ष उत्पन्न किये ग्रेजुएटों के उपयुक्त पर्याप्त काम न होने के कारण पढ़े लिखे बेकार लोगों की समस्या विषमतर होती जा रही है।

शिक्षा प्रणाली का चौथा बड़ा दोष यह है कि इसमें केवल विश्वविद्यालय-शिक्षा की आवश्यकताओं को ही प्रधानता दी जाती है। प्राइमरी स्कूल विद्यार्थियों को माध्यमिक शिक्षा के लिए तैयार करते हैं और हाई स्कूल लड़कों को इसी तरह विश्व-विद्यालय-शिक्षा के लिये। यह कोई ऐसी प्रणाली नहीं है जिसमें प्रत्येक स्तर का अपना अलग महत्त्व हो। दूसरे शब्दों में यह एक ऐसी शिक्षा के लिये मध्यम वर्गों द्वारा मचायी गयी चिल्लाहट से प्रभावित होती है जो उन्हें अच्छी नौकरियाँ

दिलवा सके और लोगों में उनके प्रति आदर का भाव उत्पन्न कर सके। जनता के प्रारम्भिक शिक्षा के अधिकारों पर सम्यक् ध्यान नहीं दिया गया। इसका यह परिणाम हुआ कि अंग्रेजों के लगभग दो सौ वर्षों के शासन में देश की बहुत बड़ी जन-संख्या निरक्षर रही।

पाँचवें, इस व्यवस्था में एक बहुत बड़ी कमी यह है कि इण्टरमीजियेट तथा विश्वविद्यालय कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम अङ्गरेजी है। पाठ्य पुस्तकें अङ्गरेजी में लिखी रहती हैं, कक्षाओं में लेक्चर भी अङ्गरेजी में होता है और प्रश्न-पत्रों का उत्तर भी विद्यार्थियों को अङ्गरेजी में ही लिखना पड़ता है। अब यह बात धीरे-धीरे कम हो रही है। इस भाषा के सम्यक् ज्ञान के लिये विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर अत्यधिक जोर पड़ता है और इसके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह भी अक्सर पूर्ण नहीं होता। विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा देना बहुत हानिकर है— यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि वर्तमान भारत द्वारा मनुष्य के वैज्ञानिक, साहित्यिक तथा दार्शनिक ज्ञान में दिया हुआ योग उससे बहुत छोटे राष्ट्रों द्वारा दिये योग से भी बहुत कम है। अंग्रेजी भाषा पर अत्यधिक ज़ोर देने के कारण देशी भाषाओं की उपेक्षा हुई और देशी भाषाओं की उपेक्षा से प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। इस तर्क से कि अंग्रेजी सारे संसार की भाषा है और पश्चिम के साथ सम्पर्क बनाये रखने तथा वहाँ के विज्ञान, औषधि आदि के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारतीयों को अंग्रेजी जानना आवश्यक है, एक शताब्दी से भी पहले मैकाले द्वारा अपनायी नीति के दोष कम नहीं हो जाते।

इसके अतिरिक्त यह कहा जा सकता है कि इस प्रणाली में शिक्षा पर जो धन व शक्ति खर्च होती है उससे देश और जाति को पूरा लाभ नहीं पहुँचता। और परीक्षाओं को इसमें इतना प्रमुख स्थान दिया जाता है कि अन्य सभी विचार परीक्षा पास करने के अन्तर्गत रख दिये जाते हैं।

अन्त में कुछ ऐसे लोग भी हैं— और उनकी संख्या कम नहीं है— जो इस प्रथा की इसका धर्म-सम्बन्धी उपेक्षा के कारण आलोचना करते हैं। भारतीयों के जीवन में धर्म का बड़ा महत्त्व है, इसलिए यह प्रणाली उनकी भावनाओं के अनुकूल न पड़ने के कारण उनके लिए एकदम विदेशी है। वृद्धों के प्रति नवजवानों में आदर की कमी, धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यों के आडम्बर तिरस्कार तथा लोगों के नैतिक पतन का उत्तरदायित्व भी इसी प्रणाली पर रक्खा जाता है। ईसाई मिशनों तथा कुछ साम्प्रदायिक या वर्गगत संस्थाओं को छोड़ कर अधिकतर स्कूलों तथा कॉलिजों में दी गई शिक्षा धर्म से सम्बन्धित नहीं रहती। पुराने अन्धविश्वासों तथा त्रुटिपूर्ण धारणाओं को उखाड़ फेंकने में अंग्रेजी शिक्षा ने सहायता अवश्य दी है। अपने देश में कुछ ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जिन्हें परम्परागत विश्वासों के पतन

भारतीय मस्तिष्क में विकास को केवल अंग्रेजी तथा अङ्गरेजियत के आधार पर ले चलने के उसके निश्चय ने बड़ी हानि पहुँचायी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भारतीय मस्तिष्क के लिए शिक्षा असत्य एवं असन्तोषप्रद बन गयी। भारतीय जीवन के लिए यह इस अर्थ में अनुपयुक्त है कि जीवन की जटिल एवं व्यावहारिक समस्याओं के हल में यह लोगों की कोई सहायता नहीं करती। किसी भारतीय किसान का कोई लड़का भारतीय खेती, भारतीय पेड़ पौधों, भूमि तथा ऋतुओं के सम्बन्ध में बिना कोई-ज्ञान प्राप्त किये बी० ए०, एम० ए० की उपाधियाँ ले सकता है। किसी भारतीय विश्वविद्यालय का एक ग्रेजुएट शेक्सपियर, मिल्टन, मिल तथा स्पेन्सर के विषय में कालिदास, तुलसीदास या रामानुज तथा शंकराचार्य की अपेक्षा अधिक जानता है।

राष्ट्रीय जीवन के प्रमुख केन्द्र से भी इस शिक्षा-प्रणाली का कोई सम्पर्क नहीं है। वास्तविक भारत जहाँ बसता है उन गाँवों को छोड़ कर इसने उन्हें नष्ट करने तथा चूसने वाले शहरों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। भारत को आज ग्राम्य शिक्षा द्वारा गाँवों के पुनर्निर्माण की आवश्यकता है।

इसका दूसरा बड़ा दोष यह है कि इसने थोड़े से पढ़े लिखे लोगों तथा गाँवों में अधिकांश निरक्षर व्यक्तियों के बीच बहुत बड़ा अन्तर उत्पन्न कर दिया है। सूट-बूट से लैस और शारीरिक श्रम के प्रति घृणा से भरा हुआ नवजवान ग्रामीण वातावरण में उद्विग्न हो उठता है। मैकाले का यह स्वप्न कि उसकी योजना से रक्त तथा वर्ण से भारतीय किन्तु रुचि, व्यवहार तथा नैतिक दृष्टि से अंग्रेजों का निर्माण होगा, बहुत अंशों में सत्य हुआ।

इसका तीसरा बड़ा दोष इसके अत्यधिक साहित्यिक तथा अपर्याप्त रूप से पेशा सम्बन्धी होने में है। यह पर्याप्त रूप से व्यावहारिक नहीं है। पाठ्य-क्रम इतना संकीर्ण होता है यह किसी व्यक्ति को सरकारी नौकरियों और कानून तथा डॉक्टरी जैसे कुछ बौद्धिक पेशों को छोड़ अन्य किसी ईमानदार पेशे या कला कौशल के योग्य नहीं बनाता। बौद्धिक पेशों में जगह न रहने तथा यूनिवर्सिटियों द्वारा प्रतिवर्ष उत्पन्न किये ग्रेजुएटों के उपयुक्त पर्याप्त काम न होने के कारण पढ़े लिखे बेकार लोगों की समस्या विषमतर होती जा रही है।

शिक्षा प्रणाली का चौथा बड़ा दोष यह है कि इसमें केवल विश्वविद्यालय शिक्षा की आवश्यकताओं को ही प्रधानता दी जाती है। प्राइमरी स्कूल विद्यार्थियों को माध्यमिक शिक्षा के लिए तैयार करते हैं और हाई स्कूल लड़कों को इसी तरह विश्व-विद्यालय शिक्षा के लिये। यह कोई ऐसी प्रणाली नहीं है जिसमें प्रत्येक स्तर का अपना अलग महत्त्व हो। दूसरे शब्दों में यह एक ऐसी शिक्षा के लिये मध्यम वर्गों द्वारा मचायी गयी चिल्लाहट से प्रभावित होती है जो उन्हें अच्छी नौकरियाँ

दिलवा सके और लोगों में उनके प्रति आदर का भाव उत्पन्न कर सके। जनता के प्रारम्भिक शिक्षा के अधिकारों पर सम्यक् ध्यान नहीं दिया गया। इसका यह परिणाम हुआ कि अंग्रेजों के लगभग दो सौ वर्षों के शासन में देश की बहुत बड़ी जन-संख्या निरक्षर रही।

पाँचवें, इस व्यवस्था में एक बहुत बड़ी कमी यह है कि इण्टरमीजियेट तथा विश्वविद्यालय-कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम अङ्गरेजी है। पाठ्य पुस्तकें अङ्गरेजी में लिखी रहती हैं, कक्षाओं में लेक्चर भी अङ्गरेजी में होता है और प्रश्न-पत्रों का उत्तर भी विद्यार्थियों को अङ्गरेजी में ही लिखना पड़ता है। अब यह बात धीरे-धीरे कम हो रही है। इस भाषा के सम्यक् ज्ञान के लिये विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर अत्यधिक जोर पड़ता है और इसके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह भी अक्सर पूर्ण नहीं होता। विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा देना बहुत हानिकर है— यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि वर्तमान भारत द्वारा मनुष्य के वैज्ञानिक, साहित्यिक तथा दार्शनिक ज्ञान में दिया हुआ योग उससे बहुत छोटे राष्ट्रों द्वारा दिये योग से भी बहुत कम है। अंग्रेजी भाषा पर अत्यधिक जोर देने के कारण देशी भाषाओं की उपेक्षा हुई और देशी भाषाओं की उपेक्षा से प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। इस तर्क से कि अंग्रेजी सारे संसार की भाषा है और पश्चिम के साथ सम्पर्क बनाये रखने तथा वहाँ के विज्ञान, औषधि आदि के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारतीयों को अंग्रेजी जानना आवश्यक है, एक शताब्दी से भी पहले मैकाले द्वारा अपनायी नीति के दोष कम नहीं हो जाते।

इसके अतिरिक्त यह कहा जा सकता है कि इस प्रणाली में शिक्षा पर जो धन व शक्ति खर्च होता है उससे देश और जाति को पूरा लाभ नहीं पहुँचता। और परीक्षाओं को इसमें इतना प्रमुख स्थान दिया जाता है कि अन्य सभी विचार परीक्षा पास करने के अन्तर्गत रख दिये जाते हैं।

अन्त में कुछ ऐसे लोग भी हैं— और उनकी संख्या कम नहीं है— जो इस प्रथा की इसका धर्म सम्बन्धी उपेक्षा के कारण आलोचना करते हैं। भारतीयों के जीवन में धर्म का बड़ा महत्त्व है, इसलिए यह प्रणाली उनकी भावनाओं के अनुकूल न पड़ने के कारण उनके लिए एकदम विदेशी है। वृद्धों के प्रति नवजवानों में आदर की कमी, धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यों के सार्वभौम तिरस्कार तथा लोगों के नैतिक पतन का उत्तरदायित्व भी इसी प्रणाली पर रक्खा जाता है। ईसाई मिशनों तथा कुछ साम्प्रदायिक या वर्गगत संस्थाओं को छोड़ कर अधिकतर स्कूलों तथा कॉलेजों में दी गई शिक्षा धर्म से सम्बन्धित नहीं रहती। पुराने अन्धविश्वासों तथा त्रुटिपूर्ण धारणाओं को उखाड़ फेंकने में अंग्रेजी शिक्षा ने सहायता अवश्य दी है। अपने देश में कुछ ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जिन्हें परम्परागत विश्वासों के पतन

से कोई दुःख न होता हो। लेकिन परिवर्तन का उत्तरदायित्व स्कूलों तथा कॉलिजों में दी गई शिक्षा पर ही नहीं छोड़ना चाहिये। अन्य स्वतन्त्र विचार भी अपना काम बराबर करते रहे हैं। आज चारों ओर हर चीज के प्रति आलोचनात्मक तथा तर्कपूर्ण दृष्टिकोण का प्रसार है। चीजों के पुराने मूल्यों में परिवर्तन होता जा रहा है और परम्परागत विश्वासों के स्थान पर नई मान्यताओं को स्थान मिलता जा रहा है। कट्टरता के दुर्ग पर चारों ओर से आक्रमण हो रहा है और वह अब टूट रहा है। पश्चिमी शिक्षा ने परिवर्तन की गति तीव्रतर कर दी है; हमें इस पर आँसू नहीं बहाना चाहिये।

शासकों ने यदि पाश्चात्य विज्ञानों के अध्ययन को क्लासिकल साहित्य तथा आचार-शास्त्र के अध्ययन के साथ मिला दिया होता तो लोगों की आज धर्म के प्रति अश्रद्धा न रहती। इस व्यवस्था से आवश्यक धार्मिक शिक्षा की परोक्ष रूप से रक्षा होती। लोगों द्वारा अपनाये गये धर्म के विभिन्न रूपों के कारण धर्म की प्रत्यक्ष शिक्षा सदैव सरल नहीं है। सरकार द्वारा धार्मिक अन्यमनस्कता की बहुत पहले अपनाई नीति से यह कार्य कठिन हो गया है। लोगों का इस ओर भी ध्यान आकर्षित करना चाहिये कि कुछ संस्थाओं में दी गयी धार्मिक शिक्षा का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। लड़के या लड़की को धार्मिक शिक्षा देने की सबसे उपयुक्त जगह घर है, स्कूल या कॉलिज नहीं। इसलिए धर्म की उपेक्षा का आक्षेप कोई बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है।

महात्मा गाँधी इस प्रणाली, विशेषकर प्रारम्भिक शिक्षा की प्रणाली, के कट्टर आलोचकों में से थे। प्रारम्भिक शिक्षा-प्रणाली को वे केवल अत्यधिक खर्चीली ही नहीं, प्रत्युत हानिकर भी समझते थे। राष्ट्रीय जीवन में उनके अद्वितीय स्थान के कारण उनके इससे सम्बन्धित विचारों की ओर संकेत उपयुक्त ही होगा। इन विचारों को उनके ही शब्दों में देना सबसे अच्छा होगा। २-१०-१९३७ के 'हरिजन' में उन्होंने इस प्रकार लिखा :

'शिक्षा की वर्तमान प्रणाली देश की आवश्यकताओं की किसी भी रूप में पूर्ति नहीं करती। विद्या के सभी ऊँचे विभागों में अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बना दिए जाने के कारण उच्च शिक्षा प्राप्त कुछ थोड़े से व्यक्तियों और अशिक्षित, असंख्य लोगों के बीच एक स्थायी अन्तर उत्पन्न हो गया है जिसके परिणामस्वरूप ज्ञान का जनता के बीच प्रसार रुक गया। अंग्रेजी को अत्यधिक महत्त्व दिये जाने के कारण पढ़े-लिखे वर्ग पर एक ऐसा बोझ पड़ा है जिसने उन्हें मानसिक रूप से अपंग तथा अपने ही देश में अनजान बना दिया है। पेशे-सम्बन्धी ट्रेनिङ्ग की अनुपस्थिति ने शिक्षित वर्ग को उत्पादन कार्य के लगभग एकदम अयोग्य बना दिया है और उसके शारीरिक स्वास्थ्य को भी बहुत हानि पहुँचायी है। प्रारम्भिक

शिक्षा पर किया गया व्यय व्यर्थ होता है क्योंकि जो कुछ भी पढाया जाता है वह शीघ्र भूल जाता है और गाँवों या नगरों के लिए उसकी कोई भी उपयोगिता नहीं रहती। शिक्षा की वर्तमान प्रणाली से जो कुछ भी लाभ हो रहा है वह उसमें कर देने वाले प्रमुख व्यक्ति और उसके बच्चो को न के बराबर पहुँच रहा है।'

प्रारम्भिक शिक्षा पर एक दूसरे अवसर पर बोलते समय उन्होंने कहा था कि इस व्यवस्था द्वारा अधिकतर लडके अपने माँ-बाप तथा अपने पैतृक पेशे के काम के नहीं रहते। वे बुरी आदतें ग्रहण करते और शहरी तौर तरीकों को अपनाते और कुछ चीजों के विषय में इधर उधर से जान लेते हैं जिसे शिक्षा क अतिरिक्त कुछ भी कहा जा सकता है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली पर एक प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन के विचार उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा। आल-बगाल कॉलिज एण्ड यूनिवर्सिटी टीचर्स एसोसिएशन के सभापति क पद स भाषण करते हुए उन्होंने इस प्रकार कहा

'सरकार की शिक्षा-सम्बन्धी नीति लोगों को केवल विदेशी सत्ता के उपयुक्त औजार बना देती है, यह उन्हें एक स्वतन्त्र राष्ट्र के आत्माभिमानी नागरिक नहीं बनाती। अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम ही सभी उन्नतियों का आधार है। इस सिद्धान्त को सभी देशों ने स्वीकार किया है। लेकिन अपने अभाग्यशाली देश म ऐसा नहीं है। किसी विजित राष्ट्र की सारी चेतना लुप्त हो जाती है, वह आशा, साहस, आत्मविश्वास सभी खो बैठता है। हमारी राजनैतिक परतन्त्रता का अर्थ यही है कि हम अपने को स्वतन्त्र राष्ट्रों की बराबरी में नहीं रख सकते। भारतीय इतिहास हम यही सिखाने के लिए पढाया जाता है कि हम असफल रहे। परतन्त्रता का सबसे विनाशकारी प्रभाव यह होता है कि निराशा एव चेष्टाहीनता परतन्त्र लोगों को छा लेती है और उनका अपने ऊपर से विश्वास उठ जाता है। वास्तविक शिक्षा का उद्देश्य राष्ट्रीय गौरव तथा आत्मसम्मान की चिनगारी को प्रज्वलित रखना है। यदि हमारा धन या उसका उत्पादन करने वाली शक्तियाँ अपहृत हो जाती हैं तो हम उन्हें यदि आज नहीं तो कल अवश्य प्राप्त कर सकते है, लेकिन यदि हमारी राष्ट्रीय-चेतना ही लुप्त हो जाती है तो हमारे लिए कोई आशा नहीं है।'

इस सारी शिक्षा प्रणाली का प्रमुख दोष इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है : 'यह हमें वास्तविक चीजों के बदले केवल कुछ पुस्तकें तथा प्रतीक देती है।' महात्मा जी ने शिक्षा को वास्तविकता पर आधारित करके शिक्षा और जीवन के बीच की खाई को पाटने की चेष्टा की।

इस शिक्षा-प्रणाली के गुण— पाश्चात्य शिक्षा में सभी दोष ही नहीं हैं, इससे अनेक लाभ भी हुए हैं। सभी चीजों पर सम्यक् विचार करने पर इसकी अच्छाइयाँ

इसकी बुराइयों से बढ़ जा सकती हैं। प्रथमतः, इसने पाश्चात्य सभ्यता की सबसे बड़ी प्राप्तियों अर्थात् विज्ञानों को भारत के लिए सुगम बना दिया। हम अपनी सभ्यता को चाहे जितना महत्त्व दें और उसे पाश्चात्य सभ्यता के मुकाबले चाहे जितना अच्छा समझें, फिर भी, यह तो स्वीकृत ही करना पड़ेगा कि इसमें अनेक कमियाँ हैं ; जैसे प्रकृति की शक्तियों पर अनुशासन। अङ्गरेजी तथा पाश्चात्य विज्ञानों (जो अङ्गरेजी द्वारा सरलता से सुलभ हैं) के सम्यक् अध्ययन द्वारा ही हमारी शिक्षा प्रणाली की यह बड़ी कमी पूरी हो सकती है। इसने हमारे दृष्टिकोण तथा मानसिक स्तर को और विस्तृत किया है और हमें यह बतलाया है कि जगत् में हमारे दर्शनों तथा प्राचीन शिक्षा-प्रणालियों द्वारा बतायी गयी चीजों से कहीं अधिक चीजें हैं। आज के भारतीय जीवन की एक प्रमुख विशेषता— राष्ट्रीय भावना का विकास— के निर्माण में भी पाश्चात्य शिक्षा ने बड़ी सहायता पहुँचायी है। शिक्षा-अधिकारियों के विदेशी होने हुए भी हमारे स्कूल तथा कॉलिज राष्ट्रीयता की निर्माणशाला बने। मिल तथा बर्क जैसे लेखकों और शेली तथा मिल्टन जैसे कवियों के अध्ययन ने भारतीय विद्यार्थियों के मस्तिष्क में व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की जीवन प्रदायिनी भावनाएँ भर दीं और उन्हें त्याग तथा राष्ट्र-सेवा का पाठ पढ़ा दिया। इस सम्बन्ध में यह बताना अनुपयुक्त न होगा कि राष्ट्रीय चेतना में योग देने वाले अधिकतर नेताओं ने अङ्गरेजी शिक्षा ही पायी थी। यह कहना ज्यादती होगी कि अङ्गरेजी शिक्षा के अभाव में राष्ट्रीय चेतना न इतनी शीघ्र फैलती न इतने व्यापक रूप से। इस समय की सरकार द्वारा प्राच्य विद्याओं के अध्ययन को प्रश्रय देने की नीति का विरोध करके राजा राममोहनराय ने बड़ी दूरदर्शिता की। पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव राष्ट्रीय चेतना के क्षेत्र में ही नहीं प्रत्युत अन्य क्षेत्रों में भी दृष्टिगत होता है, कला-कौशल, उद्योग धन्धों तथा वाणिज्य व्यवसाय के क्षेत्र में यह विशेष रूप से दृष्टिगत है। बड़े पैमाने पर उद्योग-धन्धों तथा ट्रेड यूनियनिज्म को हमने पश्चिम से ही लिया है। पश्चिम के सम्पर्क से ही हमारी सामाजिक चेतना जाग्रत हुई है और हम अपनी सामाजिक बुराइयों को धीरे-धीरे हटाते जा रहे हैं। इस प्रकार विचार तथा कार्य का मुश्किल से ही ऐसा कोई क्षेत्र होगा जिसमें पाश्चात्य शिक्षा का जीवनदायक प्रभाव न महसूस हुआ हो।

लेकिन उन उद्देश्यों का क्या हुआ जिन्होंने लॉर्ड मैकाले को १८३५ में पाश्चात्य-शिक्षा के प्रसार के लिए प्रेरित किया था? क्या उन्होंने भारतीयों को ब्रिटिश-सरकार के प्रति स्वामिभक्त बनाया। क्या उन्होंने देश में कोई धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ किया और हिन्दुत्व ने क्या उसके सामने घुटने टेक दिये? इन प्रश्नों का उत्तर ओ'मैली के अपने ही शब्दों में देना अत्युत्तम होगा। वह इस प्रकार लिखता है : 'अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि लोगों में अपने शासकों के प्रति साधारणतः कोई प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ है और सरकार के प्रति उनका जो कुछ भी

लगाव है वह स्वार्थ की भावना से। हितों में सामञ्जस्य अवश्य हुआ है किन्तु हृदयों में नहीं। अन्य आशायें या तो केवल कल्पनात्मक बनी रहीं या केवल कुछ अंशों में पूरी हुईं। लोगों में नयी मानसिक चेतना आ गयी है, साहित्य ने विभिन्न रूप धारण कर लिए हैं और उसकी अभिव्यक्ति भी नवीन तथा पूर्ण होने लगी है। जन-मत के ऊपर आधिपत्य एक दूसरे वर्ग के हाथ में हस्तान्तरित हो गया है। अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों को अपने बुद्धि वैभव, सम्पन्नता तथा शक्ति के कारण प्रधानता प्राप्त हो गया है। सामाजिक सुधार के प्रयत्न भी हुए हैं, किन्तु सामाजिक व्यवस्था में बहुत कम परिवर्तन हुए हैं, जाति-बन्धन तथा अस्पृश्यता में बहुत कम अन्तर पड़ा है। धार्मिक सुधार के भी प्रयत्न हुए हैं, लेकिन हिन्दू धर्म के भीतर ही, बाहर नहीं, और वह भी केवल उसकी शुद्धि के लिए, विनाश के लिए नहीं। जनता के बीच धार्मिक मामलों में ब्राह्मण अब भी प्रभावशाली हैं और धार्मिक जीवन का सामाजिक जीवन से बहुत गहरा सम्बन्ध है।'*

प्रमुख समस्याएँ— भारतीय शिक्षा शास्त्रियों के सामने विभिन्न प्रकार की तथा बड़ी जटिल समस्याएँ हैं। इन समस्याओं के ठीक और समय पर किये गये हल पर ही देश की उन्नति निर्भर है। इन सभी समस्याओं का यहाँ विवेचन सम्भव नहीं, उनमें से केवल प्रमुख की ओर संकेत किया जा सकता है।

(अ) स्त्री-शिक्षा— यह एक प्रमुख समस्या है। स्त्री शिक्षा ही वह कुंजी है जिससे देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उन्नति का द्वार खुलता है। जातिगत भिन्नताएँ, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, इच्छा विरुद्ध वैधव्य, पर्दा तथा अन्य सामाजिक बुराइयों का तब तक समूल नाश नहीं हो सकता जब तक हमारी स्त्रियाँ शिक्षित नहीं हो जातीं। स्त्रियों के अशिक्षित रहते हमारे राष्ट्रीय स्वास्थ्य में भी वृद्धि नहीं हो सकती। छोटे बच्चों का मृत्यु का उत्तरदायित्व भी स्त्रियों के अज्ञान के ऊपर है। धार्मिक मामलों में उनकी संकीर्णता अधिकतर आर्थिक बरबादियों के लिए उत्तरदायी है। शिक्षा की कमी के कारण ही वे राजनीति में भी अपना पूरा पार्ट अदा न कर सकीं। अशिक्षित स्त्रियाँ अपने बच्चों का भी सम्यक् लालन-पालन नहीं कर सकतीं। इस प्रकार अपनी स्त्रियों की शिक्षा के बिना हम देश की स्थायी प्रगति की आशा नहीं रख सकते।

स्त्री-शिक्षा के अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हुए भी, प्रारम्भ में शिक्षा-सम्बन्धी नीति तथा तरीकों का निश्चय करने वाले लॉर्ड विलियम बेंटिंक, मैकाले जैसे व्यक्तियों ने इसकी ओर कोई ध्यान न दिया। भारतीय स्त्रियों में ज्ञान का प्रकाश विकीर्ण करने के लिए कोई धन व्यय नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में पहले पहल ईसाई पादरियों ने कदम बढ़ाया। ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, रामकृष्ण मिशन तथा थियोसाफिकल

---

* माडर्न इण्डिया एण्ड दी वेस्ट।

सोसायटी के प्रभाव क्षेत्र में आने से पहले अपने देश की स्त्रियों की शिक्षा में मिशनरी संस्थाएँ ही संलग्न थीं। आज दिन भी स्त्रियों की पूरी जन-संख्या की ३ % से भी कम स्त्रियों को अक्षर ज्ञान है। १९४५-४६ में सरकार द्वारा स्वीकृत तथा अस्वीकृत संस्थाओं में स्त्री विद्यार्थियों की कुल संख्या ४,०२८,१२६ थी। १९४१-४२ की संख्या से यह संख्या तीन लाख अधिक है। लेकिन मिसेज कजिन्स द्वारा नीचे दी हुई संख्यायें स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में अपनी कहानी स्वयं कहती हैं 'प्रत्येक सौ लड़कियों में से केवल एक को प्रारम्भिक शिक्षा मिलती है, प्रत्येक १००० लड़कियों में से केवल एक को माध्यमिक शिक्षा मिलती है। २० वर्षों में भारतीय स्त्रियों की साक्षरता का प्रतिशत २ से ३ % नहीं हुआ।' लड़कियों से छः गुने लड़कों को शिक्षा मिलती है। लड़कियों की अपेक्षा लड़कों की शिक्षा पर चौदहगुना अधिक रुपया व्यय होता है। अपने देश में लगभग ४० लाख स्त्रियाँ ही साक्षर हैं।

स्त्री शिक्षा ने शहरों में ही अधिक उन्नति की है। ग्राम्य क्षेत्रों में लड़कियों के लिये कॉलिजों का तो कहना ही क्या, उनके स्कूल भी नगण्य हैं। ग्रामीण स्त्रियों की निरक्षरता के अनेक कारण हैं। उन्होंने अभी तक शिक्षा के महत्त्व तथा उसकी आवश्यकता पर बहुत कम ध्यान दिया है। शहरी स्त्रियों की अपेक्षा वे अधिक संकीर्ण तथा कट्टर हैं क्योंकि आधुनिक आन्दोलनों तथा विचारों से वे बहुत कम प्रभावित हुई हैं। स्त्रियों की शिक्षा में लगी संस्थाएँ गाँवों की अपेक्षा शहरों में अपना कार्य सरलता से कर पाती हैं। गाँवों में स्थापित लड़कियों के स्कूलों के लिए शिक्षिकाओं का मिलना बहुत कठिन है। कस्तूरबा स्मारक निधि द्वारा बनायी गयी स्त्री शिक्षा-योजना से इस क्षेत्र में आन्दोलनकारी परिवर्तन की आशा है।

लड़कों की भाँति लड़कियों की प्रारम्भिक शिक्षा भी माध्यमिक तथा विश्व विद्यालय शिक्षा के बहुत पीछे है। उच्च शिक्षा ने प्रारम्भिक शिक्षा की अपेक्षा अधिक उन्नति की है। १९४५-४६ में प्राइमरी स्कूलों की एक बड़ी संख्या के अतिरिक्त लड़कियों के लिए ६४ आर्ट्स, १६ प्रोफेशनल, टेक्निकल तथा ट्रेनिंग कॉलिज तथा ६८५ हाई तथा १,५४६ मिडिल स्कूल थे। इन सब संस्थाओं में कुल मिलाकर ३,८४१,२६७ छात्राएँ शिक्षा प्राप्त कर रही थीं। शिक्षा में डॉक्टरी की ओर अधिक लड़कियाँ आकर्षित होती हैं हालाँकि अब वे कानून और इंजीनियरिंग की ओर भी आकर्षित होने लगी हैं। १९४१-४२ में ७७८ स्त्री विद्यार्थी मेडिकल कॉलिजों में तथा ८४६ ट्रेनिंग कॉलिजों में थीं, कानून और इंजीनियरिंग में क्रम से १२३ और एक।

प्रोफेसर कार्वे द्वारा १९१६ में पूना में स्थापित किया हुआ किन्तु अब बम्बई में स्थित श्रीमती नाथीबाई दामोदर थैकरसे भारतीय स्त्री विश्वविद्यालय स्त्रियों

की शिक्षा की एक प्रमुख संस्था है। यह सस्था अन्य शिक्षण-संस्थाओं से इस अर्थ मे भिन्न है कि स्त्रियों की शिक्षा पुरुषों से भिन्न होनी चाहिये क्योंकि यह इस बात पर जोर देती है कि जीवन मे उन्हे भिन्न कार्य करने हैं। विद्यार्थी की मातृभाषा ही यहाँ शिक्षा का माध्यम है। वर्तमान समय मे इससे सम्बन्धित चार कॉलिज तथा दो कॉलिजिएट कक्षाएँ हैं जिनमे लगभग ३०० विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। दिल्ली का लेडी इरविन कॉलिज भी स्त्री-शिक्षा को भारतीय जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाता है। १६३० मे अखिल भारतीय स्त्री-शिक्षा-सम्मेलन द्वारा बैठाई गई कमेटी के प्रयत्नों द्वारा ही इस सस्था की स्थापना हुई। जालन्धर का कन्या-महाविद्यालय तथा बड़ौदा का कन्या-गुरुकुल स्त्री-शिक्षा के दो प्रसिद्ध केन्द्र हैं।

भारत के सभी प्रान्तों में लड़कियो की शिक्षा डाइरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन या डाइरेक्टर ऑफ एजुकेशन के क्षेत्राधिकार में है। कुछ प्रान्तों मे उसकी सहायता के लिए एक डिप्टी डाइरेक्टर या स्त्री-शिक्षा की चीफ इन्स्पेक्ट्रेस रहती है। स्त्री-शिक्षिकाओं की ट्रेनिंग के लिए सरकार ने वर्नाक्यूलर तथा अंग्रेजी स्कूलों मे व्यवस्था कर दी है। यहाँ इस ओर सकेत किया जा सकता है कि पारसियो तथा ईसाइयों मे स्त्री-शिक्षा का प्रतिशत बहुत ऊँचा है और मुसलमानों मे बहुत कम है।

यह ध्यान मे रखना चाहिये कि लड़कियाँ अपने लिए बनी सस्थाओं मे ही नहीं प्रत्युत लड़कों के कॉलिजो मे भी शिक्षा प्राप्त करती हैं। इस व्यवस्था को सह-शिक्षा कहते हैं। सह-शिक्षा की व्याप्ति प्रत्येक प्रान्त मे भिन्न है। यह सबसे अधिक मद्रास मे प्रचलित है और सब से कम कदाचित् बिहार मे।

(व) *सार्वजनीन शिक्षा* (Mass Education)— पहले यह कहा जा चुका है कि जनता की प्रारम्भिक शिक्षा उच्च और मध्यम वर्गों की उच्च शिक्षा से बहुत पीछे है। सर चार्ल्स वुड के शिक्षा-सम्बन्धी डेस्पैच के पहले जनता को शिक्षा के लाभों से निश्चित रूप से वञ्चित रक्खा गया। सरकार द्वारा जनता की शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिए जाने पर भी अनेक परिस्थितियों ने इसके प्रसार को मन्द बना दिया। अनिवार्य शिक्षा के सिद्धान्त की स्वीकृति का भी सन्तोषप्रद परिणाम न हुआ। कार्य की विशालता, निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा की किसी भी योजना को कार्यान्वित करने मे लगने वाले अपार धन तथा लोगों की दरिद्रता तथा उपेक्षा के कारण सार्वजनीन शिक्षा के प्रसार में बड़ी कठिनाइयाँ पड़ी हैं। स्त्री-शिक्षा की भाँति यह प्रश्न भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। उसकी तरह इसके सुलझाव मे भी देर नहीं होनी चाहिये। आश्चर्य है कि राष्ट्रीय नेताओं तथा देश के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियो ने जन-शिक्षा की ऐसी कोई सम्यक् योजना नहीं बनायी जो वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के

दोषों से मुक्त होती और उसके स्थान पर कार्यान्वित की जा सकती। महात्मा गाँधी ने इस समस्या की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया और उन्होंने वर्धा में डॉक्टर जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में देश के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियों की एक बैठक बुलायी। इस बैठक के परिणाम-स्वरूप प्रसिद्ध वर्धा-शिक्षा-योजना बनी जिसे बेसिक-शिक्षा-योजना भी कहते हैं। प्रारम्भिक शिक्षा के राष्ट्रीय दृष्टिकोण से पुनर्निर्माण के लिए यह सबसे अधिक प्रभावशाली है।

वर्धा शिक्षा-योजना— इस योजना के विषय में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात, जिसके बिना इसका सच्चा मूल्यांकन नहीं हो सकता, यह है कि वास्तविक भारत गाँवों में बसता है, शहरों में नहीं, और इसी लिए यह ग्रामीण निरक्षरता की समस्या हल करने के लिए अधिक प्रयत्नशील है। गाँवों को निरन्तर हो रही बरबादी रोकना, ग्रामवासियों को अधिक संख्या में शहरों में आने से रोकना तथा ग्राम तथा नगर के बीच अधिक स्वस्थ तथा न्यायपूर्ण सम्बन्धों की वृद्धि भी इसके उद्देश्यों में से है। दूसरे शब्दों में, यह योजना प्रारम्भिक रूप से गाँवों की शिक्षा तथा उनके पुनर्निर्माण के लिए है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह नगरों के लिये नहीं बनी है या वहाँ यह लागू नहीं हो सकती।

इस योजना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि बच्चे की शिक्षा किसी दस्तकारी या उत्पादन कार्य द्वारा चलाने का प्रयत्न किया जाता है। कातना-बुनना, खेती करना या बाग-बगीचे लगाना, बढ़ईगिरी या लोहारगिरी, तेल निकालना, गुड़ बनाना या ऐसा ही कोई उत्पादन-कार्य इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयुक्त हो सकता है। चुनी हुई दस्तकारी या पेशा ही ऐसा केन्द्र है जिसके चारों ओर बच्चे की शिक्षा घूमती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि दस्तकारी की शिक्षा को भी प्रारम्भिक स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले विषयों में सम्मिलित कर लिया जाता है। यह कहने से भी पूरा अर्थ स्पष्ट नहीं होता कि उन विषयों की शिक्षा को दस्तकारी की शिक्षा के साथ-साथ चलाना चाहिये। जिस चीज पर योजना का ध्यान है वह यह है कि बच्चों को काम में लगाने वाली दस्तकारी या उत्पादन-कार्य ही उनके मानसिक विकास तथा बौद्धिक ट्रेनिंग का प्रथम साधन होना चाहिये। दस्तकारी का काम चलाते समय योग्य शिक्षक बड़ी ही सरलता से इसके 'क्यों' और 'किस प्रकार' समझायेगा और बच्चे के मस्तिष्क में आने वाली अनेक समस्याओं के हल में उसे इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित तथा नागरिक शास्त्र का पर्याप्त ज्ञान मिल जायगा। वर्धा के अखिल-भारतीय शिक्षा सम्मेलन में अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए महात्मा जी ने कहा था कि 'उदाहरण के लिए तकली कातने को ही लीजिये। तकली कातना सिखाने का अर्थ है रुई की विभिन्न किस्मों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कराना, भारत के विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न प्रकार की पायी जाने वाली मिट्टी के सम्बन्ध में जानकारी कराना, दस्तकारियों के विनाश

का इतिहास सिखाना, इसके राजनैतिक कारण बताना जिनमें भारत के ब्रिटिश शासन का इतिहास आ जायगा, और गणित का ज्ञान कराना। यह प्रयोग मैं अपने नाती पर भी कर रहा हूँ जिसे यह महसूस ही नहीं होता कि वह पढ़ रहा है क्योंकि वह हरदम खेलता, हँसता तथा गाता रहता है।'

योजना की दूसरी विशेषता यह है कि स्कूल में पढ़ने वाले बच्चे स्थायी रूप से साक्षर हो जायँगे और उनके फिर से निरक्षर हो जाने का कोई डर न रहेगा। इसके साथ-साथ वे सामाजिक समस्याओं को भी समझने लगेंगे और उनमें सामाजिक आदतों का विकास होगा। इन सबको ध्यान में रख कर प्रारम्भिक शिक्षा का पाठ्य-क्रम सात वर्षों का रक्खा गया है, सात वर्ष की उम्र से लेकर चौदह वर्ष की उम्र तक। इस प्रकार वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के चार या पाँच वर्षों के पाठ्य-क्रम द्वारा हो रही बरबादी हट जायगी।

योजना की तीसरी विशेषता यह है कि यह सभी लड़के-लड़कियों के लिए अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा लागू करना चाहता है— केवल कुछ चुने क्षेत्रों में ही नहीं, प्रत्युत सारे देश में। यह आशा की जा सकती है कि इस योजना द्वारा निरक्षरता बीस वर्षों में समाप्त हो जायेगी। अत्यधिक खर्च के कारण प्रारम्भिक शिक्षा अतीत में निःशुल्क, सार्वभौम तथा अनिवार्य न बनायी जा सकी क्योंकि इसके लिए बहुत ज्यादा धन की आवश्यकता थी। महात्मा गांधी ने इस योजना को लगभग स्वावलम्बी बनाकर इस कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न किया है।

वर्धा-शिक्षा-योजना से, कम या ज्यादा, अपने पैरों पर खड़े होने की आशा की जाती है। महात्मा जी के अनुसार अपना खर्च चला लेना ही इसकी वास्तविकता की सबसे बड़ी पहचान है। उनका विचार यह प्रतीत होता है कि बच्चों द्वारा तैयार हुई वस्तुओं के विक्रय से उनकी शिक्षा पर हुए व्यय का अधिकांश पूरा हो जायगा। हाँ, इन संस्थाओं के तैयार माल को सरकार को अवश्य खरीदना पड़ेगा। हो सकता है कि पहले एक या दो वर्षों तक विद्यार्थी अपनी शिक्षा का खर्च न उठा सकें, लेकिन सात वर्षों के पूरे समय को ध्यान में रखने पर यह आशा की जाती है कि अपनी शिक्षा पर हुए व्यय को पूरा करने के लिए विद्यार्थी पर्याप्त उत्पादन कर लेगा।

अन्त में, इस ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है कि विद्यार्थी की सारी शिक्षा का माध्यम उसकी मातृभाषा रहेगी। इस प्रकार एक विदेशी भाषा में कुशलता प्राप्त करने के बोझ से वह बच जायगा।

किसी प्रकार के उत्पादन कार्य द्वारा शिक्षा, सात वर्षों का पाठ्य-क्रम, सभी लड़के लड़कियों के लिए अनिवार्य, निःशुल्क शिक्षा, आत्म निर्भर होने की योग्यता तथा मातृभाषा द्वारा शिक्षा · वर्धा-शिक्षा योजना इन्हीं आधारभूत विचारों तथा

सिद्धान्तों पर निर्भर है। इस प्रकार शिक्षा के लिए दस्तकारी के रूप में चर्खा प्रचलित करने से इसका अर्थ कहीं अधिक है।

यह योजना अनेक गुणों से सम्पन्न है। यह इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित है कि बच्चे की शिक्षा खेल द्वारा होनी चाहिए और ऐसा करने में उसकी सारी भावनाओं तथा उसके सारे मस्तिष्क का सहयोग मिलना चाहिए। इसके अनुसार बच्चे का मस्तिष्क सदैव सक्रिय तथा सामाजिक वातावरण के सदैव सम्पर्क में रहता है। शिक्षा को व्यावहारिक तथा सामाजिक वातावरण तथा आवश्यकताओं के अधिक अनुकूल बना कर यह वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के कुछ बड़े दोषों को दूर करती है। यह शिक्षितों तथा अशिक्षितों के बीच की खाई को भी दूर करती और ग्रामों तथा नगरों के बीच स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित करती है। इसकी सबसे बड़ी अच्छाई यह है कि निःशुल्क तथा अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की सबसे बड़ी समस्या का यह व्यावहारिक हल देती है। इस योजना द्वारा जनता पर बिना कोई असहनीय आर्थिक भार डाले उसकी शिक्षा की आशा की जाती है। बच्चों के मस्तिष्क पर इसके प्रभाव के सम्बन्ध में अपने राज्य में चलायी गयी बेसिक शिक्षा पर कश्मीर सरकार के निम्नलिखित निरीक्षणों को उद्धृत कर देना सबसे अच्छा होगा : 'बेसिक स्कूलों में आने वाले अनेक प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्रियों तथा सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने यह स्वीकार किया है कि इस योजना द्वारा शिक्षा प्राप्त कर रहे बच्चों ने अन्य साधारण स्कूलों के विद्यार्थियों की अपेक्षा अधिक मानसिक सजगता तथा शिक्षा-सम्बन्धी चेतना प्रदर्शित की है। गणित तथा आत्माभिव्यक्ति (Self-expression) में ये बच्चे अन्य स्कूलों के बच्चों से कहीं तेज हैं। दस्तकारी ने उनकी दिलचस्पी बनाये रखने तथा उसे बढ़ाने में जिस सीमा तक सफलता प्राप्त की है वह केवल किताबी शिक्षा के वातावरण में असम्भव थी।' यह कहना अत्युक्ति न होगा कि भारतीय ग्रामों तथा जन-साक्षरता की कुंजी इसी योजना में है। इसकी अच्छाइयों के सम्बन्ध में हम स्वयं महात्मा जी के शब्द उद्धृत कर सकते हैं। अक्तूबर ६, १९३७, के 'हरिजन' में उन्होंने इस प्रकार लिखा : 'कातने बुनने जैसी ग्रामीण दस्तकारियों द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा देने की, हमारी योजना से एक ऐसी क्रान्ति का श्रीगणेश होता है जो बड़े ही महत्वपूर्ण परिणामों से भरी हुई है। शहरों तथा गाँवों के बीच के सम्बन्ध के लिए यह एक स्वस्थ तथा नैतिक आधार तैयार करेगी और इसके द्वारा वर्तमान सामाजिक अरक्षा (insecutity) तथा वर्गों के आपसी जहरीले सम्बन्धों की कुछ भयकरतम बुराइयों को उखाड़ फेंकने में सहायता मिलेगी इससे हमारे गाँवों का निरन्तर पतन रुकेगा और एक ऐसे न्यायपूर्ण समाज की स्थापना होगी जिसमें सम्पन्नों तथा दरिद्रों (haves and have nots) के बीच का अप्राकृतिक विभाजन न होगा। और यह सब वर्ग-संघर्ष की किसी खूनी लड़ाई या

भारत जैसे महादेश ने मशीनीकरण में लगाने वाले अपार धन के बिना ही हो जायगा। मशीनों के लिए विदेशों पर निर्भर रहने या उनकी टेकनिकल कुशलता की भी इसमें कोई आवश्यकता न पड़ेगी।

इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए १९३८ में प्रयत्न किया गया। महात्मा जी द्वारा प्रेरणा दिये जाने के कारण इसकी प्रारब्धि अच्छी हुई। अनेक प्रान्तो तथा कुछ भारतीय राज्यों ने इसे स्वीकार कर लिया। काश्मीर तथा बिहार में इसे सबसे अधिक सफलता मिली। कुछ ही वर्षों में काश्मीर में १२०, बिहार में २७, बम्बई में ५२, मध्य-प्रान्त में ५६ और उत्तर प्रदेश में लगभग ४००० बेसिक स्कूलों की स्थापना हो गयी। उत्तर-प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के स्कूल शत प्रतिशत बेसिक नहीं थे, पुराने स्कूलों ने ही बेसिक शिक्षा कमेटी का पाठ्य क्रम स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जायगा कि इस योजना को लोगों का पर्याप्त पक्ष मिला। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियों की दृष्टि में इसकी आधारभूत चीजें सही उतरी हैं और इसका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है। भविष्य में इसमे अनेक सुधारों का समावेश सम्भव है। यहाँ यह बतलाया जा सकता है कि योजना की अनेक विशेषताएँ मिस्टर जॉन सार्जेन्ट की युद्धोत्तर शिक्षा विकास योजना द्वारा उद्धृत कर ली गई हैं। अब हम इस योजना का अध्ययन प्रारम्भ करेंगे।

युद्धोत्तर शिक्षा विकास का सार्जेन्ट योजना— देश की जनता द्वारा वर्धा-शिक्षा-योजना को दिये गये सहयोग ने कदाचित् भारतीय सरकार को भी युद्धोत्तर काल में शिक्षा के विकास के सम्बन्ध में सोचने के लिए प्रेरित किया। फलस्वरूप शिक्षा की केन्द्रीय सलाहकार समिति ने शिक्षा विकास योजना के निर्माण के लिए एक कमेटी बैठाई। इस कमेटी की रिपोर्ट, जो सार्जेन्ट रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है, १९४४ में प्रकाशित की गई। सरकार द्वारा इसके सुझावों को स्वीकृत करने तथा उन्हें कार्यान्वित करने पर देश की शिक्षा-प्रणाली में एक क्रान्ति उपस्थित हो जाती। वर्धा शिक्षा योजना की इसने अनेक विशेषताएँ उद्धृत की हैं और कुछ दृष्टियों से तो यह पहले का परिष्कृत रूप है। वर्धा शिक्षा-योजना की भाँति यह केवल प्रारम्भिक शिक्षा तक ही सीमित नहीं, प्रत्युत इसका प्रसार माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय शिक्षा तक भी है।

वर्धा-योजना की भाँति सार्जेन्ट योजना ने भी देश के छः तथा चौदह वर्ष के बीच के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क, सार्वभौम तथा अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा का विधान किया। ट्रेनिंग पाये हुए शिक्षकों की कमी के कारण सम्भव हो सकता है कि देश की निरक्षरता दूर करने में चालीस वर्षों से कम न लगें। इन दोनों शिक्षा योजनाओं को ट्रेनिंग प्राप्त पर्याप्त शिक्षकों की प्राप्ति में कठिनाई होगी।

सार्जेन्ट योजना ने शिक्षकों की भर्ती, ट्रेनिंग तथा उनकी सेवाओं की शर्तों की विस्तृत विवेचना की है। इन सब के होते हुए भी सार्जेन्ट-योजना वर्धा-योजना की भाँति, दस्तकारी के महत्व पर जोर नहीं देती।

प्रारम्भिक पाठ्य-क्रम दो भागों में विभाजित है। बेसिक स्कूलों के दो ग्रेड होंगे— जूनियर और सीनियर। अधिकतर विद्यार्थियों की शिक्षा जूनियर से सीनियर बेसिक स्कूलों में जाने पर समाप्त हो सकती है। योग्य विद्यार्थी सीनियर बेसिक स्कूलों (ये आजकल के मिडिल स्कूलों के समकक्ष होंगे) से हाई स्कूलों में भेजे जा सकते हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सीनियर बेसिक स्कूलों के प्रत्येक पाँच विद्यार्थियों में एक हाई स्कूल में जा सकेगा। इसके पीछे कार्य करने वाला विचार यह है कि बेसिक शिक्षा के सार्वभौम बना दिये जाने पर हाई स्कूलों की भर्ती चुनाव के आधार पर होनी चाहिये। बेसिक स्टेज में कोई परीक्षा न होगी, कक्षा के प्रतिदिन के रेकर्ड के आधार पर ही शिक्षक लड़कों का प्रमोशन निश्चित करेगा।

सार्जेन्ट योजना नर्सरी स्कूलों के रूप में प्राइमरी स्टेज से पहले की शिक्षा की भी व्यवस्था करती है। इन नर्सरी स्कूलों में ट्रेनिंग प्राप्त शिक्षिकाएँ रक्खी जायेंगी। इन स्कूलों की शिक्षा निःशुल्क होगी किन्तु उसका अनिवार्य होना आवश्यक नहीं। यह प्रयत्न किया जायगा कि माँ बाप अपने बच्चों को इन स्कूलों में स्वयं भेज दें। इन स्कूलों का प्रमुख उद्देश्य छोटे बच्चों को शिक्षा से अधिक सामाजिक अनुभव कराना है। वर्धा योजना में ऐसे स्कूलों की ओर कोई संकेत नहीं है।

सारे ब्रिटिश भारत में इन तीनों प्रकार के स्कूलों— प्राइमरी, जूनियर तथा सीनियर— की स्थापना तथा उन्हें चलाने में २०० करोड़ रुपये सालाना से भी अधिक खर्च होंगे। वर्धा-योजना में इतने अधिक खर्च की गुंजायश नहीं है।

हाई स्कूल शिक्षा में छः वर्ष लगेंगे। भर्ती होने की साधारणतः उम्र ११ वर्ष है, अर्थात् विद्यार्थी की जूनियर बेसिक शिक्षा समाप्त हो जाने के बाद। जैसा कि पहले कहा गया है सीनियर बेसिक स्कूलों के केवल योग्य विद्यार्थी ही हाई स्कूल में जा सकेंगे। हाई स्कूल दो प्रकार के होंगे— ऐकेडैमिक तथा टेकनिकल। इन दोनों प्रकार के स्कूलों का उद्देश्य सर्वांगीण शिक्षा के साथ बाद में चलकर पेशे सम्बन्धी तैयारी कराना भी है। पाठ्य-क्रम अधिक से अधिक विस्तृत होगा और आज की विश्वविद्यालय की आवश्यकताओं से प्रभावित नहीं रहेगा। इस प्रकार के हाई स्कूलों की स्थापना में लगभग पचास करोड़ रुपये लगेंगे।

विश्वविद्यालय शिक्षा— शिक्षा स्तर को ऊँचा करने के उद्देश्य से योजना विश्वविद्यालय-शिक्षा का भी विधान करती है। योजना द्वारा दिये गये सुझावों में से निम्नलिखित प्रमुख हैं — (1) विश्वविद्यालय पाठ्य-क्रम का बोझ सभाल सकने वाले केवल योग्य विद्यार्थियों की भर्ती के उद्देश्य से भर्ती की शर्तों पर पुन

विचार। (ii) वर्तमान इण्टरमीजिएट कक्षाओं को हटाकर फिलहाल उनका प्रथम वर्ष हाई स्कूल तथा दूसरा वर्ष डिग्री-कोर्स में जोड़ देना। (iii) विश्वविद्यालय की उपाधि का पाठ्य-क्रम कम से कम तीन वर्षों का हो। (iv) शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के बीच पारस्परिक सम्पर्क के लिए ट्यूटोरियल-प्रणाली का विकास। विश्वविद्यालयों के वेतन का स्केल और आकर्षक बना दिया जायगा। अनुमान किया जाता है कि इन सुझावों को कार्यान्वित करने में ६ करोड़ ७२ लाख रुपये प्रतिवर्ष लगेंगे।

सार्जेन्ट रिपोर्ट टेक्निकल तथा कॉमर्शियल शिक्षा, एडल्ट शिक्षा, अपंग व्यक्तियों की शिक्षा तथा शिक्षकों की ट्रेनिंग की भी व्यवस्था करती है। सारी योजना का कुल खर्च ३०० करोड़ रुपये प्रति वर्ष से भी अधिक होगा। अन्तर-विश्वविद्यालय बोर्ड ने इस रिपोर्ट पर विचार-विमर्श किया और उसके प्रमुख सुझावों को स्वीकृत कर लिया।

(ख) *टेकनिकल तथा पेशे सम्बन्धी शिक्षा*— जनता की निरक्षरता दूर करने तथा उच्च शिक्षा में सुधार करने के पश्चात् टेकनिकल तथा पेशे-सम्बन्धी शिक्षा के प्रबन्ध की आवश्यकता पड़ती है। देशवासियों का साधारणतः यह विचार है कि हमारी शिक्षण सस्थाओं में दी गयी शिक्षा साहित्यिक अधिक है और हमारे स्कूलों तथा कॉलिजों ने पेशे-सम्बन्धी शिक्षा पर बहुत कम ध्यान दिया है, औद्योगिक तथा टेक्निकल शिक्षा पर तो और भी कम। विद्यार्थियों को शिक्षण, मेडिकल, इञ्जीनियरिंग तथा ऐसे ही अन्य बौद्धिक पेशों की शिक्षा देने वाली सस्थाओं की सख्या पर्याप्त नहीं है। १६४२ में सारे देश में ऐग्रिकल्चर की शिक्षा देने वाले ८, फॉरेस्ट्री की दो, वेटरिनरी की चार तथा टेक्नोलॉजी की शिक्षा देने वाले दो कॉलिज थे। ऑक्सफर्ड पेम्फलेट न० १२ में टेकनिकल शिक्षा पर एक रोचक लेख लिखने वाला लेखक भारत की शिक्षा प्रणाली का विवेचन करते समय यह बतलाता है कि पर्याप्त औद्योगीकरण करने वाले बम्बई जैसे प्रान्त में कुल ५,१०० ग्रेजुएटों में से टेक्नोलॉजी की फैकल्टी में केवल २६४, इञ्जीनियरिंग में १६२, केमिकल टेक्नोलॉजी में २० तथा एग्रिकल्चर में ५२ ग्रेजुएट थे। लेखक इस बात पर दुःख प्रकट करता है कि टेक्सटाइल मैन्युफैक्चर प्रान्त का एक प्रमुख उद्योग होते हुए भी बम्बई विश्वविद्यालय उसके लिए कोई डिग्री-कोर्स नहीं देता। देश की राजनैतिक स्थिति ही औद्योगिक तथा टेकनिकल शिक्षा में हमारे पिछड़े रहने का कारण बनी हुई थी।

अभी कुछ समय से ही टेकनिकल शिक्षा पर बहुत जोर दिया जाने लगा है। १६३६ में भारत-सरकार ने देश की टेकनिकल शिक्षा के सम्बन्ध में रिपोर्ट तैयार करने के लिए एक कमेटी बैठायी जिसके चेयरमैन मिस्टर एबट थे। कमेटी ने पेशे सम्बन्धी शिक्षा के लिए प्रत्येक प्रान्त में एक सरकारी सलाहकार-समिति बनाने तथा

विद्यार्थियों को औद्योगिक जगहों में नियुक्ति से पहले की ट्रेनिङ्ग देने के लिए कुछ चुनी जगहों में जूनियर तथा सीनियर वोकेशनल स्कूल खोलने की सलाह दी। ऐबट वुड कमेटी के सुझावों के अनुसार १६४१ में खुलने वाली दिल्ली पॉली-टेकनीक अपने ढङ्ग की पहली संस्था थी। महायुद्ध की भयंकरता के कारण शिक्षा के सेन्ट्रल ऐडवाइजरी बोर्ड ने भारत-सरकार के शिक्षा सम्बन्धी परामर्शदाता, मिस्टर जॉन सार्जेंट, को चेयरमैन बनाकर देश की टेकनिकल शिक्षा के सम्बन्ध में जाँच पड़ताल करने के लिए एक कमेटी बैठायी। इस कमेटी ने नीचे दिये तीन प्रकार की टेकनिकल संस्थाओं के निर्माण की सलाह दी: (i) १४ वर्ष या ऐसी ही उम्र में सीनियर बेसिक स्कूल पास करने वाले विद्यार्थियों के लिए पूरे दो वर्षों के पाठ्य क्रम के साथ जूनियर टेकनिकल या इन्डस्ट्रियल या ट्रेड स्कूल। (ii) पूरे छः वर्षों के पाठ्य-क्रम वाले टेकनिकल हाई स्कूल जिसमें लगभग ११ वर्ष की उम्र में जूनियर बेसिक स्कूल पास करने वाले चुने हुए विद्यार्थी भर्ती हों। (iii) दो या तीन वर्षों के डिप्लोमा कोर्स वाले या नौकरी में लगे लोगों के लिए तीन वर्षों के पार्ट टाइम पाठ्य क्रम वाले सीनियर टेकनिकल इन्स्टीट्यूशन।

टेकनिकल शिक्षा की वर्तमान सुविधाओं का वर्णन करके हम इस विषय के विवेचन को समाप्त करते हैं। देश के छब्बीस विश्वविद्यालयों में से केवल चार—बनारस, बम्बई, मैसूर तथा ट्रावनकोर— में टेकनोलॉजी का पाठ्य क्रम है। उनमें ऐप्लाइड केमिस्ट्री या केमिकल टेकनोलॉजी, एलेक्ट्रिकल टेकनोलॉजी के विभाग तथा 'इन्टरमीडिएट्स एण्ड डाइज', 'पेण्ट्स एण्ड वारनिशेज़', 'ऑयल्स, फैट्स एण्ड सोप्स', इत्यादि छोटे छोटे विभाग भी हैं। ऐप्लाइड केमिस्ट्री, बायो-केमिस्ट्री तथा एलेक्ट्रिकल टेक्नोलॉजी में ग्रेजुएशन के बाद की शिक्षा तथा अनुसन्धान-कार्य देने वाला इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स भी है। कानपुर के हारकोर्ट बटलर टेकनो-लॉजिकल इन्स्टीट्यूट तथा इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट ऑफ शुगर टेकनोलॉजी, बम्बई के विक्टोरिया जुबिली टेकनिकल इन्स्टीट्यूट तथा बड़ौदा के कलाभवन टेकनिकल इन्स्टीट्यूट का भी जिक्र किया जा सकता है। विभिन्न जगहों पर सरकारी टेकनिकल स्कूल भी हैं— कानपुर का लेदर वर्किङ्ग स्कूल तथा बरेली का सेण्ट्रल वुडवर्क इन्स्टीट्यूट।

प्रमुख उद्योगपतियों ने टेकनिकल शिक्षा के लिए बहुत कम उत्साह दिखाया है। टाटा, जिनकी उदारता से इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स बना है इस सत्य के अपवाद हैं। आर्थिक सहायता प्रदान करके उद्योगपति जब तक विश्वविद्यालयों में टेकनोलॉजी की चेयर्स नहीं खोल देते, टेकनिकल शिक्षा के विकास में शीघ्रता न होगी। देश के औद्योगिक विकास के साथ टेकनीशियनों की माँग भी बढ़ती जायगी। एक नये टेकनोलॉजिकल इन्स्टीट्यूट की स्थापना राष्ट्र के लिए बहुत आवश्यक है।

युद्धोत्तर विकास की विभिन्न योजनाओं के सम्बन्ध में उपयुक्त ट्रेनिंग-प्राप्त टेकनीशियनों की आवश्यकता-पूर्ति के लिए भारत सरकार ने सरकारी खर्च पर लगभग एक हजार विद्यार्थियों को टेकनिकल तथा वैज्ञानिक विषयों की ऊँची शिक्षा दिलाने के लिए ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भेजने की व्यवस्था की है।

(द) *विशेष वर्गों की शिक्षा*— दलित वर्गों तथा मुसलमानों जैसे शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े वर्गों की स्थिति ने बड़ी कठिन समस्या उत्पन्न कर दी है। इनके बीच शिक्षा-प्रसार के लिए विशेष प्रयत्न हो रहे हैं। अस्पृश्यता की स्थिति के कारण अछूतों के बच्चों की शिक्षा और भी कठिन बन गयी है। कुछ लोग दलित वर्गों के लिए अलग शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की राय देते हैं। लेकिन यह सलाह ठीक नहीं है क्योंकि इससे अलगाव की भावना को प्रश्रय मिलता है, उसका विनाश नहीं होता। अछूत बच्चों को सवर्ण हिन्दू बच्चों के साथ पढ़ाने का प्रयत्न होना चाहिये। सवर्ण हिन्दुओं का इस सम्बन्ध में विरोध कम हो रहा है। अछूत लड़कों के लिए विशेष छात्रवृत्तियों, फीस में छूट, पुस्तकों द्वारा मदद तथा अन्य प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था होनी चाहिए ; यह अच्छा लक्षण है कि उनके बीच शिक्षा शीघ्रता से फैल रही है।

शिक्षा की दृष्टि से मुसलमानों ने भी पर्याप्त उन्नति की है। पर्दा-प्रथा के कारण मुसलमान लड़कियों की शिक्षा अब भी त्रुटिपूर्ण है। यूरोपियनों तथा ऐंग्लो-इंडियनों के लिए विशेष स्कूल हैं। मान्ट-फोर्ड सुधारों के अन्तर्गत उनकी शिक्षा एक सुरक्षित विषय (Reserved subject) थी और १६३५ के संविधान में यह गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्वों में से एक थी। शिक्षा की दृष्टि से पारसी सबसे आगे बढ़े हुए हैं।

अस्वीकृत संस्थाएँ— आर्ट्स कॉलिजों, पेशे-सम्बन्धी कॉलिजों, हाई स्कूलों, मिडिल, प्राइमरी और विशेष स्कूलों, जो विभिन्न प्रान्तों के विश्वविद्यालयों तथा शिक्षा-विभागों द्वारा निश्चित पाठ्य-क्रम अपनाते हैं, के अतिरिक्त देश के नागरिकों को शिक्षा देने वाली अस्वीकृत संस्थायें भी हैं। १६४०-४१ में ऐसी संस्थाओं की संख्या १८,१३६ थी और इनमें शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों की संख्या ५५२,०१० थी। १६४५-४६ में यह संख्या गिरकर ४६७,२५३ विद्यार्थियों के साथ १३,५६४ रह गयी। इन संस्थाओं में से अधिकतर परम्परा के अनुसार भाषा की शिक्षा देने वाले स्कूल हैं और *उनमें से कुछ दस्तकारियों की ट्रेनिंग भी देती हैं। ये संस्थाएँ शिक्षा विभाग द्वारा* निश्चित किया हुआ पाठ्य क्रम नहीं अपनातीं और सरकार द्वारा भी किसी प्रकार अनुशासित नहीं होतीं। इसी लिए इन्हें अस्वीकृत संस्थाएँ कहा जाता है। इन संस्थाओं की परीक्षा भी सरकार द्वारा स्वीकृत नहीं है। इनमें से कुछ की स्थापना महान् राजनैतिक नेताओं द्वारा हुई है और अपने मौलिक आधारों पर चलने के कारण इन्होंने सारे संसार का ध्यान आकर्षित किया है। ऐसी संस्थाओं में गुरुकुल कांगड़ी

हरिद्वार, शान्तिनिकेतन का विश्वभारती विश्वविद्यालय और स्कूल (अब कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बन्धित), जामिया मिलिया इस्लामिया दिल्ली और दार-उल-उलूम देवबन्द अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना १६०२ में महात्मा मुन्शीराम जी, जो बाद में स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए, ने की थी। इसकी स्थापना के ढङ्ग का इसके आदर्शों तथा उद्देश्यों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है इसलिए उसका वर्णन करने योग्य है। महात्मा मुन्शीराम जी महर्षि दयानन्द के कट्टर अनुयायी थे और पंजाब में आर्य-समाज के शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों से उनका गहरा सम्बन्ध था। प्रसिद्ध डी० ए० वी० कॉलिज लाहौर की वे व्यवस्थापिका कमेटी में थे। अपने कुछ अन्य सहयोगियों के साथ उन्होंने यह अनुभव किया कि पंजाब विश्वविद्यालय से सम्बन्धित होने के कारण कॉलिज के कार्यों में बड़ा बाधा पड़ रही थी और यह विश्वविद्यालय परीक्षाओं पर ही अधिक ध्यान दे रहा था, राष्ट्रीय रूपरेखा पर दी जाने वाली शिक्षा पर बहुत कम। उन्होंने इसका अनुभव किया कि इस व्यवस्था से देश के नवयुवकों की शिक्षा पर कितना बुरा प्रभाव पड़ रहा था और इसी लिए उन्होंने इसे नये आधार पर संगठित करने का निश्चय किया। महात्मा मुन्शीराम ने हरिद्वार से कुछ दूर गंगा तट पर कांगड़ी नामक ग्राम में गुरुकुल की स्थापना की।

इस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली को दूर हटाने तथा प्राचीन आदर्शों तथा परम्पराओं को पुनर्जीवित करने के लिए गुरुकुल एक प्रयत्न है। प्राचीन आश्रमों की भाँति यह भी जन-रव तथा नगरों के विनाशकारी प्रभाव से दूर स्थित है। ऐसे वातावरण तथा प्रकृति के प्रांगण में ब्रह्मचारियों को परिश्रमपूर्ण जीवन की शिक्षा दी जाती है। वे गुरुकुल में पाँच या छः वर्षों की प्रारम्भिक अवस्था में जाते और अपना अध्ययन समाप्त करने तक वहाँ रहते हैं। इस समय के बीच उन्हें घर आने की आज्ञा नहीं मिलती, हमारे कॉलिजों तथा विश्वविद्यालयों की प्रथा की तरह बड़ी-बड़ी छुट्टियों में भी नहीं। उनके माँ-बाप गुरुकुल के वार्षिक उत्सव के अवसर पर वर्ष में एक बार आते और अपने ब्रह्मचारियों से मिलते हैं।

डिग्री तथा ग्रेजुएशन के बाद तक की शिक्षा देने वाला तथा अपना पाठ्य क्रम स्वयं निश्चित करने वाला गुरुकुल ही पहला भारतीय विश्वविद्यालय है जिसने किसी आर्य-वर्नाक्यूलर को शिक्षा का माध्यम स्वीकृत किया है। इसकी परीक्षाएँ अपनी होती हैं। थोड़ी अंग्रेजी तथा पाश्चात्य विज्ञानों के साथ भारतीय साहित्य, दर्शन तथा संस्कृत की शिक्षा होती है। धार्मिक शिक्षा इस संस्था की प्रमुख विशेषता है। स्वतन्त्रता की भावना के विकास तथा पक्के चरित्र के निर्माण पर विशेष जोर दिया जाता है। ब्रह्मचर्य तथा नैतिक अनुशासन पर भी यहाँ जोर दिया जाता है। बहुत काल तक यह संस्था सरकार की आँखों में संदिग्ध बनी रही किन्तु १६१३

में उत्तर-प्रदेश के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर जेम्स् मेस्टन के आगमन ने अविश्वास के बादल हटा दिये। देश में अनेक गुरुकुल हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि कुछ समय पहले बनारस में हुए अखिल-एशिया शिक्षा-सम्मेलन ने यह प्रस्ताव पास किया कि लड़कों की नैतिक शिक्षा पर जोर देने के लिए गुरुकुल-योजना को सारी शिक्षा-संस्थाओं में कार्यान्वित करना चाहिए।

बोलपुर बंगाल के शान्तिनिकेतन स्कूल तथा विश्वभारती विश्वविद्यालय की स्थापना रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने दूसरे आदर्शों तथा उद्देश्यों से की थी। स्कूल में अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर टैगोर ने यह निश्चय कि शिक्षा की वर्तमान प्रणाली जीवन से दूर है और बच्चे स्कूलों में प्रसन्नता का अनुभव नहीं करते। वहाँ वे जो कुछ सीखते हैं उसका उस संसार से कोई सम्बन्ध नहीं जहाँ वे रहते हैं। उनका व्यक्तित्व विकसित होने के बदले और दब जाता है। स्वयं टैगोर स्कूल से भाग गये और उसमें फिर कभी न लौटे। इसलिए उन्होंने एक नए स्कूल स्थापना का निश्चय किया (1) जहाँ जाने में बच्चों को प्रसन्नता का अनुभव होता क्योंकि उन्हें अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जाती और इच्छा के विरुद्ध उन पर कोई चीज लादी न जाती; (ii) आश्रम के वातावरण में जहाँ उन्हें अपनी प्राकृतिक शक्तियों को विकसित करने का पूरा अवसर मिलता; (iii) जहाँ केवल प्रकृति ही प्रमुख शिक्षिका रहता— दूसरे केवल पथ प्रदर्शक के रूप में कार्य करते, काम लेने वाले शिक्षकों के रूप में नहीं; (iv) जहाँ अन्य स्कूलों के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के बीच की खाई मित्रता तथा भ्रातृभाव की भावना से पट जाती; (v) जहाँ बच्चे के व्यक्तित्व का आदर होता, तिरस्कार नहीं; (vi) आश्रम के वातावरण में, जहाँ, विद्यार्थियों को अपनी शारीरिक, नैतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक पूरी उन्नति का अवसर मिलता, (vii) जहाँ, स्कूल-समाज के सदस्य के नाते, वे बड़े समाज की नागरिकता का पाठ पढ़ते और जहाँ स्कूल तथा समाज के कार्यों में गहरा सम्बन्ध रहता; (viii) जहाँ विद्यार्थियों को अपने ही जन साहित्य तथा प्रसिद्ध परम्पराओं से प्रेरणा मिलती और उन्हें शिक्षा भी अपनी ही मातृभाषा द्वारा मिलती।'*

विश्वभारती की स्थापना पूर्व की विभिन्न सभ्यताओं, विशेषतः उन्हें जो भारत में उत्पन्न हुई हैं या जिन्हें यहाँ आश्रय मिला है, के केन्द्रीकरण; शान्तिनिकेतन में, ग्राम-पुनर्निर्माण इन्स्टीट्यूट की सहायता से, गाँवों के प्रसन्न, सन्तुष्ट तथा पारस्परिक सौहार्दपूर्ण मानव-जीवन की स्थापना; तथा अन्त में, अन्तर सांस्कृतिक तथा अन्तर-जातीय मित्रता एवं सद्भाव तथा आधुनिक युग के सबसे बड़े सन्देश— मानव जाति की एकता— की पूर्ति के लिए पूर्व तथा पश्चिम में जीवित सम्बन्ध स्थापित

---

* प्रेमचन्द लाल, रिकॉन्स्ट्रक्शन एण्ड एजुकेशन इन रूरल इण्डिया, पृष्ठ ४१।

करना— इन तीन उद्देश्यों से हुई थी। गुरुकुल के विपरीत विश्वभारती पूर्व तथा पश्चिम की संस्कृतियों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है। पाश्चात्य सभ्यताओं की मूल्यवान चीजों को यह स्वीकृत करना चाहती है, अस्वीकृत नहीं। इस पुण्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए महाकवि ने विदेशी विद्वानों को भाषण करने तथा शान्तिनिकेतन में ठहरने के लिए आमन्त्रित किया। महाकवि का निमन्त्रण स्वीकार करने वाले अन्य व्यक्तियों में पेरिस के प्रोफेसर सिलवन लेवी, प्राग के प्रोफेसर विन्टरनित्ज तथा प्रोफेसर लेसनी, रोम के प्रोफेसर कारलो फॉरमिची तथा प्रोफेसर तुसाई, नार्वे के प्रोफेसर स्टेन कोनाऊ और हालैंड के डॉ० वेक प्रमुख थे।

१६४८ के पश्चात् शिक्षा-प्रगति— १६४६ में प्रान्तों में जन-प्रिय मन्त्रिमण्डलों द्वारा पद ग्रहण करने तथा एक वर्ष पश्चात् केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के बाद जो शिक्षा-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए हैं उनके सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है।

केन्द्रीय सरकार ने १६४६ के प्रारम्भ ही में प्रान्तीय सरकारों से सार्जेन्ट रिपोर्ट के आधार पर पंच वर्षीय शिक्षा विकास योजना बनाने तथा अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा तथा शिक्षकों की ट्रेनिंग जैसे कुछ प्रमुख कार्यक्रमों को चुनकर उन्हें स्वीकृति मिलने पर कार्यान्वित करने का आदेश दिया। लगभग प्रत्येक प्रान्त ने अपनी पंच वर्षीय योजना कार्यान्वित कर दी। विभिन्न प्रान्तों में कार्यान्वित होने वाली योजनाओं का विस्तृत वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है, उत्तर प्रदेश में जो कुछ हो रहा है उसके सम्बन्ध में कुछ शब्द कहे जा सकते हैं।

उत्तर-प्रदेश की सरकार के शिक्षा-विभाग ने कार्य की एक व्यापक योजना बनाई। इस योजना के तीन भाग किये प्रसार, पुनस्संगठन एवं अध्यापकों का प्रशिक्षण। शिक्षा-विभाग ने जो नई योजनाएँ आरम्भ की उनमें से मुख्य-मुख्य अग्रलिखित हैं— नगर-क्षेत्रों में अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा और ग्रामीण-क्षेत्रों में इसका विस्तार, प्रौढ़ शिक्षा का प्रचार, माध्यमिक शिक्षा का पुनस्संगठन, सैनिक शिक्षा का प्रबन्ध, ग्रेजुएट युवकों के लिए सामाजिक सेवा-प्रशिक्षण, मनोविज्ञान और शिक्षा-विज्ञान के लिए एक अन्वेषणालय, तथा नई प्रणाली से शिक्षकों को परिचित कराना। यहाँ हम इनमें से कुछ पर संक्षिप्त दृष्टिपात करेंगे।

(१) अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा— छः से ग्यारह वर्ष तक की आयु वाले बालकों के लिए सार्वजनिक अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को शिक्षा प्रसार की योजना में सर्वोच्च स्थान दिया गया। यह एक महत्कार्य था। अब से पहिले ५८ लाख पढ़ने लायक बालकों में से केवल १५ लाख ही शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, ४३ लाख बालकों के लिए और प्रबन्ध करना था। एक पंचवर्षीय योजना बनाई गई और इसे कार्यान्वित करने के लिए एक विशेष अनुभवी अधिकारी को नियुक्त किया गया।

विचार यह था कि पाँच वर्ष में २२,००० प्राथमिक पाठशालाएँ, दूसरे शब्दों में, ५ वर्ष तक प्रति वर्ष ४४,००० स्कूल खोले जायँ। १९४८ ई० के अन्त तक लगभग ७,००० नये सरकारी प्राथमिक स्कूल खोले गये जिनमे लगभग ढाई लाख बच्चे शिक्षण ग्रहण कर रहे थे। १९४९ ई० मे ४,२१८ और नये शिक्षालय बढाये गये जिससे इस राज्य में प्राथमिक पाठशालाओं की कुल सख्या ११,१४० हो गई और इनमें ७,६५,६४० विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। इस पर उत्तर प्रदेश की सरकार ने ६१,२०,५६०) रुपये व्यय स्वीकार किया।

इस विषय में सबसे बडी कठिनाई थी नये स्कूलों के लिए प्रशिक्षित अध्यापकों का प्रबन्ध। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'सचल शिक्षक-दल' बनाये गये। इन्होंने अनेक प्राइमरी स्कूलों म जाकर अध्यापकों को गहन व्यावहारिक प्रशिक्षण देना शुरू किया। १९४८-४९ में इस प्रकार के २६ दल थे। १९४९ की जुलाई में उनकी सख्या ४९ कर दी गई। सब मिलाकर १९४९ ५० के बीच २,३४० अध्यापक प्रशिक्षित किये गये और लगभग १५,००० ट्रेनिंग पा रहे थे। इस प्रकार के प्रशिक्षित अध्यापकों को हिन्दुस्तानी टीचर्स सर्टिफिकेट दिये गये। सचल दलों ने ग्राम्य जनता म एक नई स्फूर्ति और चेतन पैदा की।

इसके अतिरिक्त ८६ नगरपालिकाओं में भी अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा शुरू की गई। उनमें लगभग १,६०८ प्राथमिक पाठशालाएँ हैं जिनमें तीन लाख से अधिक बालक शिक्षा पा रहे हैं और इनम ७,७०३ शिक्षक काम कर रहे हैं। इन स्कूलों के प्रबन्ध के लिए सरकार ने ८५,००,०००) का अनुदान दिया।

(२) *प्रौढ शिक्षा*— प्रौढों की निरक्षरता दूर करने के लिए सरकार की ओर से प्रौढ पाठशालाओ और पुस्तकालयों का जाल-सा बिछा दिया गया। १९४९-५० के अन्त तक इस प्रकार की ४,२४७ पाठशालाएँ थीं। इस उद्देश्य के लिए 'प्रोजेक्टर', 'जैनेरेटर' (जनित्र) और लाउडस्पीकर (ध्वनि प्रसारक) लगी हुई मोटर गाड़ियों का भी उपयोग किया गया। यह अनुमान लगाया गया है कि पिछले तीन वर्षों में २० लाख अनपढ व्यक्तियों को साक्षर बना दिया गया है।

(३) *सामाजिक सेवा प्रशिक्षण*— जनवरी १९४८ ई० में प्रान्तीय सरकार ने फैजाबाद में ग्रेजुएट विद्यार्थियों के प्रशिक्षण के लिए एक सामाजिक-सेवा प्रशिक्षण शिविर खोला जिसमे क्रियात्मक और बौद्धिक दोनों प्रकार की शिक्षा देकर युवकों को समाज सेवा के योग्य बनाया जाता था। अब इस शिविर को तोड़कर दस जिलो के ५० स्कूलों में प्रधानतया ११वीं कक्षा के विद्यार्थियों के लिए सामाजिक सेवा-प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया गया है। प्रत्येक जिले में सरकार की ओर से एक 'डिस्ट्रिक्ट सोशल सर्विस ऑर्गेनाइजर' रखा गया है जिसका कर्त्तव्य विद्यार्थियों को सामाजिक सेवा

और ग्रामोत्थान के लिए प्रोत्साहित करना होगा। इस योजना में व्यावहारिक कार्य की ओर अधिक जोर दिया जायेगा।

(४) हायर सेकण्डरी शिक्षा— हाई स्कूल शिक्षा का पुनस्सगठन हो रहा है। आगरा-विश्वविद्यालय से सम्बन्धित डिग्री कक्षाओं से इण्टरमीडिएट कक्षाओं को हटाकर उन्हें हाई स्कूल मे जोड देने का निश्चय हुआ है। यह नया सगठन हायर सेकण्डरी स्कूल कहलाता है और इसम इण्टरमीडिएट स्तर तक शिक्षा दी जाती है। पाठ्य क्रम मे भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। चार प्रकार के स्कूलों— साहित्यिक, आर्ट, रचनात्मक तथा वैज्ञानिक— का निर्माण किया गया है जिनमे क्रम से लडकों की मानसिक, कलात्मक, व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक उन्नति पर जोर दिया जाता है। इस प्रकार के ७० स्कूलों के प्रारम्भ का निश्चय हुआ था। हाई स्कूल तथा इण्टरमीडिएट क सभी बच्चों के लिए हिन्दी अनिवार्य कर दी गई है लेकिन परीक्षा मे उन्हे हिन्दी, उर्दू या अग्रेजी मे उत्तर देने की स्वतन्त्रता दी गई है। अनेक जगहों पर हिन्दी के माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाती है। अपना स्तर ऊँचा करने के लिए विश्वविद्यालयों तथा कॉलजों को वार्षिक तथा दूसरी प्रकार की सहायता के रूप में रकम दी गई है। शिक्षकों की ट्रेनिंग तथा एडल्ट शिक्षा के प्रसार के लिए भी कदम उठाये गये हैं।

यूनिवर्सिटी कमीशन— भारत-सरकार ने सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता मे एक यूनिवर्सिटी-कमीशन नियुक्त किया था जिसमे अमेरिका और इगलैण्ड के भी प्रसिद्ध शिक्षा विशेषज्ञ सम्मिलित थे। इस कमीशन ने देश भर के विश्वविद्यालयों और प्रमुख कॉलजों के निरीक्षण के पश्चात् एक रिपोर्ट सरकार के समक्ष प्रस्तुत की थी जिसकी कुछ सिफारिशें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस रिपोर्ट के अनुसार डिग्री कोर्स और हायर सेकेण्डरी कोर्स तीन तीन वर्ष के होने चाहियें और इण्टरमीडिएट कक्षा हटाई जानी चाहिये। इसने पाठ्य-क्रम में और शिक्षकों के वेतन इत्यादि बढ़ाने के विषय में सारगर्भित सुझाव दिये हैं। सरकार ने इस सम्बन्ध में अभी अपने विचार प्रकट नहीं किये हैं।

द्वितीय भाग

प्रशासन

अध्याय ८

शासन पद्धति का विकास

प्रवेशक—भारत के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक जीवन और यहा की शिक्षा प्रणाली का साधारण अध्ययन करने के पश्चात् अब हमे यह देखना है कि इस विशाल देश के शासन और प्रशासन किस प्रकार चलाए जाते हैं। आज हम स्वतत्र देश के नागरिक हैं और हमारा अपना ही बनाया हुआ एक सविधान है जिस के अनुरूप राज्य की सभी कार्यवाही हो रही है।

जो सविधान भारतीय सविधान सभा ने इस देश के लिए बनाया है वह सर्वथा नवीन नहीं है। बहुत कुछ अ श मे यह प्राचीन शासन प्रणाली का ही रूपान्तर है। यद्यपि राष्ट्र की नवीन जागृति और प्रगति के अनुकूल नए सविधान मे पर्याप्त परिवर्तन और परिमार्जन किये गए हैं फिर भी इस में १६३५ ई० के गवर्मेन्ट ऑफ इ डिया ऐक्ट के बहुत बड़े भाग का समावेश है। इसी प्रकार शासन प्रणाली में भी आवश्यक सशोधनों के साथ हम ने पुरानी पद्धति को ही अपनाया है। अतएव नवीन प्रणाली को अच्छी तरह समझने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि १६३५ ई० के गवर्मेन्ट आफ इ डिया ऐक्ट और इस के पूर्व गामी उन सभी अधिनियमों (Acts) का सक्षिप्त परिचय प्राप्त किया जाय जो समय समय पर बृटिश ससद् (Parliament) द्वारा स्वीकृत किये गए और जिन्हों ने इस देश की शासन प्रणाली को सुनिश्चित किया है।

१७६५ ई० में ईस्ट इ डिया कम्पनी ने देश के एक बहुत बड़े भूभाग (जिस मे लगभग विभाजन के पूर्व का ब गाल, और उड़ीसा सम्मलित हैं) के ऊपर शासन सत्ता सभाली। तभी से आज तक के विकास क्रम मे एक शृ खला सी प्रतीत होती है। इस स्थान पर विस्तार पूर्वक यह वर्णन करना आवश्यक नहीं कि किस प्रकार १६०० ई० मे पूर्व के प्रदशो से व्यापार करने के लिए इ गलैन्ड मे ईस्ट इ डिया कम्पनी की स्थापना हुई, किस प्रकार इस व्यापारी सघ ने अपने प्रतिद्वन्दी फ्रास के सौदागरों को परास्त करके पहिले मद्रास प्रान्त पर अधिकार किया और फिर किस प्रकार १७५७ ई० के प्लासी युद्ध और १७६५ ई० की प्रयाग-सन्धि के पश्चात् क्लाइव ने कम्पनी के लिए ब गाल, बिहार और उड़ीसा मे दीवानी के अधिकार प्राप्त किये। तब से कम्पनी का राजनीतिक प्रभाव और प्रभुत्व क्रमश बढते रहे, यहा तक कि एक दिन वह देश की सर्वोच्च सत्ता

बन बैठी। १८५७ ई० के सिपाही विद्रोह में एक बार विदेशी सत्ता को हटा कर देशी राज को पुन जीवित करने का असफल प्रयास किया गया जिस के उपरान्त बृटिश सम्राट् ने स्वय देश के प्रशासन की बागडोर सभाली। तत्पश्चात् बृटिश सम्राट् ही यहां के सर्वश्रेष्ठ और अधिपति माने जाने लगे। आगामी पृष्ठों में हम भारत के वैधानिक विकास पर साधारण दृष्टिपात करेंगे।

वैधानिक विकास-शृङ्खला की कड़ियां

१७७३ ई० का ऐक्ट—वह प्रथम अधिनियम जिसने सन् १७७३ ई० मे भारत की वर्तमान शासन पद्धति का शिलान्यास किया रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के नाम मे प्रसिद्ध है। वैधानिक दृष्टि से इस ऐक्ट का विशेष महत्व है। इस के द्वारा ही बृटिश ससद ने कम्पनी का राजनीतिक कृत्य(Function) स्वीकार किया। साथ ही इस के द्वारा पार्लमेन्ट ने भारत में कम्पनी के अधिकृत प्रदेश पर प्रशासनीय व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करने का अधिकार स्वय ले लिया। तीसर, यह ऐक्ट भारत के एकीकरण की ओर पहला ही कदम था। इस से पूर्व कम्पनी का अधिकार क्षेत्र तीन पृथक् खण्डो (Presidencies) बगाल, मद्रास और बम्बई में ब टा हुआ था जिन का शासन प्रबन्ध अलग अलग किया जाता था। इन प्रान्तों के राज्यपाल (Governor) इगलैन्ड स्थित सचालक मण्डल (Court of Dircetors) से सीधा सम्बन्ध और लिखत-पढत रखते थ। रेग्यूलेटिंग ऐक्ट ने पहिली बार ब गाल के गवर्नर को गवर्नर जनरल का पद दिया। अब से ब गाल के दीवानी और सैनिक उत्तर दायित्व के साथ साथ गवर्नर जनरल और उनकी कार्य कारिणी को बम्बई और मद्रास की सरकारों के ऊपर युद्ध घोषणा और शान्ति स्थापन के विषय में नियन्त्रण के अधिकार भी सौंप दिए गए। इस ऐक्ट के अनुसार बम्बई और मद्रास की सरकारो का यह कर्तव्य हो गया कि वे गवर्नर जनरल के आदेशो का पालन करें और शासन प्रबन्ध तथा राजस्व (Revenue) के सम्बन्ध में समय समय पर उन्हे आवश्यक सूचना देती रहें। स-कौंसिल गवर्नर जनरल की आज्ञा न मानने के अपराध में गवर्नर और उस की कार्य कारिणी के सदस्यो को कुछ समय के लिए पद से हटाया जा सकता था।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के द्वारा वारेन हेस्टिंग्स को प्रथम गवर्नर जनरल बना कर उसकी सहायता के लिए चार अन्य कार्य कारिणी के सदस्यों की नियुक्ति की गई। ये सब लोग पाँच वर्ष तक के लिए इस पद पर रखे जाते थे और इस अवधि में सचालक मण्डल की सिफारिश पर केवल बृटिश सम्राट द्वारा इन्हें पदच्युत किया जा सकता था। गवर्नर जनरल और उनकी कार्य कारिणी को यह अधिकार भी मिल गया कि कम्पनी के अधिकार क्षेत्र की शान्ति और सुव्यवस्था के लिए नियम, उपनियम और अध्यादेश (Ordinances) बनायें। परन्तु इस अधिकार के साथ यह प्रतिबन्ध था कि इस प्रकार

बनाए गए नियम अथवा अध्यादेश इंगलैन्ड की प्रचलित विधियों (Laws) के प्रतिकूल न हों। ऐसे नियम उपनियम तभी मान्य समझे जाते थे जब कि फोर्ट विलियम में स्थित सर्वोच्च न्यायालय (Supereme Court of Judicature) द्वारा उन्हें स्वीकृति मिल जाय।

इस अधिनियम की अन्य बारीकियों मे जाने की आवश्यकता नहीं चूंकि उन का वैधानिक दृष्टि से विशेष महत्व नहीं हैं। तथापि इस के एक बहुत बड़े दोष का उल्लेख वाँछनीय हैं। इसने गवर्नर जनरल का अपनी कार्य कारिणी के सम्मुख ही शक्तिहीन बना दिया चूंकि सभी निर्णय कार्य कारिणी के बहुमत पर निर्भर हो गए और गवर्नर जनरल को उन्हें अस्वीकार करने का अधिकार न था। इस के अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय को सकौंसिल गवर्नर जनरल के निर्णयों को अस्वीकार करने का अधिकार मिल गया जब कि उस के ऊपर देश की शान्ति और सुव्यवस्था का लेश मात्र भी उत्तर दायित्व नहीं था।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के उपरान्त आने वाले १७८१ ई० के ऐक्ट में उपरोक्त दोषों के निवारण का प्रयत्न किया गया। अन्य बातों के साथ साथ इस नवीन अधिनियम के द्वारा इस प्रतिबन्ध से मुक्ति मिल गई कि नियम उपनियम और अध्यादेशों की मान्यता की अन्तिम स्वीकृति सर्वोच्च न्यायालय से ली जाय। इस प्रकार गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी और न्यायालय के बीच से संघर्ष का कारण दूर होगया। इस के अतिरिक्त नए ऐक्ट का अधिक वैधानिक महत्व नहीं हैं।

१७८४ ई० का पिटस इंडिया ऐक्ट—इस शृंखला की दूसरी कड़ी पिट्स इंडिया ऐक्ट है जो बृटिश संसद ने १७८१ ई० में स्वीकार किया। भारत की ओर यह बृटिश सरकार की नवीन नीति का सूचक है। इस ऐक्ट के अनुसार कम्पनी को बृटिश सरकार की राजनीतिक आधीनता में आना पड़ा। इसके पूर्व संचालक मण्डल ही कम्पनी के मामलों में सर्वोच्च सत्ता समझा जाता था परन्तु नए अधिनियम के अनुसार संचालक मण्डल के ऊपर देख भाल करने के लिए छः सदस्यों का एक नियन्त्रण संघ (Board of control) बना दिया गया। इस नियन्त्रण संघ को कम्पनी के अधिकार क्षेत्र में सार्वजनिक सैनिक और आर्थिक प्रबन्ध के निरीक्षण का पूर्ण अधिकार मिल गया। इस प्रकार यह संघ बृटिश सरकार का प्रतिनिधि स्वरूप था और उसकी ओर से कम्पनी के शासन का निर्देशन और निरीक्षण करता था। यद्यपि संचालक मण्डल के शासन सम्बन्धी प्रायः सभी अधिकार बने रहे किन्तु अब यह नियन्त्रण संघके आधीन था और इसकी आज्ञा व आदेशों का पालन उसके लिये अनिवार्य था। या कहा जाता है कि पिट्स इंडिया ऐक्ट ने इंगलैंड मे भारतीय प्रशासन के ऊपर नियन्त्रण के लिए एक के स्थान पर दो संस्थाओं को थोप दिया।

इसके अतिरिक्त संविधान सम्बन्धी छोटे मोटे अन्य परिवर्तन भी नए ऐक्ट के द्वारा किये गए। गवर्नर जनरल की कार्य कारिणी के सदस्यों की संख्या चार से घटा कर तीन कर दी गई और गवर्नर जनरल को एक निर्णायकमत (casting vote) का अधिकार मिल गया। इसी प्रकार मद्रास और बम्बई की कार्यकारिणियों में भी कुछ परिवर्तन किये गये। गवर्नर-जनरल और उस की कार्य कारिणी को प्रान्तीय सरकारों के ऊपर कुछ अधिक अधिकार दे कर भारत के एकीकरण की ओर इस के द्वारा एक कदम और बढ़ाया गया। यह सब कुछ होते हुए भी पिट्स इंडिया ऐक्ट ने रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के मुख्य दोष को दूर नहीं किया। इस दोष से १७८६ ई० में मुक्ति मिली जबकि गवर्नर जनरल को विशेष परिस्थितियों में अपनी कार्य-कारिणी के निर्णय को अस्वीकार करने का अधिकार प्राप्त हो गया।

१८१३ ई० का ऐक्ट—इस अधिनियम के द्वारा कम्पनी के चार्टर की बीस वर्ष के लिए अवधि बढ़ा दी गई। यद्यपि वैधानिक प्रकार से इससे कोई विशेष अन्तर नहीं आया परन्तु इस से भारतीय शासन में ब्रिटिश संसद का और भी अधिक हस्तक्षेप बढ़ गया। अब से कम्पनी का चाय के व्यापार पर अधिकार भी ढीला पड़ गया। इस ऐक्ट ने ब्रिटिश संसद की प्रभुता (Sovereignty) पर बल दे कर इस बात को अधिक स्पष्ट कर दिया कि सम्राट की सरकार को कम्पनी के अधिकारों में परिवर्तन और भारत सम्बन्धी प्रशासनीय संशोधनों का पूर्णाधिकार हैं। इस ऐक्ट के एक खंड (clause) के अनुसार कम्पनी को भारत में शिक्षा के प्रचार के लिये प्रत्येक वर्ष एक लाख रुपये खर्च करने का आदेश दिया गया।

१८३३ ई० का ऐक्ट—१८१३ ई० के ऐक्ट से अधिक महत्त्व पूर्ण १८३३ ई० का एक्ट है जिसने फिर से कम्पनी के चार्टर को बीस वर्ष के लिये बढ़ा दिया। इसने कम्पनी के व्यापार सम्बन्धी कृत्य को पूर्णतया समाप्त कर दिया। वह कम्पनी जो १६०० ई० से एक व्यापार मण्डल की भाँति कार्य कर रही थी। अब से केवल प्रशासन यन्त्र बन कर रह गई। दूसरी बात यह कि इस ऐक्ट के द्वारा प्रान्तीय सरकार का कानून बनाने का अधिकार छीन कर सकौंसिल गवर्नर जनरल को सौंप दिया गया। इससे पर्याप्त लाभ हुआ चूंकि इसके बाद देश की सरकार का पहिले से अधिक केन्द्रीयकरण हो गया। तीसरी बात यह कि अब से गवर्नर जनरल की कार्य कारिणी के सदस्यों की संख्या तीन से चार कर दी गई और नया सदस्य लॉ मेम्बर * कहलाया। इस अधिनियम के दूसरे उपबन्ध (Provisions) वैधानिक दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं रखते। फिर भी एक खण्ड इस ऐक्ट में विशेष ध्यान देने के योग्य है। अब से योग्यता ही किसी पद को प्राप्त करने का माप दण्ड माना गया। धर्म,

* लार्ड मैकाले पहले कानूनी सदस्य थे।

जन्म स्थान अथवा रंग के आधार पर किसी भी भारतवासी को सरकारी पद के अयोग्य न समझा जायगा। परन्तु यह तो सभी भली भांति जानते हैं कि इस दिखावटी नियम का कहां तक पालन किया गया।

१८५३ ई० का ऐक्ट—१८५३ ई० के अधिनियम पर भी थोड़ा विचार करना असंगत न होगा। इस ऐक्ट ने दोबारा कम्पनी के अधिकार और शक्ति में वृद्धि की। कम्पनी को भारत में अपना अधिकार बनाये रखने की आज्ञा मिल गई परन्तु यह अधिकार महारानी विक्टोरिया और उनके उत्तराधिकारियों के न्यास (Trust) के समान था। इससे भी अधिक महत्व पूर्ण यह बात थी कि इस ऐक्ट के द्वारा पहली बार भारतवर्ष में एक व्यवस्थापक सभा ((Legislative-Council) बनाई गई। इस सभा के सदस्य इस प्रकार थे —गवर्नर जनरल और उसकी कार्य कारिणी के सब सदस्य, प्रधान सेनापति और छः अन्य सदस्य जिनमें दो ब्रिटिश न्यायाधीश और शेष चार मद्रास, बम्बई, बंगाल और आगरा की सरकारों द्वारा नियुक्त किये गए सदस्य। इस प्रकार १८५३ ई० के ऐक्ट से शासन के एक नये अंग अर्थात् व्यवस्थापक सभा का जन्म हुआ।

१८५८ ई० का ऐक्ट—प्रभाव की दृष्टि से १८५८ ई० का ऐक्ट अपेक्षाकृत अधिक क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। इसके द्वारा कम्पनी का राजनीतिक कृत्य बिल्कुल समाप्त कर दिया गया और शासन की बागडोर पूर्णतया ब्रिटिश सम्राट को सौंप दी गई। इससे इंगलैण्ड में भारत मंत्री और उनके परिषद (Council) का जन्म हुआ। अब से भारत मंत्री और उनके परिषद को संचालक मंडल और नियंत्रण संघ के सम्पूर्ण अधिकार और कर्त्तव्य दे दिये गए। भारत मंत्री के परिषद का कर्त्तव्य समय समय पर भारत मंत्री को परामर्श देना था। स्वयं भारत मंत्री ब्रिटिश संसद के समक्ष भारत के सुप्रबन्ध के लिए उत्तरदायी थे। प्रत्येक वर्ष पार्लियामेण्ट के सामने उन्हें इस देश की सरकार की वार्षिक आय व्यय का लेखा और गत वर्ष की भौतिक तथा सद् सदाचार सम्बन्धी प्रगति का प्रतिवेदन रखना पड़ता था। भारत मंत्री और उनके परिषद के सदस्यों का वेतन भारतीय कोष से दिया जाता था।

१८५८ ई० का ऐक्ट एक युग के अन्त और दूसरे के आरम्भ का द्योतक है। अब से कम्पनी के शासन का अन्त हुआ और सम्राट द्वारा शासन की नींव पड़ी। बीते युग में भारतीय जनता को यहां के प्रशासन में किसी प्रकार का उत्तरदायित्व देने की कल्पना भी नहीं की गई। परन्तु नये युग में एक नई लहर आई। शनैः शनैः जनता में राजनीतिक चेतना फैलने लगी। जिसके फलस्वरूप धीरे धीरे नई नई मांगें हम लोग ब्रिटिश-सरकार के सामने रखने लगे।

१८६१ ई० का इण्डियन कौन्सिल ऐक्ट—कुछ लोगों का विचार है कि शासक और शासित जनता में गहन सम्बन्ध का अभाव और व्यवस्थापक मण्डलों में भारतीय

प्रतिनिधियों का न होना ही सिपाही विद्रोह के प्रधान कारणों मे से थे। १८५८ के ऐक्ट के पारण के समय भी ब्रिटिश ससद् में यह प्रश्न उठा था कि भारतीय प्रशासन में यहा की जनता का सहयोग प्राप्त किया जाय, परन्तु उस समय यह प्रश्न हो निराधार और व्यर्थ समझा गया। जो बात १८५८ ई० में असगत और अव्यावहारिक प्रतीत होती थी वही १८६१ ई० मे आवश्यक और अनिवार्य ठहराई गई। १८६१ ई० के ऐक्ट के अनुरूप कानून बनाने मे पहली बार भारतवासियों का सहयोग लेकर प्रतिनिधि सस्थाओं का बीजा रोपण किया गया। परन्तु यह ध्यान रहे कि उस समय व्यवस्थापक मण्डलो मे ये भारतीय सदस्य जनता के वास्तविक प्रतिनिधि न होते थे, क्योंकि इनका नाम निर्देशन (Nomination) गवर्नर जनरल के हाथ मे था। इस प्रकार के सदस्यों की सख्या कम से कम छ और अधिक से अधिक बारह थी और इनकी नियुक्ति केवल दो वर्ष के लिये की जाती थी। उन परिस्थितियों मे यह छोटा सा अधिकार ही काफी समझा गया चूकि इस के द्वारा सरकार जनता के सम्पर्क में आई। यहा यह भी स्मरण रखने योग्य है कि व्यवस्थापक सभाओ का कार्य केवल कानून बनाना था और उन्हे प्रश्न पूछने अथवा सरकार की नीति निर्धारित करने से कोई सरोकार नहीं था।

इस ऐक्ट के द्वारा दूसरा मुख्य परिवर्तन यह किया गया कि प्रान्तीय सरकारों के कानून सम्बन्धी वे अधिकार जो १८३३ ई० मे उनसे छिन गए थ फिर से उन्हें ही दे दिये गए। दूसरे शब्दो में कानून बनाने का अधिकार केन्द्र मे ही सीमित न रह कर अब से प्रान्तीय सरकारों को भी सौंप दिया गया। बम्बई और बगाल प्रान्तो में तुरन्त धारा सभाए बनाई गई और गवर्नर जनरल को यह अधिकार मिल गया कि आवश्यकता समझने पर वह पजाब और सीमा प्रान्त के लिये भी इसी प्रकार की सस्थाओं की घोषणा कर सकते है। इस प्रकार जो व्यवस्थापक सभाए कानून बनाने के लिए स्थापित की गई उनके अधिकारों पर कुछ विशेष प्रतिबन्ध भी लगाये गए। सभी कानूनों पर गवर्नर जनरल की अन्तिम स्वीकृति आवश्यक थी और कुछ विशेष कानूनों को सभाओ मे रखने से पूर्व ही उनकी अनुमति लेना अनिवार्य था। गवर्नर जनरल की कार्य-कारिणी मे अब से एक साधारण सदस्य और बढ गया। यह न भूलना चाहिए कि केन्द्र और प्रान्तो मे जो व्यवस्थापक मण्डल बनाये गए वे क्रमशः गवर्नर जनरल और गवर्नरों की कार्य कारिणियों के ही रूपान्तर मात्र थे। जिनमें कुछ थोड़े से भारतीय मनोनीत सदस्य सम्मिलित कर लिये जाते थे।

इस अधिनियम के अन्य उपबन्ध विशेष महत्व नही रखते। इसलिए उनमें हमारी अभिरुचि नहीं है।

१८९२ ई० का इण्डियन कौंसिल ऐक्ट—यद्यपि आगामी बीस पच्चीस वर्षों में बहुत सी महत्व पूर्ण घटनाए घटित हुई। (जिनमे १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय

कांग्रेस का जन्म सबसे मुख्य घटना है) परन्तु इस बीच में व्यवस्थापक सभाओं की रचना या शक्ति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। १८६२ ई० के इण्डियन-कौंसिल ऐक्ट ने इस कमी की पूर्ति की। इसीलिए इसका भारत की वैधानिक प्रगति में मुख्य स्थान है।

१८६२ ई० और १८६१ ई० के बीच भी कई अधिनियम ब्रिटिश संसद् ने भारत के लिये बनाकर भेजे परन्तु वे इतने महत्व पूर्ण नहीं जिनका विवेचन आवश्यकीय हो। १८६८ ई० के ऐक्ट को ही व्यवस्थापक मण्डलों की रचना और अधिकारों में विशेष परिवर्तन करने का श्रेय है। इसीलिए इसे समझने में हमारी अभिरुचि है। इस ऐक्ट ने निम्नलिखित परिवर्तन किये।

केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं के सदस्यों की सख्या बढा दी गई। केन्द्रीय कौंसिल में कम से कम दस और अधिक से अधिक सोलह मनोनीत सदस्य होने आवश्यक किये गए। मनोनीत सदस्यों में से कम से कम दस सदस्यों का गैर सरकारी होना अनिवार्य था जब कि पुराने ऐक्ट में उनका अनुपात आधा-आधा था। प्रान्तीय धारा सभाओं में भी मनोनीत और गैर सरकारी सदस्यों की सख्या बढा दी गई। इस ऐक्ट के अन्तर्गत बनाये गये नियमों के अनुसार गवर्नर जनरल को यह अधिकार मिल गया कि वह पाँच सदस्य कलकत्ता चैम्बर आफ कामर्स की सिफारिश पर और पाँच अन्य सदस्यों को मद्रास, बम्बई, बगाल और सीमा प्रान्तों की व्यवस्थापक सभाओं के गैर सरकारी सदस्यों की सिफारिश पर नियुक्त करें। इस प्रकार प्रान्तीय निर्वाचित सदस्यों की सिफारिश पर केन्द्र के लिए मनोनीत सदस्यों के नाम निर्देशन का यह नया ढग अपनाया गया। इसी प्रकार प्रान्तीय धारा सभाओं के लिये सदस्यों की सिफारिश स्थानीय संस्थाओं—नगरपालिका (Municipalities) व्यापार सङ्घ इत्यादि—द्वारा की जाने लगी। इस नई व्यवस्था के पीछे यह विचार निहित था कि जनता से सम्पर्क रखने वाले सदस्यों का व्यवस्थापक मण्डलों में समावेश हो।

सदस्यों की सख्या में वृद्धि करने के साथ साथ इन व्यवस्थापक मण्डलों के अधिकार भी बढा दिये गए। अब वे वार्षिक आय व्ययक (Budget) पर वाद-विवाद कर सकते थे, परन्तु उन्हें इसे स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार न था। सदस्यों को प्रश्न पूछने की तो आज्ञा थी, परन्तु उन्हें अनुपूरक प्रश्न (Supplementary questions) पूछने का अधिकार न था। नवीन प्रस्ताव रखने अथवा बजट पर मत गणना कराने का कोई अधिकार सदस्यों को प्राप्त नहीं था।

इस समय चुनाव के कुछ ऐसे नियम बनाए गए जिनके कारण स्वतन्त्र विचार रखने वाले साधारण व्यक्तियों को व्यवस्थापक मण्डलों तक पहुँच नहीं पाती थी; और विशेष प्रकार के लोग ही नवीन अधिकारों का उपयोग कर सकते थे।

१६०६ ई० का इण्डियन कौंसिल ऐक्ट—जैसा कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तत्कालीन प्रस्तावों से विदित है, जाग्रत लोक मत १८६२ ई० के ऐक्ट के द्वारा किये गए सुधारों से असन्तुष्ट था। कांग्रेस ने व्यवस्थापक सभाओं में वृद्धि और जनता के अधिकाधिक प्रतिनिधित्व की अपनी पुरानी मांगों को जारी रखा। लार्ड कर्जन की साम्राज्यवादी नीति से राष्ट्रीय चेतना और भी अधिक बढ़ने लगी। साथ ही इस नीति की प्रतिक्रिया में बहुत से उग्रदल और क्रांतिकारी संस्थाओं का संगठन किया जाने लगा। इस प्रगति को देखकर भारत और इंगलैण्ड दोनों देशों मे ब्रिटिश सरकार को यह अनुभव होने लगा कि इस देश के नरम दल का सहयोग लेकर भारतीय जनता को शान्त करने के लिये कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिए। इस समय नरम दल के नेता श्री गोखले भी सरकार के ऊपर अपना पूर्ण प्रभाव डाल रहे थ कि वह कांग्रेस के साथ समझौता करे। लार्ड मार्ले जो उस समय भारत मन्त्री के पद पर विराजमान थे, परिस्थिति की गम्भीरता को समझ गये। लार्ड मिन्टो भारत में गवर्नर जनरल थे। नवीन परिस्थिति के विवेचन में वे भारत मन्त्री से सहमत थे। इसलिए मिन्टो-मार्ले योजना के अनुरूप देश के लिये कुछ नये सुधारों की ओर कदम उठाया गया। वैधानिक प्रगति में १६०६ ई० के ऐक्ट का वास्तव मे पर्याप्त महत्व है।

नये अधिनियम ने व्यवस्थापक मण्डलों को और भी अधिक विशाल बना दिया। केन्द्रीय सभा के सदस्यों की संख्या सोलह से बढ़ा कर साठ कर दी गई जिनमें गवर्नर जनरल और उसकी कार्य-कारिणी के सदस्यों की गिनती न होती थी। कार्य कारिणी के सदस्यों को मिलाकर केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल के कुल सदस्यो का योग अड़सठ हो गया। प्रान्तीय धारा सभाओं मे भी नए ऐक्ट के अनुकूल अभिवृद्धि की गई। भारतीय गैर सरकारी सदस्यों के नाम निर्देशन का पुराना ढंग बदल गया और पहली बार सीधे चुनाव का सिद्धान्त अपनाया गया। कुछ प्रान्तो में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत था परन्तु केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल में सरकारी सदस्यों का बहुमत ही रक्खा गया। इसके ६८ सदस्यो में से ३६ सरकारी पदाधिकारी, २५ निर्वाचित गैर सरकारी और ७ मनोनीत गैर सरकारी सदस्य होते थ।

१६०६ ई० ऐक्ट के द्वारा व्यवस्थापक मण्डलों का कार्य क्षेत्र और अधिकार भी बढ़ गये। सदस्य वार्षिक आय-व्ययक पर वाद विवाद कर सकते थे और नए प्रस्ताव रख सकते थे। बजट की कुछ मदों पर मत गणना भी कराई जा सकती थी। परन्तु यह कहना ही पड़ेगा कि जो कुछ अधिकार मिले वे बहुत कुछ सीमित थे। कुछ विषयों पर तो वाद विवाद भी नहीं हो सकता था। यह स्मरण रखने योग्य बात है कि इन सभाओं के प्रस्ताव केवल सिफारिशी समझे जाते थ और सरकार को मानने या न मानने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

यद्यपि ये सुधार महत्व पूर्ण थे और इनके द्वारा देश एक कदम और आगे बढ़ा परन्तु इन्होंने किसी नई नीति को जन्म नहीं दिया। विदेशी सरकार और जनता के सदस्यों में सम्पर्क तो अवश्य बढ़ गया किन्तु उत्तरदायित्व पूर्ण शासन की ओर एक कदम भी नहीं बढ़ाया गया। इस ऐक्ट का केवल यही उद्देश्य था कि व्यवस्थापक सभाओं में भारतवासियों को पहिले से अधिक जगह मिल सके और न्याय कारिणी के साथ धारा-सभाओं का अधिकाधिक सम्पर्क बढ़े।

लार्ड मार्ले ने एक और महत्वपूर्ण कार्य किया जो १६०६ ई० के ऐक्ट का एक अ श तो नहीं है फिर भी उसी के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। पहली बार भारत मंत्री ने इन्डिया कौंसिल में श्री के० जी० गुप्ता और श्री सैय्यदहुसैन बिलग्रामी—दो भारत वासियों को स्थान दिया। यह कार्य १६०७ ई० में किया गया। इसी के द्वारा १६०६ के ऐक्ट के स्वीकृत होने के कुछ दिन पश्चात् गवर्नर जनरल की कार्य कारिणी मे एक भारतीय सदस्य की नियुक्ति का-द्वार-खुला। श्री एस० पी० सिन्हा, जो बाद में लार्ड सिन्हा के नाम से प्रसिद्ध हुए, गवर्नर जनरल की कार्य कारिणी में पहले भारतीय सदस्य थ। इन सभी सुधारों का कांग्रेस के नरमदल ने सहर्ष स्वागत किया।

परन्तु साम्राज्यवाद कभी सीधे हाथों अपनी सत्ता का परित्याग नहीं किया करता। बृटिश सरकार ने मिन्टो मार्ले सुधारा द्वारा भारत वासियों को यदि एक हाथ से कुछ अधिकार दिये तो उन्हें दूसरे हाथ से समेट लिया। इस ऐक्ट के अन्तर्गत बनाये गए नियम और उपनियम सुधारों के आधारभूत सिद्धान्तों के सर्वथा विरोधी थे और वे इतने कठोर थे कि उनके कारण नए सुधार बिल्कुल बेकार हो गए। कांग्रेस ने इन नियमों का घोर खण्डन किया। इन नियमों का सब से बड़ा यह दोष था कि इनके द्वारा एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदायों के विरुद्ध प्रोत्साहन मिला। अल्पमत के प्रतिनिधित्व और और उनके विशेषाधिकारों की रक्षा की एक नई समस्या खड़ी कर दी गई जिस का अन्त तक कोई निराकरण न हो सका। अन्ततोगत्वा देश को १६४७ ई० में आकर भारत और पाकिस्तान के दो पृथक भूभागों में विभाजित होना पड़ा। इन नियमों के द्वारा मुसलमानों को अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा विशेषाधिकार मिल गए और उनके लिये पृथक निर्वाचन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया।

१६०६ ई० के मिन्टो मार्ले सुधारों के दोष इसके व्यावहारिक स्वरूप देखने पर भली भांति प्रकट हो गए। इसने भारत वासियों का देश के प्रशासन से सम्पर्क तो अवश्य बढ़ा दिया परन्तु उस के सञ्चालन का लेश मात्र भी उत्तरदायित्व नहीं दिया। इसके विरुद्ध श्री गोखले जैसे नरमदल के नेता को भी यह कहना पड़ा कि व्यवस्थापक मण्डलों के गैर सरकारी सदस्य सरकार की नीति में किसी प्रकार का भी परिवर्तन करने के असमर्थ

है। भारत के सभी राजनीतिज्ञ इस बात से असन्तुष्ट थे कि कोरे वादविवाद के अतिरिक्त कोई भी अधिकार व्यवस्थापक सभाओं को नहा दिया गया। अब यह स्पष्ट हो गया कि सम्पर्क बढाने की पुरानी नीति से अब काम न चलेगा और उसके स्थान पर कोई नई नीति बृटिश सरकार को भारत के लिये अपनानी पडगी।

१६१६ ई० का गवर्मेन्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट—१६१४ १६ के प्रथम महा युद्ध ने बृटिश सरकार को भारत के विषय में अपनी नई नीति निर्धारित करने का जल्दी ही अवसर दे दिया। १६१७ ई० में भारत मन्त्री, श्री माण्टेग्यू ने हाउस ऑफ कामन्स क समत्त एक ऐतिहासिक घोषणा की। इस घोषणा के बीच उन्हाने निम्नलिखित मुख्य बातें कहीं —

"सम्राट् की सरकार की यही नीति है और भारत सरकार भी इससे पूर्णरूप से सहमत है कि शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करके साम्राज्य के अन्तर्गत, भारतवर्ष में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के लिये स्वशासन सम्बन्धी संस्थाएँ क्रमश उन्नत बनाई जाय। इस नीति की प्रगति धीरे धीरे होगी और भारत की बृटिश सरकार ही यह निश्चित करेगी कि कब और कितना कदम आगे बढाना चाहिये।'

The policy of His Majesty s Government, with which the Government of India are in full accord, is that of increasing association of Indians in every branch of the administration and the gradual deve lopment of self-governing institutions with a view to the progressive realisation of responsible govern ment in India as an integral part of the British Empire The progress in this policy can only be achieved by successive stages The British government of India must be the judges of the time and measure of each advance

इस ऐतिहासिक घोषणा से यह भली भांति प्रकट हो जाता है कि भारत के विषय में समयानुकूल बृटिश सरकार ने अपनी नीति को बदल दिया। १६१६ ई० से भारत में स्वशासन को प्रोत्साहन देकर उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई। १६१६ ई० के ऐक्ट के निम्नलिखित मुख्य मुख्य पहलू हैं —

(१) अब से केन्द्रीय और प्रांतीय विषयों को पृथक पृथक कर दिया गया और प्रांतों को

अपने प्रशासनीय क्षेत्र में अधिक स्वाधीनता दे दी गई। दूसरे, नवीन ऐक्ट के द्वारा प्रातीय कार्य-कारिणी में द्वैध शासन प्रणाली (Dyarchy) के सिद्धान्त को अपना कर प्रातीय विषयों को—सरक्षित और हस्तान्तरित—दो भागों में बाँट दिया गया। तीसरे, केन्द्रीय सरकार में किसी प्रकार का उत्तरदायी शासन स्थापित नहीं किया गया; परन्तु इस बात की अवश्य चेष्टा की गई कि शासन-कार्यों में जनता का अधिक सहयोग प्राप्त किया जाय।

दूसरे परिच्छेद मे १६१६ ई० के ऐक्ट के सुधारों का विवेचन किया जायगा क्यूंकि इसके द्वारा देश में उत्तरदायी शासन की नींव डाली गई।

१६३५ई० का गवर्मेन्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट—१६१६ ई० में भारत के लिए उत्तरोत्तर उत्तरदायी शासन का जो वायदा किया गया उसकी अगली किस्त १६३५ ई० का गवर्मेन्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट था। इसके निर्माण में राष्ट्रीय कांग्रेस के दबाव ने भी कार्य किया। यह अपने ढंग का निराला ही अधिनियम था। इसमे भारत के लिये सघात्मक शासन की कल्पना की गई और देशी रियासतो को भी इस प्रकार बनाये गए सघ मे सम्मिलित होने का अवसर दे दिया गया। इसके द्वारा प्रातीय स्वाधीनता (Provincial autonomy) को स्वीकार किया गया। इसने केन्द्रीय शासन मे भारतीय जनता को कुछ सत्त प्रदान करना भी स्वीकार कर लिया।

अनेक कारणों से इस ऐक्ट के सघात्मक शासन से सम्बन्धित बहुत से उपबन्धो (Provisions) को कार्यान्वित नहीं किया जा सका! फिर भी इस ऐक्ट के अनुसार प्रातों मे कुछ समय तक सुचारु रूप से कार्य वाहन होता रहा जब तक कि बृटिश सरकार की युद्ध नीति के विरोध में १६३६ ई० मे कांग्रेस सरकार ने बहुत सी प्रान्तीय धारा सभाओं से त्याग पत्र न दे दिये।

१६४७ ई० का इंडिपैन्डैन्स ऐक्ट—वह अन्तिम अधिनियम जो भारत के विषय में बृटिश सघद द्वारा स्वीकार किया गया इ डिपैन्डैन्स ऑफ इण्डिया ऐक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार इस विशाल देश को भारत और पाकिस्तान नामक दो पृथक उपनिवेशों मे विभाजित कर दिया गया। तत्पश्चात् भारत मत्री का पद समाप्त कर दिया गया। अब से पहले बृटिश पार्लमेन्ट को अधिकार सम्पूर्ण भारतवर्ष के ऊपर प्राप्त थे वह नए ऐक्ट के पश्चात् भारत और पाकिस्तान की सविधान सभाओं को सौंप दिये गए। इन सविधान सभाओ को अपने अपने देश के लिये नया सविधान बनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई।

नवीन संविधान—लगभग तीन वर्ष के कठिन परिश्रम के पश्चात् भारतीय सविधान सभा ने अपने कर्त्तव्य को पूर्ण किया। इस सभा ने २४ जनवरी १६५० ई०

को डा० राजेन्द्रप्रसाद को भारत का प्रथम राष्ट्रपति चुन लिया और २६ जनवरी १६५० ई० को इसने भारतीय जनता की ओर से भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गण राज्य (Sovereign Democratic Republic) घोषित किया जिसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय पाने का समान अवसर प्रदान किया जायगा।

आगामी परिच्छेदों में हम १६१६ ई० और १६३५ ई० के गवर्मेन्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट का संक्षिप्त विवेचन देकर नए संविधान का विस्तृत वर्णन करेंगे।

अध्याय ६

मान्टेग्यूचेमस्फोर्ड सुधार और उनका कार्यान्वित रूप

एक्ट का महत्व—१६१६ ई० के गवर्मेन्ट आफ इ डिया ऐक्ट का कुछ अधिक विस्तार-पूर्वक विवेचन करने की इस लिये आवश्यकता है कि वास्तव में इस के द्वारा ही उत्तरदायी शासन का शिलान्यास हुआ है। श्री माटेग्यू की १६१७ ई० की ऐतिहासिक घोषणा ने इस नई नीति को भली भाति स्पष्ट कर दिया 'क अब से भारत में उत्तरोत्तर उत्तरदायी शासन उन्नत किया जायगा। यद्यपि १६३५ ई० और १६४७ के अधिनियमो के पश्चात् १६१६ ई० के ऐक्ट का केवल ऐतिहासिक महत्व ही रह जाता है फिर भी उसकी मोटी मोटी बातों को समझना आवश्यक है।

इस ऐक्ट मे खुले शब्दो मे यह उल्लेख मिलता है कि बृटिश साम्राज्य के अन्तर्गत बृटिश ससद् की प्रभुता के अाधीन, शनैः शनैः भारत को स्वशासन का भार सौंपा जायगा। इस प्रकार यहा पूर्ण स्वशासन स्थापित करना बृटिश सरकार का अन्तिम ध्येय था जिसके लिये १६१६ ई० का ऐक्ट केवल पहली सीढी थी। इस ऐक्ट के द्वारा पहिले पहिले प्रान्तों मे कुछ विषयों मे स्वाधीनता देकर स्वायत्त शासन का प्रयोग किया गया। इस प्रयोग की सफलता के लिये भी यह आवश्यक समझा गया कि प्रशासन, कानून और वित्त-सम्बन्धी विषयों मे प्रान्तो को पहिले से कहीं अधिक स्वतन्त्रता मिल जानी चाहिए और उनके ऊपर केन्द्र का हस्तक्षेप कम कर दिया जाय। अतएव अब मे खुले रूप में विकेन्द्रीकरण (Devolution) का सिद्धान्त स्वीकार किया गया।

विकेन्द्री करण की नीति का महत्व समझने के लिये यह स्मरण रहे कि सन् १७७३ ई० से लगातार बृटिश सरकार की यह धारणा बनी रही कि बृटिश राज्याधीन समस्त भारतीय क्षेत्रों के ऊपर एक शुद्ध और सबल केन्द्रीय सरकार हो। बहुत दिनों तक प्रान्तीय वित्त (Provincial Finences) पर केन्द्रीय सरकार का कड़ा नियत्रण रहा। उस समय बिना केन्द्र की अनुमति के प्रान्तो को किसी प्रकार का कर लगाने और खर्च करने के अधिकार नहीं थे। १८७० ई० के लग भग ही इस प्रकार के केन्द्री करण के दोषों का अनुभव होने लग गया जब कि पहिले पहिले वित्त सम्बन्धी विकेन्द्रीकरण की ओर कदम बढाया गया। धीरे धीरे प्रान्तो को अधिकाधिक स्वतन्त्रता दी जाने लगी १६१६ ई० के ऐक्ट ने विकेन्द्री करण के इसी क्रम मे एक महत्व पूर्ण अध्याय जोड़ दिया।

माट फोर्ड सुधारों ने प्रान्तों को राजनैतिक स्वशासन (Politicel autonomy) नहीं दिया (यह कार्य तो पहली बार १६१६ ई० के ऐक्ट के द्वारा हुआ) परन्तु शासन के सुभीते के लिये प्रशासन सम्बन्धी विषयों को दो प्रथक समूहों में विभक्त कर दिया। ऐसे विषय जिन का सम्बन्ध समस्त भारत वर्ष से था जैसे सेना, परराष्ट्र-नीति रेल, डाक खाना, तारघर, चलार्थ और टकण (currency and coinage) यष्ट्रमूरण देशी राज्य इत्यादि—केन्द्रीय विषय कहलाये। शेष विषयों में से कुछ ऐसे विषय जिन का केवल प्रान्तों से ही सम्बन्ध था—जैसे स्थानीय स्वराज्य, शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि उद्योग धन्धे, पुलिस, जेल आदि—प्रान्तीय विषय कहलाये। इसी प्रकार राजस्व की मदों को केन्द्र और प्रान्तों के बीच बाट दिया गया। जैसा कि ऊपर भी सकेत दिया जा चुका है इस का यह अभिप्राय नहीं है कि विकेन्द्री करण के साथ प्रान्तों को स्वायत्त शासन मिल गया। जब तक भारतीय शासन पहिले की तरह ही एकात्मक शासन विधान बना रहा तब तक यह बात सम्भव नहा थी। इस दृष्टि से १६१६ ई० के ऐक्ट ने भारतीय शासन के स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया। भारतीय शासन विधान पहले के समान ही एकात्मक बना रहा। उसमें किसी भी रूप में सघात्मक शासन की कल्पना नहीं की गई।

१६१६ के ऐक्ट के मुख्य उपबन्ध—यद्यपि इस ऐक्ट का मुख्य उद्देश्य प्रान्तों में आंशिक उत्तर दायित्व की स्थापना करना या तथापि इस के द्वारा केन्द्रीय शासन और होम गवर्मेन्ट में भी कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गए। पहिले इस ऐक्ट के अनुसार केन्द्रीय व्यवस्था पर प्रकाश डाला जायगा और तत्पश्चात् क्रमशः प्रान्तीय सरकार और होम गवर्मेन्ट के सम्बन्ध में इसके मुख्य उप बन्धो का विश्लेषण किया जायगा।

भारत सरकार—भारत सरकार के केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल और गवर्नर जनरल की कार्य कारिणी ये दो प्रधान अग है। १६१६ के ऐक्ट ने व्यवस्थापक सभा की रचना शक्ति और कृत्यों में तो कई महत्व पूर्ण परिवर्तन किए परन्तु इसके साथ कार्य कारिणी के सम्बन्ध को पहले जैसा ही रहने दिया है दूसरे शब्दों में भारत सरकार पहले की भाति भारत मन्त्री के आधीन रही और किसी प्रकार भी व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदायी न बनाई गई। कार्य कारिणी की रचना और स्वरूप में कुछ सशोधन किये गए परन्तु वे विशेष महत्व नहीं रखते।

कार्य कारिणी—१६१६ ई० के ऐक्ट मे पश्चात् भी पहिले की तरह ही गवर्नर जनरल कार्य कारिणी के अध्यक्ष रहे और उनको वायसराय की उपाधि और विशेष अधिकार प्राप्त थे। आवश्यकता नुसार गवर्नरजनरल कार्य कारिणी के बहुमत के विरुद्ध भी कार्य कर सकते थे। कार्य कारिणी के किसी सदस्य को उनका विरोध करने का साहस न था

कार्य कारिणी से सम्बन्धित अधिकारों के अतिरिक्त गवर्नर जनरल के प्रशासन सम्बन्धी वित्त सम्बन्धी कानून सम्बन्धी आदि और भी बहुत से अधिकार थे। देश के प्रशासन के सर्वोच्च अधिकारी होने के साथ साथ उन्हें भारत सरकार का सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार का प्रबन्ध करना पड़ता था। उनके ऊपर देश की शान्ति और सुव्यवस्था का भार था। कार्य कारिणी के अन्य सदस्यों में वे कार्य बाँटते थे और उनके विभागों के लिए नियम बनाते थे। कुछ विशेष जैसे चीफ कमिश्नर की नियुक्त वे स्वय करते थे और गवर्नर तथा अन्य उच्च सरकारी पदों के लिए उनकी सिफारिश विशेष महत्व रखती थी। व्यवस्थापक सभाओं के अधिवेशनों का कराना, उनका भग करना और उनका कार्य काल बढाना या घटाना उनके हाथ मे था। बीच में ही किसी भी सभा की कार्य वाही रोक देने का उन्हें पूर्ण अधिकार था। विशेष प्रकार के प्रश्नों को भी वे रोक सकते थे। वित्त सम्बन्धी गवर्नर जनरल के निम्न लिखित विशेष अधिकार थे—खर्च करने या कर लगाने का कोई प्रस्ताव उनकी पूर्वानुमति के बिना नहीं रखा जा सकता था। यदि असेम्बली किसी मद में कमी करती अथवा उसे अस्वीकार करती तो गवर्नर जनरल को अधिकार था कि पहली माग को ही ज्यों का त्यों स्वीकार कर दें उन्हें प्रमाणन (Certification) और अध्यादेश जारी करने के भी अधिकार प्राप्त थे। इन अनेक सुदृढ अधिकारों के कारण गवर्नर जनरल इस देश के शासन के ऊपर सर्वे सर्वा के समान थे। किसी भी प्रजातन्त्रात्मक राज्य के अध्यक्ष को उनके जैसे अधिकार नहीं थे।

१६१६ के ऐक्ट ने कौंसिल की रचना में भी कुछ परिवर्तन किये। अब से इस के सदस्यों की सख्या आवश्यकतानुसार घटाई बढाई जा सकती थी। इस में भारतीय सदस्यों की सख्या भी निर्धारित नहा की गई थी। किन्तु १६२१ ई० से १६४१ ई० तक इसमें तीन भारतीय रहे जिनमें से एक सदस्य ला मेम्बर का पद ग्रहण करता था।

१६४७ ई० तक की स्थिति—१६३५ ई० के ऐक्ट के द्वारा गवर्नर जनरल की कौंसिल की रचना और शक्ति में मूल भूत सशोधन करने का विचार था परन्तु सघात्मक शासन का प्रस्थापन न होने के कारण गवर्नर जनरल और उसकी कार्य कारिणी ज्यों के त्यों बने रहे यद्यपि प्रान्तों के ऊपर से उनका नियन्त्रण कम कर दिया गया। १६३७ ई० में प्रातीय स्वायत्तशासन स्थापित होने के पश्चात् प्रान्तीय सूची के विषयों के ऊपर से गवर्नर जनरल और उनकी कौंसिल का अधिकार समाप्त हो गया।

१६४१ ई० में कौंसिल के सदस्यों की सख्या बढाई गई। युद्ध में भारतीय जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए बृटिश सरकार ने गवर्नर की कार्य-कारिणी में भारतीय सदस्यों का बहुमत कर दिया। इस से पूर्व कुल आठ सदस्यों में से केवल तीन भारतीय सदस्य होते थे। नई कार्य-कारिणी के सदस्यों की सख्या १२ कर दी गई

जिन में से ८ सदस्य भारतीय थे। नए सदस्यों को स्थान देने के लिए कुछ नए विभाग खोले गए और कुछ पुराने विभागों के कार्य को बाँट दिया गया। १९४५ ई० में कार्य-कारिणी को और भी बढाया गया और उसके सदस्यों की सख्या १६ कर दी गई। परन्तु अब भी मुख्य मुख्य विभाग जैसे विदेशी राज्यों से सम्बन्ध, देश की रक्षा, वित्त और यातायात अगरेजी सदस्यो के ही आधीन रखे गये।

यहा यह बता देना आवश्यक है कि गवर्नर जनरल की कार्य-कारिणी को मन्त्रि मण्डल (Cabinet) जैसा श्रेय प्राप्त नही था। यह आवश्यक नही था कि सभी विषयों पर इसके सदस्यों की सहमति हो। इसके सदस्य एक साथ नियुक्त नहा किये जाते थे न वे एक साथ पद त्याग करते थे। प्रत्येक सदस्य पाच वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता था और जैसे ही एक सदस्य अलग होता था उसकी जगह दूसरा नियुक्त कर दिया जाता था। गवर्नर जनरल की कार्य-कारिणी को मन्त्रि मण्डल के रूप मे बदलने का कार्य सबसे पहिले प० जवाहर लाल ने १९४६ ई० मे किया। पन्द्रह अगस्त १९४७ ई० के बाद से १९५० तक इसने वास्तविक मन्त्रि-मण्डल का कार्य किया जिससे गवर्नर जनरल स्वेच्छा को न बरत कर मन्त्रि-मण्डल की सलाह से कार्य करते रहे।

भारत मन्त्री का निरीक्षण—यहा गवर्नर जनरल और भारत मन्त्री के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक है। वैधानिक दृष्टि से गवर्नर जनरल भारत मन्त्रि के आधीन थे। और इस प्रकार इन की सभी आज्ञाए उन्हे माननी पड़ती थी। १८५८ ई० को महारानी विक्टोरिया की राजन्य उद्घोषणा (Royal Proclamation) में ही इस मन्तव्य को स्पष्ट कर दिया गया था। १९१९ ई० के एक्ट के अनुसार भी भारत मन्त्री को अधिकार था कि भारत के शासन और वित्त सम्बन्धी कार्यो पर वह नियन्त्रण और निरीक्षण रखे। इसका यह अभिप्राय है कि विरोध की अवस्था मे भारत मन्त्री की बात ही गवर्नर जनरल और उसकी कार्य-कारिणी के लिए मान्य थी। परन्तु व्यवहार मे इनका आपस का सम्बन्ध दोनो के व्यक्तित्व पर निर्भर था। यदि गवर्नर जनरल प्रभावशाली होता था तो भारत मन्त्री बृटिश ससद मे उनके दृष्टिकोण का ही समर्थन करते थे और यदि भारत मन्त्री एक जोरदार व्यक्ति होता तो भारत सरकार को उसकी इच्छानुकूल कार्य करना पड़ता था। व्यक्तित्व को दूर रख कर यदि देखा जाय तो भारत मन्त्री का स-कौंसिल गवर्नर जनरल के ऊपर वास्तविक नियन्त्रण था। दृश्य और अदृश्य (Dircet and Indirect) दोनो ही प्रकार से इस नियन्त्रण का उपयोग होता था। अदृश्य रूप में भारत मन्त्री बहुत से गुप्त सदेश गवर्नर जनरल को भेजता था जिन्हे कार्य-कारिणी के सदस्यों पर भी नही प्रकट किया जाता था। दृश्य रूप मे कानून-सम्बन्धी सभी प्रस्तावो पर भारत मन्त्री की पूर्वानुमति लेना आवश्यक था।

इस प्रकार के बाहरी नियन्त्रण से विधान मण्डल के सामने भारत सरकार की स्थिति अनोखी हो गई। प्राय इन दोनों के बीच गतिरोध रहने लगा चूकि गैर सरकारी निर्वाचित सदस्य जो कि बहुमत में थे, सरकार की बहुत सी बातो का विरोध करते थे। इसका यह परिणाम हुआ कि वित्तीय विधेयक (Finance Bill) जैसे महत्वपूर्ण विषयों मे भी प्राय मतभेद हो जाता था।

केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल—१६१६ ई० के ऐक्ट के द्वारा व्यवस्थापक मण्डल में कई परिवर्तन किये गए। हम केवल केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल के सशोधनों का उल्लेख करेंगे।

अब से पहले केन्द्र मे व्यवस्थापक मण्डल का केवल एक ही आगार (Chamber) था अब उसे राज्यपरिषद् (Council of state) और विधान सभा (Legislative Assembly) नामक दो आगारों मे बाट दिया गया। इस प्रकार व्यवस्थापक मण्डल को द्विआगारीय (Bicamerel) बनाना एक मूलभूत परिवर्तन था।

राज्य परिषद् जो कि धनाढ्य लोगों का प्रतिनिधित्व करता था, इस लिए स्थापित किया गया कि यह असेम्बली के लिए (जिसके सदस्य जनता द्वारा चुने जाते थे) एक प्रकार का अवरोध बन जाय।

दूसरी विशेष बात जो इस ऐक्ट के द्वारा की गई वह थी—धारा सभाओ के सदस्यों की सख्या में वृद्धि। असेम्बली के सदस्या की सख्या १४० थी परन्तु नियमो के द्वारा इसे बढाया जा सकता था। राज्य परिषद् मे ६० से अधिक सदस्य न हो सकते थे। दोनो सभाओं मे गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत था।

तीसरी बात यह थी कि गवर्नर जनरल अब से विधान मण्डल के सभापति न रहे वैसे वे इनके अब भी अभिन्न अ ग थे। सरकार के ऊपर जनमत का प्रभाव बढाने के लिए व्यवस्थापक मण्डल के तर्क और वित्त सम्बन्धी अधिकार भी बढा दिये गए। परन्तु अब भी केन्द्रीय सरकार को उत्तरदायी नहीं बनाया गया।

व्यवस्थापक मण्डल के दोनो आगारों की रचना का अधिक विस्तृत विवरण देने की हमें आवश्यक्ता नहा। इतना कहना पर्य्याप्त होगा कि इनके लिए प्रत्येक प्रान्त में जातियों के विचार से सीटो का बटवारा कर दिया गया।

इन सभाओं में सिख, मुसलमान और योरोपीय जातिया का पृथक प्रतिनिधित्व दिया जाता था। जमादार और भारतीय ईसाईयो के लिए विशेष निर्वाचन क्षेत्र बनाये जाते थे और एग्लोइ डियन, भारतीय ईसाई तथा दलित जातियों को नाम निदेशन द्वारा प्रतिनिधित्व दिया जाता था। दोनो सभाओ के सदस्यो के लिये विभिन्न साम्पत्तिक योग्यताए (Property qualifications) निश्चित थीं। किसी किसी प्रान्त

मे तो केन्द्रीय असेम्बली के सदस्यों की योग्यता का माप-दण्ड एक स्थान से दूसरे स्थान पर ही बदल जाता था। विधान सभा का कार्य काल तीन वर्ष था परन्तु गवर्नर जनरल इस अवधि को घटा बढा भी सकते थ। गवर्नर जनरल की स्वीकृति से असेम्बली किसी भी व्यक्ति को अपना सभापति चुन सकती थी। बहुत दिनो तक राज्य परिषद का अध्यक्ष गवनर जनरल द्वारा ही नियुक्त किया जाता रहा, परन्तु बाद म इसका चुनाव परिषद के सदस्य ही स्वय करने लगे। विधान सभा की अपेक्षा राज्य परिषद् कम प्रजातन्त्रात्मक था और इस म धनपतियो का अधिक प्रभाव था। अनुपात म असम्बली म निर्वाचित सदस्यो का अपेक्षाकृत अधिक बाहुल्य होने क कारण यह सभा जनता की अधिक प्रतिनिधि समझी जाती थी।

अब हम १६१६ ई० के ऐक्ट के अन्तर्गत व्यवस्थापक मण्डलो क अधिकारो पर संक्षिप्त विचार करगे।

व्यवस्थापक मण्डल के अधिकार—केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा क सीमित अधिकार थ। न यह १६१६ ई० क अधिनियम मे कोई परिवर्तन, संशोधन अथवा प्रत्यावर्तन, कर सकता था, न भारत मत्री क भारत के लिए ऋण लेने के अधिकारो के विषय मे कोई बिल पास कर सकती थी और न हाईकोर्ट के अतिरिक्त किसी दूसर न्यायालय को, सम्राट के अधीन रहते हुए किसी योरोपियन को प्राणदण्ड देने का अधिकार दे सकती थी। और भी बहुत से विषय थे जिन के ऊपर इसे कानून बनाने का अधिकार न था। वित्तीय विषयो को छोडकर सभी बातो म दोनो आगारो का समानाधिकार थ। कोई भी विधेयक जब तक कि एक ही रूप म दोनो आगारो द्वारा स्वीकार न कर लिया जाता गवनर जनरल क सामने न रखा जा सकता था। यद्यपि वार्षिक आय व्यय एक साथ दोनो सभाओ क सामने तक क लिये रखा जाता था परन्तु कवल असम्बली को ही उसकी मागो क ऊपर मतदान का अधिकार था। यह स्मरण रखने योग्य बात है कि लग भग ८०% बजट क ऊपर असम्बली की भी राय न ली जाती थी यहा तक कि मतदेय व्यय (Votable Expenditure) क ऊपर भी पूर्ण अधिकार न थ। गवनर जनरल को यह अधिकार प्राप्त था कि जो माग असम्बली ने कम कर दी हो या रद्द कर दी हो उस व यदि आवश्यक समझ, बहाल कर द। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि १६१६ क अधिनियम न कार्यकारिणी क ऊपर असम्बली का वास्तविक नियन्त्रण नहीं दिया। जो कुछ इस मिला वह कवल कार्यकारिणी को प्रभावित करने क कुछ अवसर थ। यद्यपि असम्बली क सदस्यो को प्रश्न पूछने, प्रस्ताव रखने, स्थगन प्रस्ताव (adjournment motion) प्रस्तुत करने आदि क अधिकार थ परन्तु इनके द्वारा व कार्यकारिणी को नियन्त्रित नहीं कर सकते थ। कार्यकारिणी तो अभी तक भी भारत मत्री के प्रति ही उत्तरदायी थी। स्थगन प्रस्ताव की सफलता पर कार्यकारिणी क सदस्य अपना पद छोडने को बाध्य न थ। असेम्बली क प्रस्ताव कवल

सिफारिशी समझे जाते थे और कार्यकारिणी को उन्हे मानने या न मानने का अधिकार था। दोनों आगारों के पारस्परिक मतभेद आदि अवरोध संयुक्त बैठक, संयुक्त कमेटी और संयुक्त अधिवेशनो द्वारा निबटाए जाते थे। यह भी स्मरणीय है कि गवर्नर-जनरल को व्यवस्थापक मण्डल की बिना सलाह के ही अध्यादेश जारी करने का अधिकार प्राप्त हुआ जो कि विधियों के समान ही मान्य थे। उन्हे ऐसे विधेयकों को भी प्रमाणित करने का अधिकार था जिसे एक आगार ने स्वीकार और दूसरे ने अस्वीकार किया हो।

प्रान्तीय सरकार

परिचयात्मक—चूंकि माण्टेग्यू की घोषणा के अनुसार पहिले पहिले प्रान्तो में उत्तरदायी शासन के प्रयोग का प्रारम्भ करना था इसलिये १९१९ ई० के एक्ट के द्वारा केन्द्र की अपेक्षा प्रान्तीय सरकारो की रचना में अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गए, परन्तु तुरन्त ही प्रान्तो को पूर्ण रूप से स्वशासन देने का विचार नहीं था बल्कि शनैः शनैः उसे स्थापित किया जाना था। दूसरे शब्दो से वहां की जनता को आंशिक स्वराज प्रदान करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति एक द्वैध शासन प्रणाली को स्थापित करके की गई। १९३५ ई० के ऐक्ट ने इस प्रणाली का अन्त करके प्रान्तो में पूर्ण स्वायत्त शासन की स्थापना कर दी यद्यपि इस के ऊपर भी गवर्नर के विशेषाधिकारो की छाया थी।

द्वैध शासन का अर्थ—द्वैध शासन प्रणाली का अर्थ शासन को दो पृथक् विभागो में बांट देना है—इस प्रणाली के अनुसार प्रान्तीय विषयाें को दो भागो में बांट दिया गया। स्थानीय शासन, शिक्षा, सफाई, सार्वजनिक स्वास्थ्य, औषधालय, शरणालय, सार्वजनिक मार्ग, धन्धों की उन्नति, कृषि, नशीली वस्तुओं पर कर इत्यादि विषय हस्तान्तरित विषयों में रख गए[1]। इनके ऊपर गवर्नर उत्तरदायी मन्त्रियों की नियुक्ति धारासभा के निर्वाचित सदस्यों में से ही कर दी जाती थी और वे अपने कार्य तथा नीति के लिये सभा के प्रति उत्तरदायी थे। भूराजस्व, अकाल रक्षा, सिंचाई, जलशक्ति, वन, न्याय प्रशासन पुलिस और कारागार, फैक्टरी और मजदूर सम्बन्धी समस्याएं इत्यादि सरक्षित विषय कहलाए। इन विषयो का प्रशासन गवर्नर कार्यकारिणी के सदस्यों की सहायता से करते थे जो कि केवल भारत मंत्री के प्रति उत्तरदायी थे और उन्हे धारा सभाओं के सामने जवाबदेह न होते थे। इस प्रकार के चार सदस्य ब्रिटिश सम्राट द्वारा (वास्तव में भारत मंत्री द्वारा) नियुक्त किये जाते थे जिनमे से आधे भारतवासी और कम से कम एक मंत्री ऐसा होता था जिसने सम्राट के आधीन भारत में कम से कम १२ वर्ष

[1] देखिये ज्वाइन्ट रिपोर्ट पृष्ठ १३३

की सेवा की हो। दूसरे शब्दों मे कार्यकारिणी का एक सदस्य पुराना आई० सी० ऐस० होना आवश्यम्भावी था।

इस प्रकार प्रान्तीय कार्यकारिणी के दो स्पष्ट विभाग हो गए—

एक मे गवनर और उसके मत्री और दूसरे मे गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी के अन्य सदस्य। मत्री लोग धारा सभा के समक्ष उत्तरदायी थे और उनके द्वारा हटाये जा सकते थे जब कि दूसरे सदस्य न धारा सभा के प्रति उत्तरदायी थे न उसकी वोट पर हटाये जा सकते थे। पहिले विभाग के व्यक्ति जनप्रिय और दूसरे के नौकर शाही के प्रतिनिधि थे। दोनों श्रेणी के सदस्यों से यह आशा की जाती थी कि एक दूसरे का परामर्श लेंगे परन्तु सरक्षित और हस्तान्तरित विषयो मे दोनो का पृथक् पृथक् अधिकार क्षेत्र था।

सभी प्रान्तो के मत्रियो की सख्या समान नहीं थी किसी प्रात मे दो और किसी में तीन मत्री थे। पश्चिमोत्तर सीमा प्रात मे तो १९३२ ई० मे केवल एक ही मत्री रखा गया था। मत्रियो का सामूहिक उत्तरदायित्व नहीं था। यह आवश्यक नहीं था कि वे एक साथ पदग्रहण या पदत्याग करें। कार्यकारिणी के अन्य सदस्यो की भी सभी प्रान्तों मे समान सख्या न थी। गवर्नर की अपनी कार्यकारिणी के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध था जैसा गवर्नर जनरल का अपनी केन्द्रीय कार्यकारिणी के साथ। प्रान्तीय क्षेत्र मे गवर्नर के वही अधिकार थे जो गवर्नर जनरल के भारत सरकार के सम्बन्ध में अपनी कार्यकारिणी मे उसी का पूर्ण प्रभुत्व था। चूकि १९३५ ई० से प्रान्तीय कार्यकारिणी मे मूलभूत परिवर्तन हो गया इसलिये द्वैध शासन प्रणाली का अधिक विस्तार पूर्वक विवेचन करने की हमे आवश्यकता नहीं।

प्रान्तीय धारा सभाएँ—१९१९ ई० के ऐक्ट ने प्रान्तीय धारा सभाओं की रचना और कृत्यों मे कई परिवर्तन किये। सदस्यों की सख्या पर्याप्त बढाई गई। मताधिकार का विस्तार करके उन्हे अधिक लोकतन्त्रात्मक बना दिया और इन्हे काफी अधिकार देकर सरकार का एक स्वतन्त्र अग बना दिया। गवर्नर के प्रत्येक प्रान्त मे एकागारी (Unicameral) धारा सभा बनाई गई जिसका नाम लेजिस्लेटिव कौंसिल अर्थात् विधान परिषद रखा गया। प्रत्येक प्रान्त मे सदस्यो की सख्या पृथक् पृथक् थी। प्रत्येक प्रान्त मे तीन प्रकार के सदस्य होते थे—निर्वाचित गैर सरकारी सदस्य जो कि कुल योग मे ७० से कम न होते थे। मनोनीत पदाधिकारी जिनकी सख्या २०% से अधिक न हो सकती थी और कुछ दलित जातियो मजदूर वर्ग इत्यादि से लिये गए मनोनीत साधारण सदस्य जिन्हे चुनाव मे सीधे भाग न मिल पाता था। जातीय प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को अपनाया ही नहीं गया बल्कि उसका विस्तार सिख, भारतीय, ईसाई, एग्लो इडियन और योरोपीय जातियों तक कर दिया। जमीदार व्यापारी और विश्वविद्यालयों को विशेष सीटें दी गईं। इस प्रकार उत्तरदायी शासन की बुनियाद

डालने के साथ साथ जातीय मनभेद के एक ऐसे जहरीले वृक्ष को भी विकसित किया गया जिसे सभी उत्तरदायी शासन के लिये हानिप्रद स्वीकार करते है।

यू० पी० की लेजिस्लेटिव कौंसिल मे १०० निर्वाचित सदस्य, १७ मनोनीत पदाधिकारी और ६ मनोनीत साधारण सदस्य थे।

इन धारा सभाओं के अधिकार बढ़ा दिये गये। प्रान्त की शान्ति और सुप्रबन्ध की शान्ति और सुप्रबन्ध के लिए वे कानून बना सकती थी। परन्तु उन अधिकारों की कुछ सीमा निश्चित थी। इन सभाओं को प्रश्न, स्थगन प्रस्ताव (Motion of adjournment) धन सम्बन्धी माँगो पर मत देने के अधिकार दिये गये, जिनके कारण प्रशासन पर धारासभा को कुछ नियन्त्रण मिला। प्रान्तीय बजट केन्द्रीय बजट से पृथक् कर दिया गया और धारासभा मे इसके ऊपर वाद विवाद हो सकता था। बजट की मदो को मतदेय मद और अमतदेय मद (Votable & non vtable items) मे श्रेणीबद्ध कर दिया गया। अमतदेय मद कुल का लगभग ७५ प्रतिशत होता था। यदि अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के लिये आवश्यक समझे तो गवर्नर को कौंसिल द्वारा घटाई गई मदो को भी बहाल करने का अधिकार था।

गवर्नर को ऐसे विधेयको को प्रमाणित करने का भी अधिकार था जो विधान मण्डल अस्वीकार कर दे। इस प्रकार प्रमाणित विधेयक सरक्षित विषयो के प्रशासन के लिए आवश्यक समझे जाते थे और उन्हें कौंसिल द्वारा पारित कराये गये विधेयकों की श्रेणी मे रख दिया जाता था। ध्यान देने योग्य बात है कि प्रान्तीय विधेयकों के ऊपर गवर्नर और गवर्नर जनरल दोनों की निश्चायक स्वीकृति लेनी पड़ती थी। कुछ विषयो पर तो धारासभाओं को कानून बनाने का अधिकार ही न था और कुछ के ऊपर प्रस्ताव रखने से पूर्व गवर्नर जनरल की अनुमति लेनी पड़ती थी। इस प्रकार प्रान्तीय धारासभाओं के कानून बनाने के अधिकार सीमित थे। उन्हें उत्तरदायी मन्त्रियो के ऊपर अधिक नियन्त्रण था, कार्यकारिणी के अन्य सदस्यों पर तो वे केवल प्रभाव ही डाल सकती थीं।

होम गवर्नमेण्ट

१ परिवर्तनात्मक—पिछले अध्याय मे हम यह उल्लेख कर चुके हैं कि किस प्रकार ब्रिटिश सम्राट् ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भारत की शासन सत्ता और किस प्रकार १८५८ ई० में पहिले पहिल भारतमन्त्री को नियुक्त किया गया। तब से भारत मन्त्री का सचालक-मण्डल (Court of Directors) और नियन्त्रण सभा (Board of control) के स्थान पर भारतीय सरकार के ऊपर देख रेख करने लगे। उनकी सहायता के लिये इण्डिया कौंसिल नाम की एक संस्था नियत की गई। इस प्रकार से कौंसिल मे भारत

मन्त्री (Secretary of State for India-in Concuil) इंग्लैंड से भारत के शासन का नियन्त्रण करनेलगे और उसी का होम गवर्नमेंट नाम पड़ गया।

१९१९ ईस्वी के ऐक्ट से भारत मन्त्री के अधिकारों पर सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसके द्वारा फिर से यह स्पष्ट किया गया कि भारत मन्त्री भारत सरकार के शासन से सम्बन्ध रखने वाले सभी कार्यों की देख-रेख और नियन्त्रण करने के अधिकारी हैं। परन्तु चूंकि १९१९ के ऐक्ट के द्वारा प्रान्तों में आंशिक स्वशासन का प्रयोग किया गया और चूंकि इसके लिये प्रान्तीय धारासभाओं को प्रथम स्वाधीनता देने की आवश्यकता थी, इन कारणों से यह निर्देश कर दिया गया कि भारत मन्त्री अपने बनाये हुए नियमों के द्वारा ही अपना नियन्त्रण कुछ ढीला कर लें और मुख्यतया हस्तान्तरित विषयों को प्रान्तों के ऊपर ही छोड़ दें। जिस अंश तक गवर्नर अपने मन्त्रियों के परामर्श से कार्य करते थे उस अंश तक उनके ऊपर भारत मन्त्री का नियन्त्रण न रहा। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि यद्यपि इस ऐक्ट के द्वारा केन्द्र में उत्तरदायी शासन बिलकुल भी स्थापित न हुआ और भारतीय सरकार को पूर्ववत् ही भारत मन्त्री और पार्लमेंट के आधीन रहने दिया गया, फिर भी इसमें यह इच्छा प्रकट की गई कि जहां तक सम्भव हो सके भारत सरकार का केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल की सहमति और विशेषतया बजट के मन्तव्य मदों पर उसकी स्वीकृति से कार्य करना चाहिये। इस सीमा तक भारत मन्त्री का भारत सरकार के ऊपर से व्यवस्थापक सभा के पक्ष में नियन्त्रण हट गया।

ऐक्ट ने होम ऐडमिनिस्ट्रेशन में कुछ और भी परिवर्तन किये, जिनमें से एक भारत मन्त्री के वेतन से सम्बन्ध रखता है। अब भारत मन्त्री और उनके कार्यालय का वेतन भारतीय कोष से न दिया जाकर इंग्लैंड के कोष से दिया जाने लगा। इस परिवर्तन के कारण भारत मन्त्री के ऊपर पार्लमेंट का निरीक्षण पहले की अपेक्षा अधिक हो गया। चूंकि वार्षिक बजट रखने के समय उनके कार्य पर अधिक रोचनपूर्ण वाद विवाद होने लगा। दूसरे, इस ऐक्ट के अनुसार भारतीय हाई कमिश्नर का एक नया पद बनाया गया। हाई कमिश्नर इंग्लैंड में भारत मन्त्री के एजेण्ट की हैसियत से काम करते थे। तीसरे, भारत मन्त्री की कौंसिल के सदस्यों की संख्या घटा दी गई। भारत मन्त्री की इच्छा के अनुसार आठ से बारह तक सदस्य उसके परिषद में रखे जा सकते थे। उनका कार्यकाल सात वर्ष से घटाकर पाँच वर्ष कर दिया गया और उनका वेतन १२००० पाउंड वार्षिक कर दिया और उन सदस्यों को ६०० पौंड और अधिक भत्ता दिया जाने लगा जो नियुक्ति के समय भारत से काम करते हों। कौंसिल में भारतीय सदस्यों की संख्या दो से तीन कर दी गई।

१९१९ ई० के सुधारों का कार्यान्वित रूप—जैसा कि कांग्रेस लीग की संयुक्त

योजना से प्रकट है १६१६ ईस्वी के ऐक्ट ने राष्ट्रीय माँगों का निराकरण नहीं किया। भारत के नेता भी इस अधिनियम के द्वारा किये गये सुधारों से सन्तुष्ट नहीं थे, फिर भी उन्होंने उसी दशा में इसको कार्यान्वित करना स्वीकार किया। परन्तु, दुर्भाग्यवश, ये सुधार बहुत ही प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रारम्भ किये गये। उन दिनों भारतवर्ष में ब्रिटिश सरकार के प्रति फैले असन्तोष का दौरदौरा था। प्रथम महायुद्ध में की गई सेवाओं के बदले रौलट ऐक्ट का भारत में लादा जाना, पंजाब का सैनिक शासन, जलियान वाले बाग की दुर्घटना, खिलाफत का प्रश्न, इन सबके फलस्वरूप सद्भावना और मैत्री के स्थान पर जो कि ऐक्ट की सफलता के लिये आवश्यक था, सभी ओर कटुता, क्रोध और अविश्वास का जोर बढ़ गया। परिणामस्वरूप इस ऐक्ट की असफलता निश्चित ही थी। देश ने सुधारों के साथ किसी प्रकार का नाता रखने से इन्कार कर दिया और तुरन्त गाँधी जी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन शुरू कर दिया। राष्ट्रीय-कांग्रेस ने व्यवस्थापक सभाओं का बहिष्कार किया। नरम दल के नेताओं ने जो इस बात पर कांग्रेस से अलग हो गये थे, कौंसिलों में जाकर मन्त्रियों का पदग्रहण करना स्वीकार किया और लगभग तीन वर्ष तक अपने पदों पर वे लोग सफलता से काम करते रहे। परन्तु इसी बीच में स्वराज्य पार्टी का जन्म हो गया जिसने दूसरे आम चुनावों में इस शर्त पर भाग लिया कि वे कौंसिलों में जाकर सुधारों का ध्वंस करेंगे। यह दल चुनाव में सफल हो गया और इसके सदस्य बड़ी संख्या में कई प्रान्तीय धारा सभाओं में पहुँच गये। यद्यपि स्वराज दल सुधारों का विध्वंस तो नहीं कर सका परन्तु उसने इसके कार्यान्वित होने में अड़गा लगा दिया।

द्वैध शासन प्रणाली को असफल बनाने का इससे भी अधिक बड़ा कारण गवर्नरों का अपने मन्त्रियों के प्रति व्यवहार था। यदि जनप्रिय मन्त्रियों को सत्ता हस्तान्तरित करने का कोई अर्थ था तो यह अनिवार्य था कि गवर्नर को उनके ऊपर केवल संविधानीय प्रमुख (Constitutional Head) बना दिया जाय। और प्राय वे मन्त्रियों के परामर्श से कार्य करें। ऐक्ट में गवर्नरों को केवल विशेष दशाओं में ही मन्त्रियों की सलाह न मानने का आदेश था। पहिले दो वर्षों में जब कि गवर्नर नरम दल का सहयोग लेकर भारतीय स्वतन्त्रता के पहले अहिंसात्मक आन्दोलन को दबाना चाहते थे मन्त्रियों को आदर दिया जाता रहा और उनके विचारों का मान किया गया। परन्तु बाद में जब कि मॉण्टेग्यू ने भारत मन्त्री के पद को छोड़ दिया और उनके स्थान पर एक अनुदार भारत मन्त्री की नियुक्ति हुई तो एकदम यह धारणा बदल गई। गवर्नर यह भूल गये कि हस्तान्तरित विषयों के ऊपर उन्हें संविधानिक प्रमुख की हैसियत से ही कार्य करना है और वे छोटी छोटी बातों में भी मन्त्रियों के कार्यों में हस्तक्षेप करने लगे।

सुधारों की असफलता का दूसरा कारण मन्त्री और कार्यकारिणी के अन्य सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध है। संयुक्त पार्लमेन्टरी कमेटी और श्री माटेग्यू दोनों की ही यह इच्छा थी कि ये लोग आपस में परामर्श के पश्चात् कार्य करें परन्तु इसको प्रोत्साहन न मिल सका। कुछ प्रान्तों में तो मन्त्रियोंकी सलाह सरक्षित विभागों से सम्बन्ध रखने वाले मुख्य कार्यों के लिये भी नहीं ली गई। फिर, प्रान्तीय विषयों को सरक्षित और हस्तान्तरित विभागों में इस प्रकार बांटा गया कि एक मन्त्री के अधिकार में एक सम्पूर्ण विभाग भी न आता था। मद्रास के एक मन्त्री ने 'मुडी मैन कमेटी' के सामने इस विषय की शिकायत भी की कि वे कृषि मन्त्री होते हुए भी सिंचाई, कृषि ऋण और कृषि की भूमि के विकास से कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। उद्योग के विभाग के मन्त्री का फैक्ट्री, जल शक्ति, जल-विद्युत आदि पर कोई नियन्त्रण नहीं था। पूरे विभाग पर मन्त्री का अधिकार न होने के कारण यह सम्भव नहीं था कि प्रशासन में कोई सार्थक उन्नति हो सके। जिस प्रकार से प्रान्तीय विषयों को सरक्षित और हस्तान्तरित भागों में बांटा गया उससे हस्तान्तरित विषयों के सफल प्रशासन में अड़चन पड़ती थी।

मन्त्रियों के उत्तरदायित्व की और दूसरी शर्तें भी विद्यमान नहीं थीं। सामूहिक रूप से उत्तरदायी होने की बात, जिस पर इन सुधारों के निर्माताओं ने पर्याप्त जोर दिया था, उसके ऊपर भी गवर्नरों ने कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने कार्यवाही के नियम भी इसी विचार से बनाये मानो उन्हें प्रत्येक मन्त्री के साथ पृथक्-पृथक् व्यवहार करना हो। यह प्रवृत्ति सुधारों के कार्यान्वित होने के दो वर्ष के पश्चात् ही प्रकट हो गई। समय के बीतने के साथ साथ मन्त्रियों को कुछ विशेष कारणों से जिनमें हमें जाने की आवश्यकता नहीं, निर्वाचित सदस्यों का आश्रय छोड़ कर धारा सभाओं के मनोनीत और उन दूसरे सदस्यों का जो सदैव सरकार के पक्ष में रहते थे, सहारा लेना पड़ा। इस वजह से स्वायत्त शासन केवल नाम मात्र के लिए रह गया।

द्वैध शासन की असफलता के दो अन्य कारणों का भी इस स्थान पर संक्षेप में वर्णन किया जा सकता है। एक कारण वित्त विभाग से सम्बन्ध रखता है जो एक सरक्षित विषय था और—जिसके ऊपर कार्यकारिणी के अभारतीय सदस्य का नियन्त्रण था। वित्त विभाग का सभी नये व्यय पर कड़ा नियन्त्रण था और मन्त्रियों द्वारा प्रस्तावित सभी नये खर्चों को वह अस्वीकार कर देता था। इसलिये मन्त्री लोग उन योजनाओं को पूरा करने में असमर्थ थे जिन का वे जनता से वायदा करते थे। दूसरा कारण सरकारी नौकरियों से सम्बन्ध रखता है। सम्राट् के नौकरों के ऊपर मन्त्रियों का किसी प्रकार का दबाव न था, वे लोग उनकी बदली या पदवृद्धि कर सकते थे। सरकारी नौकरों की स्थिति पहिली जैसी ही बनी रही और उनके ऊपर मन्त्री सभा के सदस्यों को कोई अधिकार न था।

यद्यपि उपरोक्त अनेक कारणों से १६१६ ई० के ऐक्ट के द्वारा बनाई गई कौंसिलें मन्त्रियों को उत्तरदायी बनाने में असफल रहा किन्तु उन्होंने अपनी शक्ति का दूसरी तरह उपयोग किया। माना कि उनके अधिकार क्षेत्र की सीमायें निर्धारित थीं और गवर्नर को प्रमाणन द्वारा उनके ऊपर पाबन्दी लगाने का अधिकार था फिर भी व्यय के ऊपर अधिकार होने, राज्य की मुख्य नीतियों पर प्रस्ताव रखने, वाद विवाद करने, स्थगन प्रस्ताव रखने और प्रश्न पूछने के नाते धारा सभाएँ कार्यकारिणी के ऊपर अपना असर डाल सकती थीं। उन्होंने कुछ प्रगतिशील और उदार कानून भी बनाये। स्थानीय संस्थाओं-जैसे नगरपालिका और जिला समिति (Municipal & district boards) के पुनर्संगठन और सुधार के विषय में कुछ आवश्यक अधिनियम भी इन के द्वारा बनाये गए। शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया। कुछ प्रान्तों में विशेष प्रकार के समाज सुधार सम्बन्धी नियम उदाहरणार्थ *मद्रास का हिन्दु धर्म का ऐन्डाउमेन्ट ऐक्ट और बंगाल का शिशु सम्बन्धी अधिनियम* (Children's Act) पास किये गये।

यही बात केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा के विषयों में भी कही जा सकती है। यद्यपि कार्यकारिणी इसके प्रति उत्तरदायी न थी परन्तु उसके ऊपर इसका कुछ प्रभाव अवश्य था। इसने सरकार के हर पग पर वाद विवाद किये और कई अवसरों पर इसने राजनैतिक प्रदर्शन का कार्य किया। "इसका कानून बनाने का कार्य काफी विस्तृत और सारगर्भित रहा है। सामाजिक सुधार के लिये और नागरिकता का भारतीयकरण करने तथा राष्ट्ररक्षा में भारतवासियों का सहयोग बढ़ाने के लिये इसका लगातार और सराहनीय प्रयत्न रहा है। प्रशासन में मितव्ययिता बरतने के लिये इन सभाओं ने सरकार पर पर्याप्त प्रभाव डाला है।" *

---

* Kerala Putra Page 108—109

अध्याय १०

१६३५ ई० का गवर्मेन्ट ऑफ इंडिया ऐक्ट

जैसा कि पहिले भी संकेत किया जा चुका है १६१६ ई० का गवर्मेंट आफ इन्डिया ऐक्ट पूर्ण उत्तरदायी शासन के लक्ष्य की ओर ले जाने वाली पहली मंजिल थी। इसमें पहले कि ब्रिटिश संसद सुधारों की दूसरी किस्त के बारे में कुछ निर्णय करे यह आवश्यक था कि वह तत्कालीन सुधारों के कार्यान्वित रूप की जाँच करे। १६१६ ई० के ऐक्ट में यह उल्लेख था कि दस वर्ष के पश्चात् ब्रिटिश भारत की शासन प्रणाली, शिक्षा की उन्नति और उत्तरदायी संस्थाओं के विकास की जाच करने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की जाय। साथ ही इस कमीशन का यह कर्त्तव्य होगा कि भारत में शासन स्थापित करने की सीमा, उत्तरदायित्व के सिद्धान्त की सफलता और द्विआगारिक सभाओं के प्रश्नों के ऊपर अपना वृत्तलेख (Report) प्रस्तुत करे। इसी उल्लेख के अनुसार दस वर्ष से पहिले ही इंगलैंड की टोरी सरकार ने १६२७ ई० के नवम्बर के मास में भारत के लिये उपरोक्त उद्देश्यों के लिये एक रायल कमीशन भेजने की घोषणा की। यह कमीशन साइमन कमीशन के नाम से प्रसिद्ध है। साइमन कमीशन ने दो बार भारत का भ्रमण किया और ऐसे भारतीय समुदायों के परामर्श से जो कि कमीशन के साथ सहयोग करने के पक्ष में थे १६३० ई० में सम्राट की सरकार के समक्ष अपने सुझाव रखे यद्यपि सारे भारतवर्ष ने कमीशन का बहिष्कार किया और इसके सुझावों का घोर खंडन किया। टोरी सरकार की उत्तराधिकारी मजदूर सरकार ने भारत में असंतोष दूर करने के हेतु इंगलैंड में रियासतों के राजाओं तथा भारत सरकार और ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों की एक गोलमेज कान्फ्रेंस बुलाई ताकि वे भारत के भावी विधान पर विचार कर सके। १६३०—३२ के बीच गोलमेज कान्फ्रेंस की तीन बैठकों में से केवल दूसरी बैठक में महात्मा गाँधी कांग्रेस के सुमाइंदे की हैसियत से सम्मिलित हुए। इन अधिवेशनों के निर्णयों के आधार पर इंगलैंड की सरकार ने १६३३ ई० के श्वेत पत्र में भारत के भावी संविधान के विषय में अपने सुझाव रखे। साथ, इन सुझावों पर विचार करने और आवश्यक संशोधन प्रस्तुत करने के लिये ब्रिटिश संसद के दोनों आगारों की एक संयुक्त समिति बनाई गई। इस समिति में बहुत से भारतीय भी सम्मिलित थे। इस समिति ने पूर्व सिद्धान्तों को कायम रखते हुए ही सरकार के सुझावों में काँट-छाँट की और अपने वृत्तलेख को

श्वेत पत्र की अपेक्षा कुछ अंशों में अधिक अनुदार और प्रतिक्रियात्मक बना दिया। कमेटी की रिपोर्ट पर फिर से संसद् में विचार किया गया और इस अवसर पर फिर भारतवासियों की आशाओं पर कुठाराघात किया गया। १६२७ ई० से १६३५ ई० तक के आठ वर्ष के कठिन परिश्रम के फलस्वरूप १६३५ ई० का गवर्मेन्ट आफ इन्डिया ऐक्ट तैयार हुआ जिसकी रचना और मुख्य उपबन्धों पर हम प्रस्तुत और आगामी अध्यायों में विचार करेंगे।

१६३५ ई० के ऐक्ट की कुछ विशेषताएँ—इस अधिनियम की सबसे मुख्य यह विशेषता है कि इसके द्वारा एक ऐसी संघात्मक व्यवस्था की कल्पना की गई जिसमें ब्रिटिश प्रान्त और देशी राज्य एक साथ भाग ले सकें। यद्यपि भारत संसार में एक बहुत बड़ी भौगोलिक इकाई है और मानसिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी उसमें पर्याप्त *एकात्मीयता* है फिर भी विधान के आगमन से पहिले राजनैतिक दृष्टि से यह ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों में विभाजित था। दोनों हिस्से राजनैतिक संगठन और उन्नति में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न रहे। ब्रिटिश काल में वे कभी एक ही अंग नहीं थे। १६३५ ई० के ऐक्ट की यही विशेषता थी कि इसने एक ऐसी योजना प्रस्तुत की जिसके अनुसार एक संघात्मक शासन के अन्तर्गत समस्त भारत एक साथ लिया जा सकता था। यद्यपि ऐक्ट में जिस योजना की रूप रेखा निर्धारित की गई थी वह कामयाब न हो सकी, परन्तु इसका यह अर्थ न समझना चाहिये कि भारत में संघात्मक शासन का सिद्धान्त ही अस्वीकार कर दिया गया है। हमारा नया संविधान इसी सिद्धान्त के ऊपर आश्रित है केवल इतना अन्तर है कि अब हमने १६३५ ई० के ऐक्ट के दोषों को दूर कर दिया है।

चूँकि एक संघात्मक व्यवस्था के लिये यह अनिवार्य है कि कुछ स्वशासी प्रदेश एक शासन के अन्तर्गत आ जायें इसलिये यह आवश्यक हो गया कि ब्रिटिश भारत जो १७७३ ई० के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के समय से ही लगातार एक एकात्मक राज्य रहा है उसे स्वायत्तशासी टुकड़ों में बाँट दिया जाय। इसलिये १६३५ ई० के ऐक्ट ने इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रिटिश भारत के प्रान्तों को स्वायत्तशासी इकाइयों में बदल दिया जो कि सीधे सम्राट् से अधिकार ग्रहण करती था और भारत सरकार की भाँति आधीन न था। इस प्रकार प्रान्तीय स्वशासन का प्रस्थापन इस ऐक्ट की दूसरी विशेषता मानी जा सकती है।

भारतीय लोकमत लगातार इस बात पर जोर दे रहा था कि केन्द्रीय शासन में उत्तरदायित्व का समावेश हो। माण्टफोर्ड सुधारों के प्रति असंतोष का एक यह मुख्य कारण था कि उसने उपरोक्त माँग को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया। बहुत कुछ अंश में १६३५ ई० के ऐक्ट ने इस कमी को दूर करने की चेष्टा की। इसमें

प्रस्तावित था कि विदेशी राज्यों से सम्बन्ध, देश की रक्षा, धार्मिक विषय, और जनजाति क्षेत्र (Tribel areas) इन चार सुरक्षित विषयों को छोड़कर सभी केन्द्रीय विषय कार्य कारिणी के उन मन्त्रियों के हाथों में सौंप दिये जाय जो व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदायी हों। रल, सचित कोष (Reserve Bank) मुद्रण और विनिमय पर भी प्रधान मण्डल का विशेषाधिकार नहीं था। इस प्रकार नए अधिनियम ने केन्द्र में द्वैध शासन प्रणाली को जन्म दिया यद्यपि कहीं भी इस शब्द का ऐक्ट में उल्लेख नहीं मिलता। उपरोक्त चार विषयों का प्रशासन तो गवर्नर जनरल का उत्तरदायित्व था और शेष के लिये उन्हें मन्त्रिमण्डल का परामर्श लेना पड़ता था। इस तरह केन्द्र में आंशिक उत्तरदायित्व की स्थापना इस एक्ट की तीसरी विशेषता है।

जो राजनैतिक सत्ता प्रान्त और केन्द्र में जनता के प्रतिनिधियों को सौंपी गई वह चारों ओर से आरक्षण (Reservation) और अभिरक्षण (Safeguards) से घिरा हुई थी आरक्षण और अभिरक्षण भी इस ऐक्ट की उतनी ही मुख्य विशेषता थी जितनी कि प्रान्तों में पूर्ण और केन्द्र में अधूरे उत्तरदायित्व की स्थापना। इनका बाद में विवेचन करेंगे। संक्षेप में संघात्मक शासन विधान, प्रान्तीय स्वशासन, केन्द्रीय आंशिक उत्तरदायित्व और अभिरक्षण आदि इस ऐक्ट के मूलभूत सिद्धान्त और मुख्य विशेषताओं में गिने जा सकते हैं।

यह भी स्मरणीय है कि १९३५ ई० के ऐक्ट ने किसी भी प्रकार ब्रिटिश संसद की प्रभुता को भारत सरकार के ऊपर से कम न होने दिया। इस ऐक्ट के परिवर्तन, संशोधन और निलम्बन करने का अधिकार केवल पार्लियामेन्ट को ही प्राप्त था। इस अधिनियम के द्वारा ब्रह्मा को भारत से और अदन को बम्बई से पृथक कर दिया और सिंध और उड़ीसा के दो नये प्रान्त बना दिये।

अधिकार वितरण—संघात्मक संविधान का यह आधारभूत सिद्धान्त है कि राजनैतिक रूप से स्वायत्तशासी राज्य स्वेच्छा से एक राष्ट्रीय सरकार के आधीन इस प्रकार सम्मिलित हो जाय कि राष्ट्रीय सरकार और राज्यों का आपसी कार्य क्षेत्र पूर्णतया बंट जाय और अपने अपने क्षेत्र में दोनों ही स्वतन्त्र हों इस प्रकार का संविधान सरकार की शक्तियों को संघीय और राज्यों की सरकारों में इस प्रकार विभक्त कर देता है कि प्रत्येक सरकार अपने अपने क्षेत्र में पूरा अधिकार रखती है कुछ विषय संघ को दे दिये जाते हैं जिन पर संघीय विधान मंडल को कानून बनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। और कुछ दूसरे विषय संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों को दे दिये जाते हैं जिनपर बिना किसी हस्तक्षेप के उन्हीं की धारा सभाएं विधियाँ बनाती हैं। इस प्रकार का विषय विभाजन संघात्मक शासन के लिये अत्यावश्यक है दो तरीकों से संघ और राज्यों के बीच शासन शक्ति का वितरण किया जाता है। कहीं कहीं संघीय केन्द्र के अधिकारों को स्पष्टतया निर्धारित कर दिया जाता है और शेष सभी

अधिकार राज्यों के आधीन कर दिये जाते हैं। अमरीका में यही पद्धति अपनाई गई है। दूसरा ढंग यह है कि संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों के अधिकारों को निश्चित कर दिया जाता है और बचे खुचे सभी अधिकार संघीय शासन के लिये छोड़ दिये जाते हैं। यह तरीका कनाडा में केन्द्रीय सरकार को सुदृढ़ बनाने के लिये बरता गया। भारत में इन दोनों में से कोई ढंग भी नहीं स्वीकार किया गया। कांग्रेस केन्द्र को प्रबल बनाने के लिये अवशिष्ट अधिकार (residuary powers) संघीय शासन को देना चाहती थी। मुस्लिम लीग केन्द्र को शक्तिहीन बनाकर प्रान्तों को प्रमुखता देना चाहती थी और इसी लिये लगातार इस बात पर जोर दे रही थी कि केन्द्र की शक्ति निर्दिष्ट करदी जाय और अवशिष्ट अधिकार प्रान्तों को सौंप दिये जाँय। दोनों ही पक्षों को प्रसन्न करने के लिये ब्रिटिश साम्राज्य शाही ने एक नई योजना बनाई। १९३५ ई० के अधिनियम में केन्द्रीय विषयों की एक संघीय सूची और प्रान्तीय विषयों की दूसरी प्रान्तीय सूची बनाकर विषयों को अलग अलग बाँट दिया। इसके साथ एक तीसरी सवर्ती सूची बनाई गई। इस सूची के विषयों पर प्रान्त और केन्द्र दोनों की ही व्यवस्थापक सभाएं समान रूप से कानून बना सकती थी। प्रायः सभी विषयों को इन तीन प्रकार की सूचियों में रखने का प्रयत्न किया गया परन्तु यदि कभी कोई नया विषय निकल आये तो उसको किसी भी सूची में सम्मिलित करने का गवर्नर जनरल को पूर्ण अधिकार था। इस अनोखे ढंग से अवशिष्ट अधिकारों की समस्या को सुलझा दिया गया।

उपरोक्त प्रकार की तीन सूचियों का विचार हमारे वर्तमान संविधान में भी अपना लिया गया है। इस स्थान पर हमें १९३५ ई० के ऐक्ट की सूचियों का पूर्ण ब्योरा देने की आवश्यकता नहीं है। कुछ परिवर्तनों के साथ ये सूचियाँ हमारे संविधान में पाई जाती हैं जिनका आगे चल कर हम विस्तृत उल्लेख करेंगे।

१९३५ ई० के ऐक्ट के द्वारा निर्धारित संघ योजना और भी अनेक विशेषताओं से ओत प्रोत है परन्तु उन सब का विवेचन हम इसलिए नहीं करना चाहते चूंकि यह योजना कार्यान्वित ही न हो सकी।

संघ शासन की स्थापना—१९३५ ई० के अधिनियम ने संघ शासन को स्थापित नहीं किया। उसमें तो केवल इसकी योजना ही थी। संघीय राज्य की स्थापना की कुछ शर्तें थी जो पूरी न हो सकी। इन शर्तों में से एक सब से मुख्य शर्त यह भी थी कि कुल रियासतों की जन संख्या की कम से कम ५० प्रतिशत जन-संख्या वाली रियासतें संघ में सम्मिलित होने की स्वीकृति दें।

यह भी कहा जा सकता है कि कदाचित् ब्रिटिश सरकार ही संघात्मक शासन स्थापित करने के लिये सचेष्ट न थी। केन्द्र में जनता के प्रतिनिधियों को सत्ता

हस्तान्तरित करने से पहले वे प्रान्तों में स्वशासन की प्रगति देखना चाहते थे। इसी बीच योरुप में दूसरा महायुद्ध छिड़ गया और ऐक्ट के संघ सम्बन्धी सभी उपबन्ध खटाई में पड़ गये। उस समय भारत की केन्द्रीय सरकार ऐक्ट के अस्थायी उपबन्धों (Transitional Provisions) द्वारा चलाई गई। अब हम १६३५ ई० के अधिनियम के अनुसार संघीय कार्य कारिणी व्यवस्थापक मंडल और न्यायालय से सम्बन्धित उपबन्धों पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

गवर्नर-जनरल—१६३५ ई० के ऐक्ट ने संघ की कार्यकारिणी से सम्बन्ध रखने वाली सभी शक्तियों को गवर्नर जनरल को सौंप दिया। उन्हें बहुत से अधिकार और उत्तरदायित्व देकर संघ के प्रकार का शिलाधार बना दिया गया। अपनी शक्ति का उपयोग वे स्वयं करते अथवा अपने आधीन व्यक्तियों से कराते। अपने विवेक (discretion) से किये गये कार्यों के अतिरिक्त प्रायः सभी कार्यों में गवर्नर जनरल को परामर्श देने के लिये ऐक्ट में एक मंत्र मंडल बनाने की योजना थी। इस मंत्री मंडल के सदस्यों की संख्या १० से अधिक न होती। विदेशी राज्यों से सम्बन्ध, देश की रक्षा, धार्मिक विषय और जन जाति क्षेत्रों (Tribel areas) के सरक्षित विषयों पर वे अपने विवेक से शासन करते। इन विषयों के क्षेत्र में वे अपने मंत्रियों का परामर्श लेने के लिये बाध्य न थे। और बहुत से कार्य भी उनके विवेक पर छोड़ दिये गये जैसे चीफ कमिश्नरों-उनके सलाहकारों (Councillors) आर्थिक परामर्शदाता और कुछ और पदाधिकारियों की नियुक्ति, सरकारी कार्य वाही के लिये नियमों का बनाना अध्यादेशों का जारी करना तथा व्यवस्थापक मण्डल से सम्बन्ध रखने वाले कुछ अधिकारों का प्रयोग।

स्वविवेक शक्तियों (Discretionary powers) के अतिरिक्त गवर्नर जनरल के बहुत से विशेष उत्तरदायित्व (Special responsibilities) भी थे। जिनमें से देश की शान्ति और सुव्यवस्था, आर्थिक स्थिरता, तथा अल्पसंख्यक जातियों और सिविल सर्विस के हितों की रक्षा मुख्य है। जब कभी इन विशेष उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित कोई विषय सामने आता तो गवर्नर जनरल को मन्त्रियों के साथ परामर्श करना आवश्यक था परन्तु उन्हें यह अधिकार था कि वे उनकी सलाह को मानें या न मानें। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि तीन तरीकों से गवर्नर जनरल कार्यकारिणी से सम्बन्ध रखने वाले अधिकारों का प्रयोग कर सकते थे। कुछ विषयों में वे स्वविवेक से कार्य करते थे। कुछ में उनका विशेष उत्तरदायित्व था और कुछ में उनका वैयक्तिक निर्णय (Individual judgment) का उपयोग करके मंत्री मण्डल के परामर्श का उल्लंघन कर सकते थे। शेष विषयों में उन्हें मंत्रीमण्डल की सलाह से कार्य करना होता और यह कहा जा सकता है कि इसी अन्त में बताये गये क्षेत्र में १६३५ ई० के एक्ट के द्वारा स्वायत्त शासन की कल्पना की गई। जिन बातों में गवर्नर जनरल स्वविवेक

और वैयक्तिक निर्णय का प्रयोग करते उनके लिये वे भारत मंत्री के प्रति उत्तरदायी होते। इस क्षेत्र में, जो कि काफी विशाल था, देश की जनता का कोई शक्ति नहीं सौंपी गई।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि १९३५ के अधिनियम ने केन्द्र में उस प्रकार की द्वैध शासन प्रणाली की नींव डालनी चाही जिसका १९१९ ई० के ऐक्ट के अनुसार प्रान्तों में प्रयोग असफल हो चुका था। संघीय कार्य कारिणी का भाग एक जन प्रिय मंत्रियों से बनाया जाना था जिनका कार्य हस्तान्तरित विषयों के ऊपर देख रेख करना था और जो व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदायी होते। दूसरे भाग में गवर्नर जनरल की सहायता के लिये तीन सदस्य रक्खे जाते जो सुरक्षित विषयों का कार्यवाहन करें। हम गवर्नर जनरल की अनेक प्रशासन, कानून और वित्त सम्बन्धी-शक्तियों का विस्तृत विवेचन करने की आवश्यकता नहीं। केवल यह कहना ही पर्याप्त होगा कि इन क्षेत्रों में अधिनियम ने गवर्नर जनरल को बहुत अधिकार सौंप दिये।

उन्हें इस प्रकार के अध्यादेश प्रचारित करने का हक था और वे 'गवर्नर जनरल के एक्ट' व्यवस्थापक सभा से बिना परामर्श लिये अथवा विरोधक होते हुए भी बना सकते थे। इन महान शक्तियों के कारण ही गवर्नर जनरल को संघीय भवन की आधार शिला माना जाता है।

एक्ट ने विशेष परिस्थितियों में गवर्नर जनरल को विशेषाधिकार दिये। यदि किसी समय उन्हें यह आभास हो कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं जिनमें ऐक्ट के उपबन्धों के अनुसार कार्य करना सम्भव नहीं है तो उन्हें ऐसी अवस्था में यह घोषणा करने का हक था कि अमुक विषयों में वे स्वविवेक का प्रयोग करेंगे। संघीय न्यायालय छोड़ कर वे किसी भी संघीय संस्था के कार्य को स्वयं सम्भाल सकते थे। इस प्रकार की घोषणा के बारे में उन्हें भारत मंत्री को सूचित करना पड़ता। यदि पार्लमेन्ट उसको जारी रखने की स्वीकृति न देती तो छः मास के पश्चात् वह लागू न रहता।

संघीय व्यवस्थापक मण्डल—१९३५ ई० के अधिनियम ने संघीय व्यवस्था पक मण्डल की बनावट और अधिकारों में कई सारगर्भित परिवर्तन किये। यह सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर जनरल और राज्य-परिषद् (Council of states) तथा विधान सभा (House of assembly) नाम के दो आगारों से मिलकर बनता। राज्य परिषद् में संघ की इकाईयों का प्रतिनिधित्व होना था किन्तु समानता के आधार पर नहीं। विधान सभा में संघ के नागरिकों के प्रतिनिधि जाते।

दोनों आगारों का आकार काफी बढ़ा दिया गया। राज्य परिषद में ब्रिटिश भारत के सदस्यों की संख्या १५६ और संघ में सम्मिलित होने वाली रियासतों के सदस्यों की संख्या १०४ से अधिक न हो सकती थी। यह एक चिरस्थायी संस्था होनी जिस के

एक तिहाई सदस्यों को प्रत्येक तीन वर्ष के पश्चात निवर्तित (retire) कर दिया जाता। इसके सदस्यों का ६ वर्ष की अवधि के लिये निर्वाचन होता। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों को प्रान्तों में से जातियों की निर्धारित संख्या के अनुसार लिया जाता। अधिकतर सदस्य प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों (territorial constituancies) से चुने जाते और कुछ थोड़े से सदस्य व्यवहित निर्वाचन (indirect election) द्वारा आते। रियासतों के प्रतिनिधि रियासतों के राजाओं द्वारा ही मनोनीत होने थे। ये लोग, यदि चुन लिये जाते तो उन मनोनीत अधिकारी वर्ग और गैर सरकारी सदस्यों की जगह कार्य करते जो १९१९ई० के ऐक्ट के अन्तर्गत राज्य परिषद के मुख्य अग थे। रियासतों को उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया।

विधान सभा के लिये ब्रिटिश भारत के २५० और रियासतों के अधिक से अधिक १२५ सदस्यों की संख्या निश्चित की गई। ब्रिटिश भारत के लिये सदस्यों की संख्या पृथक पृथक प्रान्तों, जातियों और हितों में विभाजित हो गई। पृथक निर्वाचन के सिद्धान्त का विस्तार यारुपीय लोगों, ऐंग्लोइन्डियन, भारतीय, ईसाई, और हिन्दू और मुस्लिम स्त्रियों तक कर दिया गया। असेम्बली की रचना में दूसरी खास पूर्ण बात व्यवहित निर्वाचन (indirect election) केसिद्धान्त को अपनाया जाना था। हिन्दू (साधारण) मुसलमान और सिखों की जगहों के लिये प्रान्तीय असेम्बली के सदस्य चुनाव करते। स्त्री सदस्यों का निर्वाचन वे सभी स्त्रियाँ एक साथ मिलकर करती थीं जो भिन्न भिन्न प्रान्तों के स्त्रियों के निर्वाचन क्षेत्रों से चुनी जाती। दलित जातियों के लिये पृथक् सीट नियत कर दी गई और पूनापैक्ट के अनुसार उनके चुनाव का एक सजटिल (complicated) ढंग निकाला गया। असेम्बली का कार्य काल ५ वर्ष था। निश्चित अवधि के समाप्त होने से पहले भी यह गवर्नर जनरल द्वारा विसर्जित की जा सकती थी।

यह स्मरण रखने योग्य बात है कि १९३५ ई० के अधिनियम का एक यह उद्देश्य था कि केन्द्र में आंशिक उत्तरदायित्व स्थापित किया जाना। इसलिये संघीय व्यवस्थापक मण्डल को यह अधिकार दिया गया कि हस्तान्तरित विषयों के बारे में वह कार्यकारिणी के ऊपर नियन्त्रण रखे हालांकि इस अधिकार में भी गवर्नर जनरल के विशेषाधिकारों का प्रतिबन्ध था। जिस सीमा तक गवर्नर जनरल मन्त्रियों की सलाह से कार्य करते वहाँ तक वे व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदायी होते। बजट के ऊपर भी सभा को कुछ अधिकार दिये गये परन्तु कुल व्यय का लगभग ७५ % अमतदेय मद में शामिल था और राष्ट्र रक्षा, परराष्ट्र इत्यादि विभागों की मांगों पर सभा में वादविवाद तो हो सकता था परन्तु उन पर मतगणना न हो सकती थी। जिन मदों के खर्च पर सभा का मत लिया जाना आवश्यक था। उन में भी गवर्नर जनरल को यह अधिकार था कि वह अपने किसी विशेष उत्तरदायित्व के पूरा करने के लिए यह आवश्यक समझे तो

असेम्बली द्वारा घटाई हुई या रद्दती हुई माग को बहाल कर दे। इस तरह से यह ज्ञात होता है कि गवर्नर जनरल के स्वविवेक विशेष उत्तरदायित्व और इसी प्रकार की अन्य परिसीमाओं (Limitations) के कारण व्यवस्थापक सभा की शक्ति और अधिकार बहुत सीमित थे। इस अधिनियम की प्रतिक्रियाशीलता एक ओर बात से भी प्रकट होती है। व्यवस्थापक मण्डल की दोनों सभाओं का इसने वित्त के सम्बन्ध में प्राय समानाधिकार दे दिये। राज्य परिषद् आर्थिक अधिकारों पर केवल एक यह प्रतिबन्ध था कि कोई भी आर्थिक विधेयक उसमें आरम्भ न किया जायगा वैसे मतदान इत्यादि के उसे बराबर हक थे। अन्य सभी विषयों में दोनों आगारों को समस्ता अधिकार थे।

गवर्नर जनरल के धारासभाओं के ऊपर विशेषाधिकार थे। वह व्यवस्थापक मण्डल की बैठक बुला सकते थे उसकी बैठक का समावसान (Prorogue) कर सकते थे और असेम्बली को भग कर सकते थे। इसके अतिरिक्त वे स्वविवेक से किसी विषय पर पर्यालोचन (Discussion) बन्द कर सकते थे प्रश्न पूछना रोक सकते थे और पारण (Pass) किये गये विधेयकों पर अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर सकते थे। बहुत थोड़े शासन के अध्यक्षों को इस प्रकार के अधिकार मिलते हैं। गवर्नर जनरल के अध्यादेश सम्बन्धी और गवर्नर जनरल का एक्ट बनाने के अधिकारों का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

संघीय न्यायालय

चूकि सघीय सविधान का निर्वचन (Interpretation) करने और सघ तथा इकाइयों के पारस्परिक झगड़ों को निबटाने के लिये एक सघीय न्यायालय का होना अति आवश्यक था इसलिये १९३५ ई० के एक्ट में इस प्रकार के न्यायालय को स्थान मिला। पहिली अक्तूबर १९३७ ई० से इस सघीय न्यायालय का कार्य प्रारम्भ हो गया। प्रारम्भ में इसमें एक मुख्य न्यायाधीश (Chief Justice) और दो अन्य न्यायाधीश थ परन्तु ऐक्ट के अनुसार उनकी सख्या छ तक बढाई जा सकती थी। इसका अधिकार क्षेत्र तीन प्रकार का था—विशेष दशा में प्राथमिक मुकदमे सुनना, उच्च न्यायालय के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनना और सरकार को कानूनी बातों में सलाह देनी। चूकि वर्तमान सविधान के अनुसार इसकी जगह सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) ने ले ली है इसलिये इस के विषय मे और अधिक विवेचन करने की जरूरत नहीं।

संघीय रेलवे प्राधिकार (Federel Railway Authority)

भारतवर्ष में रेलमार्ग सघीय सूची में सम्मिलित था। यद्यपि यह कोई सरक्षित विषय न था फिर भी इसका प्रबन्ध सघीय मन्त्रिमण्डल द्वारा भी न होता। इसका

प्रशासन एक परिनियत वर्ग (Statutory body) को सौंपा गया जिसका नाम सघीय रेलवे अधिकार था। चूंकि अधिनियम के इस सम्बन्धी उपबन्ध कार्यान्वित ही न किये जा सके इसलिये यह अधिकार स्थापित ही न हुआ।

भारतीय संचित अधिकोष

वित्त एक हस्तान्तरित विषय होने के नाते एक लोकप्रिय मन्त्रि के आधीन रखा जाना था परन्तु इसके साथ गवर्नर जनरल के आर्थिक स्थिरता और ऋण सम्बन्धी विशेष उत्तरदायित्व का दुमछल्ला लगा हुआ था। एक देश की वित्तीय व्यवस्था उसके मुद्रण और विनिमय से गहरा सम्बन्ध रखती है। और इस व्यवस्था को स्थिरता के लिये दूसरे विषयों पर नियत्रण रखना जरूरी है। इन कारणों के श्वेत पत्र (White paper) में यह सुझाव रखा गया कि सघ राज्य की स्थापना से पूर्व एक सचित अधिकोष का बनाना आवश्यक है जिसे मुद्रण और ऋण को नियन्त्रित करने, नोट छापने और सचय करने का काम मिल जाय। भारतीय व्यवस्थापक मण्डल ने १६३४ ई० में सचित अधिकोष सम्बन्धी तक अधिनियम बनाया और तदनुसार १९३५ से कार्यारम्भ हो गया।

इस अधिकोष का प्रबन्ध एक केन्द्रीय दिग्दर्शक मण्डली (Control Board of Directors) को सौंपा गया जिसमें सकौंसिल गवर्नर जनरल द्वारा युक्त एक गवर्नर और दो डिप्टी गवर्नर, उन्हीं के द्वारा मनोनीत चार दिग्दर्शक, हिस्सेदारों द्वारा निर्वाचित आठ दिग्दर्शक और भारत सरकार द्वारा मनोनीत एक सरकारी पदाधिकारी सम्मिलित थे। गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना कोई विधेयक भारत के सचित अधिकोष मुद्रण अथवा टकण के विषय में व्यवस्थापक सभा में नहीं रखा जा सकता था।

गवर्नर, डिप्टी गवर्नर को नियुक्त करने, पद से हटाने, उनके वेतन नियत करने दिग्दर्शक मडली के ऊपर अधिकार रखने, अधिकोष को भग करने और दिग्दर्शकों का काम निर्देशन करने अथवा उन्हें पहले अलग करने में गवर्नर जनरल का स्वविवेक (Discretion) कार्य करता था।

उधार इत्यादि का लेना

उधार लेने के सम्बन्ध में भी इस ऐक्ट में बहुत से उपबन्ध हैं, जिनमें जाने की आवश्यकता नहीं। इसमें आडीटर जनरल की नियुक्ति का भी उल्लेख था जिसका कार्य सघीय और प्रान्तीय व्यय सम्बन्धी हिसाब की जाँच करना था। सम्राट् ही उन्हें नियुक्त कर सकते या हटा सकते थे। उनका और उनके कर्मचारी-वर्ग का वेतन, भत्ता और उत्तर-वेतन (Pension) सघीय कोष से ही दिया जाता था।

१९३५ के ऐक्ट के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकार

परिचयात्मक—१९३२ ईस्वी के अधिनियम द्वारा केन्द्रीय सरकार की अपेक्षा प्रान्तीय सरकारों में अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। गवर्नरों के प्रति पूर्ण स्वशाली राजनैतिक इकाइयाँ बन गई। प्रत्येक प्रांत में कार्यकारिणी और व्यवस्थापक सभायें बना दी गई जिनका अपने अपने कार्यक्षेत्र में अनन्य [Exclusive) अधिकार था। यह कार्यक्षेत्र सुनिश्चित और पूर्णतया प्रान्तीय विषयों से सम्बन्धित था जिसके ऊपर केन्द्रीय सरकार और केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल का नियंत्रण साधारणतया नहीं था। तब से प्रांत प्रत्यायुक्त अधिकार (delegated authority) वाले कोरे प्रादेशिक विभाग ही न रहे, बल्कि उन्हें एक स्वतंत्र व्यक्तित्व और सम्मान प्राप्त हो गया। आज भी उनका वही दर्जा है जो १९३५ के ऐक्ट से उन्हें प्राप्त था। इसको प्रांतीय स्वशासन कहा जाता है। पहले हमें स्वशासन का भावार्थ समझ लेना चाहिये।

प्रान्तीय स्वशासन—प्रांतीय स्वशासन की स्थापना पहली अप्रैल १९३७ ई० को हुई। इसके निम्नलिखित दोनों में से एक या दोनों अर्थ हो सकते हैं—(i) प्रांतीय सरकार के बाह्य नियंत्रण से मुक्ति (ii) प्रांतों में उत्तरदायी शासन की स्थापना। ज्वाइण्ट पार्लमेंट्री कमेटी ने इसकी पहली परिभाषा को अपनाया, जिसके अनुसार प्रांतीय कार्यकारिणी के धारासभा के प्रति उत्तरदायित्व पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। इस कमेटी ने केवल यह तथ्य स्वीकार किया कि प्रान्तीय सरकार को केन्द्रीय सरकार से करीब-करीब पूरी स्वतन्त्रता मिल जाय। परन्तु साधारणतया इस परिभाषा को नहीं माना जाता। चूंकि इसके अनुसार तो देशी रियासतें और ९३ सेक्शन * से प्रशासित प्रांत भी स्वशासी कहलाये जा सकते थे। इस संकुचित अर्थ में प्रांतीय स्वायत्त शासन का स्थापित करना ऐक्ट का अभिप्राय न था। १९३५ ई० के ऐक्ट में केवल केन्द्रीय नियंत्रण से ही प्रांतों को मुक्ति नहीं मिली, बल्कि उनमें कार्यकारिणियों को प्रांतीय प्रशासन से सम्बन्धित सभी मामलों में प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं के प्रति उत्तरदायी बना दिया। परन्तु यह भी ध्यान रखने योग्य है कि ऐक्ट में प्रांतों को पूर्णरूपेण स्वशासन और उत्तरदायित्व देने का विचार नहीं था। यह बात गवर्नरों को दिये गए विशेषाधिकार और विशेष उत्तरदायित्वों से स्पष्ट प्रकट है जिनके पालन करने में वे गवर्नर जनरल थे। और उनके द्वारा भारत मंत्री के प्रति उत्तरदायी थे। अधिकार के प्रयोग करने के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल हिदायत दे सकते थे। गवर्नर के

* १९३५ के गवर्नमेंट आफ इन्डिया ऐक्ट के ९३ सेक्शन के अनुसार गवर्नर प्रांतीय धारासभा और मन्त्रिमण्डल को विसर्जित करके स्वयं सारे प्रशासन की बागडोर संभाल सकता था।

विशेषाधिकार और उत्तरदायित्व का प्रयोग वास्तविक और पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ बेमेल था। उसने जनता के प्रतिनिधियों के अधिकारों को बुरी तरह सीमित कर दिया।

प्रान्तीय कार्यकारिणी (1) गवर्नर— सम्राट् के प्रतिनिधि की हैसियत से गवर्नर को प्रांतीय कार्यकारिणी के सभी अधिकार प्राप्त थे। इस प्रकार उनका सम्बन्ध सीधा ब्रिटिश सम्राट् से हो गया और अब वे पहली तरह भारत सरकार के आधीन नहीं रहे। गवर्नर के ये अधिकार केवल प्रान्तीय विषयों तक ही सीमित थे; संघीय सूची से इन्हें मतलब न था। ये अधिकार या तो गवर्नर महोदय स्वयं प्रयोग करते या अपने आधीन कर्मचारी वर्ग से कराते थे।

केन्द्रीय शासन में गवर्नर जनरल की भाँति प्रांतीय सरकार में गवर्नर अपने अधिकार तीन प्रकार से उपभोग में ला सकते थे। कुछ विषयों में वे विवेक से कार्य करते थे। अर्थात् उन विषयों में वह मन्त्रिमण्डल का परामर्श लेने के लिये बाध्य नहीं थे। कुछ दूसरे विषयों में वे वैयक्तिक निर्णय (individual judgment) से कार्य करते थे अर्थात् इनमें वैधानिक दृष्टि से उन्हें मन्त्रियों की सलाह लेना तो आवश्यक था, परन्तु इसे मानने न मानने की उन्हें पूर्ण स्वाधीनता थी। तीसरी तरह के मामलों में उन्हें मन्त्रियों की सलाह से कार्य करना पड़ता था। केवल इस तीसरे क्षेत्र में ही, यह कहा जा सकता है, कि उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई। जिन विषयों को ऐक्ट के द्वारा गवर्नर के विवेक और वैयक्तिक निर्णय पर छोड़ दिया गया, वे बहुत थे। उन्होंने मन्त्रियों के उत्तरदायित्व के कार्यक्षेत्र को बहुत ही सीमित कर दिया।

आगे उन मुख्य-मुख्य विषयों का उल्लेख है, जिनमें गवर्नर को स्वविवेक प्रयोग करने का अधिकार था। (i) अपने मन्त्रिमंडल की बैठकों में सभापतित्व करना। (ii) विद्रोह के अपराधियों का दमन। (iii) क्रान्तिकारियों की कार्यवाही के विषय में पुलिस द्वारा खोज किये हुए भेदों को गुप्त रखने के बारे में नियमों का बनाना (iv) सचिव और मंत्रियों से सूचना ग्रहण करने के विषय में नियमों का बनाना (v) व्यवस्थापक सभाओं में किसी विधेयक अथवा उसके मसौदे पर वाद विवाद रोकना, (vi) अन्य आदेशों का जारी करना, (vii) गवर्नर के ऐक्टों का बनाना अथवा (viii) धारासभाओं द्वारा पास किये गये विधेयकों को अस्वीकार करना। अपने विशेष उत्तरदायित्व का पूरा करने के लिये उन्हें वैयक्तिक निर्णय के अधिकार मिले हुए थे। इनमें निम्नलिखित हैं —(i) प्रांत के अथवा उसके किसी भाग में शांति और सुव्यवस्था के भंग करने वाले खतरा का दूर करना। (ii) अल्पसंख्यक जाति और सरकारी नौकरों के उचित हितों की रक्षा करना, (iii) अपवर्जित क्षेत्र (Partially excluded

areas) में शांति और सुप्रबन्ध की व्यवस्था करना, (iv) और देशी रियासतों और उनके राजाओं के अधिकारों और मर्यादा की रक्षा करना। और भी कुछ विषयों में वे मन्त्रियों की सलाह को ठुकरा सकते थे। उदाहरणार्थ—महाधिवक्ता (Advocate General) की नियुक्ति, व्यवस्थापक मण्डल की बैठकों के बीच की अवधि में अध्यादेशों का प्रवर्तन और पुलिस के नियमों में परिवर्तन।

गवर्नर संविधान के स्थगित करने की घोषणा कर सकते थे। ऐसे अवसरों पर उच्च न्यायालय (High Courts) के अतिरिक्त समस्त प्रशासन वे स्वय ही चलाते थे। इस सबसे यह स्पष्ट है कि गवर्नर केवल वैधानिक प्रमुख ही न थे, प्रांत का प्रशासन उनका बहुत ही गौरवमय स्थान था।

प्रान्तीय मन्त्रिमन्डल—१९३५ के शासन विधान के अनुसार प्रत्येक प्रांत के प्रशासन में गवर्नर की सहायता करने और उनको परामर्श देने के लिये एक मन्त्रिमंडल होता था। गवर्नर अपने विवेक के अनुसार मन्त्रियों की नियुक्ति करने के अधिकारी थे, परन्तु व्यवहार में वे प्रांतीय असेम्बली में बहुमत प्राप्त दल के नेताओं का मुख्य मंत्री चुनकर उन्हीं के परामर्श से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करते थे। मन्त्रियों का कार्यकाल गवर्नर की इच्छा पर निर्भर था, परन्तु वास्तव में उन्हें तब तक आसीन रखा जाता था, जब तक व्यवस्थापक सभा में उन्हें बहुमत का विश्रम्भ (Confidence) प्राप्त हो। केवल एक या दो अवसरों पर ही गवर्नर ने मन्त्रियों को, बहुमत का विश्रम्भ मिलने पर भी, पदच्युत कर दिया। मन्त्रिमन्डल के प्रत्येक जाति के आधीन एक या अधिक विभाग रख दिये जाते थे और उनके प्रशासन के लिये वे व्यवस्थापक मण्डल के प्रति उत्तरदायी थे। प्रत्येक मन्त्री की सहायता के लिये एक या अधिक सचिव अर्थात् पार्लमेंट्री सेक्रेटरी रखे गये। प्रत्येक विभाग का कार्य चलाने के लिये बहुत बड़ा स्थायी कर्मचारी वर्ग था, मन्त्रिमंडल सामूहिक रूप से असेम्बली के प्रति उत्तरदायी था।

प्रांतीय व्यवस्थापक मण्डल—१९३५ ई० के ऐक्ट ने प्रांतीय व्यवस्थापक मन्डलों की रचना में एक नवीनता ला दी। कुछ प्रांतों में इन मण्डलों को पहली बार द्विआगारिक बना दिया था। छ प्रान्तों (आसाम, मद्रास, बम्बई, बंगाल, बिहार और यू० पी०) के लिए दो सभाओं के व्यवस्थापक मण्डल की व्यवस्था की गई और शेष पांच प्रान्तों (उड़ीसा, सिंध, पंजाब, सी० पी०, और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त) के लिए एक की। द्विआगारिक मण्डलों के स्थापित करने के क्या क्या कारण थे उनमें हमें जाने की आवश्यकता नहीं। यह ध्यान देने की बात है कि हमारे नये संविधान ने भी कई राज्यों में द्विआगारिक विधान मंडल स्थापित किये हैं। प्रत्येक प्रान्त में निचले आगार की विधान सभा अर्थात्

असेम्बली नाम था और दूसरे (अपर) आगार को विधान परिषद् (Legislative council) कहते थे। असेम्बली मे सभी निर्वाचित सदस्य होते थे, इनमें मनोनीत सदस्य नहीं थे। परिषद् के अधिकाश सदस्य भी चुने ही जाते थे, कुछ थोड़े से सदस्यों का नाम निर्देशन गवर्नर करता था। इन सभाओ के सदस्यों की सख्या प्रत्येक प्रान्त मे भिन्न भिन्न थी। असेम्बली का कार्यकाल पाँच वर्ष निर्धारित था। गवर्नर को निश्चित अवधि के पहिले भी उसे भग करने का अधिकार था। प्रत्येक असेम्बली और कौंसिल की रचना का ब्यौरा देने की आवश्यकता नहीं है। केवल यह याद रखने के योग्य है कि इनके लिये साम्प्रदायिक आधार पर चुनाव किया जाता था। लगभग डेढ दर्जन जातियो और हितो को पृथक निर्वाचन के अधिकार दिये गये थे। यद्यपि १६१६ ई० के ऐक्ट की अपेक्षा १६३५ के सविधान मे चुनाव की योग्यताओं को घटा कर निर्वाचको की सख्या बढा दी गई परन्तु अब भी लगभग ८६ प्रतिशत ऐसे व्यक्ति रह गये जिन्हे निर्वाचन का अधिकार तथा निर्वाचन के अधिकार की योग्यता का माप-दण्ड सम्पत्ति, कर देने की क्षमता, और साहित्यिक ज्ञान पर आधारित था।

वित्त सम्बन्धी कानून विधान परिषद् में आरम्भ नहा हो सकते थ। न इनके सदस्यों को सरकारी मागो पर स्वीकृति देने का अधिकार था। इन प्रतिबन्धो के साथ दोनों आगारों को समानाधिकार थे। आर्थिक विधेयक के अतिरिक्त कोई भी बिल दोनो में से किसी भी आगार मे रखा जा सकता था। दोनो आगारो की समवर्ती स्वीकृति के बिना गवर्नर के निश्चायक हस्ताक्षर के लिये कोई भी बिल नहीं रखा जाता था

प्रान्तों मे पूर्ण उत्तरदायित्व स्थापित करने का यह फल हुआ कि प्रान्तीय विधान सभाओं को वित्तीय विषयो में पहिले से कहीं अधिक नियन्त्रण प्राप्त हो गया। परन्तु व्यय की कुछ मद असतदेय बता दी गई। असतदेय व्यय के निम्न पद हैं.—गवर्नर का वेतन, भत्ता और उनके कार्यालय से सम्बन्धित अन्य व्यय, महाधिवक्ता, मत्री, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन और अधिदेय। अपवर्जित क्षेत्रों के प्रशासन पर व्यय, ऋण और—ट्रिब्यूनल कोर्ट के निर्णय के सम्बन्ध मे खर्च की हुई रकम। इन मदो मे से गवर्नर के वेतन और भत्ते के ऊपर तो सभाओ में बहस भी न की जा सकती थी, शेष के ऊपर वाद विवाद तो हो सकता था परन्तु उस पर मतगणना न कराई जा सकती थी। मतदेय व्यय की मागे असेम्बली की स्वीकृति के लिये रखी जाती थीं। असेम्बली मागों को कम कर सकती, स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती थी। मागों को बढाने या उनमें परिवर्तन करने का उसे अधिकार न था। परन्तु यदि गवर्नर अपने विशेष उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिये आवश्यक समझें तो वे कम की हुई अथवा अस्वीकार की हुई मागो को बहाल कर सकते थे। इस प्रकार असेम्बली के वित्त सम्बन्धी अधिकार परिमित थे।

प्रांतीय व्यवस्थापक मण्डल को प्रशासन के नियन्त्रित करने का अधिकार था। इस अधिकार का कई प्रकार प्रयोग किया जाता था। व्यवस्थापक मण्डल का कोई सदस्य मन्त्रिमण्डल से प्रशासन सम्बन्धी प्रश्न और अनुपूरक प्रश्न पूछ सकता था, सूचना माँग सकता था और उसकी नीति का विरोध करने के लिये अधिवेशन को स्थगित करा सकता था। विरोधात्मक प्रस्ताव पास करके व्यवस्थापक मण्डल मन्त्रिमण्डल के किसी प्रस्ताव का विरोध कर सकता था और अविश्वास के प्रस्ताव को पास करके उसे पदच्युत कर सकता था। प्रशासन पर नियन्त्रण करने के ये कुछ तरीके हैं जिनका उपयोग धारा सभाएं किसी भी समय कर सकती थीं। परन्तु जिन विषयों पर गवर्नर स्वविवेक से प्रशासन करते या वैयक्तिक निर्णय का उपयोग करते, उनपर धारा सभाओं का कोई नियन्त्रण न था। केवल मन्त्रिमण्डल के उत्तरदायित्व के क्षेत्र पर ही उन्हें अधिकार प्राप्त थे। चूंकि उत्कृष्ट सरकारी नौकरियाँ मन्त्रिमण्डल के अधिकार क्षेत्र में नहीं आती थीं इसलिए इस तथ्य के कारण भी व्यवस्थापक मण्डल का शासन के ऊपर से निरीक्षणाधिकार कम था।

प्रान्तीय धारा सभाओं को विचार विमर्श (deliberation) के भी अधिकार थे। नीति सम्बन्धी महत्वशाली प्रश्नों पर वे प्रस्ताव रख सकती थीं परन्तु इन प्रस्तावों अथवा इनसे सम्बन्धित प्रश्नों पर अवरोध लगा सकते थे।

गवर्नर को प्रान्तीय धारा सभाओं से सम्बन्ध रखने वाले कुछ अधिकार थे। वे एक या दोनों आगारों की बैठक बुला सकते थे और उनका सत्रावसान- (Prorogue) कर सकते थे। निश्चित अवधि से पूर्व वे असेम्बली को भंग कर सकते थे। वे एक अथवा दोनों सभाओं को एक साथ सम्बोधित (address) कर सकते थे और ऐसे अवसरों पर सदस्यों की अनिवार्य उपस्थिति कर सकते थे। व्यवस्थापक मण्डल में पेश किये हुए विधेयकों के विषय में भी उन्हें अभिभाषण भेजने का हक था। आपसी विरोध को दूर करने के लिए वे दो सभाओं का संयुक्त अधिवेशन बुला सकते थे। जैसा कि पहिले भी संकेत किया जा चुका है कोई भी विधेयक उनकी स्वीकृति के बिना परिनियत पुस्तक (statute Book) में नहीं चढ़ाया जा सकता था।

इसके अतिरिक्त गवर्नर की कानून सम्बन्धी असाधारण शक्ति थी। वे अधिवेशनों के बीच बीच में अथवा उनके कार्यकाल में अध्यादेश प्रचलित कर सकते थे। यदि वे अपने कार्य के सम्पादन के लिये आवश्यक समझें तो स्वयं ही कोई अधिनियम बनाकर परिनियत पुस्तक में चढ़ा सकते थे चाहे धारा सभाएँ ऐसे अधिनियम पर विचार करने से इन्कार ही क्यों न करें। इस प्रकार का अधिनियम गवर्नर का ऐक्ट कहलाता था और उसके अनुसार उसी प्रकार

व्यवहार होता था जैसे सभाओं द्वारा पारण किये हुए अधिनियमों मे। एक प्रकार के अध्यादेश वह अपने विवेक के अनुसार जारी कर सकते थे जो कि केवल छ मास तक प्रभावी होते थे। ऐसे अध्यादेश किसी आकस्मिक संकट (Emergency) में गवर्नर जनरल की पूर्वानुमति से प्रचलित किये जाते थ। दूसरे किस्म के अध्यादेश अधिवेशनो के अभाव मे मन्त्रियों की सलाह से जारी किये जाते थे और बैठक के समय उन्हें सभाओं के सामने रखना आवश्यक था। सभाओं की बैठक प्रारम्भ होने के ६ सप्ताह के पश्चात् ऐसे अध्यादेश प्रभाव शून्य हो जाते थ।

प्रान्तीय शासन का कार्यान्वित रूप—यद्यपि १६१६ ई० के ऐक्ट की अपेक्षा १६३५ के एक्ट ने प्रान्तो को स्वशासन सम्बन्धी अधिक अधिकार दिये परन्तु देश का प्रगतिशील लोकमत इन सुधारो से पूर्णतया असन्तुष्ट था जैसा कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जयपुर अधिवेशन के प्रस्तावों और इसके विश्वस्त नेताओं की वक्तृताओं से प्रगट होता है। इस असंतोष के कारणो मे से कुछ कारण गवर्नर जनरल और प्रान्तीय गवर्नरों के विशेषाधिकार और उत्तरदायित्व हैं जिनका इस अधिनियम मे प्रमुख स्थान था और जो कि उतने ही विशेष हैं जितने कि जनता को सत्ता हस्तान्तरित करने के प्रस्ताव। यह सब कुछ होते हुए भी १६३७ ई० क चुनावो मे कांग्रेस ने भाग लिया और बहुत से प्रान्तो मे बहुमत प्राप्त कर लिया। ग्यारह में से छ प्रान्तों का निचली सभा मे इसे बहुमत मिला और दो प्रान्तो में जहा इसे बहुमत प्राप्त न हुआ यह सबसे बडा दल था। अब कांग्रेसी नेताओं के सम्मुख इस बहुमत का उचित उपयोग करने की समस्या आई। इसका एक वर्ग जिसका नेतृत्व श्री राजगोपालाचार्य कर रहे थे पद ग्रहण करके कांग्रेस की स्थिति को सुदृढ बनाने के पक्ष मे था। दूसरे समूह के नेता तत्कालीन राष्ट्रपति प० जवाहरलाल नेहरू थ जो कि उपरोक्त नीति के पक्ष मे नहा थे। महात्मा गान्धी ने एक मध्यस्थ की भांति यह परामर्श दिया कि यदि गवर्नर इस बात का विश्वास दिलायें कि वे अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग न करेंगे, और मन्त्रिमडल की कार्यवाही में हस्तक्षेप न करेंगे तो पद ग्रहण करने मे कोई हानि नहा। दूसरे शब्दों मे कांग्रेस की यह माग थी कि गवर्नर अपने विशेषाधिकार और शक्ति का परित्याग करके एक वैधानिक प्रमुख के रूप में काम करें। इस प्रकार से वचनबद्ध होना गवर्नरों ने स्वीकार नहीं किया चूंकि वैधानिक दृष्टि से वे ऐक्ट द्वारा दी गई शक्तियों के छिन जाने के लिये प्रस्तुत न थे। इस वजह से कांग्रेस ने पद स्वीकार नहीं किये। ऐसी परिस्थिति में जबकि बहुमतवाले दल ने उत्तरदायित्व ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया गवर्नरों ने मध्यवर्ती (Interim) मन्त्रिमडलों का निर्माण किया। इस अवकाश मे ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस ने अपनी अपनी नीतियों को प्रतिपादित किया। दोनों पक्षों के प्रवक्ताओं के वक्तव्यों ने स्थिति को और अधिक स्पष्ट कर दिया। २१ जून १६३७ ई० को वायसराय (लार्डलिनलिथगो)

की वक्तृता के प्रकाशित होने के पश्चात् कांग्रेस ने यह अनुभव किया कि अब गवर्नरों को अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करना आसान नहीं रहा। इस लिये कांग्रेस की कार्य कारिणी ने कांग्रेस के सदस्यों को, जहां कहीं भी सम्भव हो, पद ग्रहण करने का आदेश दे दिया। कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के बीच इस समझौते द्वारा एक प्रकार से १६३५ के विधान की रूप रेखा ही बदल गई और इसके शुष्क पिञ्जर में नई जान पड़ गई। उसने उत्तरदायी शासन को बहुत कुछ वास्तविक बना दिया। इस सब का श्रेय गांधीजी की अद्भुत राजनैतिक समझ और बुद्धिमत्ता को है।

जुलाई १६३७ में कांग्रेस ने पद ग्रहण किये और वह १६३६ के अक्तूबर के अन्त तक पदासीन रही जबकि आठ प्रांतों से कांग्रेस मन्त्रिमंडल ने ब्रिटिश सरकार की युद्ध नीति के विरोध में अपने त्याग पत्र दे दिये। दो वर्ष से कुछ अधिक की इस अवधि में हमने बहुत सी बातें सीखीं।

नये प्रयोग ने पोप के निम्नांकित कथन की सत्यता की पुष्टि की।

"शासन प्रणालियों के बारे ता में बुद्धिहीन मनुष्य ही झगड़ते हैं, वही सरकार सबसे अच्छी है जिसका सर्वश्रेष्ठ प्रशासन हो।" *

सन् १६३५ के संविधान के कार्यान्वित किये जाने से पहले बहुत कम लोग इस विषय का अनुमान लगा पाये थे कि एक्ट के द्वारा इतने बड़े अधिकारों का हस्तान्तरण हो सकेगा। जो लोग सरक्षित अधिकार और विशेष उत्तरदायित्वों पर अधिक बल देते थे उन्हें कभी स्वप्न में भी यह विचार नहीं आता था कि उन सप्रतिबन्धों के द्वारा भी कार्य संचालन हो सकता है जो चारों ओर से आरक्षण और अभिरक्षणों की सुदृढ़ दीवारों से घिरी थी परन्तु, वास्तव में, जिन्होंने संविधान के निर्जीव-से ढांचे में स्वाधीनता की रूह फूंकी। यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस अवकाश में प्रान्तों में बहुत बड़ी हद तक स्वशासन का प्रस्थापन हुआ।

इस सफलता का आधार ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस के बीच का समझौता था जिसके अनुसार गवर्नर मन्त्रिमंडल के कार्यों में बहुत कम हस्तक्षेप करते थे और इसी कारण मन्त्रियों को अधिक अवसर थे कि वे जनता को दिए हुए वायदों को पूरा कर सकें। यह कहा जा सकता है कि नवीन व्यवस्था में गवर्नर प्राय. संविधान प्रमुख हो गये और प्रशासन का वास्तविक अधिकार मन्त्रियों के हाथ में आ गया। परन्तु कुछ

---

*For forms of Government let fools contest.
What ever is best administered is best

लोग ऐसे भी विचार रखते हैं कि इस अधिनियम के कार्यान्वित होने की सफलता का कारण काग्रेस मन्त्रियों की नीति थी जिसके अनुसार इन लोगों ने ऐसे विषयों को छूआ ही नहीं जिनसे ब्रिटिश अधिकारियों के साथ झगडे के अवसर आते। सच तो यह जान पडता है कि यदि एक ओर काग्रेस मन्त्रियों ने ऐसे झगडे नहीं उठाये जिनके कारण गतिअवरोध हो सकता तो दूसरी ओर वह अपनी उन नीतियों का पालन करने में उन्होंने इस भय को हृदय से निकाल दिया कि गवर्नर उनके मार्ग मे रोडे अटकाएगे। एक या दो अवसरों पर राजनैतिक कैदियों की मुक्ति के विषय मे बिहार और यू० पी० मे गवर्नर के साथ उनका मतभेद हो गया जिसके कारण उन्हें त्यागपत्र देने पडे। मतभेद के दूर होते ही उन्होने फिर से आसन ग्रहण कर लिये।*

नई व्यवस्था में समझौते की किन किन मुख्य बातो मे योग दिया गया इनका उल्लेख शिक्षाप्रद होगा। पहली बात यह थी कि गवर्नर मन्त्रियों की नियुक्ति बहुमत के नेता के परामर्श से करते थे न कि स्वविवेक से। प्रमुख मन्त्री अन्य मन्त्रियों की जो सूची तैयार करते थे उसमे गवर्नर कोई परिवर्तन न करते थे। दूसरे व्यवहार में प्रमुख मन्त्री का पद स्वीकार कर लिया गया जबकि ऐक्ट मे इसका कोई जिक्र न था। तीसरे काग्रेस ने सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना की ओर प्रोत्साहन दिया। काग्रेस ने किसी भी प्रान्त में सयुक्त मन्त्रिमण्डल (Coalition ministry) बनाना स्वीकार नहीं किया। अन्तिम बात यह थी कि मन्त्रियों का गवर्नरों की स्वेच्छा से नहीं बल्कि विधान-मण्डल के विरोध से पदच्युत किया जा सकता था। जब तक इन लोगो को बहुमत प्राप्त था तब तक वे लगातार कार्य सचालन कर सकते थे।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि मन्त्रियों का पूर्ण अधिकार थे। बहुत सी सीमाओं के बीच उन्हें अपना काम चलाना पडता था। वे इस वास्तविक तथ्य को नहीं भूल सकते थे कि अधिनियम के अनुसार गवर्नर के महान् अधिकार हैं, और ये मन्त्रियों की सलाह को अस्वीकार कर सकते थे। कदाचित इसी प्रतीति के कारण मन्त्री लोग क्रान्तिकारी नीति और योजनाओं का प्रचार करने से हिचकते थे फिर आर्थिक कठिनाई भी थी प्रान्तीय सरकारों को आमदनी के अप्रत्यास्थ साधन (inelastic resources) दिये गये। आर्थिक तगी के कारण वे नई योजनाए कार्यान्वित नहीं कर पाते थे। कुछ बाधाए उन उपबन्धों के कारण भी उपस्थित हो जाती थीं जो केन्द्र और प्रातो के पारस्परिक सम्बन्ध से ताल्लुक रखती थीं।

परन्तु यह भाग्य मे नहीं लिखा था कि कांग्रेस अधिक समय तक पदारूढ रहकर जनता की सेवा कर सके। १६३६ ई० में दूसरे महायुद्ध के छिडते ही इसके मन्त्रिमण्डलों

---

* जो पाठक इस विषय में अधिक विस्तारपूर्वक अध्ययन करना चाहते है उन्हें मसानी और चिन्तामणी द्वारा लिखित India Constitution at Work नामक पुस्तक काSubsequent Working शीर्षक का परिच्छेद पढ लेना चाहिए।

से पद त्याग करना। जिस प्रकार केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल और प्रांतीय सरकारों की सलाह लिये बिना गवर्नर जनरल ने भारत को ब्रिटेन और मित्र राष्ट्रों का साथी बनाकर इसे एक युद्धकारी (belligerant) देश घोषित कर दिया उस ढग के विरुद्ध कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने आपत्ति प्रकट करने के लिए अक्तूबर में त्यागपत्र दे दिये।*

उनका स्थानापन्न करने के लिये गवर्नर और मन्त्रिमण्डल न बना सके। इस-लिए ऐसे आठ प्रान्तों में जहा कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने इस्तीफा दिया, संविधान का स्थगित कर दिया गया। ६३ सेक्शन के अनुसार उन्होंने प्रशासन चलाने और कानून का सभी भार अपने कन्धों पर संभाल लिया। इस तरह उन प्रान्तों में उत्तरदायी शासन का अन्त हो गया और उसके स्थान पर स्वेच्छाचारिता को प्रश्रय मिला। इसके पश्चात बहुत दिनों तक इसी प्रकार की धाधली चलती रही। १६४६ की लार्ड वैवल द्वारा आयोजित की हुई शिमला कान्फ्रेंस ने देश-वासियों के हृदय में फिर कुछ आशाएं पैदा की परन्तु वह कान्फ्रेंस असफल हो गई। नये चुनावों के पश्चात् ही वास्तव में उत्तरदायी-शासन फिर से सभी प्रान्तों में चलाया जा सका।

यह उल्लेख भी अभिरुचिपूर्ण है कि कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के त्याग का उन प्रान्तों के भी स्वशासन पर प्रभाव पड़ा जहा कि कांग्रेस का मन्त्रि मण्डल नहीं था और जहा कि शासन विधान बाह्य रूप से ज्यों का त्यों रखा गया। कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के दो वर्ष के कार्य काल में जिस उत्साह से काय किया गया वह बाद में लुप्तप्रायः हो गया और गवर्नर दिन प्रति दिन के प्रशासन में हस्तक्षेप करके मन्त्रियों के ऊपर स्वेच्छा को बरतने लगे। सिन्ध के प्रमुख मन्त्री स्वर्गीय श्री अलाबख्श को गवर्नर ने उनके पद से जिस प्रकार हटाया, जो पत्र डा० एस० पी० मुखर्जी ने त्यागपत्र देते समय बंगाल के गवर्नर को लिखा, जिस प्रकार बंगाल के प्रमुख मन्त्री श्री फजलुल्हक को एक मुस्लिमलीगी के लिए स्थान छोड़ने के लिये मजबूर किया गया—ये ऐसी घटनाएं हैं जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता। जिस प्रकार आसाम, उड़ीसा और सीमाप्रान्त में मुस्लिम लीग और कुछ कांग्रेस छोड़ने वाले सदस्यों की सहायता से मन्त्रियों की नियुक्ति की गई, और जिस ढग और रीति से उन्होंने कार्य किया—स्वयं अपनी कहानी कहते हैं। इन प्रान्तों में १६३६ के पश्चात् लोकप्रिय मन्त्रियों का शासन और निर्धारण में सक्रिय सहयोग नहीं लिया जाता था। इन सभी प्रांतों में भी गवर्नर ही सिविल सर्विस की सहायता से शासन करते थे। इन स्थानों में केवल नाम मात्र का उत्तरदायी शासन था और उसमें वास्तविकता कुछ भी न थी। यह सब बातें उस दल के पक्ष का समर्थन करती हैं जिनका यह मत था कि १६३५ के ऐक्ट में अधिक महत्व गवर्नर के विशेषाधिकार और विशेष उत्तरदायित्वों का है न कि जनता के प्रतिनिधियों के लिये सत्ता के हस्तान्तरण का।

* विस्तृत विवेचन के लिये पुस्तक का पहला भाग पढ़िये।

भारत मन्त्री इत्यादि—१६३५ के ऐक्ट के अनुसार भारत मन्त्री का भारत सरकार से किस प्रकार का नाता था, इसके बारे मे थोडा सा परिचय देना असगत न होगा।

पहिले ही यह बतलाया जा चुका है कि १६१६ ई० के ऐक्ट के अनुसार भारत मन्त्री को भारत सरकार के सभी कार्यों का निरीक्षण निर्देशन और नियन्त्रण करने का अधिकार था उस समय, वास्तव में, भारत की केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें भारत मन्त्री के अभिकर्ता (agent) के समान था। १६३५ ई० के ऐक्ट ने इस व्यवस्था को पूरी तरह बदल दिया। इसके अनुसार भारतीय सत्ता के ऊपर सम्राट को एकाधिकार था और गवर्नर जनरल और गवर्नर सीधे सम्राट के आधीन थे। इस सविधान में १६१६ ई० के ऐक्ट की भाति कहा भी यह जिक्र नहा है कि भारत मन्त्री का भारत के ऊपर निरीक्षण, निर्देशन तथा नियत्रण का अधिकार है। अब भारत मन्त्री का वह मुख्य स्थान नहा, इसकी जगह सम्राट (crown) ने ले ली। परन्तु यह स्थानान्तरण केवल वाह्य रूपक है और इसमे वास्तविकता अधिक नहा है। चूकि सम्राट का समस्त कार्य मत्रियों के परामर्श से ही चलता है इसलिये भारत मन्त्री की भारत सरकार सम्बन्धी शक्तिया सुदृढ और प्राय वैसी ही बनी रहा।

जिस सीमा तक १६३५ ई० के अधिनियम ने जनता के प्रतिनिधियों की सत्ता हस्तान्तरित की अर्थात् जहाँ तक प्रान्तीय गवर्नर अपने मत्रियों के परामर्श से कार्य करते रहे, वहा तक भारत मन्त्री का प्रशासन पर से नियन्त्रण हट गया। परन्तु गवर्नर के स्वविवेक और विशेष उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे यह बात न थी। इस कार्य क्षेत्र में गवनर भारत मन्त्री के आधीन थे और उन्हे इनके सभी आदेशो का पालन करना पडता था। यह उल्लेख भी वान्छनीय है कि सम्राट का सलाहकार होने के नाते भारत मन्त्री भारत से सम्बन्ध रखनेवाले सभी सकौंसिल आदेशो (orders in council) के बनाने मे सहायता देते थे। ये आदेश गवर्नर जनरल और गवनरो को आदेश-पत्र (instrument of instruction) गवर्नर और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति आदि से सम्बन्ध रखते थे। भारत मन्त्री को भारत सरकार की ओर से इगलैंड से उधार लेने, आल इन्डिया सर्विस के कर्मचारियों की नियुक्ति करने और उनका वेतन, भत्ते तथा उत्तर वेतन (Pension) के निश्चित करने और उनके हितों की रक्षा करने के सम्बन्ध में पूरा अधिकार था।

दूसरा आमूल परिवर्तन जो १६३५ ई० के अधिनियम के द्वारा दृष्टिगोचर हुआ वह इन्डिया कौंसिल का भग करना है। भारत में लगातार इस कौंसिल के प्रति असतोष प्रकट किया जा रहा था। परन्तु यह परिवर्तन भी केवल दिखावटी ही था

*हमें गवर्नर जनरल का जिक्र करने की आवश्यकता नहीं चूकि ऐक्ट के केन्द्र सम्बन्धी उपबन्ध कार्यान्वित ही न हो सके।

और इसमें वास्तविकता इतनी नहीं थी। नये अधिनियम मे भारत मन्त्री के परामर्शदाताओ (Advisers) की नियुक्ति का उल्लेख था। इन सलाहकारो की सख्या कम से कम तीन और अधिक से अधिक ६ निर्धारित थी। उनमे से आधे सदस्य ऐसे होते थे जो कम से कम दस वर्ष भारत में सम्राट की सरकार की सेवा कर चुके हों और जिन्हें नियुक्ति से पूर्व नौकरी छोड़े दो से अधिक वर्ष का अवकाश न बीता हो। इस प्रकार इन्डिया कौन्सिल परामर्शदाताओं के रूप मे बदल गया। सार्वजनिक नौकरियों से सम्बन्धित सभी विषयों में इन लोगो का परामर्श अनिवार्य था।

भारतीय हाई कमिश्नर—भारतीय हाई कमिश्नर का कार्यालय १६१६ के ऐक्ट के द्वारा स्थापित हुआ था। उस समय भारत मन्त्री की आढत सम्बन्धी सभी कार्यवाही हाई कमिश्नर के ऊपर छोड दी गई। १६३५ के अधिनियम ने इसके कार्यालय को अछूता रहने दिया। हाई कमिश्नर की नियुक्ति गवर्नर जनरल अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार करने लगे। उनका कार्य काल ५ वर्ष निश्चित था। उनका मुख्य कर्त्तव्य सघीय और प्रान्तीय सरकारो और ऐसी देशी रियासतो के लिए जो सघ मे सम्मिलित हो जाँय ऐसी वस्तुओ का सचय करना था जिनकी उन्हे आवश्यकता हो। उनसे यह आशा की जाती थी कि भारत के हितो को ध्यान में रखते हुए वस्तुए मन्दे से मन्दे बाजार में खरीदें। इगलैंड मे भारतीय विद्यार्थियो के लिए सुविधाए एकत्रित करना और उनकी भलाई का ध्यान रखना भी उनका एक कर्त्तव्य था।

आज कल भी इगलैन्ड में हाई कमिश्नर का पद है। भारत, पाकिस्तान और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत सभी उपनिवेश लदन में अपने-अपने हाई कमिश्नर रखते हैं जिनका कार्य ब्रिटिश सरकार और सम्बन्धित देशों के बीच एक गठबन्धन स्थापित रखना है।

पार्लमेन्ट का नियन्त्रण—१६३५ ई० के अधिनियम द्वारा भारत शासन सबन्धी ब्रिटिश पार्लमेन्ट के अधिकारो मे विशेष परिवर्तन नहा हुआ। वह अब भी भारत के लिये नियम और अधिनियम बना सकती थी। इस प्रकार यहाँ के प्रशासन मे परिवर्तन करने का उसे पूर्ण अधिकार था।

भारत के ऊपर ब्रिटिश ससद् की प्रभुता और उसका नियन्त्रण कई प्रकार प्रयोग मे लाया जाता था। नियन्त्रण का सबसे प्रमुख ढग भारत के वैधानिक विकास की प्रगति को निश्चित करना था। पार्लमेन्ट की प्राथना पर ही सम्राट सघ राज्य की घोषणा करते। दूसरे, उसे भारतीय व्यवस्थापक मण्डल क कानूनो के बदलने अथवा निराकरण करने और ब्रिटिश भारत के लिए कानून बनाने का अधिकार था। गवर्नर जनरल और गवर्नरों के आदेश-पत्रों और उनके सशोधनो का मसविदा पार्लमेन्ट मे पेश किया जाता था और पार्लमेन्ट की अनुमति के बिना उनपर कोई कार्यवाही नहा की जा

सकती थी। गवर्नर जनरल और गवर्नरों के ऐक्टों और अध्यादेशों की सूचना वजरिये भारत मंत्री ब्रिटिश संसद् की दोनों सभाओं का दी जानी आवश्यक थी। चूंकि ६००० मील की दूरी से वह भारत के ऊपर सीधा नियंत्रण न कर सकती थी इसलिये पार्लमेन्ट अभिकर्त्ता की हैसियत से भारत मंत्री की नियुक्ति की गई थी। भारत मंत्री के अधिकारों का हम पहिले ही उल्लेख कर चुके हैं। इस स्थान पर यह कहना आवश्यक है कि भारत मंत्री उन सभी अधिकारों के लिए ब्रिटिश संसद् के समक्ष उत्तरदायी थ। इसलिए भारत मंत्री के अधिकार क्षेत्र को भी पार्लमेन्ट के अधिकार क्षेत्र में सम्मिलित किया जा सकता है।

जब १६४७ ई० में भारत को एक उपनिवेश स्वीकार कर लिया गया तो यहाँ के प्रशासन का भार पूर्णतया यहा के निवासियों के कन्धों पर ही छोड़ दिया गया। यद्यपि उस समय भी भारत के ऊपर सम्राट की ही प्रभुता थी परन्तु ब्रिटिश संसद् का यहा क प्रशासन पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न रहा। अब पूर्ण स्वतन्त्रता पाने के साथ साथ सम्राट की प्रभुता भी समाप्त हो गई है। अब हम एक स्वतन्त्र देश के नागरिक हैं।

१६४७ के ऐक्ट के द्वारा किये गये संशोधन—इस अध्याय को समाप्त करने और नये संविधान का विश्लेषणात्मक परिचय प्राप्त करने से पहिले १६४७ ई० के ऐक्ट के संशोधनों का संकेत मात्र आवश्यक है। यह अधिनियम १६३५ के ऐक्ट और नये संविधान के बीच एक मध्यवर्ती आश्रम के समान है।

जब तक कि जनता के प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित संविधान सभा एक नया संविधान देश के लिये प्रस्तुत करे तब तक कुछ संशोधनों के पश्चात् १६३५ के ऐक्ट के अनुसार ही कार्यवाहन करना ठीक समझा गया। १६४७ ई० के ऐक्ट ने १६३५ ई० के ऐक्ट का कामचलाऊ रूप उपस्थित किया।

इस ऐक्ट के अनुसार केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल के स्थान पर संविधान सभा को स्थापित किया गया जो कि संविधान सम्बन्धी और कानून सम्बन्धी दोनों कार्य करे। इस सभा को बाह्य नियन्त्रण से पूर्ण मुक्ति मिल गया और इसे एक विधान-मण्डल के सभी अधिकार प्राप्त थे। इस ऐक्ट ने गवर्नर जनरल और गवर्नरों के बहुत से अधिकार छीन कर उन्हें केवल वैधानिक प्रमुख बना दिया। केन्द्रीय और प्रान्तीय कार्यकारिणी अब मंत्र मण्डल (cabinet) की भांति सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर कार्य करने लगी। इस ऐक्ट की एक विशेषता यह थी कि देशी रियासतों को उनकी स्वेच्छा पर छोड़ दिया कि वह भारत अथवा पाकिस्तान में से किसी के साथ भी निर्धारित शर्तों पर सम्मिलित हो अथवा सर्वथा पृथक रहें। रियासतों के ऊपर से सम्राट की छाया हट गई।

अध्याय ११

नये संविधान का सामान्य परिचय

परिचयात्मक—पहिले दो अध्यायों में १६१६ और १६३५ के अधिनियमों के मुख्य उपबन्धों की रूपरेखा पर साधारण दृष्टिपात करने के पश्चात् अब हम अपने वर्तमान शासन प्रबन्ध का अधिक विस्तार पूर्वक विवेचन करेंगे। नये संविधान की एक विशेष बात यह है कि इसको भारतीय जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों और राष्ट्रीय नेताओं ने बनाया है। इससे पहिले के सभी अधिनियम ब्रिटिश संसद् द्वारा बनाये गये थे जो कि एक बाह्य संस्था थी। किस प्रकार संविधान सभा अस्तित्व में आई और किन परिस्थितियों में इसने कार्यारम्भ किया—इन विषयों का विवेचन राष्ट्रीय आन्दोलन के अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं। नये संविधान को बनाने का महत् कार्य ६ दिसम्बर १६४६ को प्रारम्भ किया गया और २६ नवम्बर १६४६ को समाप्त कर दिया गया। २४ जनवरी १६५० को संविधान सभा ने डा० राजेन्द्र प्रसाद को भारतीय गणराज्य का प्रथम राष्ट्रपति चुन लिया और दो दिन बाद संविधान का प्रारम्भ करके यह सभा विसर्जित हो गई।

संविधान की मुख्य विशेषताएँ:—हमारा नया संविधान बहुत सी बातों में दूसरे देशों के संविधानों से भिन्न है। यह अपना एक विशेष अस्तित्व रखता है। इसका यह कारण है कि इसके निर्माताओं ने सभी प्रजातन्त्रात्मक देशों के अनुभवों से लाभ उठा कर उनकी सभी मूल्यवान बातों का सम्मिश्रण कर लिया है। प्रचलित सिद्धान्त और व्यवहारों को कहां-कहां अलग उठा रखने में भी ये लोग नहीं हिचके हैं। युद्ध और शान्ति के संकट काल का सामना करने के लिये इन्होंने वैधता और सकीर्णता की अधिक परवाह नहीं की। यह स्मरण रखने के योग्य है कि १६३५ के ऐक्ट के बहुत से आधारभूत उपबन्ध जो कि आवश्यक थे नये संविधान में यथावत् सम्मिलित किये गए हैं, इसके अतिरिक्त और हो भी क्या सकता था। कारण *यह है कि कुछ समय से देश का प्रशासन इसी के उपबन्धों के अनुसार चलाया* जाता रहा है।

नये संविधान ने भारत को राज्यों का एक संघ घोषित किया है। दूसरे शब्दों में, इसके द्वारा भारत में संघीय प्रणाली को प्रस्थापित किया गया है। एक और ज्ञातव्य बात यह है जबकि संयुक्त राज्य अमरीका, स्विटज़रलैंड और आस्ट्रेलिया

आदि दूसरे देशों मे कई स्वाधीन राज्यों को उनकी स्वेच्छा से एक प्रभुता सम्पन्न सत्ता के आधीन रखा गया, भारत मे इस प्रथा के विपरीत पहिले एकात्मक शासन को कई स्वशासी इकाइयों में बाँटा गया और फिर उनसे मिला कर एक सघ बनाया गया। इस दृष्टि से नये सविधान के ऊपर १९३५ के ऐक्ट का आभार है। जैसा कि पूर्वगामी अध्याय में बताया जा चुका है १९३५ ई० के अधिनियम के द्वारा भारतवर्ष को एकात्मक शासन से सघात्मक प्रणाली मे बदलने की कल्पना पहली बार की गई।

इस सविधान की दूसरी विशेष बात यह है कि इसने एक सुदृढ केन्द्रीय, राष्ट्रीय सरकार को प्रश्रय दिया है। सघीय सरकार को विशेष अधिकार सौंपने में इसने अमेरिका के अनुभव से लाभ उठाया है जहाँ कि आधुनिक समय में सघीय सरकार की शक्तियों और अधिकारों में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। आजकल ससार के समस्त सघीय सविधानों की यह धारणा है कि केन्द्र को अधिकाधिक सबल बनाया जाय। हमारे सविधान के अनुसार अवशिष्ट अधिकार केन्द्र को सौंपे गये हैं न कि राज्यों को।

इस सविधान की तीसरी यह विशेषता है कि सकट काल मे इसे सघात्मक से एकात्मक शासन पद्धति में परिवर्तित किया जा सकता है। राष्ट्रपति को आपत्-कालीन शक्तियाँ प्रदान करके इस बात को सम्भव बना दिया गया है। उनकी असाधारण शक्तियों के प्रभाव से राज्यों मे स्वशासन को प्राय स्थगित किया जा सकता है। ससार की किसी दूसरी सघात्मक शासन पद्धति में इस प्रकार की व्यवस्था नहा है।

चौथी ज्ञातव्य बात यह है कि इस सविधान ने राज्यो को सविधान बनाने के सम्बन्ध में कोई अधिकार नहीं दिया है, ये राज्य अपना सविधान बनाने, उसे बदलने अथवा विघटित करने का कोई अधिकार नहीं रखते न कोई राज्य सघ के बाहर जा सकता है। राज्यों को अपना सविधान बनाने और सघ से पृथक होने के अधिकार, कदाचित् देश की एकता की रक्षा को सदैव कायम रखने के विचार से, नहीं दिये गए हैं। यह सविधान सर्वदा इस भावना को लेकर चला है कि हमारा देश एक सुगठित इकाई है जिसमें एक ही सत्ता के आधीन एक जन-समुदाय निवास करता है।

इसी विचार से सम्बद्ध इस सविधान की एक और विशेषता है। यद्यपि इसमे द्विशासन, द्वि विधान मण्डल और द्वि-कार्यपालिकाए है फिर भी इसमें सम्यक नागरिकता का समावेश करने के कारण हमारा सविधान अमरीका के सविधान से सर्वथा भिन्न है जिसने दुहरी नागरिकता के सिद्धान्त को अपनाया है। सम्यक

नागरिकता के साथ साथ संविधान ने देश को एक सम्यक् सुसंगठित न्याय-पालिका (Judiciary) एक अखिल भारतीय लोक सेवा आयोग और समस्त देश में एक ही व्यवहार विधि और दण्ड विधि को प्रश्रय दिया है। यह कहा जा सकता है कि संघा-त्मक शासन के होते हुए भी संविधान ने भारत की एकता को सुरक्षित और सुव्यव-स्थित रखने का प्रयत्न किया है। कदाचित् इसी कारण से भारत को राज्यों का संघ (Union of states) नाम दिया गया है और इसने अंग्रेजी शब्द फैडरेशन के प्रयोग का बहिष्कार कर दिया गया है।

प्रत्यास्थता (elasticity) अथवा आनम्यता (flexibility) इस संविधान के अन्य प्रमुख गुण हैं। संशोधन के कोरे शिष्टाचार को पूरा किये बिना परिस्थितियों के अनुकूल इसे तुरन्त भी बदला जा सकता है इस सीमा तक इसमें आनम्यता का गुण विद्यमान है। संविधान सभा ने इसे सर्वान्त (Final) और पूर्णतया त्रुटिमुक्त (infallible) भी नहीं बतलाया है और उसने निर्णय की अन्तिम मुहर नहीं लगाई है। प्रसभा (Convention) और प्रेषण (Referendum) जैसी सुजटिल प्रणालियों को भी इस संविधान में स्थान नहीं मिला है। इसके संशोधन की प्रक्रिया बहुत सरल है इसका उल्लेख आगे किया जायगा। इस विधान की प्रत्यास्थता का एक यह भी सबूत है कि संकट काल में संघात्मक को एकात्मक शासन प्रणाली में परिवर्तित किया जा सकता है।

नये संविधान की एक और विशेषता यह है कि इसने भारत को प्रभुता-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित किया है। भारत के प्रभुता सम्पन्न होने का स्पष्ट प्रमाण यह तथ्य है कि संविधान सभा के अन्तर्गत देश के जन प्रिय नेता, राजनीतिज्ञ और नीति-दक्ष सम्मिलित थे जिनके ऊपर किसी भी प्रकार का बाह्य प्रभाव अथवा नियन्त्रण नहीं था। आज हम अपने देश के भाग्य निर्माता हैं और हम किसी बाहरी सत्ता के आधीन नहीं हैं। हमारा देश आज गणराज्य भी है चूंकि इसके राष्ट्रपति जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि हैं न कि कोई पितागत (Hereditary) राजा या महाराजा। भारत के गणराज्य होने का महत्व ठीक प्रकार उस समय समझ में आ सकता है जबकि हमें इस विषय का ध्यान रहे कि लगातार लगभग सहस्र वर्ष तक हम स्वेच्छाचारी सत्ता और सामन्तशाही के नीचे रहे हैं। यद्यपि अतीत काल में हमारे यहाँ ग्राम्य गण राज्य भी फूले फले किन्तु इतिहास के एक बहुत बड़े अवकाश में हमारी परम्पराएं राजाओं की छाया में ही पनपती रहीं।

भारत को लोकतन्त्रात्मक कहने का यह अभिप्राय है कि सरकार अपना अधिकार जनता से ग्रहण करती है। संविधान की प्रस्तावना में अग्रलिखित शब्द हैं.—'हम

भारत के लोग............एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।' हमारी शासन प्रणाली इस प्रकार की है कि इसमें साधारण सदस्य भी ऊँचे से ऊँचा पद ग्रहण कर सकता है। यह बात प्रौढ़-मत के द्वारा सम्भव हो गई है; अब प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति को बिना किसी सम्पत्ति अथवा साहित्यिक योग्यता की शर्तों के मतदान का अधिकार मिल गया है। स्त्री-पुरुष भेद अथवा जन्म, जाति, धर्म, रंग इत्यादि की रुकावट खत्म करके प्रत्येक नागरिक को विधान मण्डलों में चुने जाने का खुला अवसर है। छोटे मोटे पदों का तो कहना ही क्या वह इस गणराज्य का राष्ट्रपति भी बनने की चेष्टा कर सकता है।

संविधान की प्रस्तावना में, आठवें, यह भी घोषित किया गया है कि भारत के समस्त नागरिकों को (१) सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, (२) विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, (३) प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराई जायगी। इस उच्च उद्देश्य की प्राप्ति के लिये इस संविधान में एक दम युगयुगान्तर से प्रचलित छुआछूत की बीमारी को मिटा दिया है और भारत को एक लौकिक (असाम्प्रदायिक) राज्य बना कर इसके नागरिकों को बिना किसी जाति, जन्म, धर्म इत्यादि के प्रतिबन्ध के समानाधिकार और समानावसर दिये हैं। हमारे देश में प्रचलित एक विचारधारा है जो कि भारत को लौकिक राज्य बनाने के पक्ष में नहीं है। इस विचार के लोग पाकिस्तान के चरण चिन्हों पर चलकर भारत को हिन्दू शास्त्रों के आधार पर एक हिन्दू-राज बनाना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्तों को व्यवहार में लाना वाञ्छनीय है। आज विश्वभर की सभ्य सरकारें इस सिद्धान्त को लेकर चलती हैं कि राज्य का कार्य केवल व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को सुनियमित करना है और उसे परमात्मा और व्यक्ति के सम्बन्ध से कोई सरोकार नहीं है। मानव ईश्वर सम्बन्ध राज्य के क्षेत्राधिकार में नहीं आता। किसी राज्य को लौकिक कहने का केवल यही अर्थ है कि वह किसी विशेष धर्म का प्रसार नहीं करता, किसी सरकारी कर्मचारी के पूजा करने के ढंग पर प्रतिबन्ध नहीं लगाता या किसी दूसरे धर्मावलम्बी को पद ग्रहण करने से नहीं रोकता। एक असाम्प्रदायिक राज्य की सरकार सिद्धान्ततः किसी विशेष मत या सम्प्रदाय को आश्रय देने अथवा उसका प्रचार करने से साफ इन्कार करती है।

संविधान की नवीं विशेषता यह है कि इसमें केन्द्र और राज्यों में संसत्-शासन (Parliamentary form of government) की कल्पना की है न कि प्रधानीय शासन की। जैसा कि ब्रिटेन में हुआ है हमारे देश में भी संसत्-शासन का विकास परम्परा द्वारा होगा न कि केवल संविधान की लिखित धाराओं से।

सविधान मे कहा भी यह उल्लेख नही मिलता कि राष्ट्रपति अथवा राज्यपालो (Governors) के नाम से प्रचलित किये गये आदेशो पर उत्तरदायी मन्त्रियो के हस्ताक्षर कराना आवश्यक हो। जो अधिकार राष्ट्रपति और राज्यपालो को दिये गये है उनमे से कुछ तो ससद् शासन के साथ बेमेल से जान पड़ते है उदाहरणार्थ राष्ट्रपति का विधान मण्डलो को अभिभाषण भेजने और विधेयकों को उनमें दोबारा विचार विमर्श के लिये लौटाने के अधिकार। कदाचित् इन अधिकारो को केवल सकट-काल मे प्रयुक्त करने के लिए बनाया गया है।

नागरिकों के मूल अधिकार (Fundamental Rights) और राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों (Directive principles of State Policy) का दो अध्याय के रूप मे सम्मिश्रण इस सविधान की एक और विशेषता है। बहुत थोड़े अन्य देशो के सविधानो मे मूल अधिकारों का समावेश है और कदाचित् आयरलैंड के सविधान मे ही इस प्रकार के नीति निर्देशकों का उदाहरण पाया जाता है।

अन्तिम बात—यह सविधान एक विशाल प्रलेख (Document) है। कदाचित् ससार भर मे इससे बड़ा सविधान कोई नही। इसमे ३६५ अनुच्छेद (Articles) और ८ अनसूचियां (Schedules) है। १६३५ का ऐक्ट भी इतना लम्बा नहीं था। लम्बा होने के कारण ही यह व्यापक और परिग्राही भी है। इसमे उन सभी प्रारम्भिक कठिनाइयों को दूर करने के सुझाव है जो कि एक नये राज्य के सामने आया करती है। इसमे प्राय प्रत्येक सविधान में पाये जाने वाले शीर्षक—शासन का स्वरूप, विभिन्न अगो के कृत्य, नागरिकता, मूल अधिकार आदि ही नहीं बल्कि लोक सेवायें अल्पसख्यकों की रक्षा, सम्पत्ति, सविदाएं, अस्थायी अन्तर्कालीन उपबन्ध और भाषा के सम्बन्ध मे उपबन्ध भी सम्मिलित हैं जो प्राय किसी सविधानीय प्रलेख मे नही पाये जाते। जिस सीमा तक इस सविधान की विशालता और व्यापकता इसकी क्रियाशीलता मे सहायक है वहा तक कोई आपत्ति नही।

ऊपर के विवेचन मे यथा स्थान पर हम पाठक का ध्यान अपने देश और सयुक्त राज्य अमेरिका की सविधानीय भिन्नताओं की ओर दिलाते रहे है। अब हम भारत और इगलैंड के सविधानो की भिन्नता के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहना आवश्यक समझते है। यद्यपि बहुत हद तक हमारा सविधान इगलैंड की शासन पद्धति के मूलभूत सिद्धान्तो पर आश्रित है फिर भी कई प्रकार से यह उसमे मेल नही खाता। एक स्पष्ट लक्षित होने वाली भिन्नता यह है कि हमारा सविधान पूर्णतया लिखित प्रपत्र है जब कि इगलैंड का प्रधानतया अलिखित। जितना आनम्य इगलैंड का सविधान है उतना हमारा नही है। इसके सशोधन का

साधारण विधियां बनाने से भिन्न ढग है। किन्तु सब से प्रमुख भिन्नता यह है कि हमारे संविधान के द्वारा संसद् की पूर्ण प्रभुता स्वीकार नहीं की गई है। हम आगे इस बात को स्पष्ट करेंगे कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय को संविधान के निर्वचन (interpretation) संरक्षण (Protection) का अधिकार है और वे किसी भी विधि को यदि संविधान से असंगत या प्रतिकूल पावें, अप्रमाणित घोषित कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में हमने संविधान की सर्वोच्चता को अपनाया है और उन निर्दिष्ट न्यायालयों को इस सिद्धान्त का पालन कराने का अधिकार प्रदान किया है। इस बात में यह अमेरिका की पद्धति के अधिक निकट है। और इसको भी संविधान का एक विशेषता कहा जा सकता है।

संविधान की प्रमुख विशेषताओं का विवरण समाप्त करने से पूर्व एक और महत्वपूर्ण बात की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस संविधान के निर्माताओं ने दूसरे देशों के अनुभवों से लाभ उठाने में बड़ी चतुराई से काम लिया है और उनके संविधानों से बहुत सी लाभदायक बातें ग्रहण की हैं। परन्तु इसका यह अभिप्राय कदाचित नहीं है कि उन्होंने भारत की परिस्थितियों या आवश्यकताओं को ध्यान में न रखा हो। हमारे संविधान पर राष्ट्रीय विचारों की छाप है। यह इस बात से सिद्ध है कि संविधान ने ग्राम पंचायतों के संगठन का उल्लेख है।[१] ग्राम पंचायतें प्राचीन भारत की प्रजातन्त्रात्मक संस्थाएं थीं।

नये संविधान ने व्यवहार में संघात्मक राज्य की स्थापना कर दी है जब कि १९३५ के ऐक्ट में इसकी कल्पना मात्र ही थी।

संघ की इकाइयाँ—भारत को 'राज्यों का संघ' नाम दिया गया है। इसका यह अर्थ हुआ कि अमेरिका की भांति इस देश की इकाइयों को 'राज्य' के नाम से पुकारा जायेगा। १९३५ के ऐक्ट में इन इकाइयों में से कुछ प्रान्त और कुछ देशी रियासतों के नाम से प्रसिद्ध थीं। नये संविधान में इन सब का नाम राज्य रख कर सभी इकाइयों का एक नामकरण किया गया है। प्रथम अनुसूची के (क), (ख), (ग), (घ) भागों में इन इकाइयों का ब्योरा दिया गया है जो कि निम्नांकित है :

---

१ देखिये भारत का संविधान—अनु-छेद ४०।

संविधान की प्रथम अनुसूची

(भारत के राज्य)

भाग (क)	भाग (ख)	भाग (ग)	भाग (घ)
१ आसाम	१ जम्मू और काश्मीर	१ अजमेर	(अण्डमान और निकोबार द्वीप)
२ उड़ीसा	२ ट्रावनकोर-कोचीन	२ कच्छ	
३ पंजाब	३ पटियाला और पूर्वी पंजाब राज्य-संघ	३ कूच बिहार	
४ पश्चिमी बंगाल	४ मध्य भारत	४ कुर्ग	
५ बिहार	५ मैसूर	५ त्रिपुरा	
६ मद्रास	६ राजस्थान	६ दिल्ली	
७ मध्य प्रदेश	७ विन्ध्य प्रदेश	७ बिलासपुर	
८ बम्बई	८ सौराष्ट्र	८ भोपाल	
९ उत्तर प्रदेश	९ हैदराबाद	९ मनीपुर	
		१० हिमाचल प्रदेश	

भारत के राज्य-क्षेत्र (Territory) में पूर्व निर्दिष्ट सभी राज्यों का क्षेत्र सम्मिलित है। अनुसूची के भाग (क) में तत्कालीन गवर्नरों के प्रान्त, भाग (ख) में हैदराबाद, जम्मू, कश्मीर, मैसूर की तीन बड़ी रियासतें तथा कुछ बहुत-सी देशी रियासतों के मिलाने से हुए संघ सम्मिलित हैं। देशी रियासतों को संघों में परिवर्तित करने की कदाचित् वह सबसे महान सफलता है जो स्वाधीनता मिलने पर राष्ट्रीय सरकार ने प्राप्त की है। बाहरी सत्ता के आधीन अनेक रियासतें और उनकी विविधता भारत की एकता के लिए सबसे अधिक खतरनाक था।

यह विभिन्नता एकीकरण के प्रयत्नों के द्वारा दूर कर दी गई है। केवल यही नहीं देशी रियासतों के अस्तित्व को खतरे में डालने वाली विभिन्नता को मिटाने के साथ-साथ उनमें प्रचलित न्यूनाधिक स्वेच्छाचारिता को दूर करके संघ की अन्य इकाइयों की भाँति उनके अन्दर लोकतन्त्रात्मक शासन को स्थापित कर दिया गया है। १९३५ के गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट के विपरीत, जिसमें स्वेच्छाचारिता और प्रजातंत्र के बीच गठबन्धन का प्रयत्न किया गया था, नये संविधान ने सब रूपों प्रदेशों को एक संघ में मिला दिया है। कुछ बिहार का (पश्चिमी) बंगाल में समावेश करना संविधान के उस उपबन्ध का एक उदाहरण है जिसने संसद् को राज्यों की सीमाएं बदलने, उनके क्षेत्रों को घटाने या बढ़ाने का अधिकार दिया है। जिस प्रकार संयुक्त प्रान्त का नाम उत्तर प्रदेश रखा गया, वह प्रदर्शित करता है कि बिना संविधान में संशोधन किये ही संसद् को

किसी राज्य के नाम बदलने का हक है। इसी प्रकार संविधान की बाह्य आकृति में परिवर्तन किये बिना ही नये राज्यों को संघ में शामिल किया जा सकता है।

शक्ति वितरण - संघ-संविधान मूल रूप से इस बात पर आश्रित होता है कि संघीय शासन और इकाइयों के बीच अधिकारों का परिनिश्चित वितरण कर दिया जाय। प्रत्येक सरकार अपने अपने निर्धारित कार्य क्षेत्र में सर्वोच्च समझी जाती है और उस क्षेत्र में उसके अधिकार को कोई नहीं घटा सकता। भारतीय संविधान ने इसी सिद्धान्त के अनुसार शासन सम्बन्धी शक्तियों को संघ और राज्यों की सरकारों के बीच बाँट दिया है। यह वितरण की योजना प्राय उसी प्रकार की है जैसी कि १९३५ के अधिनियम में। विधानीय पदों को संघ सूची, राज्य सूची, समवर्ती सूची नामक सूचियों में विभाजित कर दिया गया है। संघ सूची के विषयों पर संघीय सरकार का अनन्य अधिकार है उनमें से किसी एक पर भी राज्य का विधान मण्डल विधि नहीं बना सकता। राज्य सूची के अन्तर्गत विषयों पर साधारणतया राज्यों के विधान मण्डलों को ही कानून बनाने का अधिकार है केवल आपातकाल में अथवा ऐसे समय जब कि राष्ट्रीय हित में राज्य परिषद् ⅔ बहुमत से स्वीकृत प्रस्ताव द्वारा ऐसी आवश्यकता समझे या जब कि एक या अधिक राज्य अपने क्षेत्र में संसद् को अधिकार सौंप दें, संघ-विधान मण्डल राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बना सकता है। समवर्ती सूची के विषयों पर संघ तथा राज्यों की सरकारों का समान अधिकार है। परन्तु पारस्परिक विरोध की परिस्थिति में संघ की विधियों को राज्यों के कानूनों के ऊपर मान्यता दी जायगी। अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary Powers) संघ सरकार को ही प्रदान की गई है अर्थात् उन विषयों पर जो कि नियत सूचियों में नहीं आते संघ संसद् को कानून बनाने का अनन्य अधिकार है।

संघ सूची में ९७ प्रविष्टियाँ शामिल हैं इस सूची को लम्बा बनाने के पीछे आज कल की वृत्ति के अनुकूल केन्द्र को सुदृढ बनाने का विचार निहित है। ये विषय पूर्णतया प्रादेशिक अथवा स्थानीय हितों के बजाय सर्वांगीण राष्ट्र के समूहिक हितों से अधिक सम्बद्ध हैं। उनसे पूरे देश पर एक साथ प्रभाव पड़ता है इसलिये उनके लिये विधान और प्रशासन की सम-समानता की बहुत आवश्यकता है।

इन में से मुख्य विषय निम्न लिखित हैं —

प्रतिरक्षा (Defence) नौ, स्थल और विमान बल, नौ, स्थल और विमान बल की कर्मशालाएं, शस्त्रास्त्र, अस्त्रशस्त्र, युद्धोपकरण और विस्फोटक, अणुशक्ति, विदेशीय कार्य, राजनयिक, वाणिज्य दूतिक और व्यापारिक प्रतिनिधित्व, विदेशों से सन्धि तथा करार करना। युद्ध और शान्ति, नागरिकता, रेल और राजपथ, समुद्रनौवहन, प्रकाशस्तम्भ, वायुपथ और विमान परिवहन, रेल पथ, समुद्र या वायु से यात्रियों और वस्तुओं का वहन, डाक और तार, टेलीफोन बेतार, प्रसारण और अन्य समरूप संचार, संघ का लोक ऋण, चलार्थ टकसाल, विदेशीय विनिमय, विदेशीय ऋण, भारत का रक्षित बैंक, डाक घर, बचत बैंक, विदेशों के साथ व्यापार और वाणिज्य, अन्तर्राज्यिक व्यापार और वाणिज्य, व्यापारिक निगम, महाजनी विनीमय पत्र, चैक, वचनपत्र आदि बीमा एकस्व, आविष्कार और रूपांकन, तैलक्षेत्रों और खनिज तेल सम्पत् का विकास, खनिज और उनका विकास श्रम का विनिमय तथा खानों और तैल क्षेत्रों में सुरक्षितता, मछली पकड़ना अफीम, राष्ट्रीय पुस्तकालय, भारतीय संग्रहालय, साम्राज्यिक युद्ध-संग्रहालय इत्यादि काशी, अलीगढ़ और दिल्ली विश्वविद्यालय, प्राचीन और ऐतिहासिक स्मारक और अभिलेख, भारतीय सर्वेक्षण, जनगणना अखिल भारतीय सेवाएं तथा संघ-लोक सेवा आयोग, संसद और राज्य के विधान-मण्डलों के लिये तथा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पदों के लिये निर्वाचन, संसद के सदस्यों के वेतन और भत्ते, संघ के और राज्यों के लेखाओं की लेखा परीक्षा, उच्चतम न्यायालय का गठन, संघटन, क्षेत्राधिकार और शक्तियां उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार का विस्तार, कृषिआय को छोड़ कर अन्य आय पर कर, सीमा शुल्क, भारत में निर्मित या उत्पादित तम्बाकू तथा मानव उपभोग के मद्य सारिक पानों अफीम, भांग और अन्य पिनक लाने वाली औषधियों तथा स्वापकों को छोड़ कर अन्य माल वस्तुएं निगम कर, कृषि भूमि को छोड़ कर अन्य सम्पत्ति के बारे में सम्पत्ति शुल्क, कृषि भूमि को छोड़ कर अन्य सम्पत्ति के अधिकार के बारे में शुल्क, रेल या समुद्र या वायु से ले जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा कर, रेल के जन भाड़े और वस्तु भाड़े पर कर विनिमय पत्रों, चैकों आदि पर मुद्रांक शुल्क की दर, तथा समाचार पत्रों के क्रय या विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर आदि आदि। इस सूची में और भी इस प्रकार के बहुत से विषय हैं जिन्हें ६७ प्रविष्टियों में रखा गया है।

राज्य सूची में ६६ प्रविष्टियाँ सम्मिलित हैं। इनके अन्तर्गत विषय

अखिल भारतीय हितों के बजाय केवल राज्यों के हितों से ही प्रेरित हैं। इन विषयों में अपनी अपनी परिस्थितियों के अनुरूप प्रत्येक राज्य विधान तथा प्रशासन के कार्य में स्वतन्त्र है। इन में से मुख्य-मुख्य निम्नांकित हैं —

सार्वजनिक व्यवस्था, आरक्षी (पुलिस, जिसके अन्तर्गत रलवे और ग्राम आरक्षी भी है), न्याय प्रशासन, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय को छोड़ कर सब न्यायालयों का गठन और संघटन, कारागार, सुधारालय, बोरस्टल संस्थाएँ, स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता, चिकित्सालय और औषधालय, मादकपान, अपाहिजों और नौकरी के लिए अयोग्य व्यक्तियों की सहायता, शव गाड़ना और कब्रस्थान, शवदाह और श्मशान, शिक्षा, पुस्तकालय और संग्रहालय, सड़कें, पुल, और नदियों के घाट, कृषि, पशुरक्षा, सिंचाई और नहर, जलनिस्सारण और बंध, भूधृति, वन, वन्य प्राणियों और पक्षियों की रक्षा, मीन क्षेत्र, न्यायिक अधिकरण, उद्योग धंधे, राज्य के अन्तर्गत व्यापार और वाणिज्य, बाजार और मेले, मान स्थापन को छोड़ कर बाट और माप। साहूकारी और साहूकार, नाट्यशाला और नाट्य अभिनय, पण लगाना और जुआ, राज्य के विधान मण्डलों के लिए निर्वाचन, राज्य लोक सेवाएँ, राज्य लोक सेवा आयोग, राज्य निवृत्ति वेतन, राज्य का लोक ऋण, भूराजस्व, कृषि भूमि के उत्तराधिकार के विषय में शुल्क, भूमि और भवनों पर कर, किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग प्रयोग या विक्रय के लिये वस्तुओं के प्रवेश पर कर, विद्युत के उपयोग पर कर, व्यापार पर कर, यानों पर कर, पशुओं और नौकाओं पर कर, पथ कर, वृत्तियों, व्यापारों पर और विलास वस्तुओं पर कर, जिनके अन्तर्गत आमोद विनोद, पण लगाने और जुआ खेलने पर भी कर है, उच्चतम न्यायालय को छोड़ कर सब न्यायालयों का क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ।

समवर्ती सूची में ४७ प्रविष्टियाँ हैं। इनके अधिक महत्वपूर्ण विषय इस प्रकार हैं —

दण्डविधि और दण्ड प्रक्रिया, व्यवहार प्रक्रिया, निवारक निरोध; कैदियों का एक राज्य से दूसरे राज्य को हटाया जाना, विवाह और विवाह विच्छेद, दत्तक ग्रहण, इच्छापत्र, इच्छापत्रहीनत्व, अविभक्त कुटुम्ब और विभाजन, सम्पत्तियों का हस्तान्तरण, संविदा, दिवालियापन; न्यास और न्यासी, साक्ष्य और शपथें, उन्माद, पशुओं के प्रति निर्दयता का निवारण, आर्थिक और सामाजिक योजना, वाणिज्यिक और औद्योगिक

एकाधिपत्य, व्यापार संघ, औद्योगिक और श्रमिक विवाद, सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, श्रमिकों का कल्याण, मूल निवास-स्थान से स्थानान्तरित हुए व्यक्तियों की सहायता और पुनर्वास, मूल्य नियन्त्रण, कारखाने, वाष्प यन्त्र, विद्युत, समाचार पत्र, पुस्तकें और मुद्रणालय, पुरातत्व सम्बन्धी स्थान, उच्चतम न्यायालय को छोड़ कर अन्य न्यायालयों के क्षेत्राधिकार और शक्तियां।

उपनिर्दिष्ट सूची में एक बात स्पष्ट है—यद्यपि ये विषय राज्यों के हितों के अधिक निकट हैं फिर भी इनमें कानूनी विविधता के स्थान पर एक रूपता लाना ही अधिक लाभदायक होगा। कारखाने, श्रमिकों का कल्याण, दण्ड प्रक्रिया (Criminal Procedure) और व्यवहार प्रक्रिया (Civil Procedure) आदि, विनिमय आदि आदि ऐसे विषय हैं जिनके सम्बन्ध में विभिन्न प्रदेशों की कानूनी विविधता अड़चन डाल सकती है इन विषयों को समवर्ती सूची में इस उद्देश्य से रखा गया है कि इनके बारे में केन्द्रीय विधान मण्डल सामान्य सिद्धान्त निर्धारित कर दे जो अखिल भारत में कार्यान्वित हो सकें और जिन की परिधि में रहते हुए राज्य अपनी अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप विधियां बना लें। स्विट्जरलैंड, जर्मनी, (वीमार संविधान) और आस्ट्रेलिया इत्यादि और भी देशों में जहाँ कि इस प्रकार की समवर्ती सूची मिलती है।

विषयों के बारे में एक दो और भी ज्ञातव्य बातें हैं। यह प्रसंग पहले भी आ चुका है कि हमारी केन्द्रीय सरकार एक शक्तिशाली सत्ता है। संसार के शायद ही किसी दूसरे संघ शासन में केन्द्रीय सरकार को इतनी अधिक शक्तियां दी गई हैं। भारत में केन्द्रीय सरकार का इतना शक्तिशाली होना प्रधानतया इस शक्ति वितरण की योजना का ही परिणाम है। केन्द्रीय सरकार के हाथों में, संघ सूची की ९७ और समवर्ती सूची की ४७ प्रविष्टियों के साथ साथ अवशिष्ट शक्तियों के ऊपर, अधिकार देकर इस योजना ने संघ को शक्तिशाली बना दिया है।

जो केन्द्रापग (centrifugal) प्रवृत्तियां हमारे इतिहास में काम करती आ रही हैं और जिन परिस्थितियों में हमारे संघ का जन्म हुआ है उन्हें ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि हमारे संविधान की केन्द्र को शक्तिशाली बनाने की योजना आपत्तिजनक नहीं है।

इसी सम्बन्ध में दूसरी विशेष बात यह है कि संविधान की विशाल सूचियां में बहुत से विषय भर दिए गए हैं। परन्तु इसमें हानि ही क्या है? इससे तो लाभ ही होगा चूंकि केन्द्र और राज्यों के अधिकार क्षेत्र को स्पष्टता बाँट देने से उनके आपसी झगड़ों की सम्भावना कम हो जायगी।

राज-भाषा—संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी निश्चित की गई है। परन्तु इस संविधान के लागू होने के पन्द्रह वर्ष तक अंग्रेजी का प्रयोग होता रहेगा। राज्य की सरकारों का हिन्दी अथवा अन्य तेरह निर्धारित प्रादेशिक भाषाओं में अपना कार्य करने की स्वतन्त्रता है। ये प्रादेशिक भाषायें अग्रलिखित हैं —असमिया, उड़िया, उर्दू, कन्नड, कश्मीरी, गुजराती, तामिल, तेलगू, पंजाबी, बंगला, मराठी, मलयालम, संस्कृत, और हिन्दी।

संविधान का संशोधन—जैसा कि पहिले भी इस अध्याय में लिखा जा चुका है कि हमारे संविधान में प्रत्यस्थता और अनम्यता का बहुत बड़ा गुण है। इसको संशोधित करने की रीति जान बूझ कर सहल और सरल बनाई गई है। यद्यपि यह इतनी सरल नहीं है जितनी कि ब्रिटेन के संविधान को बदलने की। प्रसभा (convention) और प्रेषण (referendums) जैसी सराग्ल प्रणालियों को इस देश में प्रश्रय नहीं दिया गया है।

संविधान के संशोधित करने का प्रस्ताव प्रत्येक दशा में संसद् ही प्रारम्भ करेगा। संसद् के किसी भी आगार में इस विषय का विधेयक पेश किया जा सकता है यदि यह विधेयक संसद् के प्रत्येक आगार में उसके कुल सदस्यों के आधे से अधिक और उपस्थित होकर वोट देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पास हो जाता है तो इसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रख दिया जायगा। और स्वीकृति मिलने पर उसका लागू समझा जायगा। परन्तु कुछ विशेष विषयों के लिये राष्ट्रपति की स्वीकृति से पहले (क) (ख) भाग के राज्यों में से कम से कम आधे राज्यों के विधान मण्डलों से स्वीकृत कराने की आवश्यकता है। ये विषय निम्नांकित हैं —

(a) राष्ट्रपति का निर्वाचन।
(b) संघ का कार्यपालिका अधिकार क्षेत्र।
(c) पहली अनुसूची के भाग (क) के राज्यों की कार्यपालिका का अधिकार क्षेत्र।
(d) न्याय पालिका अर्थात् उच्च तथा उच्चतम न्यायालयों का गठन और शक्तियाँ।
(e) संघ और राज्यों के सम्बन्ध।
(f) संघ सूची, और राज्य सूची और समवर्ती सूची।
(g) संसद् में राज्यों का प्रतिनिधित्व।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो विषय अधिक महत्वपूर्ण समझे गये हैं उनके लिये आधे से अधिक राज्यों के विधान मण्डलों की अनुमति अनिवार्य कर दी है।

कुछ तीसरे प्रकार के ऐसे भी विषय हैं जिनमें संसद् साधारण रीति से ही परिवर्तन

कर सकता है। उनके संशोधन के लिये संसद् के उपस्थित सदस्यों के बहुमत की ही शर्त है।

राज्य के विधान मण्डलों को स्वत संविधान में किसी प्रकार का संशोधन करने का अधिकार नहीं है। यह स्पष्ट है कि हमारा संविधान ता इतना आनम्य (Flexible) है जितना कि इंगलैंड का और न इतना अप्रत्यास्थ (Inelastic) है जितना कि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का इसलिए इसका स्थान इंगलैंड और अमेरिका के संविधान की दो पराकाष्ठाओं के बीच में है।

अध्याय १२

नागरिकता, मूल अधिकार और निदेशक तत्व

नागरिकता—जैसा कि हम इससे पहले अध्याय में ही बतला चुके हैं हमारे संविधान में देश के सभी नागरिकों के लिये समरूप नागरिकता का सिद्धान्त अपनाया गया है। अमेरिका के संविधान की भांति इसमें दुहरी नागरिकता की व्यवस्था नहीं है। प्रत्येक राज्य की पृथक नागरिकता—उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश की नागरिकता, मद्रास अथवा बंगाल की नागरिकता के नाम की कोई चीज यहां नहीं होगी। हम में से प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह उत्तर का निवासी हो, चाहे दक्षिण का, भारत संघ का नागरिक है।

संविधान में नागरिकता प्राप्त करने और उसके छिन जाने के नियमों का विवेचन नहीं है। इस बात का निर्णय संसद् के ऊपर छोड़ दिया गया है। संविधान में तो केवल इस विषय का उल्लेख है कि इसके आरम्भ पर किस किस प्रकार के व्यक्तियों को नागरिकता के हक प्राप्त होंगे। नागरिकता निश्चित करने के लिये तीन प्रकार के आधार लिये गये हैं—जन्म, उद्भव और निवास स्थान। पाँचवें अनुच्छेद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जिसका इस संविधान के आरम्भ के समय (२६ जनवरी १९५०)—भारत राज्य क्षेत्र में निवास था भारत का नागरिक समझा जायगा यदि वह—

(I) भारत के राज्य क्षेत्र में जन्मा हो या

(II) उसके मां या बाप भारत में जन्मे हों

(III) या जो इससे पहले सामान्यतया पांच वर्ष तक भारत का निवासी रहा हो।

इस अनुच्छेद में उन लोगों के नागरिक अधिकारों का कोई जिक्र नहीं है जो साम्प्रदायिक झगड़ों के कारण पाकिस्तान से भारत में आकर बस गये हैं। ऐसे व्यक्तियों को नागरिकता के अधिकार एक दूसरे ही अनुच्छेद के अनुसार दिये गये हैं। पाकिस्तान से प्रव्रजन करके भारत में आने लोगों को दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है—

(क) ऐसे लोग जो १९ जुलाई १९४८ से पहले भारत में आये।

(ख) ऐसे लोग जो १९ जुलाई से बाद भारत में आये।

ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो १९ जुलाई १९४८ से पहिले पाकिस्तान से भारत में आया, यदि वह स्वयं, या उसके जनकों में से कोई अथवा उसके महाजनकों में से कोई अखण्ड भारत (१५ अगस्त १९४७ से पहिले) में जन्मा हो और यदि वह आगमन के समय से लगातार भारत में निवास करता हो, नये संविधान के प्रारम्भ होने से ही नागरिक समझा जायेगा। दूसरी श्रेणी का वह प्रत्येक व्यक्ति जो १९ जुलाई १९४८ से बाद यहाँ आया, यदि वह स्वयं या उसके जनकों में से कोई अथवा उसके महाजनकों में से कोई अखण्ड भारत में जन्मा हो और यदि उसे निर्धारित सरकारी अधिकारी द्वारा पञ्जीबद्ध (registered) भी कर लिया गया हो, भारतीय नागरिकता के अधिकार प्राप्त कर लेगा। पञ्जीबद्ध होने के लिये यह शर्त है कि निर्धारित अधिकारी को इस विषय में प्रार्थना देने के पूर्व वह व्यक्ति छः मास से लगातार भारत के अधिकार क्षेत्र में रह रहा हो। जो लोग भारत में पैदा हुए और १ मार्च १९४७ के बाद पाकिस्तान जाकर बस गये हैं उन्हें भारतीय नागरिकता के अधिकार नहीं दिये गये। यदि कोई ऐसा व्यक्ति सरकारी आज्ञा पत्र से भारत में लौट आया है और यहाँ दोबारा बस गया है तो उसे भी नागरिकता प्राप्त हो जायगी।

भारत से बाहर रहने वाले भारतीयों के लिये नागरिकता के अधिकार मिलने की अलग शर्तें हैं। ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो स्वयं या जिसके जनक अथवा महाजनक विभाजन से पूर्व भारत में पैदा हुए हों, बशर्ते कि वह या उसके जनकों में से कोई या महाजनकों में से कोई भारत के राजनैतिक या व्यापारिक प्रतिनिधि द्वारा भारत का नागरिक पञ्जीबद्ध कर लिया गया हो, संविधान के प्रारम्भ से ही भारत का नागरिक समझ लिया जायगा।

संक्षेप में तीन प्रकार के व्यक्तियों को भारतीय नागरिकता के अधिकार प्राप्त होंगे—

(I) जिनका भारत में जन्म और निवास है।

(II) जो पाकिस्तान से आकर यहाँ बस गये हैं।

(III) भारत के बाहर रहने वाले भारतीय।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि जो कोई स्वेच्छा से किसी दूसरे राष्ट्र का नागरिक बन जाय उसे भारत में नागरिकता के अधिकार प्राप्त न होंगे।

मूल अधिकार—नागरिकों के मूल अधिकारों का समावेश—भारतीय संविधान की एक मुख्य विशेषता है। यह उस परम्परा के प्रतिकूल है जो अंग्रेजी राज्य ने स्थापित की थी १९१९ के अथवा १९३५ के गवर्मेन्ट आफ इण्डिया ऐक्ट मे ऐसी कोई बात नहीं जिनको नये संविधान के मूल अधिकारों से समता की जा सके। इसका यह कारण था कि उन ऐक्टों के द्वारा भारत मे वास्तविक प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था स्थापित करने का विचार ही न था। उनका एक मात्र उद्देश्य भारत मे इस प्रकार की व्यवस्था की प्रस्थापना करना था जिसमे नागरिकों के हितों के विपरीत कार्यपालिका को सुदृढ़ और शक्तिशाली बना दिया जाता है। इसके बिल्कुल विपरीत नये संविधान को इस उद्देश्य से बनाया गया है कि भारत को एक लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था दी जाय, इसी लिये संविधान के निर्माताओं को इसमें मूल अधिकार सम्बन्धी एक पृथक अध्याय जोड़ना पड़ा। संसार में ऐसे भी कुछ देश हैं जहां के संविधानों मे इस प्रकार के मूल अधिकारों का उल्लेख नहीं है उदाहरणार्थ ब्रिटेन।

"मूल अधिकारों के सिद्धान्त मे शासन की सीमित होना सन्निहित है। सरकार और विधान मण्डल को तानाशाह होने से रोकना ही इसका उद्देश्य है। और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये यह व्यक्ति के लिए विकास का अवसर प्रदान करता है।"*

यह समझना आवश्यक है कि मूल अधिकारों के सिद्धान्त मे शासन का सीमित होना किस प्रकार सन्निहित है। मूल अधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जो किसी संविधान में नागरिकों के लिये प्रत्याभूत (Guaranteed) किये जाते हैं। उन्हें मूल भूत इसलिये कहा जाता है कि कार्यपालिका या विधान मण्डल को भी उनके उल्लंघन करने का अधिकार नहीं होता। जिस अंश और जिस सीमा तक किसी विधान मण्डल की विधि अथवा कार्यपालिका के बनाये नियम आदि मूल अधिकारों के विरोधी हों तो उस अंश और उसी सीमा तक वे विधि अथवा नियम प्रभाव शून्य समझे जायेंगे। न्यायालय इस प्रकार के नियम और विधियों को प्रमाणित नहीं ठहरायेंगे। इस प्रकार किसी संविधान मे मूल अधिकारों का समावेश उस देश के शासन पर बहुत बड़ा प्रतिबन्ध लगा देता है, और नागरिकों के अधिकारों को अधिक मान्य बना देता है। अधिकारों की इस प्रकार सुरक्षा एक व्यक्ति के आत्म विकास मे बहुत बड़ी सहायता होती है और वह उसको सरकार की दमन नीति से बचाती है ऊपर के वर्णन मे यह भी स्पष्ट है कि मूल अधिकार न्याय-संगत भी है। यदि कोई सरकार किसी व्यक्ति के मूल अधिकार क्षेत्र पर आक्रमण करे तो इसके लिये वह

* भारत सरकार द्वारा प्रकाशित Our Constitution के पृष्ठ १६ मे उद्धृत किया गया है।

न्यायालय से न्याय की प्रार्थना कर सकता है। इसी कारण से मूल अधिकारों का सरकार और नागरिक दोनों ही सम्मान करते हैं।

संविधान में ये मूल अधिकार छः शीर्षकों में अंकित किये गये हैं —

(१) समता अधिकार
(२) स्वातन्त्र्य अधिकार
(३) शोषण के विरुद्ध अधिकार
(४) धर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार
(५) संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार
(६) सम्पत्ति का अधिकार

समता अधिकार—समता प्रजातंत्र के मूल भूत तत्वों में से एक तत्व है। इसीलिये इसे भारतीय राजनैतिक भवन का शिलाधार माना गया है। इसके द्वारा वैधानिक, नागरिक और सामाजिक सभी प्रकार की समता प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। संविधान के १४ वें अनुच्छेद द्वारा प्रत्येक नागरिकों को कानून के समक्ष समता दी गई है। १५ वें और १७ वें अनुच्छेद में सामाजिक समता का उल्लेख है और १६ वें अनुच्छेद में राज्याधीन नौकरी के विषय में अवसर की समता दी गई है। कानून के समक्ष समता का यह अभिप्राय है कि जीवन, सम्पत्ति, स्वेच्छा, आनन्द की खोज के सम्बन्ध में कानून सबकी रक्षा करता है। किसी भी अन्याय अथवा अनुचित व्यवहार के निराकरण के लिए कोई भी व्यक्ति न्यायालयों की सहायता ले सकता है। जानपद समता (civic equality) का यह अभिप्राय है कि केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग जन्मस्थान के आधार पर कोई नागरिक—दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक स्थानों में प्रवेश के, अथवा राज्य विधि से पोषित कुओं, तालावों, स्नान घाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम स्थानों के बारे में किसी भी निर्योग्यता, निर्बन्ध अथवा शर्त के आधीन न होगा इसमें सभी नागरिकों के लिये अवसर की समता भी सन्निहित है। अवसर की समता का यह अर्थ है कि केवल धर्म मूलवंश, जाति, लिंग उद्भव, जन्मस्थान, निवास के आधार पर किसी नागरिक के लिये राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में न अपात्रता होगी और न विभेद किया जायेगा। चूंकि छुआछूत को किसी भी रूप में आश्रय देना जानपद समता के प्रतिकूल है इसलिये संविधान ने इस व्यवस्था का सर्वथा अन्त कर दिया है। इसके अनुसार "अस्पृश्यता" से सम्बन्धित किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा। सामाजिक समता लाने के लिए खिताबों का अन्त कर दिया गया चाहे वे स्थानीय हों चाहे विदेशी।

जिस अनुच्छेद के द्वारा छुआ छूत का अन्त किया गया है वह संविधान द्वारा दिये हुए समता के सभी दूसरे अधिकारों से अधिक मूल्यवान है। हिन्दू समाज को विरूप बनाने वाली सामाजिक विषमताओं में सबसे बड़ी विषमता का इसने अन्त कर दिया है। इसने हमारे देश के लगभग पाँच करोड़ निवासियों को युगयुगान्तर के निम्न और ग्लानि पूर्ण सामाजिक स्तर से उठाकर महात्मा गाँधी द्वारा किये गये क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन पर एक 'कानूनी मुहर' लगा दी है।

(२) स्वातन्त्र्य अधिकार—जनतन्त्र केवल समता का ही उपकरण नहीं करता बल्कि इसके लिये वैयक्तिक स्वतन्त्रता भी आवश्यक है। हमारा संविधान हमारे देश को लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को वाक-स्वातन्त्र्य और आत्म-व्यक्ति स्वातंत्र्य, शान्तिपूर्वक और शातिमय सम्मेलन संस्था या संघ बनाने, भारत राज्य क्षेत्र में सर्वत्र अबाध सचरण इसके किसी भाग में निवास करने और बस जाने सम्पत्ति के अर्जन धारण और व्ययन का तथा कोई वृत्ति उपजीविका व्यापार या कारबार करने के अधिकार प्रदान करता है। यह बहुत सी स्वतन्त्रतायें जानपद स्वतन्त्रता की ही अनुगामिनी है। संविधानमें स्वातन्त्र्य अधिकार सम्बन्धी एक और मुख्य अनुच्छेद है। कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिये सिद्ध दोष नहीं ठहराया जायगा जब तक कि उसने अपराधारोपित क्रिया करने के समय किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण न किया हो और न वह उससे अधिक दण्ड का पात्र होगा जो उस अपराध के करने के समय प्रवृत्त विधि के अधीन दिया जा सकता है।

फिर भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार सर्वथा अबाध (absolute) नहीं ठहराया जा सकता। इसके उपयोग की सीमायें सार्वजनिक हित, शान्ति और राज्य सुरक्षा का ध्यान रखते हुये सरकार द्वारा निश्चित की जाती हैं। इसलिये हमारे संविधान में भी सार्वजनिक हित की रक्षा के लिये राज्य को वैयक्तिक स्वातंत्र्य की सीमायें निश्चित करने का अधिकार है। इन आयमणों (restrictions) में विस्तार पूर्वक जाने की हमें आवश्यकता नहीं। केवल संकेत के रूप में यह कहा जा सकता है कि कुछ परिस्थितियों में राज्य को बिना वैधिक विचार (trial) किये ही किसी व्यक्ति को निरुद्ध (detain) करने का अधिकार है। कुछ लोगों ने इस का बहुत आलोचना की है।

निस्सन्देह यह ठीक है कि बिना वैधिक विचार के अवरोध करना विधि नियम (Rule of law) तथा वैयक्तिक स्वातंत्र्य (जो कि संविधान में प्रतिष्ठित किये हैं) दोनों का अतिक्रमण करता है। परन्तु कभी-कभी संकट काल में उदाहरणार्थ युद्ध और विद्रोह के समय, राज्य के लिये ऐसे व्यक्तियों का निरुद्ध करना आवश्यक हो जाता है जिन पर राज्य के शत्रु होने का सन्देह हो। प्रत्येक राज्य का यह मौलिक अधिकार और कर्तव्य है कि सम्भावित खतरों से देश को सुरक्षित किया जाय। बिना वैधिक-

विचार के अवरोध करना एक सकटकालीन उपाय है जिसे सामान्य शान्तिपूर्ण परिस्थितियों में उपयोग नहीं किया जा सकता।

सविधान में स्वेच्छ (arbitrary) गिरफ्तारी और अनिश्चित काल के लिए अवरोध करने के खिलाफ भी उपबन्ध है जिसके कारण सरकार अपनी निवारक अवरोध (Preventive detention) की शक्ति का बेजा इस्तेमाल नहीं कर सकती। सविधान में लिखा है कि बिना कारण बताये किसी को बहुत देर तक हवालात या जेल में नहीं रखा जा सकता; प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मर्जी से किसी भी वकील की सलाह लेने का हक है। किसी व्यक्ति को बिना वैधिक विचार के अधिक से अधिक तीन महीने की कालावधि के लिए निरुद्ध किया जा सकता है। परन्तु यह अवधि उस मन्त्रणा मडली (Advisory Board) के परामर्श से बढ़ाई भी जा सकती है जिसमें उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की योग्यता रखने वाले व्यक्ति शामिल होंगे।

वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के बारे में एक बात और ध्यान देने योग्य है। इस सविधान के अनुसार औरत बच्चों का क्रय विक्रय, बेगार तथा इसी प्रकार का अन्य जबर्दस्ती से लिया हुआ श्रम तथा बालकों को किसी कारखाने अथवा खान में या किसी दूसरी सकटमय नौकरी में लगाया जाना मना है।

(३) धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार— यह सविधान सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रतिबन्धों को विचार में रखते हुए सब व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतत्रता का तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक देता है। इस अधिकार को और अधिक सुरक्षित करने के लिये प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को अपने धार्मिक प्रयोजनों के लिये सस्थाओं की स्थापना का तथा सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का अधिकार दिया गया है। परन्तु धार्मिक स्वातन्त्र्य की सीमा इन्हीं अधिकारों तक सीमित नहीं हो जाती। केवल एक असाम्प्रदायिक राज्य में ही एक नागरिक को वास्तविक धार्मिक स्वतत्रता मिल सकती है। एक राज्य तभी असाम्प्रदायिक कहलाता है जब कि वह धर्म को शासन की परिधि से दूर रखे; और किसी एक मत के प्रति सहानुभूति और दूसरे के प्रति शत्रुता प्रकट न करे। जिस सीमा तक नौकरी मिलने में इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि कौन व्यक्ति किस धर्म में विश्वास रखता है उसी सीमा तक किसी राज्य में असाम्प्रदायिकता के तत्व मिल सकते हैं। धार्मिक सहिष्णुता भारतवर्ष की बहुत प्राचीन परपरा है और नये सविधान ने इस परम्परा को ग्रहण किया है।

(४) संस्कृति और शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार— व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता देने से भारतीय सविधान एक कदम और आगे बढ़ गया है। इसमें अल्पसख्यकों के

हितों का संरक्षण है। भारतीय जनता की एकता को स्वीकार करने और उसे प्रोत्साहन देने के साथ संविधान ने उसकी भिन्न भिन्न आवश्यकताओं का भी मान लिया है। समाज के प्रत्येक अंग की सम्यक् उन्नति करना इसका परम लक्ष्य है। इसी लिये इसके द्वारा अल्पसंख्यकों को अपने धर्म, संस्कृति, भाषा और लिपि के सुरक्षित रखने का अधिकार दिया गया है। राज्य के लिए इस बात का निषेध कर दिया गया है कि वह किसी विधि द्वारा किसी समूह या सम्प्रदाय पर किसी विशेष संस्कृति या भाषा को आरोपित करे। अल्पसंख्यकों का पूर्ण अधिकार है कि वे अपनी संस्कृति और भाषा की सुरक्षा के लिये अथवा उनका प्रसार करने के लिए संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन करें। शिक्षा-संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबंध में है। प्रत्येक सम्प्रदाय के बालक राज्य की पाठशालाओं में प्रवेश पा सकते हैं। हमारे संविधान में एक प्रकार की सध्वनि पाई जाती है न कि कोरी एकरूपता।

सम्पत्ति का अधिकार— कभी कभी सरकार को लाभदायक सार्वजनिक हितों के लिये सम्पत्ति का अर्जन (acquire) करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ पाठशाला, राजदुर्ग, सेनास्थल, सड़कें, पार्क आदि बनाने के लिये। इसी वजह से प्रत्येक संविधान द्वारा राज्य को सम्पत्ति अर्जन का अधिकार दे दिया जाता है चाहे उस सम्पत्ति का स्वामी कौन हुज्जत ही क्यों न करे। हमारे संविधान में भी राज्य के इस अधिकार को स्वीकार किया गया है किन्तु इसके ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। इसमें यह उल्लेख है कि कोई व्यक्ति विधि के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायगा। इस बारे में दूसरी शर्त यह है कि सार्वजनिक प्रयोजन के लिये कोई सम्पत्ति कब्जाकृत या अर्जित तब तक नहीं की जायगी जब तक कि उसके लिये निर्धारित प्रतिकर (compensation) न दे दिया जाय। दूसरे शब्दों में यह संविधान सम्पत्ति के स्वामित्वहरण (expropriation of property) का निषेध करता है। आवश्यक अर्जन के विषय में यदि किसी राज्य का विधानमंडल कोई अधिनियम बनाये तो उसे लागू करने के लिये राष्ट्रपति की अंतिम स्वीकृति लेना आवश्यक है।

संविधानिक उपचारों के अधिकार— नागरिकों के उपरोक्त अधिकारों— समता, वैयक्तिक स्वातन्त्र्य आदि— के प्रवर्तित (enforce) करने के लिये इस संविधान ने ३२वें अनुच्छेद में उच्चतम न्यायालय को कुछ अधिकार प्रदान किये हैं। चूँकि संवैधानिक रीति से रक्षित और प्रवर्तित किये बिना अधिकार अपनी सार्थकता खो देते हैं इसलिये ३२वें अनुच्छेद को 'सर्वांगीण संविधान का हृदय और आत्मा'* कहा जा सकता है। नागरिकों के मूलाधिकारों के रक्षार्थ उच्चतम न्यायालय को कई प्रकार के

* 'The heart and soul of the whole constitution'

'लेख' (writs) जारी करने का हक है। संविधान में इन लेखों का समावेश व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सबसे सुदृढ़ रक्षा-कवच है। संविधान का संशोधन किये बिना इन लेखों को परिवर्तित या बहिष्कृत नहीं किया जा सकता।

आपत्काल के अतिरिक्त किसी दशा में भी संविधानिक उपचारों के अधिकार को स्थगित नहीं किया जा सकता। इन अधिकारों के स्थगित करने की निर्धारित सीमाएँ हैं। संकटकाल के दूर होते ही तुरन्त मूल अधिकारों को लागू कर दिया जाता है। स्थगन करने की रीति और शक्तियों का विस्तारपूर्वक विवेचन करने की हमें आवश्यकता नहीं।

राज्य की नीति के निर्देशक तत्व

(Directive Principles of State policy)

संविधान के चौथे भाग में राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों का उल्लेख है। "आइरिश फ्री स्टेट" ही ऐसा देश है जहाँ के संविधान में इसी प्रकार का अध्याय है। यह समझ लेना आवश्यक है कि निर्देशक तत्वों का क्या अर्थ है और उनकी क्या सार्थकता है? निर्देशक तत्व संविधान-सभा की ओर से किसी भी दल द्वारा बनाई हुई सरकार के लिए आदेशों के समान हैं। संविधान ने विधान मण्डल और कार्य-पालिका को शान्ति, व्यवस्था और सुशासन स्थापित करने के लिये कुछ शक्तियाँ दी हैं; साथ ही इन शक्तियों का उचित उपयोग करने के लिये आदेशों को भी देना आवश्यक था। इन निर्देशक तत्वों का उन आदेशपत्रों (instrument of instructions) से मुकाबला किया जा सकता है जो कि ब्रिटिश राज्यकाल में सम्राट या ब्रिटिश संसद् द्वारा गवर्नर और गवर्नर-जनरल को कार्य-संचालन के बारे में भेजे जाते थे। परन्तु इनका पूर्णतया पालन न करने के कारण कार्य पालिका अथवा विधान मण्डल को न्याय-पालिका के समक्ष उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता। ये मूल अधिकारों से इस दृष्टि से भिन्न अवश्य हैं परन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि वे एक प्रकार से मूल अधिकारों के पारपूरक ही हैं। उनके वैध न होने का यह अर्थ नहीं कि वे कोरी पवित्र अभिलाषा मात्र ही हैं अपितु वे राज्य का सदैव इस विषय का ध्यान दिलाने के लिये रखे गये हैं कि नीति निर्धारित करते समय अथवा उन नीतियों को कार्यान्वित करते समय उसे इन उच्चादर्शों का पालन करने के लिये सर्वदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। विधान मण्डल और कार्य-पालिका इन आदर्शों को भुला नहीं सकते चूँकि मतदाताओं के सामने उन्हें इसके लिये जवाब देना पड़ेगा। इस दृष्टि से निर्देशक तत्व बड़े ही शिक्षाप्रद हैं। उनका वास्तविक मूल्य तो तभी आँका जा सकेगा जब कि हमारा राष्ट्र कठिनाइयों को पार कर लेगा और जब कि इसके कर्णधार नैतिक आदर्शों की ओर उन्मुख होंगे।

जैसा कि पहिले भी कई बार सकेत किया जा चुका है सविधान में भारत को लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया है। इसके अनुसार जनता को पूर्णतया प्रभुता-सम्पन्न (Sovereign) समझा गया है और उसको उन अधिकारों और शक्तियों का स्रोत माना गया है जो सरकार द्वारा बरती जाती हैं।

लोगों को अपने प्रतिनिधि चुनने, और स्वय किसी पद के लिये चुने जाने के अधिकार प्राप्त हो गये हैं। परन्तु राजनैतिक प्रजातन्त्र तब तक लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकता जब तक उसके साथ सामाजिक और आर्थिक प्रजातन्त्र का भी मेल न हो। प्रजातन्त्र को सारगर्भित और प्रभावशाली बनाने के लिये ३८वें अनुच्छेद म एसा लिखा है कि राज्य एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयत्न करेगा जो कि सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय पर अवलम्बित होगी और जनता की प्रत्येक प्रकार की उन्नति के लिये प्रयत्नशील होगी तथा लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगी। दूसरे शब्दों में, यह अनुच्छेद सरकार से यह आशा करता है कि वह देश में सामाजिक और आर्थिक प्रजातन्त्र का प्रस्थापित करे।

सविधान म और भी कई निर्देशक हैं जिनम से मुख्य मुख्य ये हैं— राज्य अपनी नीति का विशेषतया ऐसा सचालन करे कि सुनिश्चित रूप स (१) समान रूप से नर और नारी सभी नागरिक, जीविका प्राप्ति के साधन प्राप्त कर सकें, (२) राष्ट्रीय सम्पत्ति का इस ढङ्ग से वितरण किया जाय जिससे अधिकाधिक लोगों का भला हो सके, (३) समान परिश्रम के लिये समान वेतन हो, (४) बालकों और प्रौढ़ श्रमिकों को सरक्षण प्राप्त हो, (५) चौदह वर्ष की अवस्था तक के बालकों को नि शुल्क शिक्षा दी जाय, (६) बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अगहानि की दशाओं म नागरिकों को सार्वजनिक सहायता मिले (७) आहार पुष्टि और जीवन स्तर को ऊँचा करने का प्रयत्न किया जाय। इनके अतिरिक्त राज्य को कुछ और भी बातें करनी हैं जैसे ग्राम-पचायतों का सगठन, मद्य निषेध कृषि और पशुशाला का सगठन, लाभदायक पशुओं विशेषतया दूध देने वाले पशुओं की हत्या का निषेध, कार्य-पालिका से न्याय-पालिका का पृथक्करण, श्रमिकों के लिये निर्वाह मजूरी, प्रगति सहायता, अन्तर्राष्ट्रीय शाति और सुरक्षा की उन्नति, इत्यादि इत्यादि।

उपरोक्त बातों से यह समझना कठिन नहीं है कि राज्य नीति के निदशक तत्व मूल अधिकारों के किस प्रकार परिपूरक हैं।

अध्याय १३

संघ का शासन

परिचयात्मक— जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है भारत एक 'राज्यों का संघ' है और इसमें संघात्मक प्रणाली को प्रश्रय मिला है। अन्य संघात्मक राज्यों की भाँति हमारे देश का भी एक लिखित संविधान है, जिसके द्वारा केन्द्र और राज्यों के बीच शक्ति वितरित कर दी गयी है। केन्द्र तथा राज्य दोनों की ही सरकारें अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में अबाध रूप से कार्य करेंगी। संघ और राज्यों के बीच तथा राज्यों का आपसी झगड़ा निबटाने के लिये एक उच्चतम न्यायालय की स्थापना की गई है। जिन बातों में भारतीय संघ अन्य संघ-शासनों से मेल नहीं खाता उनका भी उल्लेख किया जा चुका है। पुनः स्मरण के लिये अमरीकी दुहरी प्रणाली के विपरीत यहाँ सम्यक् नागरिकता का सिद्धान्त माना गया है; राज्यों के लिये पृथक् नागरिकता नहीं स्वीकार की गई है; राज्यों को अपना संविधान बनाने का अधिकार नहीं है और संविधान-सभा द्वारा बनाया गया संविधान सभी राज्यों में लागू होगा। हमारे संविधान की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि परिस्थिति के अनुरूप यह संघात्मक या एकात्मक दोनों ही प्रणालियों से, जैसी भी आवश्यकता हो, चलाया जा सकता है। साधारणतया यह संघ-प्रणाली से कार्य करेगा परन्तु संकट-काल में यह एकात्मक आकृति धारण कर सकता है। यह इसके अत्यधिक आनम्य (Flexible) होने का एक बड़ा प्रमाण है।

इस अध्याय में हम संघ-शासन के गठन, शक्तियों और कृत्यों का विवेचन करेंगे, तत्पश्चात् अगले अध्याय में राज्य-शासन की रचना पर विचार किया जायेगा।

केन्द्रीय शासन प्रणाली— ब्रिटिश पद्धति और १९३५ के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट द्वारा आयोजित भारतीय शासन-प्रणाली के अनुरूप हमारे नये संविधान में भी केन्द्र और राज्यों में संसदीय शासन (Parliamentary government) को प्रश्रय मिला है। संसदीय और प्रधानीय शासन (Presidential government) में क्या अन्तर है, इसे स्पष्टतया समझ लेना चाहिए। इस अन्तर का मूलाधार यह तथ्य है कि संसद्-शासन के प्रमुख का स्थान केवल संविधानिक (Constitutional) होता है जब कि प्रधानीय शासन में उसको वास्तविक अधिशासी प्राधिकार (Executive Authority) प्राप्त होते हैं। यह बात श्री 'मैन' के शब्दों में बड़े ही सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त हुई है :— 'ब्रिटेन के सम्राट् राज्य करते हैं प्रशासन नहीं; जब कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति प्रशासन करते हैं पर राज्य नहीं।'*

---

* While the King of England reigns but does not govern, the President of the United States governs but does not reign.

संसदीय शासन की दूसरी प्रमुख विशेषता कार्यपालिका और विधान-मण्डल के बीच गहरा सम्बन्ध है। कार्यपालिका तभी तक पदासीन रह सकती है जब तक कि उसे विधान मण्डल का विश्वास (Confidenee) प्राप्त हो, मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य विधान-मण्डल में बैठकर विधान-सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के विधेयकों को प्रतिपादित करते हैं और प्रशासन सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर देते हैं। प्रधानात्मक शासन शक्ति-पृथक्करण (Separation of powers) के सिद्धान्त पर आधारित है। इसम कार्यपालिका विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी नहीं होती और उसके सदस्य निश्चित अवधि के लिये नियुक्त किये जाते हैं। इसी प्रकार विधान-मण्डल भी कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्त होता है, इसके द्वारा विसर्जित नहीं किया जा सकता।

केन्द्रीय शासन के अङ्ग— अन्य सभ्य देशों के भाँति हमारे देश में भी केन्द्रीय सरकार के (१) कार्य-पालिका, (२) विधान-मण्डल, (३) न्याय पालिका नामक तीन प्रधान अङ्ग हैं। कार्य-पालिका में राष्ट्रपति और मन्त्रि परिषद् के सदस्य हैं, विधान मण्डल में राष्ट्रपति और संसद् की दोनों सभाएँ सम्मिलित हैं और उच्चतम न्यायालय इसका तीसरा अङ्ग है। अब हम इन तीनों अङ्गों के गठन और शक्तियों पर विचार-विमर्श करेंगे।

राष्ट्रपति— चूँकि भारत एक गणराज्य है इसलिये इसके प्रमुख को राष्ट्रपति कहा गया है, उन्हें राजा नहीं कह सकते थे। जिन विषयों पर संसद् को विधि बनाने का अधिकार है वे सब संघ के प्रशासी अधिकार (Executive authority) के अन्तर्गत आते हैं। संघ का यह अधिशासी अधिकार राष्ट्रपति को सौंपा गया है जो कि एक निर्वाचित प्रतिनिधि होंगे। नाम की समता होते हुए भी भारत के राष्ट्रपति और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति में बहुत सी भिन्नताएँ हैं। राज्य में उनका स्थान इङ्गलैंड के सम्राट् के समान है। उन्हें पाँच वर्ष तक के लिए संविधानिक राजा कहा जा सकता है। डा० अम्बेदकर के शब्दों में 'वह राज्य के प्रमुख अवश्य हैं कार्य-पालिका के नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं परन्तु उस पर हुकूमत नहीं करते। वह राष्ट्र के प्रतीक हैं। प्रशासन में उनका उस आनुष्ठानिक युक्ति (Ceremonial device) जैसा महत्त्व है जिसकी नाम मुद्रा से राष्ट्रीय निर्णयों का निश्चय होता है। न वह राज्य करते हैं, और न शासन।'

राष्ट्रपति का चुनाव एक ऐसे निर्वाचकगण (Electoral College) द्वारा कराया जायगा जिसमें संसद् के दोनों आगारों के और राज्यों की विधान-सभाओं के

निर्वाचित सदस्य सम्मिलित होंगे। राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए चुनाव के सीधे (Direct) तरीके को छोड़ कर अप्रत्यक्ष (Indirect) ढंग को इसलिये अपनाया गया है कि भारत जैसे बृहत् देश में निर्वाचकों की संख्या बहुत बड़ी और अनियन्त्रित हो जाती। फ्रांस और अमेरिका में भी राष्ट्रपति का अप्रत्यक्ष ढंग से ही चुनाव होता है। इस प्रणाली को अपनाने का एक और भी कारण है। वह यह कि राष्ट्रपति की शक्तियाँ और अधिकार नाम मात्र को हैं। अगर वह वास्तविक होते तो सम्भवत उनके निर्वाचन के लिए प्रत्यक्ष रीति अपनाई जाती। यह निर्वाचन अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति (Method of Proportional Representation) के अनुसार एक संक्रमणीय मत द्वारा होगा तथा ऐसे निर्वाचन में मतदान 'गुप्तमत' द्वारा होगा। प्रत्येक सदस्य को कितने मत देने का अधिकार होगा इसे मालूम करने की जटिल प्रणाली है। इसे विस्तारपूर्वक समझाने की आवश्यकता नहीं। राष्ट्रपति का चुनाव पाँच वर्ष की अवधि के लिए किया जायगा और वह पुनर्निर्वाचन का अधिकारी होगा। अपनी अवधि के समाप्त होने से पूर्व भी वह त्यागपत्र दे सकता है। महाभियोग (Impeachment) द्वारा राष्ट्रपति को उसके पद से हटाया भी जा सकता है। राष्ट्रपति को बिना किराये पदावास और १०,००० रुपया प्रतिमास उपलब्धि के रूप में प्रदान किया जायगा। राष्ट्रपति की उपलब्धियाँ और भत्ते उनके पद की अवधि में घटाये नहीं जायेंगे।

कोई भी व्यक्ति जो (१) भारत का नागरिक हो, (२) पैंतीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो, और (३) लोकसभा (House of the people) के लिए निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो, राष्ट्रपति के पद के लिए खड़ा हो सकता है। इस पद के लिए इतनी थोड़ी योग्यताएँ जान बूझ कर रखी गई हैं, ताकि धर्म, वंश, जन्म, रंग, सम्पत्ति आदि के भेद-भाव के बिना किसी भी व्यक्ति को इस पद तक पहुँचने का अवसर प्राप्त हो। यह रीति प्रजातन्त्र के आदर्शों पर आश्रित है। इसका यह मतलब नहीं कि इस उच्च पद के ग्रहण करने वाले को मस्तिष्क अथवा हृदय के गुणों की कोई आवश्यकता नहीं है। राष्ट्रपति को सुयोग्य, विद्वान, तेजमय और प्रभावशाली होना चाहिये। सरकार के लिए उसे बड़ी भारी समझ और कार्यपटुता की आवश्यकता है। केवल वह व्यक्ति ही निर्वाचित होने की आशा रख सकता है जिसने देश के राजनैतिक जीवन में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया हो। हमारे प्रथम राष्ट्रपति देश के गिने चुने रत्नों में से एक हैं और वे अपनी विशेष योग्यता, कार्य-कुशलता, प्रशासन-शक्ति, ईमानदारी और सच्चरित्रता के लिए प्रसिद्ध हैं। कोई व्यक्ति जो भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा किसी स्थानीय अधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद ग्रहण किये हुए हो राष्ट्रपति होने का पात्र न होगा। राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल (Governor), राजप्रमुख और मन्त्रियों के पद की गिनती लाभ-पदों में नहीं की जाती। राष्ट्रपति संसद् अथवा राज्य के विधान-

मण्डल के किसी भी सदन (Chamber) का सदस्य नहीं हो सकता और अपनी पदावधि में कोई दूसरा पद स्वीकार नहीं कर सकता।

भारत गण राज्य के राष्ट्रपति का एक बहुत शान और सम्मान का पद है। उन्हें बहुत से विशेषाधिकार और सुख सुविधायें प्राप्त हैं। ब्रिटिश सम्राट् और अमेरिकी राष्ट्रपति की भांति उनके ऊपर भी न्यायालयों का कोई जोर नहीं। अपने पद से सम्बन्धित अधिकार और कर्तव्यों के लिए उन्हें किसी न्यायालय के सामने उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। परन्तु संविधान का अतिक्रमण करने के लिए उन्हें अमेरिकी राष्ट्रपति की भाँति प्राभियोगित (Impeach) किया जा सकता है। यह महाभियोग संसद् के दोनों में से किसी भी सदन (House) में प्रारम्भ किया जा सकता है। यदि इस प्रकार का प्रस्ताव कुल सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत से स्वीकृत हो जाता है तो दूसरा सदन उस दोषारोपण का अनुसंधान करेगा या करायेगा। यदि अनुसंधान के फलस्वरूप दूसरा सदन भी कम से कम दो तिहाई मत से उपरोक्त संकल्प को पारित (Pass) कर देगा तो राष्ट्रपति पद से हटा दिये जायेंगे।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ— भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति की शक्तियों को चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है— कार्य पालिका सम्बन्धी, विधान सम्बन्धी, वित्त सम्बन्धी और आपत्कालीन।

कार्य पालिका शक्तियाँ— संघ की समस्त कार्य पालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी। इसके अतिरिक्त उनके हाथ में संघ के रक्षा बलों (Defence forces) का सर्वोच्च समादेश होगा। वे दण्ड, क्षमा आदि अधिकारों का भी उपयोग कर सकते हैं। वे संसद् द्वारा स्वीकृत अधिनियमों को अपनी स्वीकृति देते हैं और उनको लागू करते हैं। मुख्य मुख्य पद, जैसे राज्यपाल (Governor), राजनयिक (Diplomat), उच्च तथा उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीश, संघ-लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्य, महान्यायवादी (Attorney-General) और महालेखा परीक्षक (Auditor General) आदि की नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं। उन्हीं के द्वारा निर्वाचन आयोग (Election Commission), वित्तायोग और परिगणित क्षेत्रों के प्रशासन के विकास के सम्बन्ध में रिपोर्ट देने वाले आयोग की नियुक्ति होगी। शासन प्रक्रिया को सुचारु रूप से चलाने के लिये वे नियम बना सकते हैं और मंत्रियों में शासन-सम्बन्धी कार्य विभाजन कर सकते हैं।

परन्तु प्रजातन्त्रात्मक राज्य के प्रमुख होने के नाते वे एक संविधानीय प्रमुख ही हैं और उनकी शक्तियाँ नाम मात्र की हैं। इन सब विषयों में वे मंत्रि

परिषद् के परामर्श से कार्य करेंगे न कि स्वेच्छा से। ७४वें अनुच्छेद में यह स्पष्ट उल्लेख है कि राष्ट्रपति को अपने कर्त्तव्यों का सम्पादन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान, प्रधान मंत्री होगा। तथापि यह संविधान इस विषय में मौन है कि क्या राष्ट्रपति मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा मानने के लिए सदैव बाध्य होंगे अथवा कभी-कभी वे उनके परामर्श को ठुकरा कर स्वविवेक से भी कार्य कर सकते हैं। हमारा अनुमान है कि देश के दिन प्रति-दिन के प्रशासन में वे हस्तक्षेप न करेंगे और साधारणतया मन्त्रियों के परामर्श से कार्य करते रहेंगे। संविधान के अनुसार मन्त्रि परिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। इससे स्पष्ट लक्षित है कि प्रशासन मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही सञ्चालित होगा। कदाचित् बिना मन्त्रि-परिषद् का परामर्श लिये राष्ट्रपति संसद् की सभाओं में अपना अभिभाषण तक भी न भेजेंगे। इस पर सन्देह किया जा सकता है कि संकट-काल में भी वह मन्त्रि-परिषद् की मंत्रणा मानेंगे अथवा नहीं। यह मानना असंगत न होगा कि कम से कम संकट काल में तो राष्ट्रपति को एक हद तक स्वेच्छा से काम करने का अधिकार होगा ही।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि संविधान का अतिक्रमण करने पर राष्ट्रपति पर भी महा अभियोग लगाया जा सकता है, और संविधान का अभिप्राय ऐसी व्यवस्था को प्रश्रय देना है जिसमें सभी अधिकार जनता की इच्छानुकूल उपयुक्त किये जायँ, हम यह कह सकते हैं कि वह राष्ट्रपति जो कि संविधान के शब्द और अर्थ पर ध्यान देंगे साधारणतया मन्त्रि-परिषद् की मंत्रणा से काम करेंगे और उसकी अवहेलना नहीं करेंगे।

संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के कुछ विधान-सम्बन्धी ऐसे अधिकार हैं जिन्हें उनकी कार्य पालिका-शक्ति में ही सम्मिलित किया जा सकता है। संविधान का ८५वाँ अनुच्छेद उन्हें संसद् के एक अथवा दोनों सदनों (Houses) को बुलाने, नियत समय और नियत स्थान पर उनकी बैठक कराने, उनका सत्रावसान (Prorogue) करने और लोकसभा के भंग करने के अधिकार प्रदान करता है। अगले अनुच्छेद में उनको सदनों को सम्बोधन करने और उनके समक्ष प्रस्तुत विधेयकों के बारे में संदेश भेजने का अधिकार दिया गया है। प्रत्येक अधिवेशन (Session) के आरम्भ में दोनों सदनों के सामने वक्तव्य देना भी उनका कर्तव्य है। जैसा कि आगे चलकर बताया जायेगा उनका एक और महत्त्वपूर्ण कर्तव्य यह है कि संघ-सरकार के आगामी वर्ष के आय और व्यय का अनुमानित चिट्ठा तैयार करा के संसद् के समक्ष उपस्थित करें। राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना कर अथवा व्यय सम्बन्धी कोई प्रस्ताव संसद् के सामने नहीं आ सकता। ये सभी शक्तियाँ दिन प्रतिदिन के काम में आने वाली हैं और इनके लिए मन्त्रि परिषद् की मंत्रणा वाञ्छनीय है।

विधायनी शक्तियाँ— संविधान के अनुसार राष्ट्रपति संसद् का एक अभिन्न अंग है। संसद् के पारित सभी विधेयकों पर उनकी अन्तिम स्वीकृति लेना अनिवार्य है। इस स्वीकृति को वे दे भी सकते हैं और देने से इन्कार भी कर सकते हैं। वह किसी भी विधेयक (बशर्ते कि वह आर्थिक विधेयक नहीं है) को संसद् के पुनर्विचार के लिए अथवा संशोधन के लिए तत्सम्बन्धी सदेश के साथ लौटा सकते हैं। तदनुसार सदनों को उस विधेयक पर पुनर्विचार करना पडेगा और यदि वह विधेयक इस बार किसी संशोधन के साथ या यथापूर्व ही स्वीकार हो जाता है तो राष्ट्रपति उस पर अपनी स्वीकृति देने से इन्कार नहीं करेंगे। यह पहले ही सकेत किया जा चुका है कि बिना राष्ट्रपति की पूर्वानुमति के न कोई धन दिया जा सकता है और न कोई आर्थिक विधेयक पेश किया जा सकता है।

संसद् की बैठकों के बीचबीच में राष्ट्रपति को, यदि वे तत्कालीन परिस्थितियों में आवश्यक समझें, अध्यादेश प्रचालित करने का अधिकार है। परन्तु संसद् की बैठक होते ही ऐसा प्रत्येक अध्यादेश दोनों सदनों के समक्ष रख दिया जायगा और अधिवेशन के प्रारम्भ होने के ६ सप्ताह बाद उनका प्रभाव क्षीण हो जायगा, यदि इससे पहले ही वह वापस नहीं ले लिया जाता। यह शक्ति गवर्नर जनरल की उस शक्ति के तद्रूप है जो उन्हें १६३५ के ऐक्ट के द्वारा प्रदान की गई थी।

तथ्य या विधि से सम्बन्धित किसी भी प्रश्न पर राष्ट्रपति को उच्चतम न्यायालय की मन्त्रणा प्राप्त करने का भी अधिकार है।

वित्त सम्बन्धी शक्तियाँ— राष्ट्रपति की ओर से आगामी वर्ष की आय और व्यय का एक अनुमान-पत्र बनाकर संसद् के सामने रखा जाता है। अनुदान (Grants) की कोई माग और कर लगाने का कोई प्रस्ताव राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना नहीं रखे जा सकते।

आय कर की आमदनी में से कितना हिस्सा संघ को और कितना हिस्सा राज्यों को दिया जाय— यह निर्णय राष्ट्रपति ही करते हैं। आसाम, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बगाल की सरकारों को जूट के निर्यात शुल्क के स्थान पर वे सहायक धन (Grants-in aid) दिये जायेंगे जो राष्ट्रपति स्वीकार करें। उन्हें एक वित्तायोग (Finance Commission) बनाने का भी अधिकार प्राप्त है।

आपत्-शक्तियाँ— उपरोक्त शक्तियों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और सारगर्भित आपत् शक्तियाँ हैं जो संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को प्रदान की गई हैं। इन शक्तियों के द्वारा राष्ट्रपति संविधान की आकृति और प्रकार को परिवर्तित कर सकते हैं। यदि राष्ट्रपति का यह विश्वास हो जाय कि युद्ध, बाह्य आक्रमण या

आभ्यन्तरिक अशान्ति (Internal disturbance) के द्वारा ऐसा संकट उत्पन्न हो गया है जिससे भारत या उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है तो वे आपत्काल होने की उद्घोषणा कर सकते हैं। इस प्रकार की उद्घोषणा युद्ध, बाह्य आक्रमण और आभ्यन्तरिक अशान्ति की संभावना होने पर भी की जा सकती है। जब तक संकटकालीन उद्घोषणा जारी है उस समय तक निम्नांकित विषयों पर भी संघ-सरकार, यदि उचित समझे, अपना अधिकार विस्तार कर सकती है :—

(१) राज्य-सूची के विषयों के बारे में कानून बनाना।

(२) राज्य-सरकारों को आदेश देना कि वे अपनी कार्यपालिका-शक्तियों का किस प्रकार प्रयोग करें।

(३) किसी पदाधिकारी को किसी भी प्रकार का अधिकार सौंपना।

(४) संविधान के वित्त-सम्बन्धी उपबन्धों का स्थगन कर देना।

(५) संकटकाल में संविधान द्वारा निर्धारित नागरिकों के मूलाधिकार भी स्थगित किये जा सकते हैं, वक्तृता सम्मेलन और समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता पर पाबन्दियाँ लगाई जा सकती हैं और उनके सांविधानिक उपचारों के अधिकार को स्थगित किया जा सकता है। संक्षेप में, आपत् की उद्घोषणा होते ही संघात्मक शासन एकात्मक शासन में परिवर्तित हो जायगा। किसी भी संघात्मक संविधान में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं मिलती। यद्यपि संविधान में इस विषय का उल्लेख नहीं है कि राष्ट्रपति आपत्-उद्घोषणा मन्त्रियों के परामर्श से करेंगे या स्वेच्छा से, तथापि यह कहा जा सकता है कि साधारण परिस्थितियों की अपेक्षा ऐसे संकट में उन्हें अपने विवेक से काम लेने का अधिक अवसर है। यह सब कुछ होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि आपत्काल में राष्ट्रपति ऐसे स्वेच्छाचारी हो जायेंगे कि वह मनमानी कार्रवाई करेंगे। इन विषयों में उनके ऊपर संसद् का कुछ न कुछ नियन्त्रण रहेगा। आपत्-सम्बन्धी उद्घोषणा संसद् के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत की जायेगी और जब तक संसद् इसे न बढ़ाये इसकी अवधि दो महीने से अधिक न होगी। संसद् की सहमति से एक बार में संकट-कालीन उद्घोषणा की अवधि केवल छः मास तक बढ़ाई जा सकती है और किसी भी दशा में यह तीन वर्ष से अधिक न होगी।

दो अन्य परिस्थितियों में राष्ट्रपति आपत् की उद्घोषणा कर सकते हैं। यदि उन्हें यह विश्वास हो जाय कि संविधान के उपबन्धों के अनुसार राज्यों में शासन का कार्य नहीं चल सकता तो वे इस विषय की उद्घोषणा कर सकते हैं। ऐसी दशा में राज्यपाल (गवर्नर) और राजप्रमुखों के सभी अधिकार राष्ट्रपति के हाथों में आ जायेंगे और संसद् को राज्यों से सम्बन्धित सभी विधियों को बनाने का अधिकार मिल जायेगा। किन्तु किसी भी परिस्थिति में राष्ट्रपति स्वयं या उनके अभिकर्त्ता (Agent) उच्च

न्यायालय के अधिकारों का अपहरण नहीं कर सकते। दूसरे, यदि राष्ट्रपति को विश्वास हो जाये कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिससे भारत अथवा उसके राज्य-क्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व (Financial Stablity) या प्रत्यय (Credit) संकट में है तो वे वित्तीय आपत् की उद्घोषणा कर सकते हैं और संघ तथा राज्यों के सेवकों के वेतन और भत्ते घटा सकते हैं। आपत् की अवधि और तत्सम्बन्धी प्रक्रिया इन दो अवसरों पर भी उसी समान होगी जैसे कि हम पहले ही वर्णन कर आए हैं।

उपराष्ट्रपति— भारत के एक उपराष्ट्रपति होंगे जो कि पदेन राज्य परिषद् के सभापति होंगे। वह किसी लाभ के पद पर नियुक्त न होंगे। राष्ट्रपति के पद की आकस्मिक रिक्तता के अवसर पर वे राष्ट्रपति के पद के कृत्यों का पालन करेंगे। ये अवसर कई प्रकार से आ सकते हैं जैसे अनुपस्थिति, बीमारी, पदत्याग करने या पदच्युत होने की अवस्था में। ऐसे अवसरों पर उपराष्ट्रपति को वे ही सभी शक्तियाँ और सुख सुविधाएँ प्राप्त होंगी जो कि राष्ट्रपति को, और वे इस अवकाश में राज्य परिषद् का सभापतित्व नहीं करेंगे। संयुक्त अधिवेशन में एकत्रित संसद् के दोनों सदनों के सदस्य, अनुपाती प्रतिनिधित्व-पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा, उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करेंगे और ऐसे निर्वाचन में मतदान गूढशलाका द्वारा होगा। उपराष्ट्रपति के पद की लगभग वही योग्यतायें हैं जो कि राष्ट्रपति के पद की। अन्तर केवल इतना है कि इस हालत में उम्मेदवार को राज्य-परिषद् के सदस्य होने की आवश्यकता है।

याद रखना चाहिए कि केवल राष्ट्रपति के पद की आकस्मिक रिक्तता के अवसर पर ही उपराष्ट्रपति उस पद के कृत्यों का निर्वहन करते हैं। यदि राष्ट्रपति पदत्याग कर दें अथवा उनकी मृत्यु हो जाय तो अवशिष्ट अवधि के लिए उपराष्ट्रपति स्वतः ही राष्ट्रपति नहीं बन जाते। ऐसी दशाओं में पदरिक्त होने के छः माह के भीतर ही दूसरे राष्ट्रपति का चुनाव होना आवश्यक है।

मंत्रि-परिषद्— हम ऊपर यह उल्लेख कर आये हैं कि यद्यपि संविधान के अनुसार संघ की कार्य-पालिका का अधिकार राष्ट्रपति में निहित है परन्तु इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि वे वास्तव में प्रशासन करते हैं। यद्यपि अपने महान् अधिकार और सम्मान के कारण वे नाम मात्र के प्रमुख नहीं हैं फिर भी उन्हें गण-राज्य के संविधानीय प्रमुख से अधिक कुछ भी नहीं कहा जाना चाहिए। वास्तविक प्रशासन का अधिकार तो मन्त्रि-परिषद् और उसके प्रमुख होने के नाते प्रधान मंत्री में ही निहित है। भारत की मन्त्रि परिषद् की समता ब्रिटिश मन्त्रि मंडल (Cabinet) से की जा सकती है। दोनों का निर्माण, दोनों का प्रशासन पर

नियंत्रण करने के ढंग प्राय मिलते जुलते हैं। संघ प्रशासन किस प्रकार चलाया जाता है— इसकी कीर्ति या अपकीर्ति मंत्रि परिषद् को ही दी जायेगी न कि राष्ट्रपति को। जनता अपने दुःख और कठिनाइयों के लिए मंत्रियों को ही बुरा भला कहेगी और सुख, समृद्धि की अवस्था में उन्हीं के गुणगान करेगी न कि राष्ट्रपति के।

दिन प्रतिदिन के राज्य प्रशासन में मन्त्रि-परिषद् की इच्छानुसार ही काम होगा। मन्त्रि-परिषद् के मुख्य मुख्य कर्तव्य निम्नलिखित हैं :—

(१) प्रशासन का काम कई विभागों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक मंत्री के अधीन एक या अधिक विभागों की देख रेख रख दी जाती है। भारत सरकार के विभागों का वर्णन आगे किया जायेगा।

(२) यह विभिन्न विभागों की कार्यवाहियों का समन्वय करती और सरकार की विधान-सम्बन्धी योजनायें बनाती है।

(३) यह राज्य की नीति निर्धारित करती है और अपने निर्णयों को संसद् की स्वीकृति के लिए रखती है।

(४) जो विधेयक मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों द्वारा पेश किए जाते हैं और जिनके पारित कराने में वे अभिरुचि लेते हैं वे आसानी से देश का कानून बन जाते हैं, जब कि साधारण सदस्यों द्वारा प्रस्तुत विधेयकों के पारित होने की उतनी सम्भावना नहीं होती।

(५) मन्त्रि-परिषद् देश की आर्थिक व्यवस्था को भी नियन्त्रित करती है। वार्षिक आय-व्ययक (बजट) बनाने की वास्तव में इसी की जिम्मेदारी है। कर लगाने या व्यय करने का कोई प्रस्ताव संसद् में नहीं रखा जा सकता यदि मन्त्रिमंडल उसके विरुद्ध है।

(६) यह देश की पर-राष्ट्र-नीति भी निर्धारित और नियन्त्रित करता है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि मन्त्रि परिषद् राज्य के कल्याण की कर्णधार है अथवा शासन-यन्त्र की नियन्त्रक शक्ति है। चाहे संविधान ने इसे एक मन्त्रणा मन्डली के रूप में ही क्यों न माना हो, हमें सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि मन्त्रि-परिषद् को महान् शक्तियाँ हैं और उसकी बड़ी भारी जिम्मेदारियाँ हैं।

मन्त्रि परिषद् के मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधान मंत्री की सिफारिश से करते हैं जो कि मंत्रि-परिषद् के प्रधान हैं। आम चुनावों के पश्चात् राष्ट्रपति ऐसे व्यक्ति को प्रधान मंत्री का पद ग्रहण करने के लिए बुलाते हैं जिसके पीछे लोकसभा का प्रभावशाली बहुमत हो। प्रधान मंत्री अपने साथियों की नामावली अपनी ही पार्टी से या सम्मिलन (Coalition) की अवस्था में सहयोग करने वाले दलों के सदस्यों में

से तैयार करके राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रखते हैं। साधारणतया राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री द्वारा बनाई गई सूची (List) का यथावत् स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु ब्रिटिश परम्परा के समान वह किसी मन्त्री की नियुक्ति पर आपत्ति प्रकट कर सकते हैं, अथवा किसी नए व्यक्ति को सम्मिलित करने के लिये सिफारिश कर सकते हैं। यद्यपि राष्ट्रपति के सुझाव काफी महत्त्व रखते हैं और प्रधान मन्त्री को इन पर ध्यान देना पड़ता है परन्तु ये सुझाव प्रधान मन्त्री पर बाध्य नहीं होते।

सविधान में एक प्रतिबन्ध के अतिरिक्त परिषद् के मन्त्रियों के लिए किसी प्रकार की योग्यता का निर्देश नहीं किया गया। केवल इतना ही उल्लेख है कि यदि मन्त्रिमडल का कोई सदस्य छः महीने तक ससद् का सदस्य नहीं बन जाता तो उसे पद छोड़ना पड़ेगा। इसका यह अभिप्राय हुआ कि प्रधान मन्त्री ससद् के बाहर से भी अपने सहयोगी की नियुक्ति कर सकता है परन्तु ऐसा मन्त्री छः महीने से अधिक पदासीन नहीं रह सकता जब तक कि उसे ससद् में सीट नहीं मिल जाती। हाल ही में हमारे प्रधान मन्त्री (पंडित जवाहरलाल नेहरू) ने श्री देशमुख की अर्थमन्त्री के पद पर नियुक्ति की सिफारिश की, यद्यपि वे ससद् के सदस्य न थे। वे छः मास के भीतर भीतर ससद् के सदस्य चुन लिए जायेंगे। प्रजातन्त्रात्मक शासन वाले देशों की प्रायः यह परम्परा है कि मन्त्रिपरिषद् के लिए ससद् में से ही प्रधान मन्त्री अपने दल के सर्वश्रेष्ठ कर्मकुशल वक्ताओं को छाँट लेता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मन्त्रिपद पर चुने जाने की चेष्टा करने से पहिले किसी व्यक्ति को अपने नेतृत्व के गुण, कार्यपटुता, सच्चाई, वृहत् ज्ञान, मानव-समाज और व्यावहारिक प्रक्रियाओं का अनुभव और इन सबके ऊपर एक विश्वस्त और सुदृढ चरित्र का परिचय देना पड़ेगा।

सविधान में यह निर्देश है कि मन्त्रियों की पदावधि राष्ट्रपति पर निर्भर है और ये लोग अपने कृत्यों के लिए सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होंगे। पहली बात ब्रिटिश सविधान के उस सिद्धान्त के अनुसार है जिसके मुताबिक सम्राट् किसी भी समय मन्त्रि-मडल को भंग कर सकते हैं। परन्तु केवल अपनी वैयक्तिक इच्छा को प्रदर्शित करने के लिए सम्राट् किसी मन्त्री या पूरे मन्त्रिमडल को पदच्युत नहीं करते। केवल लोकसभा में अविश्रम्भ (non confidence) होने पर या जनता में अशान्ति होने पर ही कोई मन्त्रिमडल पदत्याग करता है। इसलिये वास्तव में भारतीय मन्त्रि-परिषद् की पदावधि का निर्णय लोकसभा की इच्छाशक्ति पर और अन्त में निर्वाचकों की मर्जी पर आश्रित होगा। परन्तु यह स्मरण रखने योग्य है कि राष्ट्रपति किसी मन्त्री को प्रशासन में गड़बड़ी करने पर भी पद से अलग कर सकते हैं। इस प्रकार दो रीतियों से मन्त्री लोग अपने कार्यभार से मुक्त किये जा सकते हैं—(१) लोकसभा में विश्रम्भ न मिलने पर, अथवा (२) प्रशासन-कार्य में कुशल न

होने के कारण। मंत्रियों का वेतन और भत्ते इत्यादि समय समय पर संसद् द्वारा निश्चित होंगे।

मंत्रि-मंडल सामूहिक रूप में संसद् के प्रति उत्तरदायी है। इसका अर्थ यह है कि सरकार के प्रत्येक विधान-सम्बन्धी और शासन-सम्बन्धी कार्य के लिये, चाहे वह किसी मन्त्री द्वारा किया गया है, मन्त्रि-मंडल के सभी सदस्य सामूहिक रूप से उत्तरदायी हैं। 'वे सब लोग साथ साथ तैरते और साथ साथ डूबते हैं।' एक मन्त्री द्वारा प्रस्तुत किये हुए विधेयक पर कोई दूसरा मन्त्री न आलोचना कर सकता है और न उसके विपरीत मत दे सकता है, चाहे वह स्वतः उससे असहमत ही क्यों न हो। सामूहिक उत्तरदायित्व का दूसरा अभिप्राय यह है कि सरकार के किसी विशेष प्रस्ताव के अस्वीकार होते ही सभी मन्त्रियों को एक साथ त्यागपत्र देना पड़ता है। केवल उन परिस्थितियों में जब कि कोई मन्त्री अपने साथियों के परामर्श से कार्य नहीं करता बल्कि स्वयं ही स्वेच्छा से सब कुछ कर लेता है उसे अपनी कार्रवाई के लिए अकेला ही उत्तरदायी होना पड़ेगा। ऐसे अवसर बहुत ही कम आते हैं।

मन्त्रि-मंडल प्रणाली की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता की ओर यहाँ ध्यान दिलाया जा सकता है— वह है, प्रधान मन्त्री का नेतृत्व। यह नेतृत्व कई तरह से प्रदर्शित होता है। पहली बात— राष्ट्रपति प्रधान मंत्री को मन्त्रि-मंडल बनाने के लिए आमन्त्रित करते हैं। प्रधान मंत्री ही अन्य मन्त्रियों की नामावली राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिये भेजता है। इस प्रकार वही मन्त्रियों का पद और स्थान निर्धारित करता है। प्रधान मन्त्री के त्यागपत्र का अर्थ है— समस्त मन्त्रि-मंडल का त्याग। दूसरे मन्त्रियों के ऊपर वह साधारण देख रेख भी रखता है। दूसरी बात— वह मन्त्रि-मंडल की बैठकों में अध्यक्ष पद ग्रहण करता है और इन बैठकों के लिए कार्यावली (Agenda) बनाता है। उसके मत और विचारों को सदैव प्रधानता दी जाती है। कभी कभी वह यह माँग कर सकता है कि उसके सहयोगी उसकी बात मानें अन्यथा वे त्यागपत्र दे दें। तीसरी बात— वही मन्त्रि-परिषद् के निर्णय राष्ट्रपति तक पहुँचाता है और इनको संघ के समस्त प्रशासन और विधान-सम्बन्धी भावी प्रस्तावों से अवगत रखता है। जब कभी राष्ट्रपति को किसी मामले पर मन्त्रि-परिषद् से पत्र-व्यवहार करना होता है तो प्रधान मन्त्री को ही इसका माध्यम बनाया जाता है। चौथी बात— प्रधान मन्त्री से यह आशा की जाती है कि संसद् में वह सभी महत्त्व-शाली प्रश्नों का उत्तर देगा और राज्य-नीति का स्पष्टीकरण करेगा।

सभी मन्त्रियों को गोपनीयता-शपथ लेनी पड़ती है। किसी भी व्यक्ति को वे मन्त्रि मंडल की बैठकों की कार्रवाई के वाद-विवाद और पारस्परिक मतभेद के बारे में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भेद न देंगे।

भारत सरकार के विभाग— भारत के मंत्रि मंडल का कार्य क्रम पोर्टफोलियो पद्धति पर आश्रित है। इसका अर्थ यह है कि विविध कामों को विभिन्न विभागों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक विभाग की देख रेख और उसके प्रशासन का भार मंत्रि-मंडल के किसी सदस्य के ऊपर सौंप दिया जाता है। भारत सरकार के निम्नलिखित बहुत से विभाग हैं —

(१) पर राष्ट्र विभाग, (२) गृह विभाग, (३) राष्ट्र-रक्षा विभाग, (४) वाणिज्य-विभाग, (५) संचार विभाग, (६) वित्त विभाग, (७) परिवहन विभाग, (८) रेलवे-विभाग, (९) शिक्षा विभाग (१०) सार्वजनिक स्वास्थ्य-विभाग, (११) कृषि विभाग, (१२) खाद्य-विभाग, (१३) उद्योग तथा रसद विभाग, (१४) रियासती विभाग, (१५) विधि विभाग, (१६) कर्मशाला, खानज, शक्ति-विभाग, (१७) श्रम विभाग, (१८) सूचना एवं प्रसारण विभाग, (१९) सहायता और पुनर्वास विभाग।

इनमें से प्रत्येक विभाग किसी न किसी मंत्री के अधीन रख दिया गया है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक विभाग के लिए एक पृथक् मंत्री हो। एक मंत्री कई विभागों की देख रेख कर सकता है। कुछ दिनों तक सरदार पटेल, गृह-विभाग सूचना तथा प्रसारण के विभागों का कार्य-संचालन करते रहे। अब सूचना और प्रसारण विभाग को एक पृथक् मिनिस्टर ऑफ स्टेट की देख रेख में रख दिया गया है। इसी प्रकार कृषि और खाद्य विभागों को एक ही मंत्री के अधीन रख दिया गया है। ऊपर बताये हुए विभागों के प्रशासक सभी मंत्रियों का एक सा ही पद अथवा सम्मान नहीं है। उनमें बहुत से तो केबिनट अर्थात् मंत्रिमंडल के सदस्य हैं, और कुछ को केवल मिनिस्टर ऑफ स्टेट की उपाधि दी गई है जो कि मन्त्रिमंडल (Cabinet) के सदस्य नहीं हैं — उदाहरणार्थ सहायता तथा पुनर्वास और सूचना एवं प्रसारण के मंत्री। मंत्रि मंडल में कभी-कभी ऐसे मंत्रियों को भी रख दिया जाता है जिनको किसी विभाग का कार्यभार नहीं सौंपा जाता। भारतीय मंत्रि मंडल में श्री गोपालस्वामी आयंगर इस प्रकार के मंत्री रह चुके हैं*। प्रधान मंत्री को यह आवश्यक नहीं कि वह स्वयं किसी एक विभाग का संचालन करें। इंगलैंड के ऐसे कई उदाहरण हैं जब कि प्रधान मंत्री केवल साधारण देख रेख का कार्य करते थे। इन विभिन्न विभागों को एक ढंग से संगठित करने की आवश्यकता है ताकि प्रशासन का कार्य अधिक सुचारु रूप से और कम खर्चे के साथ चलने लगे। इस ओर प्रयत्न भी किया जा रहा है। श्री गोपालस्वामी आयंगर ने विभागों के पुनः संगठन की एक योजना प्रस्तुत की थी। प्रस्तुत योजना पर विचार किया जा रहा है।

संसद्— संघ की कार्य पालिका के बारे में विवेचन करने के पश्चात् अब हम इसके विधायी अङ्ग की ओर ध्यान देते हैं। संसद् में राष्ट्रपति

* आजकल श्री आयंगर रेलवे-विभाग के मंत्री हैं।

और राज्य-परिषद् तथा लोकसभा नाम के दो सदन शामिल हैं। राष्ट्रपति के विधान-सम्बन्धी अधिकारों का वर्णन पहिले ही किया जा चुका है। इस भाग में हम पहिले दोनों सदनों की रचना और शक्तियों का और तत्पश्चात् विधान सम्बन्धी और वित्तीय प्रक्रिया (Procedure) का विवेचन करेंगे।

राज्य परिषद्— सन् १६१६ के और सन् १६३५ के गवर्नमेन्ट ऑफ इन्डिया ऐक्ट के पगचिन्हों पर चलते हुए और संघात्मक प्रणाली वाले देशों की परम्परा के अनुसार, हमारे संविधान में भी द्विआगारिक (Bicameral) विधान-मण्डल को प्रश्रय मिला है। ऊपरवाले सदन का नाम राज्य-परिषद् है। जैसे कि नाम से ही प्रकट है राज्य परिषद् में राज्यों का प्रतिनिधित्व होगा जो कि संघ की इकाइयाँ हैं। अमेरिकी 'सीनेट' की भाँति यह भी एक स्थायी (Permanent) संस्था है। इसे कभी भंग नहीं किया जा सकता, न एकदम इसके सभी सदस्यों का चुनाव होगा। इसके लगभग एक तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष के बाद स्थान छोड़ते रहेंगे। संविधान में स्पष्टतया इस विषय का उल्लेख नहीं है कि परिषद् के सदस्यों की अधिक से अधिक कितनी अवधि होगी, किंतु उपरोक्त उपबन्ध से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि राष्ट्र-परिषद् के सदस्य छः वर्ष के लिए चुने जायगे। परिषद् की संख्या अधिक से अधिक २५० तक हो सकती है जो कि लोकसभा की निर्धारित संख्या (५००) की आधी है। राज्य-परिषद् के निर्धारित सदस्यों में से ११ सदस्यों का नाम-निर्देशन राष्ट्रपति द्वारा होगा। ये व्यक्ति प्रसिद्ध साहित्यिक, वैज्ञानिक, कलाप्रिय और समाज सेवकों में से होंगे। इस सदन के २५० स्थानों को संघ के विभिन्न राज्यों में इस प्रकार बाँटा गया है :— भाग (क)— आसाम ६; बिहार २१, बम्बई १७; मध्यप्रदेश १२; मद्रास २७, उड़ीसा ६, पंजाब ८; उत्तर प्रदेश ३१; पश्चिमी बंगाल १४। भाग (ख)— हैदराबाद ११, जम्मू और काश्मीर ४; मध्यभारत ६; मैसूर ६, पटियाला और पूर्वी पंजाब राज्य संघ ३; राजस्थान ६; सौराष्ट्र ४; ट्रावनकोर कोचीन ६; विन्ध्यप्रदेश ४। भाग (ग)— अजमेर कुर्ग १; भूपाल १; बिलासपुर और हिमाचल प्रदेश १; देहली १; कच्छ १; मनीपुर और त्रिपुरा १। कूचबिहार के बंगाल में शामिल होने के कारण उसकी एक सीट बंगाल की सीटों में बढ़ा दी जायगी। (क) भाग में सम्मिलित राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या १४५+१=१४६, (ख) भाग के सदस्यों की संख्या ५१ और (ग) भाग के सदस्यों की संख्या ७—१=६ है। शेष ३३ स्थानों के लिए अभी निर्णय नहीं किया गया, वे अभी सुरक्षित रखे गये हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि हमारी राज्य परिषद् में संघ की सब इकाइयों का समान प्रतिनिधित्व नहीं मिला। जैसा कि ऊपर के आँकड़ों से विदित होगा, राज्यों को उनकी जनसंख्या के अनुसार कम या अधिक सदस्य भेजने का अधिकार दिया गया है। इस दृष्टि से हमारी परिषद् अमेरिकी सीनेट और अन्य संघात्मक देशों के ऊपरी आगार से भिन्न है।

राज्य परिषद् के सदस्यों का अप्रत्यक्ष (Indirect) रीति से चुनाव किया जायेगा। प्रथम अनुसूची (Schedule) मे (क) और (ख) भागों के राज्यों के प्रतिनिधि उन राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा चुने जायेंगे। यह चुनाव अनुपाती प्रतिनिधित्व के आधार पर एकल संक्रमणीय मत द्वारा होगा। भाग (ग) में सम्मिलित होने वाले राज्यों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन उस प्रणाली के अनुसार होगा जो ससद् विधि के द्वारा नियत करे। राज्य-परिषद् का सदस्य निर्वाचित होने के लिए किसी उम्मेदवार को निम्नलिखित तीन बातों की पूर्ति करनी पडेगी :—

(क) वह भारत का नागरिक होना चाहिए;

(ख) उसकी आयु कम से कम ३० वर्ष होनी चाहिए;

(ग) वह ऐसी सभी शर्तों को पूरा करता हो जो समय समय पर संसद् द्वारा निश्चित की जायँ।

लोकसभा— लोकसभा भारतीय ससद् का निचला और बडा आगार है। यह राज्यों का नहीं बल्कि समस्त सघ की जनता का प्रतिनिधित्व करता है और इसके सदस्यों की सख्या १६१६ ई० के अथवा १६३५ ई० के ऐक्टों की प्रस्तावित असेम्बली के सदस्यों की सख्या से बहुत अधिक है। इसमे अधिक से अधिक ५०० सदस्य हो सकते हैं और इसके सभी सदस्य राज्यों के निर्धारित क्षेत्रों से चुने जायेंगे। चूँकि इसके सदस्यों का चुनाव प्रौढ मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली से होगा इसलिए इसे भारतीय ससद् का 'पॉपुलर हाउस' भी कह सकते हैं। अग्रेजी हाउस ऑफ कॉमन्स, अमेरिकी हाउस ऑफ रिप्रेज़ेन्टेटिव्ज आगार को भी इसी अर्थ में पॉपुलर चैम्बर कहते हैं।

लोकसभा के प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिए प्रत्येक राज्य को बहुत से निर्वाचन-क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जायगा। प्रत्येक क्षेत्र से कितने प्रतिनिधि चुने जायँ, निम्नलिखित आधार पर निश्चित किये जायेंगे :— कम से कम ५००,००० और अधिक से अधिक ७५०,००० जनसख्या के पीछे एक प्रतिनिधि होगा। एक निर्वाचन-क्षेत्र की जनसख्या और उसमें प्रतिनिधियों में जो अनुपात होगा वही देश के सभी निर्वाचन क्षेत्रों में समान होगा। चूँकि एक जनगणना के समय से दूसरी जनगणना के समय तक निर्वाचन-क्षेत्रों की जनसंख्या बदलती रहेगी इसलिए सविधान मे इस विषय का उपबन्ध है कि प्रत्येक जनगणना के पश्चात् ससद् ऐसे प्राधिकारी (Authority) की नियुक्ति करेगी जो कि ससद् की विधि के द्वारा निर्धारित रीति से, विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से, प्रतिनिधियों की संख्या का निर्णय करेगा। जो परिवर्तन ऐसे प्राधिकारी के द्वारा सुझाए जायँगे वे तब तक कार्यान्वित न किये जायेंगे जब तक कि तत्कालीन लोकसभा भग न कर दी जाय।

हमारे देश में अब से पहले १९३५ ई० के गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार लोग पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों में मत दिया करते थे। वह नागरिकों की भाँति नहीं बल्कि मुसलमान, ईसाई, योरुपीय, सिख, हिन्दू इत्यादि के नाते वोट देते थे। नये संविधान ने इस विषैले साम्प्रदायिक चुनाव के ढंग का सर्वान्त कर दिया है। अब प्रत्येक क्षेत्र के लिए ही साधारण निर्वाचन-नामावली होगी और किसी धर्म, सम्प्रदाय अथवा जन्म-जाति का विभेद किये बिना इसमें प्रायः सभी प्रौढ़ मतदाता होंगे। यह एक बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन है। इससे विधान में परिगणित जातियों और अनुसूचित जन-जातियों (Scheduled Castes & Scheduled Tribes) को छोड़ कर किसी भी अल्पसंख्यक जाति के लिए सुरक्षित सीटों का निर्देश नहीं है। राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि यदि वह यह समझें कि आंग्ल-भारतीय (Anglo-Indian) जाति को चुनाव द्वारा लोकसभा में उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिला है तो वह इस जाति के दो सदस्यों का लोकसभा में नाम-निर्देशन (Nomination) कर देंगे। परिगणित जातियों, अनुसूचित जन-जातियों के लिए संरक्षण और आंग्ल-भारतीयों के लिए इस प्रकार का विशेष प्रतिनिधित्व केवल अगले दस वर्षों तक ही रखा गया है।

संसद् के लिए प्रतिनिधि निर्वाचन की किस प्रणाली द्वारा चुने जायेंगे, संविधान में इसका उल्लेख नहीं है। इस समस्या का हल संसद् के ऊपर ही छोड़ दिया गया है। फिर भी एक चीज़ तो स्पष्ट ही है— निर्वाचन-क्षेत्र भू-क्षेत्रों के विचार से ही होंगे, न कि व्यवसायों के आधार पर। अब तो केवल यह निश्चित करना शेष है कि प्रत्येक चुनाव-क्षेत्र से एक प्रतिनिधि जायगा या एक से अधिक। संविधान के निर्माताओं ने यह उचित नहीं समझा कि इन क्षेत्रों से चुनाव करने के लिए भी संक्रमणीय मत वाले अनुपाती प्रतिनिधित्व को अपनाया जाय जिसके दुष्परिणाम से बहुत से दल अस्तित्व में आ जाते हैं। बहुत से दलों के खड़े होने का यह फल होता है कि सभाओं में बहुमत वाला कोई भी एक दल नहीं पहुँच पाता। ऐसी अवस्था में मन्त्रिमण्डल मिले जुले (Coalition) होते हैं जो कि स्वभावतः निर्बल और लघु आयु वाले होते हैं। वैसे भी अनुपाती प्रतिनिधित्व की प्रणाली बड़ी ही संजटिल है और हमारे देश में, जहाँ कि मतदाता लोग अधिकतर अनपढ़ हैं, यह पद्धति सफल सिद्ध नहीं हो सकती थी।

नये संविधान के अन्तर्गत मताधिकार— मताधिकार की समस्या का किसी भी प्रजातन्त्रात्मक संविधान में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। एक संविधान किस सीमा तक लोकतन्त्र की ओर जा सकता है, इस बात का निश्चय निर्वाचकों और सम्पूर्ण देश की जनसंख्या के पारस्परिक अनुपात पर निर्भर है। इस मापदण्ड पर हमारा संविधान पूर्णतया लोकतन्त्रात्मक कहा जा सकता है। मताधिकार से सम्बन्धित इसके उपबन्ध इस-

की प्रमुख विशेषताओं में से है। एक ही प्रहार में इसने उन सभी अप्रजातन्त्रीय और रूढिवादी शर्तों को रद्द कर दिया है जो सम्पत्ति, आय, शिक्षा, आदि की प्राचीन भित्तियों पर अवलम्बित थीं, और जिनके कारण जनसंख्या का एक बड़ा भाग मत देने के अधिकार से वंचित था। १६१६ ई० के ऐक्ट के अन्तर्गत ३ % से अधिक लोगों को मत देने का हक नहीं था। १६३५ ई० के ऐक्ट ने निर्वाचकों की संख्या बढ़ाकर लगभग १४ % कर दी थी। नये संविधान के अनुसार सभी प्रौढ़ व्यक्ति (स्त्री-पुरुष) जो २१ वर्ष या उससे अधिक आयुवाले हैं और जो किसी अन्य निर्योग्यता— पागलपन, अपराध, विधि-विरुद्ध व्यवहार, देश-परिहार आदि— के अन्तर्गत नहीं आते, मताधिकार के पात्र समझे जायँगे। दूसरे शब्दों में, केन्द्रीय लोकसभा और प्रान्तीय विधान-सभाओं के लिए इस संविधान ने प्रौढ़ मताधिकार के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। यह अनुमान किया गया है कि हमारे निर्वाचकों की संख्या संसार में सबसे बड़ी होगी, इसमें लगभग एक करोड़ साठ लाख निर्वाचक होंगे।

शंकावादी लोग भारतीय जनता को इस प्रकार प्रौढ़ मताधिकार देने की बुद्धिमत्ता पर सन्देह प्रकट कर सकते हैं। वे कह सकते हैं कि भारतीय जनता अनपढ़ है और सार्वजनिक विषयों में कोई अभिरुचि नहीं रखती। इसके अतिरिक्त निर्वाचन क्षेत्र बहुत बड़े बड़े और अनियन्त्रित हो जायगे, जिनके कारण निर्वाचकों और निर्वाचितों के बीच का गहन सम्बन्ध, जो कि प्रतिनिधि संस्थाओं के सफल कार्य-संचालन के लिए आवश्यक है, असम्भव हो जायेगा। हमें इस प्रकार के कुतर्कों पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। हमारी जनता चाहे अनपढ़ ही क्यों न हो, फिर भी वह काफी चतुर और समझदार है। भूतकाल में ऐसे बहुत थोड़े अवसर होंगे जब कि सम्भवतः उन्होंने सार्वजनिक उत्साह का परिचय न दिया हो। मताधिकार स्वयं एक प्रकार का शिक्षात्मक मूल्य रखता है— यह प्रजातन्त्र के स्रोतस्थल के समान है और इसे बन्द करते ही प्रारम्भ में ही लोकतंत्र की प्रयोग धारा लुप्त हो जायेगी। इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि संविधान में निर्वाचन आयोग नियुक्त करने का भी उपबन्ध है। इस आयोग में मुख्य निर्वाचन आयुक्त (Chief Election Commissioner) और ऐसे अन्य निर्वाचन आयुक्त सम्मिलित होंगे जो राष्ट्रपति द्वारा निश्चित किये जायँ। चुनावों का देख रेख, निर्देशन और नियन्त्रण, निर्वाचक-नामावली तैयार करना, ईमानदारी और निष्पक्षता से निर्वाचन का चलाना— इस आयोग के कर्तव्य होंगे।

संविधान की लोकसभा की कालावधि ५ वर्ष नियत की गई है। सभा के नये चुनावों के पश्चात् जो पहली बैठक होगी उससे ठीक पाँच वर्ष बाद लोकसभा के सदस्यों को विसर्जित समझा जायेगा। परन्तु संकट काल घोषित होने की दशा में संसद् विधि द्वारा अपना कार्य काल बढ़ा सकती है, परन्तु एक बार में एक वर्ष से अधिक के लिए नहीं। आपत्

की घोषणा के प्रभाव शून्य होने के बाद ६ मास के अन्दर लोकसभा का कार्यकाल समाप्त हो जायगा। यह याद रखने की बात है कि ब्रिटिश संसद् का कार्यकाल भी ५ वर्ष ही है। विधान सभा की अवधि १६१६ ई० के ऐक्ट के अनुसार तीन वर्ष और १६३५ ई० के ऐक्ट के अनुसार पाँच वर्ष थी।

प्राय सभी दूसरे देशों में विधान मण्डलों के वार्षिक अधिवेशन का होना एक नियत नियम है— चाहे संविधानिक विधि के द्वारा और चाहे परम्परा से। किन्तु हमारे संविधान के अनुसार वर्ष में संसद् के कम से कम दो अधिवेशन अनिवार्य हैं। एक अधिवेशन की अन्तिम बैठक और दूसरे अधिवेशन की पहली बैठक में छः महीने से अधिक का अन्तर नहीं हो सकता। जैसा कि एक और स्थल पर भी संकेत किया जा चुका है, राष्ट्रपति का यह कर्तव्य है कि एक या दोनों सदनों का अधिवेशन करायें, उनका समावसान करें और लोकसभा का विघटन करें।

संसद् और राज्य के विधान-मंडलोंकी सदस्यता के लिए केवल दो शर्तें हैं— पहली शर्त : भारत की नागरिकता, और दूसरी शर्त निर्धारित आयु। संविधान में यह निर्देश किया गया है कि २५ वर्ष से कम आयु रखने वाला नागरिक संघीय लोक सभा के निर्वाचन के योग्य न समझा जायेगा। राज्य परिषद् का सदस्य चुना जाने के लिये एक व्यक्ति का कम से कम तीस वर्ष का होना चाहिए। यह संसद् के ऊपर ही छोड़ दिया गया है कि वह निर्वाचन की किसी और योग्यता के मापदण्ड को निर्धारित करे। कोई व्यक्ति संसद् का सदस्य नहीं हो सकता यदि वह देश की किसी सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किये हुए है, उसका दिमाग खराब है, स्वेच्छा से वह किसी अन्य राज्य का, संसद् द्वारा बनाई किसी विधि के अनुसार, नागरिक हो गया है। कोई व्यक्ति संसद् के दोनों सदनों का, संसद् के एक सदन और राज्य के विधान-मंडल (परिषद् या सभा) का एक साथ ही सदस्य नहीं हो सकता। एक समय में उसे केवल एक सदन की ही सदस्यता प्राप्त हो सकती है।

संसद् के प्रत्येक सदन में उस सदन के कुल सदस्यों के १० % सदस्य उपस्थित होने पर ही गणपूर्ति (कोरम) होता है। बिना दस प्रतिशत सदस्यों की उपस्थिति के बैठक की कार्रवाई नहीं चलाई जा सकती। कुछ निर्धारित विषयों को छोड़कर सब बातें उपस्थित सदस्यों में से वोट देनेवालों के बहुमत से तै की जाती हैं। महान्यायवादी (Attorney General) और प्रत्येक मंत्री को किसी भी सदन की कार्रवाई में सम्मिलित होने और अपने विचार रखने का अधिकार है, परन्तु यदि वे उसके सदस्य नहीं हैं तो उन्हें वोट देने का अधिकार प्राप्त न होगा।

संसद् के सदस्यों के लिए कुछ विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ नियत हैं। संसद् के सदनों में उन्हें वाक्-स्वातन्त्र्य (Freedom of Speech) है

और वक्तृता अथवा मत के विषय में उनके विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कार्रवाई न चल सकेगी। परन्तु नियम और स्थायी आदेशों (Standing Orders) के द्वारा संसद् वाक् स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध लगा सकती है। जब तक कि संसद् इस प्रश्न पर अपना निर्णय दे उसके सभी सदस्यों को वे सब अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त होंगे जो कि ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स के सदस्यों को प्राप्त हैं, अर्थात् घोरापराध (Felony) और राजद्रोह (Treason) को छोड़कर किसी भी अपराध के लिए उन्हें अधिवेशन के समय गिरफ्तार नहीं किया जायगा। सदस्यों के वेतन और भत्ते संसद् ही निश्चित करेगी।

अध्यक्ष (स्पीकर) — लोकसभा अपने ही सदस्यों में से एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष का निर्वाचन करती है। इन दोनों में से प्रत्येक को पद छोड़ना पड़ेगा यदि वह सभा का सदस्य नहीं रहता। उपस्थित सदस्यों के बहुमत से भी उनको पद से हटाया जा सकता है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष ही उस पद का कार्य-वहन करेंगे। अध्यक्ष का कर्त्तव्य सभा की बैठकों में अध्यक्षता ग्रहण करना, बैठकों में यह निर्णय करना कि किस सदस्य को कब बोलने दिया जाय, सभा में शान्त और मर्यादा कायम रखना, सभा के नियमों का विवेचन करना, मतगणना का निर्णय देना, औचित्य प्रश्नों (Points of Order) का निश्चय करना और उन पर अन्तिम निर्णय (Ruling) का देना, आदि हैं। वोटों की समता के अवसर पर उन्हें निर्णयात्मक (Casting Vote) देने का अधिकार है। वही इस विषय का निर्णय करेंगे कि कोई विधेयक वित्त से सम्बन्ध रखता है अथवा नहीं। संविधान ने इन शक्तियों को देकर अध्यक्ष को सभा के सम्मान, प्रतिष्ठा और मर्यादा का संरक्षक ।है।

यह आशा की जाती है कि लोक-सभा के अध्यक्ष अमेरिकी स्पीकर की परम्परा को ।८ न करके इंगलैंड के स्पीकर की परम्परा अपनायेंगे। इस परम्परा के अनुसार ‌ करते ही स्पीकर अपने दल से सम्बन्ध विच्छेद कर देते हैं और किसी प्रकार की ति० कार्रवाई में भाग नहीं लेते। केवल उत्तर-प्रदेश की विधान-सभा के अध्यक्ष पुरुषोत्तमदास टण्डन का उदाहरण छोड़कर सभी अध्यक्षों ने इंगलैंड की परम्परा के ।८ कार्य किया है, अर्थात् अध्यक्ष पद ग्रहण करते ही उन्होंने अपने दल की सदस्यता छोड़ दी है।

अध्यक्ष पद केवल प्रतिष्ठित और सम्मानित ही नहीं है बल्कि उसका बहुत बड़ा महत्त्व भी है। बैठकों में कार्य संचालन की सफलता का बहुत कुछ श्रेय अध्यक्ष के ज्ञान, दक्षता, कार्यपटुता और व्यक्तित्व पर निर्भर है। उन्हें विचार में स्पष्ट, निर्णय में सुदृढ़ और बर्ताव में गम्भीर होना चाहिए। हजारों उत्तेजनाओं के बीच

भी उन्हें स्थिर-चित्त और स्थिर बुद्धि रखना आवश्यक है । अपने कौशल की सहायता से ही वे बैठकों को सफल बना सकते हैं ।

संसद् के कृत्य— संसद् संघ-सरकार का विधायी अंग है इसलिए इसका प्रधान कर्त्तव्य देश के सुशासन के लिए विधियाँ बनाना है । और किसी दूसरी संस्था अथवा व्यक्ति को संघ सम्बन्धी क़ानून बनाने का अधिकार नहीं है । परन्तु संसद् पद्धति पर आधारित संसद् का कार्य केवल कानून बनाना ही नहीं है बल्कि इसके अतिरिक्त उसे और बहुत से काम करने पड़ते हैं । इसका एक विशेष कर्त्तव्य कार्यपालिका बनाना और उसे पदासीन रखना है । देश में किस प्रकार की हुकूमत होगी यह इस बात पर निर्भर है कि संसद् में कौनसा दल अधिक शक्तिशाली है । यदि संसद् में कांग्रेस दल का बहुमत है तो कांग्रेस की सरकार बनेगी किन्तु अगर वहाँ समाजवादी दल या हिन्दू महासभा के सदस्यों का बाहुल्य है तो कार्य-पालिका भी क्रमश समाजवादी या हिन्दू महासभा की नीति का पालन करने वाली होगी । दूसरी बात यह है कि संसद् ही ऐसी जगह है जहाँ जनता की शिकायतों और दुखों को प्रकट किया जा सकता है । प्रतिदिन लोकसभा की बैठकों का एक घंटा प्रश्नोत्तरों के लिए दिया जाता है । एक लेखक का कथन है कि ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स में प्रश्नों का घंटा, ग्रेट ब्रिटेन में, प्रजातन्त्र का सबसे शक्तिशाली अस्त्र है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि संसद् में पूछे जाने वाले प्रश्नों का अप्रत्यक्ष रूप से बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है । संसद् का कर्त्तव्य प्रशासन का संचालन नहीं है, यह कार्य तो विभिन्न विभागों के द्वारा चलाया जाता है जिनके ऊपर मन्त्री लोग देख रेख रखते हैं । विभागों के द्वारा प्रशासन किस प्रकार से चलाया जाता है, इसके लिए मन्त्री संसद् के सामने उत्तरदायी होते हैं । अनेक तरीकों से संसद् मन्त्रियों के ऊपर नियन्त्रण रखती है, जैसे— माँगों को स्वीकार करना, प्रश्नों का पूछना और सदस्यों में से बहुत सी समितियों का बनाया जाना, इत्यादि ।

संसद् का चौथा कर्त्तव्य राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण करना है । बिना संसद् की प्रत्यक्ष आज्ञा के न कोई कर लगाया जा सकता है, न इकट्ठा किया जा सकता है, न कोई धन ऋण लिया जा सकता है और (भारित व्यय के अतिरिक्त) न किसी मद में कोई व्यय ही किया जा सकता है ।

अन्तिम बात— यदि हम इंगलैंड की परम्परा पर चलते रहें तो परिणामत हमारी संसद् ऐसी जगह होगी जहाँ कि राष्ट्रीय नेताओं की प्रशिक्षा और परीक्षा हो सकेगी । अब तक तो यह प्रशिक्षा का कार्य कांग्रेस के द्वारा होता रहा है परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता जायगा और संसद् परम्परायें और व्यवहार देश में जड़ पकड़ते जायेंगे वैसे वैसे हम आशा करते हैं कि कांग्रेस के इस महत् कार्य का संसद् के लिए हस्तान्तरण

हो जायेगा। यद्यपि ससद् का यह एक ऐसा सूक्ष्म कृत्य है, जिसकी परिभाषा करना आसान नहीं है फिर भी यह वास्तविक और सारगर्भित है। इस कृत्य को समझने के लिए ब्रिटिश ससद् का हमारे सामने सबसे अच्छा उदाहरण है।

यह भी स्मरणीय है कि १६३५ ई० के ऐक्ट के अन्तर्गत केन्द्रीय विधान मण्डल की भाँति हमारा ससद् किसी बाह्य अधिकारी के अधीन नहीं है। इस दृष्टि से हम इसे प्रभुतापूर्ण (Sovereign) कह सकते हैं परन्तु यह उस अर्थ म प्रभुतापूर्ण नहीं है जिसम कि ब्रिटिश पार्लियामेन्ट। इसकी विधायी शक्तियों पर सविधान का प्रतिबन्ध है। साधारणतया राज्य सूची के विषयों पर भी यह कानून नहीं बना सकती। न्यायालय इसके द्वारा बनाई विधियों को सविधान के विपरीत घोषित करके प्रभावशून्य कर सकते हैं, हमारे सविधान ने न्याय पालिका को न्यायिक पुनरीक्षा (Judicial Review) का अधिकार दिया है। इस बात में यह ब्रिटिश व्यवस्था के विपरीत और अमेरिकी प्रणाली के समान है।

विधान प्रक्रिया— सविधान में ससद् म होने वाली प्रक्रियाओं पर भी थोड़ा प्रकाश डाला गया है परन्तु इसम उन अवस्थाओं का कोई विस्तृत विवेचन नहीं है जिनम होकर विधेयकों को दोनों सदनों मे गुजरना पड़ता है। इन बातों का निर्णय ससद् के ऊपर ही छोड़ दिया गया है। सविधान में ऐसी छोटी छोटी बातों का विस्तृत उल्लेख करना उचित भी नहीं था।

सविधान के अनुसार धन-विधेयक लोक-सभा मे ही आरम्भ किये जा सकते हैं। परन्तु कोई भी साधारण विधेयक किसी भी सदन मे आरम्भ किया जा सकता है। इस प्रकार का साधारण विधेयक (Non money Bill) एक सदन मे प्रस्तुत और पारित होने के पश्चात् दूसरे सदन म भेज दिया जाता है। यदि दूसरा सदन भी इसको उसी रूप म पास कर देता है जैसा कि पहले ने किया था तो राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलने पर वह विधेयक लागू हो जाता है। परन्तु यदि दूसरा सदन ऐसे विधेयक को अस्वीकार कर देता है या ऐसे सशोधनों के साथ पारित करता है जो आरम्भिक सदन को मजूर नहीं तो 'जिच' या गतिरोध की अवस्था पैदा हो जाती है जिसे केवल सयुक्त अधिवेशन द्वारा ही दूर किया जा सकता है। सविधान में ऐसा उल्लेख है कि यदि एक विधेयक के ऊपर दोनों सदनों मे पारस्परिक मतभेद है अथवा दूसरे सदन मे भेजे हुए विधेयक पर छ महीने तक कोई निर्णय नहीं हो पाता तो राष्ट्रपति दोनों सदनों का सयुक्त अधिवेशन बुलाकर विचार विमर्श कराते हैं और बिल के ऊपर वोट लेते हैं। इस प्रकार के सयुक्त अधिवेशन म एकत्रित होकर मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से जो प्रस्ताव स्वीकार होगा वह दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव समझा जायगा। तत्पश्चात् यह राष्ट्रपति का स्वीकृति के लिए रख दिया जायेगा।

उपरोक्त उपबन्ध यह प्रदर्शित करते हैं कि धन-विधेयकों के अतिरिक्त सभी बातों में दोनों सदनों के विधान-सम्बन्धी समान और समवर्ती अधिकार हैं। धन-विधेयक के अतिरिक्त कोई भी विधेयक किसी भी सदन में आरम्भ किया जा सकता है और इस प्रकार का कोई भी विधेयक (धन-विधेयक के अतिरिक्त) तब तक संसद् द्वारा स्वीकृत न समझा जायगा जब तक इसको एक ही रूप में दोनों सदन पारित न कर दें। परन्तु सिद्धान्त में दोनों सदनों के प्रायः बराबर अधिकार होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि वास्तव में लोकसभा राज्य-परिषद् की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली सदन है। कारण यह कि मतभेद की अवस्था में जो संयुक्त अधिवेशन होगा उसमें लोकसभा के सदस्यों की लगभग दुगुनी संख्या होने से इसका बहुमत हो जायेगा। इस प्रकार राज्य-परिषद् विधान की प्रगति में बहुत अधिक बाधा नहीं डाल सकेगी।

धन-विधेयकों विषयक विशेष प्रक्रिया— जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है— धन-विधेयक लोक-सभा में ही आरम्भ किये जा सकते हैं। वहाँ से पारित होने के बाद इन्हें राज्य-परिषद् के विचार-विमर्श और सिफारिश के लिए भेज दिया जाता है। राज्य-परिषद् को विचार-विमर्श करके धन-विधेयक-सम्बन्धी अपनी सिफारिश लोक-सभा के सामने प्रस्तुत करने के लिए केवल १४ दिन का अवकाश दिया जाता है। लोकसभा इन सिफारिशों को मानने न मानने में पूर्ण स्वतन्त्र है। इस प्रकार अन्तिम निर्णय लोकसभा के ही हाथ में है। राज्य-परिषद् का तो केवल इतना ही अधिकार है कि वह अपनी सिफारिश पेश कर दे चाहे लोक-सभा उसे माने या न माने। धन-विधेयकों पर लोकसभा के अन्तिम निर्णय के बाद उन्हें दोनों सदनों से स्वीकृत समझा जाता है। कोई विधेयक धन-विधेयक है अथवा नहीं, इसका निर्णय लोकसभा के अध्यक्ष करते हैं।

विधेयकों पर स्वीकृति— संसद् द्वारा पारित सभी विधेयक संघ के राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए पेश किये जाते हैं। राष्ट्रपति इनके ऊपर स्वीकृति दे सकते हैं अथवा इन्कार कर सकते हैं। जैसा कि राष्ट्रपति की शक्तियों के सम्बन्ध में पहिले ही बतलाया जा चुका है राष्ट्रपति, धन-विधेयक के अतिरिक्त, कोई भी विधेयक सदनों के पुनर्विचार के लिए भेज सकते हैं। सदनों को राष्ट्रपति के प्रस्तावित संशोधनों पर विचार करना पड़ेगा, परन्तु वे उन्हें स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं हैं। पुनर्विचार के पश्चात् जो विधेयक राष्ट्रपति के सामने आये, उस पर उन्हें अपनी स्वीकृति देनी पड़ेगी।

वित्तीय विषयों में प्रक्रिया— संसद् के दोनों सदनों के समक्ष राष्ट्रपति भारत-सरकार का वार्षिक वित्त-विवरण (Annual Financial Statement) रखवायेंगे जिसमें संघ-सरकार के आगामी वर्ष के आय व्यय का अनुमान होगा। व्यय

की मद में इस विवरण में यह स्पष्ट कर देना होगा कि (i) कौनसे खर्च भारत की संचित निधि पर भारित हैं, अर्थात् उनके लिए संसद् की स्वीकृति आवश्यक नहीं ; और (ii) कौनसे खर्च ऐसे हैं जो संसद् की स्वीकृति के बिना नहीं किये जा सकते।

पहली श्रेणी में निम्नांकित मदें शामिल हैं :—

(क) राष्ट्रपति की उपलब्धियाँ और भत्ते और उनके पद से सम्बद्ध अन्य व्यय ;

(ख) राज्य परिषद् के सभापति और उप-सभापति तथा लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते ;

(ग) ऐसे ऋण भार जिनका दायित्व भारत-सरकार पर है ;

(घ) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को, या उनके बारे में, दिये जाने वाले वेतन, भत्ते और निवृत्ति वेतन (Pension) एवं फेडरल न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को दिये जाने वाले निवृत्ति वेतन ;

(ङ) भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक (Controller and Auditor General) को दिये जाने वाले वेतन, भत्ते और निवृत्ति वेतन ;

(च) किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायाधिकरण (Tribunal) के निर्णय, आज्ञप्ति या पचाट (Judgment, Decree or Award) के भुगतान के लिए अपेक्षित कोई राशियाँ, और

(छ) इस संविधान द्वारा, अथवा संसद् से विधि द्वारा, इस प्रकार का घोषित किया गया कोई अन्य व्यय।

यह भेद करना बड़ा महत्त्वशाली है कि कौन सा व्यय भारत की संचित निधि पर भारित है और कौन-सा नहीं है। इस तरह का भेद १९३५ ई० के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट में भी विद्यमान था, जिसके अनुसार भारत-सरकार का लगभग ७५ प्रति शत व्यय केन्द्रीय सरकार की संचित निधि पर भारित था। ब्रिटिश संविधान में भी ऐसी व्यवस्था है। इस प्रकार के व्यय पर संसद् की अनुमति लेना आवश्यक नहीं, सरकार इसे संसद् की स्वीकृति के बिना ही निकाल सकती है। जो व्यय इस श्रेणी में नहीं आते, उन पर संसद् का नियन्त्रण होता है अर्थात् उनमें वह कमी कर सकता है या उन्हें रद कर सकती है।

संविधान में यह निर्देश है कि दूसरी श्रेणी में आने वाले व्यय का अनुमान लोकसभा के समक्ष अनुदानों की माँगों के रूप में (In the form of demands for grants) रखे जायेंगे और लोक सभा को अधिकार होगा कि किसी माँग का

स्वीकार या अस्वीकार करे अथवा उसे कम करके स्वीकार करे। राज्य-परिषद् को इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं चूँकि अनुदानों की माँगों पर यह वोट नहीं दे सकती। परन्तु दोनों में से प्रत्येक सदन को सभी खर्चों पर (चाहे वे पहली श्रेणी में आयें चाहे दूसरी में) विचार विमर्श और वाद विवाद करने का अधिकार है।

जब लोक-सभा अनुदान की माँगों पर पूरी तरह विचार कर लेती है, तब उसके सुझावों के अनुरूप संसद् के सामने एक विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) प्रस्तुत किया जाता है। इसका अभिप्राय यह होता है कि संचित निधि (Consolidated Fund) में से आवश्यक निर्धारित राशियाँ निकालने की संसद् से आज्ञा मिल जाये। किसी भी सदन में ऐसे विधेयकों में कोई संशोधन नहीं हो सकता, अगर उसका अभिप्राय इन माँगों में परिवर्तन करना या इसकी मदों का बदलना है। विनियोग अधिनियम (Appropriation Act) के उपबन्धों के विपरीत कोई भी धन-राशि संचित निधि से नहीं निकाली जा सकती।

यह स्मरण रखना चाहिए कि ब्रिटिश पद्धति के अनुसार यहाँ पर अनुदान की कोई माँग राष्ट्रपति की अनुमति के बिना नहीं रखी जा सकती। दूसरे शब्दों में, लोक-सभा के साधारण सदस्यों से व्यय-सम्बन्धी कोई नई मद प्रस्तावित करने की आशा नहीं है। साधारण सदस्यों को तो केवल इतना ही अधिकार है कि सरकार द्वारा की हुई माँगों को घटा दें, स्वीकार या अस्वीकार कर दें, न वे किसी माँग को बढ़ा सकते हैं और न एक मद की माँग को दूसरी मद में शामिल कर सकते हैं। दूसरी ध्यान देने योग्य यह बात है कि संचित निधि पर भारित व्यय, जो कि लोक-सभा के नियन्त्रण से परे है, अब अनुपात में उस धन राशि से बहुत कम है, जिसका १६३५ ई० के ऐक्ट में निर्देश था। हमारे संविधान ने केवल इसी प्रकार के व्यय पर संसद् का नियन्त्रण नहीं रखा है जो प्रायः दूसरे देशों में भी नहीं रखा जाता।

अनुपूरक अथवा अधिकाई अनुदानों (Supplementary or Additional Grants) के बारे में भी उसी प्रकार की प्रक्रिया को अपनाया जायेगा। अनुपूरक और अधिकाई अनुदानों की माँग उस समय रखी जाती हैं, जब वर्ष के बीच में ही कोई ऐसी आवश्यकता उपस्थित हो जाय जिसकी बजट बनाते समय कल्पना भी न की गई थी, अथवा जब किसी मद पर खर्च स्वीकृत व्यय से बढ़ जाये।

सरकार के कर से सम्बन्ध रखने वाले तथा वे सभी प्रस्ताव जिनमें सरकार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए राजस्व बढ़ाने के सुझाव हों धन-विधेयक के अन्तर्गत आते हैं। यह विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति से केवल लोक-सभा में ही आरम्भ किया जाता है। राष्ट्रपति की सिफारिश से जो धन विधेयक लोक-सभा के सदस्यों के सामने रखा जाता है, उसमें ये लोग कमी कर सकते हैं, उसे स्वीकार या

अस्वीकार कर सकते हैं, परन्तु किसी नये कर का न सुझाव रख सकते हैं और न बढ़ा ही सकते हैं।

वित्तीय प्रक्रिया की पूर्ति से पहले भी लोक-सभा पेशगी धन दे सकती है, जिसे लेखानुदान (Votes on Account) कहा जाता है। हमारे संविधान में यह एक नया ही उपबन्ध है। इस रीति के अपनाने से लोक-सभा को आय-व्यय के ऊपर सोच विचार करने का अधिक अवसर मिल जायेगा। विनियोग विधेयक को वर्ष के आरम्भ से पहले ही पास करने की शीघ्रता न होगी।

संविधान के उपबन्धों के अधीन संसद् को प्रक्रिया सम्बन्धी नियम और उपनियम बनाने का अधिकार दिया गया है। यह आशा की जाती है कि जो नये नियम संसद् द्वारा बनाये जायेंगे उनके द्वारा उपप्रक्रिया में अधिक परिवर्तन नहीं किया जायगा जो अब तक काम में लाई जाती रही है। पुरानी पद्धति के अनुसार एक विधेयक को निम्नलिखित अवस्थाओं से गुजरना होता था — 'प्रथम पठन*, द्वितीय पठन, कमेटी स्टेज, रिपोर्ट स्टेज और तृतीय पठन। एक सदन में (जहाँ कि यह आरम्भ होता था) सभी अवस्थाओं को पार करने के पश्चात् एक विधेयक दूसरे सदन में भेज दिया जाता था और वहाँ भी वह उन्हीं पाँचों अवस्थाओं से होकर गुजरता था। यदि दूसरे सदन के द्वारा इसमें कोई संशोधन कर दिया जाता, तो फिर इसे आरम्भ करने वाले सदन में ही भेज दिया जाता था। यदि आरम्भ करने वाला सदन इन संशोधनों से सहमत हो तो संशोधित विधेयक गवर्नर जनरल (आजकल राष्ट्रपति) की स्वीकृति के लिये रखा जाता था।' प्रथम पठन तो केवल शिष्टाचार मात्र है, इसका अर्थ इससे अधिक कुछ नहीं कि विधेयक को पेश करके गजट में प्रकाशित होने की स्वीकृति सदन से ले ली जाय। द्वितीय पठन में विधेयक के मुख्य सिद्धान्तों पर पर्यालोचन होता है, इस अवस्था में कोई संशोधन रखने की आज्ञा नहीं होती। यदि विधेयक के सिद्धान्त मान लिये जाते हैं तो इसे एक स्थायी समिति की जाँच पड़ताल के लिए भेज दिया जाता है। समिति विस्तारपूर्वक विधेयक के उपबन्धों पर विचार करती है और उसे इसमें संशोधन करने का अधिकार है। यहाँ पर कमेटी स्टेज समाप्त हो जाती है। अपना काम समाप्त करने पर समिति विधेयक की सदन के सामने रिपोर्ट रखती है। इस अवस्था में खूब विस्तारपूर्वक विवेचन होता है और संशोधनों पर वाद-विवाद किया जाता है। यह रिपोर्ट स्टेज कहलाती है। सबसे बाद में तृतीय पठन होता है, जिसमें केवल आंशिक परिवर्तन करने और सर्वांगीण विधेयक पर वाद-विवाद करने की आज्ञा है।

---

* Reading

संविधान ने राष्ट्रपति को केन्द्रीय विधायी व्यवस्था का एक अभिन्न अंग स्वीकार किया है। इस दृष्टि से उन्हें कुछ विधायी शक्तियाँ सौंपी गई हैं, जिनका पहले ही उल्लेख आ चुका है। यहाँ केवल यह दोहराना आवश्यक है कि कोई विधेयक तभी परिनियत पुस्तक में अधिनियम की भाँति दर्ज होगा, जब कि उस पर राष्ट्रपति का मुहर हो।

न्यायपालिका— अब हम संविधान के अन्तर्गत भारतीय संघ शासन के एक तीसरे अंग— न्यायपालिका के गठन, संगठन, शक्ति और कृत्या— पर विचार करेंगे। चूँकि न्यायपालिका एक प्रजातन्त्रात्मक राज्य के नागरिकों के अधिकारों की रक्षा और संविधान का निर्वाचन (Interpretation) एवं संरक्षण करती है इसलिए उसे एक स्वतन्त्र स्थान और सम्मान देना आवश्यक है। हमारे संविधान में इस बात का पूरा विचार रखा गया है। इसके अतिरिक्त न्यायपालिका सम्बन्धी हमारे संविधान की एक और विशेषता है, जो कि किसी भी संघात्मक राज्य में नहीं पायी जाती। इसके द्वारा समस्त भारतवर्ष में एक शृंखलाबद्ध सम्यक् न्यायपालिका बनी है। इस कथन को स्पष्टतया समझ लेना चाहिए। सभी संघात्मक संविधानों की भाँति हमारे संविधान में भी केन्द्र और राज्यों में से प्रत्येक के लिए पृथक् पृथक् विधान मण्डल और कार्य-पालिका का निर्देश है। इस तरह से संघ के क्षेत्राधिकार में अनेक विधान-मण्डल और अनेक कार्यपालिकाएँ कार्य करेंगे। परन्तु न्यायपालिका के विषय में दूसरी ही बात है— समस्त देश में एक ही सुगठित न्यायपालिका है। उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालय और राज्यों के अन्य अधीनस्थ न्यायालय सभी एक ही शृंखलाबद्ध व्यवस्था के अभिन्न अंग हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में संघ-न्यायपालिका और राज्यों की न्यायपालिकाएँ बिल्कुल पृथक् पृथक् और स्वाधीन हैं। इसके विपरीत हमारी व्यवस्था में उच्चतम न्यायालय एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि भारतीय संघ में दुहरा शासन (संघ और राज्यों का) है किन्तु इसमें दुहरा न्याय-प्रबन्ध नहीं है। इस प्रकार की सम्यक् न्यायपालिका इस उद्देश्य से रखी गई है कि कानून और इसके प्रशासन के सम्बन्ध में देश में कोई विभिन्नता न रहे और आधारभूत मामलों में एकरूपता आ जाय।

इस अध्याय में हम उच्चतम न्यायालय का ही विवेचन करेंगे जो कि न्याय-व्यवस्था की चोटी पर स्थित है। उच्च न्यायालय और उसके अधीन न्यायालयों के बारे में वर्णन आगे चलकर राज्य शासन व्यवस्था के अन्तर्गत किया जायेगा।

उच्चतम न्यायालय— उच्चतम न्यायालय ने संघीय न्यायालय (फेडरल कोर्ट) का स्थानापन्न किया है जो कि १९३५ ई० के गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार बनाई गई थी। इसका नाम उच्चतम न्यायालय इस विचार से रखा गया है कि अब

इंगलैंड की प्रीवी कौंसिल इस देश का सर्वोच्च न्यायालय नहीं रही है। यह याद रखना चाहिये कि ब्रिटिश राज्यकाल में भारतीय फेडरल कोर्ट और हाई कोर्टों की अपील प्रीवी कौंसिल सुना करती थी। यह व्यवस्था इस बात की प्रतीक थी कि भारत इंगलैंड के अधीन है। परन्तु आज जब कि भारत एक प्रभुतासम्पन्न गणराज्य बन गया है, उसका सर्वोच्च न्यायालय देश में ही स्थित होना चाहिये न कि किसी विदेश में। अब उच्चतम न्यायालय ही सर्वोच्च न्यायाधिकरण का काम करेगा।

उच्चतम न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति के अतिरिक्त अधिक से अधिक सात न्यायाधीश होंगे। न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करेंगे और ये लोग ६५ वर्ष तक की आयु तक कार्य सचालन करते रहेंगे। किन्तु न्यायाधीशों की नियुक्तियों में राष्ट्रपति पूर्ण स्वेच्छाचारिता से काम नहीं करेंगे। उन्हें इस विषय म परामर्श लेना पड़ेगा। मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति करते समय वे उच्चतम और उच्च न्यायालयों क ऐसे न्यायाधीशों की सलाह लेंगे जिन्हें वे उचित समझें, और दूसरे न्यायाधीशों की नियुक्ति म मुख्य न्यायाधिपति भी उन्हें मन्त्रणा देंगे। यह अमेरिका और इंगलैंड की पद्धतियों में एक बीच का मार्ग है। इंगलैंड के सम्राट् स्वय ही इस प्रकार की नियुक्तियाँ करते हैं और अमेरिका के राष्ट्रपति सीनेट के परामर्श से फेडरल कोर्ट के न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ करते हैं। हमारे देश म राष्ट्रपति न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ न अकेले करते हैं और न विधान-मण्डल के किसी सदन के परामर्श से। वे केवल न्याय विशेषज्ञों की मन्त्रणा लेते हैं। एक व्यक्ति जो कम से कम ५ वर्ष हाई कोर्ट का जज रह चुका हो, या कम से कम १० वर्ष किसी हाई कोर्ट का अधिवक्ता (Advocate) रहा हो या जिसे राष्ट्रपति एक प्रख्यात निधिविशेषज्ञ समझते हों, उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीश बनने के योग्य समझा जायेगा। अपने कार्यकाल में उसे पूर्ण सरक्षण मिलेगा। जैसे कि ऊपर भी कहा जा चुका है ये लोग ६५ वर्ष की आयु तक पदासीन रहेंगे। ये अपनी इच्छा से पदत्याग कर सकते हैं। दुर्व्यवहार और अयोग्यता के सिद्ध होने पर राष्ट्रपति उन्हें पदच्युत कर सकते हैं। किसी न्यायाधीश को राष्ट्रपति तभी पद से उतार सकते हैं जब कि ससद् के दोनों सदनों ने उसके खिलाफ इस प्रकार का प्रस्ताव पास किया हो। इस प्रकार का 'ऐड्रेस' ससद् द्वारा तभी पास समझा जायेगा जब कि उसे प्रत्येक सदन के कुल सदस्यों के आधे से अधिक और उपस्थित होकर मतदान करने वाले सदस्यों का कम से कम ⅔ बहुमत प्राप्त हो। सेवा निवृत्त न्यायाधीश भारत के किसी न्यायालय म 'प्रैक्टिस' नहीं कर सकते। अपने कार्यकाल म मुख्य न्यायाधीश का वेतन ५,००० प्रति मास और अन्य न्यायाधीशों म से प्रत्येक का वेतन ४,००० रु० प्रति मास निश्चित है।

उच्चतम न्यायालय की बैठक आम तौर पर दिल्ली में होगी। परन्तु राष्ट्रपति

की अनुमति से न्यायाधिपति समय समय पर इसका स्थान बदल सकते हैं। उच्चतम न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय (Court of Record) होगा और अपने अपमान (Contempt) के लिए वह इस प्रकार के न्यायालय की सभी शक्तियों से सम्पन्न होगा। एक न्यायालय को उस समय अभिलेख न्यायालय कहते हैं जब कि इस के अभिलेखों को प्रामाणिक समझा जाता है और जब किसी न्यायालय के सामने उन्हें प्रस्तुत किया जाता है तो उनके ऊपर वाद-विवाद नहीं हो सकता। उच्च न्यायालय भी इसी दृष्टि से अभिलेख न्यायालय कहलाते हैं।

उच्चतम न्यायालय का क्षेत्राधिकार— संविधान ने जो शक्तियाँ भारत के उच्चतम न्यायालय को प्रदान की हैं वे कदाचित् किसी भी अन्य देश के संघीय न्यायालयों को प्राप्त नहीं हैं। इसे अभिलेख न्यायालय के सभी अधिकार हैं और इसके द्वारा उद्घोषित कानून भारतीय राज्य क्षेत्र के सभी न्यायालयों पर समान रूप से लागू होगा। समय समय पर राष्ट्रपति की अनुमति से यह स्वयं अपने कार्य संचालन के नियम और उपनियम बना सकता है। मुख्य न्यायाधिपति का न्यायालय के पदाधिकारी और सेवक नियुक्त करने का और उनकी सेवाओं से सम्बन्धित वेतन, भत्ते, छुट्टी, निवृत्ति वेतन आदि के तै करने का अधिकार है।

उच्चतम न्यायालय के प्राथमिक (Original), पुनर्विचार सम्बन्धी (Appellate) और मन्त्रणा-सम्बन्धी (Advisory) तीन प्रकार के अधिकार हैं। इसके अतिरिक्त यह संविधान की व्याख्या करने वाली अन्तिम सत्ता है। यह नागरिकों के अधिकार और स्वातन्त्र्य का संरक्षक है और इसे सिविल विषयों (Civil Cases) की अपील सुनने का अधिकार है। सिविल विषयों में यह अपील की इजाजत दे सकता है और कुछ विषयों में इसका पुनर्विचार का अधिकार क्षेत्र है। उच्चतम न्यायालय के प्राथमिक क्षेत्राधिकार में (i) एक ओर भारत सरकार और दूसरी ओर एक या अधिक राज्यों के बीच, (ii) एक ओर भारत-सरकार और एक या अधिक राज्य, दूसरी ओर एक या अधिक राज्यों के बीच, और (iii) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच पारस्परिक झगड़े उस सीमा तक शामिल हैं जहाँ तक कानूनी अधिकार सम्बन्धी विधि या तथ्य का कोई प्रश्न उठता है। इस प्रकार के झगड़े और किसी दूसरे न्यायालय में नहीं रखे जा सकते। इन विषयों में उच्चतम न्यायालय का ही अनन्य प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार है। इस क्षेत्राधिकार में कोई सन्धि, करार या सनद जो कि संविधान के आरम्भ होने से पहिले देशी रियासतों और भारत सरकार के बीच हुई हो— सम्मिलित न किये जायेंगे। यह प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि पुनर्विचार सम्बन्धी। तीन प्रकार के मुकदमों की अपील इसके सुनने के लिए आती हैं— संविधानिक, व्यवहार सम्बन्धी और दण्ड सम्बन्धी (Constitutional, Civil & Criminal)।

संविधान सम्बन्धी मुकद्दमों में उच्चतम न्यायालय केवल उसी समय अपील सुनेगा जब कि उच्च न्यायालय यह प्रमाणपत्र दे कि इसमें कोई कानूनी प्रश्न निहित है। प्रमाणपत्र न मिलने की अवस्था में भी यदि उच्चतम न्यायालय को यह विश्वास हो जाय कि कोई सारवान् कानूनी प्रश्न उस विषय में सन्निहित है तो वह स्वयं विशेष इजाजत दे सकता है। व्यवहार विषयों (Civil matters) में उस समय अपील होती है जब कि वाद-विषय की राशियों का मूल्य बीस हजार रुपये से कम न हो। दंड-कार्यवाई में दिये हुये निर्णयों की अपील निम्नलिखित विषयों में हो सकती है—

(क) उच्च न्यायालय ने अपील में किसी अभियुक्त व्यक्ति की विमुक्ति के आदेश को उलट दिया है तथा उसको मृत्युदण्ड का आदेश दिया है। अथवा—

(ख) उच्च न्यायालय ने अपने अधीन न्यायालय से किसी मामले का परीक्षण करने के लिए अपने पास माँग लिया है तथा ऐसे परीक्षण में अभियुक्त व्यक्ति को सिद्ध-दोष ठहराया है और मृत्युदण्ड का आदेश दिया है। अथवा—

(ग) उच्चतम न्यायालय प्रमाणित कर दे कि मामला उच्चतम न्यायालय में अपील किये जाने के लायक है।

संसद् को विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय का दंड-सम्बन्धी क्षेत्राधिकार बढ़ाने का हक है।

उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार में फेडरल कोर्ट के वह सब अधिकार शामिल हैं जिनका संविधान में उल्लेख नहीं है। सभी न्यायालयों के ऊपर इसे पुनर्विलोकन क्षेत्राधिकार (Revisory Jurisdiction) है। सेना से सम्बन्ध रखने वाले मामलों को तै करने वाले न्यायालय और न्यायाधिकरणों को छोड़कर अन्य सभी न्यायालयों के निर्णय के खिलाफ उच्चतम न्यायालय अपील की विशेष इजाजत दे सकता है।

जैसा कि एक दूसरे प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है— सार्वजनिक महत्त्व के किसी भी तथ्य या विधि सम्बन्धी प्रश्न पर राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय का परामर्श ले सकते हैं। यह मन्त्रणा क्षेत्राधिकार (Advisory Jurisdiction) कहलाता है। इस क्षेत्राधिकार में उन सन्धियों और करारों का निर्वाचन और सम्मिलित किया जा सकता है जो भारत की ब्रिटिश सरकार और देशी रियासतों के बीच हुए थे।

संसद् विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय को बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus) और उत्प्रेक्षण (Certiorari) के प्रकार के लेख (Writs) भी निकालने की शक्ति प्रदान कर सकता है। इस शक्ति का इस दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व है कि इसके द्वारा व्यक्ति के मूल अधिकारों की रक्षा की जाती है।

उच्चतम न्यायालय की स्वाधीनता— यदि उच्चतम न्यायालय को नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है और संविधान का संरक्षण करना है तो इसे कार्य पालिका की किसी प्रकार की अधीनता में न रहना चाहिये। संविधान में

ऐसे कई उपबन्ध हैं जो न्यायपालिका को स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने में सहायक हैं। न्यायाधीशों की नियुक्ति की रीति नियत करते समय भी इस बात का ध्यान रखा गया है। इस मामले में राष्ट्रपति को न्याय विशेषज्ञों का परामर्श लेना पड़ता है। न्यायाधीशों को उनके कार्य काल में सुरक्षित रखा जाता है। उन्हें तब तक पदच्युत नहीं किया जा सकता जब तक कि ससद के दोनों सदन इस विषय के प्रस्ताव को दो तिहाई मतों से स्वीकार न कर दें। इन लोगों के वेतन और भत्ते भारत की रक्षित निधि पर भारित हैं और इन के कार्य काल में वेतन और भत्तों में कमी नहीं की जा सकती। पद निवृत्ति के बाद किसी भी न्यायाधीश को कहीं भी वकालत करने की आज्ञा नहीं है। मुख्य न्यायाधिपति को उच्चतम न्यायालय के कर्मचारी-वर्ग का नियुक्त करने और उनकी सेवाओं तथा कार्य-सचालन के सम्बन्ध में नियम और उपनियम बनाने का अधिकार है। देश के सभी प्राधिकारी उच्चतम न्यायालय को सदैव सहयोग प्रदान करेंगे।

अन्य कर्मचारी—भारत के सविधान का विवेचन समाप्त करने से पहिले उन उपबन्धों की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है जो भारत के महान्यायवादी और उसके नियन्त्रक महालेखा परीक्षक से सम्बन्ध रखते हैं—

भारत का महान्यायावादी—राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश जैसी योग्यता रखनेवाले किसी भी व्यक्ति को महान्यायवादी के पद पर नियुक्त कर सकते हैं। वे ही इसका वेतन, भत्ता इत्यादि और कार्य काल नियत करेंगे। महान्यायवादी का कर्तव्य होगा कि विधान सम्बन्धी मामलों में भारत सरकार की सदैव सहायता करे। अपने कर्तव्य के पालन के लिए उसे भारत राज्य-क्षेत्र के सब न्यायालयों में सुनवाई का अधिकार होगा।

भारत का नियन्त्रक महालेखा परीक्षक—भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है; चूंकि यह देखना उसी का कर्तव्य होगा कि जो मांगें ससद ने स्वीकार की हैं उससे अधिक न कोई विभाग खर्च करता है और न उसकी मदों में परिवर्तन करता है। राष्ट्रपति की अनुमति से वह सघ तथा राज्यों में हिसाब किताब एक निर्धारित रीति से रखने की आज्ञा देता है। वह सघ के हिसाब की जाँच पड़ताल करता है। वह लेखा-परीक्षण (Audit) की रिपोर्ट तैयार कराके ससद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखता है। उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं और इन्हीं द्वारा इस का वेतन और सेवा की शर्तें आदि तै होती हैं। इसका वेतन और भत्ता राज्य की रक्षित निधि पर भारित है, इसके लिये ससद की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं। पद से निवृत्त होने के पश्चात् वह किसी अन्य पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता।

अध्याय १४

राज्य-शासन

परिचयात्मक—पहिले एक अध्याय में हम इस बात का संकेत [कर आये हैं कि भारतीय संघ की इकाइयों का नाम 'राज्य' रखा गया है। संविधान का आरम्भ होने के समय इनकी संख्या २८ थी, परन्तु अब यह संख्या २७ है, चूंकि उनमें से एक—कूचबिहार का बंगाल में समावेश हो चुका है। प्रथम अनुसूची में इन राज्यों के नाम दिये हैं और इन्हें चार भागों में बॉटा गया है। जिनका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। भाग (क) और भाग (ख) के राज्यों की शासन पद्धति में मौलिक समता है। इन सबमें प्रजातन्त्रात्मक शासनप्रणाली है। दोनों में केवल इतना अन्तर है कि भाग (ख) के राज्यों के सर्वोच्च अधिकारी का नाम राज्यपाल के बजाय राजप्रमुख है और इन राज्यों की कार्यपालिका दस वर्ष तक भारत सरकार के देशी रियासती-विभाग की देखरेख में कार्य करेगी। आगामी पृष्ठों में हम केवल संविधान की प्रथम अनुसूची के भाग (क) में सम्मिलित होनेवाले राज्यों की शासन-व्यवस्था के संगठन और रचना पर साधारण दृष्टिपात करेंगे।

राज्य-शासन का संगठन—राज्यों में शासन प्रणाली बहुत कुछ बातों में संघ की शासन-पद्धति से मिलती जुलती है। प्रत्येक में कार्यपालिका और विधान मण्डल बनाये गये हैं जिनके बीच संसद् प्रणाली के आधार पर गहरा सम्बन्ध है। हर एक राज्य के अपने ही न्यायालय हैं, परन्तु जैसा कि इस से पहले अध्याय में ही संकेत किया जा चुका है वे न्यायालय देश की शृंखलाबद्ध न्याय व्यवस्था की अभिन्न कड़िया हैं। अब राज्य शासन के इन्हीं तीनों अंगों का क्रमशः वर्णन किया जायगा।

कार्य-पालिका—जिन विषयों पर राज्य के विधान मण्डल को कानून बनाने का अधिकार है उन पर राज्य की कार्यपालिका का अधिशासी अधिकार (Executive authority) है। अर्थात् राज्य सूची और समवर्ती सूची में जो विषय हैं उनका प्रबंध राज्य की कार्यपालिका करती है। राज्य सूची के विषयों पर राज्य का ही अनन्य (Exclusive) अधिकार है और इन पर संघ की कार्य पालिका हस्तक्षेप नहीं करती। समवर्ती विषयों पर राज्य-कार्य-पालिका संसद् की विधियों का ध्यान में रखते हुए प्रशासन करती है। संघ की सरकार राज्य की सरकार को समवर्ती विषयों पर प्रशासन करने की रीति के बारे में आदेश दे सकती है।

राज्य की कार्यपालिका-शक्ति राज्यपाल (गवर्नर) में निहित हैं। उन्हें राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा-सहित अधिपत्र (Warrant) द्वारा नियुक्त करेंगे। वह अपने पद-ग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष की अवधि तक पद धारण करेंगे, बशर्ते कि वह पहले ही पद-त्याग नहीं कर देते। पद त्याग करने के लिये उन्हें राष्ट्रपति के नाम अपने हस्ताक्षरों से एक त्याग पत्र भेजना पड़े।

भारत का कोई भी नागरिक जो पैंतीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो राज्य पाल होने का अधिकारी है। परन्तु कोई व्यक्ति जो संसद के किसी सदन का या किसी राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य है या जो किसी वैतनिक पद पर नियुक्त हैं, राज्यपाल का पद ग्रहण न कर सकेगा। यदि कोई व्यक्ति किसी विधान मण्डल का सदस्य हो अथवा किसी लाभ के पद पर नियुक्त हो तो राज्यपाल नियुक्त होते ही उसे उन पदों से त्यागपत्र देना पड़ेगा।

राज्यपाल का मासिक वेतन ५५००) है और इसके अलावा उन्हें वे और सभी भत्ते दिये जायँगे जो कि अब से पहिले प्रान्तों के गवर्नरों को मिला करते थे। उन्हें बिना किराये का एक निवासगृह मिलेगा। कार्यकाल के बीच में राज्यपाल की उपलब्धियाँ और भत्ते कम नहीं किये जा सकते।

राज्यपाल की क्रियाएँ— राज्य का अधिशाली अधिकारी होने के नाते राज्यपाल कार्यपालिका, विधान वित्त, और न्याय-सम्बन्धी बहुत से अधिकार हैं। चूंकि प्रशासन-सम्बन्धी सभी काम उन्हीं के नाम से चलता है, इसलिये अपने नाम से चलनेवाले कार्यों के प्रमाणित समझे जाने की रीति के बारे में वे नियम बना सकते हैं। वे मंत्रियों में कार्य विभाजन और राज्यशासन के सुगमतापूर्वक सञ्चालन के लिए भी नियम बनाते हैं। पहले वे मुख्य मन्त्री को आमन्त्रित करते हैं और फिर उनके परामर्श से दूसरे मन्त्रियों की नियुक्तियाँ करते हैं। वही राज्य के महाधिवक्ता की नियुक्तियाँ करते हैं और कुछ साहित्यिक, वैज्ञानिक और समाज-सेवा तथा सहकारी संस्थाओं के विशेषज्ञों को राज्य की विधान परिषद के लिये मनोनीत कर सकते हैं। यदि उनका यह विचार हो कि ऐंग्लोइण्डियनों को राज्य की विधान सभा में उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिला है तो वे इस जाति के कुछ आदमियों को असेम्बली के लिये मनोनीत कर सकते हैं। वह राज्य के प्रशासन पर सामान्य देखभाल रखते हैं और किसी भी विचारणीय मामले को मन्त्रि-मंडल के विचार करने के लिए रख सकते हैं। वह मुख्य मन्त्री को आदेश दे सकते हैं कि वह (मुख्य मन्त्री) उनको प्रशासन सम्बन्धी और विधान की योजनाओं के बारे में पूरी सूचना देता रहे। इन विषयों, प्रशासन और प्रस्तावित विधान से सम्बन्धित मन्त्रिमण्डल के सभी निश्चय मुख्य मन्त्री को राज्यपाल के समक्ष रखने पड़ते हैं, ताकि वे (गवर्नर) अधिशाली अधिकार का पूरी तरह उपभोग कर सकें। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि

ब्रिटिश सम्राट् की भाँति राज्यपाल को परामर्श देने, आगाह करने और सब बातों की सूचना पाने के अधिकार हैं। कुछ राज्यों मे राज्यपाल को वन-जातियों के विकास की देखरेख करने और तत्सम्बन्धी एक मन्त्री की नियुक्ति करने का अधिकार है। उन्हें न्यायालय द्वारा दण्ड प्राप्त व्यक्ति को क्षमा आदि की तथा दण्डादेशों के निलम्बन, परिहार या कम करने की भी शक्ति प्रदान की गई है। ये राज्य के विधानमण्डल की बैठक बुलाते और उनका समावसान (Prorogue) करते हैं। विधान-सभा को वह भग कर सकते हैं। राज्य के विधान-मण्डल से पारित किए हुए विधेयकों पर वे अपनी स्वीकृति दते हैं और कभी कभी ऐसे विधेयकों का वे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भी रोक लेते हैं। अपने अभिभाषण (Address) के साथ ये किसी विधेयक को विधान मण्डल के पुनर्विचार के लिए भी भेज सकते हैं। अधिवेशन न होने की दशा मे ये अध्यादेश भी जारी कर सकते हैं। उनकी सिफारिश के बिना कर सम्बन्धी अथवा अनुदानों की माग-सम्बन्धी कोई प्रस्ताव विधान-मण्डल के सामने नहीं रखा जा सकता। इसी प्रकार कोई धन विधेयक भी उनकी अनुमति के बगैर आरम्भ नहीं किया जा सकता।

गवर्नर को यह भी देखना पडता है कि सघ-सरकार द्वारा जारी किये हुए सभी आदेश और निर्देशो का उनके राज्य शासन में पालन किया जा रहा है। राष्ट्रपति राज्यपाल को उन बातो मे भी अधिकार दे सकते हैं जिन पर सविधान मे प्रकाश नहीं डाला गया।

यह ध्यान रखने के योग्य है कि नये सविधान ने गवर्नर को उतने अधिकार नहीं दिये जितने कि उन्हें १६३५ ई० के ऐक्ट के द्वारा दिये गये थे। स्वविवेक और विशेष उत्तरदायित्त्व-सम्बन्धी, शक्तियाँ जो १६३५ ई० के ऐक्ट की बहुत बड़ी विशेषताएँ थीं, नये सविधान से वे बिल्कुल हटा दी गई हैं। आजकल राज्यपाल राज्य का सविधानीय प्रमुख है। वह राज्य का प्रशासन तो नहीं कर सकते, परन्तु इस पर काफी प्रभाव डाल सकते हैं।

यहाँ यह सकेत करना असगत न होगा कि हमारे देश मे एक परम्परा चलाने का प्रयत्न किया जा रहा है कि राज्यपाल उसी राज्य का निवासी न होना चाहिए जिसमें वह पद ग्रहण करे। हमारे राज्य, उत्तर प्रदेश के गवर्नर श्री होमी मोदी बम्बई राज्य के निवासी हैं और हमारे राज्य के निवासी एक प्रख्यात राजनीतिज्ञ डा० कैलाशनाथ काटजू बगाल के राज्यपाल हैं और सर महाराजसिंह बम्बई राज्य के।

मन्त्रि परिषद्—सविधान में राज्यों के लिए भी उसी प्रकार की सरकार की कल्पना की गई है, जैसी कि सघ के लिए। राज्य के गवर्नर को मत्रणा देने के लिए मत्रि-परिषद् बनाने की योजना रखी गई है जिसका प्रधान मुख्य-मत्री होगा। उन विषयो के अतिरिक्त जो कि राज्यपाल के स्वविवेक पर छोड़े गये हैं सभी मामलों में

मन्त्रियों का परामर्श आवश्यक है। यद्यपि आसाम के गवर्नर का छोड़कर किसी भी गवर्नर के लिए संविधान में स्वविवेक शक्तियों का उल्लेख नहीं हैं, फिर भी कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हो सकती हैं, जिनमें यह आशा की जा सकती है कि गवर्नर मन्त्रियों के परामर्श के बिना ही कार्य करेंगे। उदाहरणार्थ उस समय जबकि उन्हें राष्ट्रपति के निर्देशन से कार्य करना पड़ता है। संविधान के बनानेवालों का कदाचित यह विचार था कि राज्यपाल को राज्य का संविधानीय प्रमुख बनाया जाय जो उत्तरदायी मन्त्रियों के परामर्श से कार्य करे। शायद यही कारण है कि उनका जनता द्वारा चुनाव न कराया जाकर राष्ट्रपति द्वारा उनकी नियुक्ति होगी।

मन्त्रियों की नियुक्ति का राज्य में भी वही तरीका होगा जो कि केन्द्र में, इसलिए इसे यहाँ संक्षेप में ही वर्णन किया जायेगा। राज्यपाल विधान सभा में से बहुमत प्राप्त दल के नेता को मुख्य मन्त्री बनाते हैं। मुख्य मन्त्री द्वारा अन्य मन्त्रियों की नामावली तैयार की जाती है, जिसे राज्यपाल स्वीकृति देते। हैं मन्त्री लोग तभी तक पद पर रह सकते हैं जब तक कि गवर्नर चाहे। परन्तु चूंकि ये लोग सामूहिक रूप से राज्य की विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी भी होते हैं, इसलिए इन्हें उस समय तक पद से नहीं हटाया जाता, जब तक कि उन्हें असेम्बली का विश्रम्भ (Confidence) प्राप्त है। जिस मन्त्रिमंडल के पीछे विधान सभा के सदस्यों का बहुमत होता है उसको साधारणतया गवर्नर पद से नहीं हटा सकते। जो मन्त्री नियुक्ति के समय विधान मंडल के किसी सदन के भी सदस्य न हों उन्हें छः मास के भीतर भीतर किसी भी सदन का सदस्य बन जाना चाहिए। राज्य का विधान-मंडल मन्त्रियों के वेतन और भत्ते ते करेगा।

राज्य के मन्त्रिमंडल के उसी प्रकार के कृत्य और अधिकार होंगे जैसे कि केन्द्रीय मन्त्रिमंडल के यह विभाग पद्धति (Portfolio System) पर कार्य करता है। प्रत्येक मन्त्री को राज्य के एक या अधिक विभागों के ऊपर देखरेख के लिए रख दिया जाता है, जिनके सुसंचालन के लिए वह विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। सभी मन्त्रियों को पदग्रहण करते समय गोपनीयता की शपथ लेनी पड़ती है। जिन राज्यों में पिछड़ी जातियाँ निवास करती हैं उनमें इन जातियों के विकास के लिए एक पृथक् मन्त्री रख दिया जाता है। इस प्रकार के राज्य संविधान के अनुसार अग्रलिखित हैं—बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश। इस स्थान पर उत्तरप्रदेश के मन्त्रिमंडल के सदस्यों और उनके अधीनस्थ विभागों का नाम देना, असंगत न होगा।

श्री गोविन्द वल्लभ पन्त — (मुख्य मन्त्री) सामान्य प्रशासन, न्याय और सूचना।

श्री सम्पूर्णानन्द— शिक्षा, श्रम और वित्त।

श्री हाफिज मुहम्मद इब्राहीम —संचार-साधन।

श्री हुकमसिंह— माल और वन विभाग।
श्री निसार अहमद शेरवानी— कृषि और पशु विभाग।
श्री आत्माराम गोविंद खेर— स्थानीय शासन।
श्री चन्द्रभानु गुप्त— स्वास्थ्य और रसद।
श्री लालबहादुर शास्त्री— पुलिस और यातायात।
श्री केशवदेव मालवीय— विकास और उद्योग।
श्री गिरधारीलाल— आबकारी, जेल, राजस्ट्री और स्टाम्प।

इन मे से मुख्य मन्त्रियों की सहायता के लिए सचिव रखे गए हैं। यद्यपि संविधान मे इस प्रकार के पद का कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु राज्य के विधानमण्डल को स्वनिर्मित नियमों के द्वारा इस प्रकार के पदाधिकारी रखने की आज्ञा निहित है। उत्तरप्रदेश मे मुख्य मन्त्री की सहायता के लिए तीन सचिव हैं और दूसरे अन्य मन्त्री प्राय एक एक सचिव रखते हैं।

मुख्य मन्त्री के कर्त्तव्य—संविधान मे मुख्य मन्त्री के निम्नांकित कर्त्तव्यों का उल्लेख है —

(अ) राज्यपाल को उन सभी निर्णयों के बारे मे सूचना करना जो मन्त्रि-परिषद् ने प्रशासन और विधान के सम्बन्ध मे किये हों।

(ब) प्रशासन सम्बन्धी और प्रस्तावित विधेयकों के सम्बन्ध मे वह सूचनाएँ देना जो कि राज्यपाल समय-समय पर मांगे।

(स) मन्त्रि परिषद् के विचार विमर्श के लिए ऐसे मामलों का रखना जिन पर किसी एक मन्त्री ने स्वेच्छा से निर्णय ले लिया है।

इसमे दो बातें निहित हैं—एक यह है कि मुख्य मन्त्री ही राज्यपाल और मन्त्रि परिषद् के बीच सचार साधन है। दूसरे, वह मन्त्रि मण्डल का प्रमुख है जैसा कि उसके नाम से ही विदित है। इसी का यह भी अभिप्राय है कि गवर्नर को प्रशासन तथा प्रस्तावित विधेयकों के विषय मे सब तरह की सूचना पाने का अधिकार है। उन्हे सलाह और मन्त्रणा देने का भी अधिकार है।

जो बातें राष्ट्रपति और केन्द्रीय मन्त्रि परिषद् के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे मे कही गई थी, वे ही राज्य के राज्यपाल और मन्त्रिमण्डल पर लागू हो सकती हैं। गवर्नर राज्य का संविधानीय प्रमुख है। उनके अधिकार नाम मात्र के हैं। शासन की वास्तविक सत्ता मन्त्रियों के हाथ में है यद्यपि राज्यपाल के हाथ में कोई वास्तविक सत्ता नहीं फिर भी यदि वह एक योग्य व्यक्ति है तो शासन प्रबन्ध में काफी प्रभाव डाल सकता है

महाधिवक्ता—संविधान में प्रत्येक राज्य के लिए एक महाधिवक्ता की नियुक्ति का भी निर्देश है। उसकी नियुक्ति राज्य के गवर्नर करते हैं और इस पद पर नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की योग्यता होनी चाहिए। उसका वेतन भी राज्यपाल ही निश्चित करते हैं। उसका कर्तव्य कानूनी विषयों में राज्य की सरकार को परामर्श देना और इसी प्रकार के वे कानूनी कार्य करने हैं जो गवर्नर द्वारा उनके लिए निश्चित हों।

भाग (ख) के राज्यों की कार्यपालिका—संविधान की प्रथम अनुसूची के भाग (ख) में सम्मिलित राज्यों के प्रमुखों को राज्यपाल के बजाय राजप्रमुख कहा गया है। इनकी नियुक्तियाँ उस समझौते के आधार पर की गई हैं जो कि भारत सरकार और रियासती संघों के बीच हुआ है। इसी समझौते के आधार पर इन लोगों के वेतन नियत किये गये हैं। राजप्रमुखों को मन्त्रणा और सहायता देने के लिए प्रत्येक राज्य में एक मन्त्रिपरिषद् होगा। चूंकि इन रियासतों में पहले से शासन की कोई परम्परा न थी और चूंकि प्रजातन्त्रात्मक शासन का एक दम स्थापित नहीं किया जा सकता इसलिए संविधान में इस प्रकार का निर्देश है कि दस वर्ष तक या जब तक संसद् निर्णय करे, तब तक इन राज्यों की सरकारों को भारत सरकार की सामान्य देख रेख में शासन कार्य करना पड़ेगा। इन राज्यों में विधान-मण्डलों के बावजूद भी इन की सरकारों को राष्ट्रपति के आदेशों का पालन करना पड़ेगा। इस प्रकार के आदेशों का पालन न करना संविधान का अतिक्रमण समझा जायेगा।

अपनी विशेष स्थिति के कारण जम्मू काश्मीर राज्य के साथ कुछ दूसरी प्रकार का व्यवहार किया जायेगा। इस राज्य के बारे में केन्द्रीय सरकार का क्षेत्राधिकार संघसूची और समवर्ती सूची के उन्हीं विषयों तक सीमित है जो सम्मिलन विलेख द्वारा निश्चित हो चुके हैं।

भाग (ग) में दिये हुए राज्यों में प्रजातन्त्र स्थापित न होगा। इनका राष्ट्रपति चीफ कमिश्नर या लैफ्टीनैण्ट गवर्नर की सहायता से प्रशासित करेंगे जो उन्हीं के द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। संविधान में इन प्रदेशों के लिए मन्त्रिपरिषद् का आयोजन नहीं है, परन्तु संसद् को यह अधिकार है कि जब भी उचित समझे, तभी इनके लिए मन्त्रि-परिषद् की स्वीकृति दे दे। इन प्रदेशों में भी उत्तरदायी शासन स्थापित किया जायेगा, परन्तु धीरे धीरे।

राज्य का विधान मण्डल—भाग (क) के सभी राज्यों में एक ही प्रकार के विधानमण्डल नहीं हैं। मद्रास, बम्बई, उत्तर प्रदेश, पंजाब, पश्चिमी बंगाल और बिहार के छः राज्यों में द्विआगारिक विधानमण्डल हैं, जिनमें विधान-परिषद और विधानसभा सम्मिलित हैं। शेष तीन राज्य—आसाम, मध्यप्रदेश और उड़ीसा में

विधान-सभा नामी केवल एक ही सदन होगा। प्रत्येक राज्य में राज्यपाल विधान-मन्डल का अभिन्न अंग है।

कुछ प्रान्तों में द्विआगारिक विधान-मण्डल में हमारा सविधान १९३५ ई० के गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया ऐक्ट के चरण चिन्हों पर चला है। उस समय राष्ट्रीय लोक मत प्रान्तों में ऊपर के सदन के प्रस्थापन का विरोध कर रहा था। आज यह अजीब सा दिखाई पड़ सकता है कि हमारी सविधान सभा ने छः राज्यों के लिए दूसरे सदनों की स्वीकृति क्यों दी? सम्भवतः इसके निम्नलिखित कारण हैं:—

(१) ससार के सभी देशो ने दूसरे सदनों की उपयोगिता को इसलिए स्वीकार किया है कि इनमें ऐसे सभी विधेयकों पर शान्त भावना से सम्यक् विचार किया जाता है, जो विधान-सभा ने शीघ्रता में पारित कर दिये हों। दूसरे, इन सदनों में एक विधेयक पर दोबारा विचार करने से जनता को भी अपनी धारणा प्रकट करने का अवकाश मिल जाता है। तीसरे, इन विधान-परिषदों में प्रायः ऐसे विधेयक आरम्भ किये जाते हैं, जो विवादग्रस्त न हो।

(२) राज्यों की इन विधान परिषदों का सविधान के द्वारा बहुत सीमित अधिकार दिये गये हैं; कानून बनाने में इनका कम महत्व है और धन सम्बन्धी विषयो में तो इन्हें कुछ भी शक्ति नहीं दी गई। इसलिये विधान-सभाओं द्वारा जो लोकमत का प्रतिनिधित्व होता है, उसमें ये बाधक नहीं बन सकतीं।

(३) दूसरे आगार केवल प्रयोग के उद्देश्य से ही आरम्भ किये गये हैं। यदि किसी राज्य की विधानसभा उपस्थित होकर मत देनेवाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से इस विषय का प्रस्ताव स्वीकार करे कि उस राज्य में विधान परिषद् की आवश्यकता नहीं है तो ससद् एक विधि द्वारा उस राज्य से विधान परिषद् का अन्त कर सकती हैं। इसी रीति से ससद् एक सभावाले राज्यो मे दूसरे सदन बनाने की स्वीकृति दे सकती है।

(४) अन्तिम बात यह कही जा सकती है कि सविधान में विधान-परिषद् के बनाने के बारे मे जो सुझाव रखा गया है उस प्रणाली से भिन्न है जो पहिले प्रचलित थी। विधान की रचना की जो विधि नये सविधान में अपनाई गई है उसके द्वारा इसमें योग्य और अनुभवी सदस्यों के निर्वाचित होने की अधिक सम्भावना है। इस प्रकार यह आशा की जाती है कि वे इस के बाद विवाद और पर्यालोचन को अधिक सफल बनायेंगे।

विधान सभा—केन्द्रीय लोक सभा की भाँति प्रत्येक राज्य की विधान सभा का निर्वाचन राज्य के नागरिकों के द्वारा प्रौढ मताधिकार के आधार पर होगा। परिगणित और वन जातियों को छोड़कर इसमे किसी जाति विशेष या हित

लिए जगह निर्धारित नहीं की गई। परिगणित और वन-जातियों को भी केवल १० वर्ष के लिए ही यह अधिकार मिला है।

यदि गवर्नर महोदय का यह विचार है कि ऐंग्लो इंडियन जाति का असेम्बली में उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिला है तो वह इस जाति के कुछ सदस्यों को विधान-सभा के लिए मनोनीत कर सकते हैं। जातीय और साम्प्रदायिक पृथक् प्रतिनिधित्व का समाप्त करके, १९३५ ई० के ऐक्ट के अन्तर्गत बनी हुई असेम्बलियों की एक सबसे अधिक आपत्तिजनक व्यवस्था का सर्वान्त कर दिया गया है। राज्यों की विधान सभाओं में कम से कम ६० और अधिक से अधिक ५०० सदस्य हो सकेंगे। सदस्यों की वास्तविक सख्या पिछली जन-गणना के आधार पर ७५००० व्यक्तियों के पीछे एक प्रतिनिधि के हिसाब से निश्चित होगी। यह अनुपात आसाम के स्वशासी प्रदेशों और शिलाग की कण्टोन्मेण्ट और नगरपालिका-क्षेत्रों मे प्रयुक्त न की जायेगी, चूंकि वहाँ जन सख्या कम है। निर्वाचन-क्षेत्रों की सीमा निर्धारित करते समय और उनके लिए प्रतिनिधियों की सख्या निर्धारित करते समय, यह विचार रखा जायेगा कि राज्य के निर्वाचन क्षेत्रों में जनता और प्रतिनिधियों का आपसी अनुपात समान हो। राज्य का प्रत्येक नागरिक जो २५ वर्ष की अवस्था का पार कर चुका है, और वह सब योग्यताएं रखता है जो समय-समय पर ससद् निश्चित करे, राज्य की विधान सभा के सदस्य बनने का अधिकारी है। पागल, अपराधी, दुराचारी या दिवालिये या ऐसे व्यक्ति जो सरकारी नौकर हैं सदस्यता के अयोग्य हैं। अभी तक ससद् ने सदस्यों की अन्य विशेष योग्यताओं का निर्णय नहीं किया है, अभी इस पर विचार किया जा रहा है। साधारणतया राज्य में कुछ वर्ष का रहना आवश्यक समझा जायेगा। विधान-सभा का निर्वाचन ५ वर्ष की अवधि के लिए होगा। किन्तु राज्यपाल इसे पहिले भी भग कर सकते हैं। इस सभा का कार्यकाल केवल आपात में बढ़ाया जा सकता है और यह भी एक समय में एक वर्ष से अधिक नहीं। यदि इस प्रकार सभा का कार्यकाल बढ़ाया गया है तो सकट काल के समाप्त होते ही छ मास के भीतर-भीतर सभा का भी विसर्जन हो जाना आवश्यक है।

विधान-परिषद्—जहाँ कहीं भी इसे प्रश्रय मिला है विधान परिषद् राज्य के विधान-मण्डल का दूसरा या ऊपरवाला आगार कहलाता है। इसमें कम-से-कम चालीस और अधिक-से अधिक विधान सभा के सदस्यों की सख्या के एक चौथाई सदस्य हो सकते हैं। चूंकि हमारा राज्य (उत्तरप्रदेश) घनी आबादी वाले राज्यों में सम्मिलित है, इसलिए इसमें विधान-सभा के सदस्यों की सख्या ५०० और विधान-परिषद् के सदस्यों की सख्या १२५ होगी।

विधान-परिषद् का अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन होगा और इसके सदस्य विविध प्रकार

के होंगे। लगभग एक तिहाई सदस्य निर्वाचन मण्डलों द्वारा चुने जायँगे। प्रत्येक निर्वाचक मण्डल (Electoral College) में उन सब नगर-पालिकाओं, जिला मण्डलियों के सदस्य होंगे जिन्हें संसद् समय समय पर नियत करे। लगभग $\frac{1}{12}$ वें भाग का निर्वाचन ग्रेजुएट करेंगे जो कम से कम तीन वर्ष पहिले डिग्री ले चुके हों और $\frac{1}{12}$ वें भाग का चुनाव हायर सेकैन्ड्री से ऊपर की कक्षाओं को पढ़ानेवाले अध्यापक करेंगे, जो कम से कम तीन वर्ष उस राज्य में शिक्षण कार्य कर चुके हों। एक तिहाई सदस्यों का चुनाव विधान सभा के सदस्य उन लोगों में से करेंगे जो कि सभा के सदस्य न हों। शेष स्थानों के लिए राज्यपाल ऐसे व्यक्तियों का मनोनीत करेंगे जो साहित्य, कला, सहकारी आन्दोलन और सामाजिक सेवा का विशेष ज्ञान रखते हों।

प्रत्येक नागरिक ३० वर्ष की आयु को पार करते ही परिषद् का सदस्य बनने का अधिकारी समझा जायेगा, यदि वह अपराध, दिवालियापन आदि के कारण अयोग्य नहीं ठहराया जाता विधान परिषद् एक स्थायी संस्था है और प्रत्येक दो वर्ष के बाद इस के एक तिहाई सदस्य पद छोड़ते रहेंगे इसका यह अभिप्राय हुआ कि विधान-परिषद् के सदस्यों का ६ वर्ष के लिए निर्वाचन होगा। कोई व्यक्ति राज्य के दोनों सदनों या राज्य के एक सदन और संसद् का एक साथ ही सदस्य नहीं हो सकता।

संविधान में प्रथम अनुसूची के भाग (ग) के राज्यों के लिए विधान मण्डलों का उल्लेख नहीं है। किन्तु संसद् का यह अधिकार है कि इनमें से किसी राज्य में भी विधान मण्डल का निर्माण कराये, जिसमें कुछ मनोनीत और कुछ निर्वाचित सदस्य हों।

राज्य के विधान मण्डल के अधिवेशन—संविधान में, राज्य के विधान मण्डल के अधिवेशन, इसके पदाधिकारी, गवर्नर का सदनों को सम्बोधन करने और संदेश भेजने का अधिकार—इन बातों के उपबन्ध उसी प्रकार के हैं जैसे कि हम संसद् के सम्बन्ध में वर्णन कर आये हैं। राज्य के विधान मण्डल के सदनों के वर्ष में कम से कम दो अधिवेशन होने चाहिए, और पहिले अधिवेशन की अन्तिम बैठक और दूसरे अधिवेशन की पहिली बैठक में ६ मास से अधिक अवकाश न होना चाहिये। राज्यपाल बैठकों को ऐसे स्थान और समय पर कराते है जो वह उचित समझे। वह इनका समावसान (Porogue) कर सकते हैं और ५ वर्ष की अवधि से पहिले ही विधान सभा को भंग कर सकते हैं। प्रत्येक अधिवेशन के आरम्भ में गवर्नर महोदय भाषण देते हैं और बीच बीच में भी वह भाषण दे सकते हैं। इन अवसरों पर वह सदस्यों का उपस्थित होना अनिवार्य कर सकते है। किसी विधेयक पर शीघ्र निर्णय कराने के लिए ये सदनों में अपना अभिभाषण भेज सकते हैं। प्रत्येक मन्त्री और महा अधिवक्ता को किसी भी सदन में अपने विचार प्रकट करने और

उसकी कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार है, चाहे वे उसके सदस्य हों या न हों, परन्तु वे वोट तभी दे सकते हैं यदि इसके सदस्य भी हों।

विधान सभा अपने ही सदस्यों में से एक अध्यक्ष का निर्वाचन, बैठकों पर सभापतित्व करने और इस पद से सम्बन्धित अन्य सभी कार्यवाहियों का सञ्चालन करने के लिए करेगी। साथ ही एक उपाध्यक्ष का अध्यक्ष की अनुपस्थिति में इनका कार्य करने के लिये चुन लिया जायेगा। इसी प्रकार विधान-परिषद् भी (जहाँ कहीं हो) अपने सभापति और उप सभापति का निर्वाचन करेगी। यह सभी पदाधिकारी अपना पद रिक्त कर देंगे यदि ये सदनों के सदस्य नहीं रहते। बीच में भी ये अपनी इच्छा से पद त्याग कर सकते हैं, सदन भी उन्हें पदच्युत कर सकता है। जब कभी इनको पद से हटाने के लिये प्रस्ताव पर वाद विवाद हो रहा हो उस समय सम्बन्धित व्यक्ति सभापतित्व न कर सकेंगे परन्तु उन्हें सदन की कार्यवाही में भाग लेकर अपनी स्थिति स्पष्ट करने का अवसर होगा। इस प्रकार के प्रस्तावों के लिये कम से कम १४ दिन का नोटिस मिलना चाहिए। अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, सभापति और उप-सभापति को वेतन और भत्ते मिलेंगे जो राज्य का विधान मण्डल कानून के द्वारा निश्चित करे। सभाध्यक्ष की शक्तियाँ और उनके पद के कृत्य तथा महत्व के बारे में पहिले ही विवरण आ चुका है। अत यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं।

संविधान द्वारा निर्धारित विषयों को छोड़कर सभी प्रश्नों पर उपस्थित होकर मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से तै किया जायेगा। यही नियम दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन पर भी लागू होता है। अध्यक्ष या सभापति को मत देने का अधिकार नहीं है परन्तु मतों के सन्तुलन (tie) की अवस्था में उन्हें निर्णायक मत देने का अधिकार है। किसी बैठक का कोरम पूरा होने के लिए १० सदस्य या कुल सदस्यों का दस वां भाग, इन दोनों में से जो भी बड़ी संख्या हो, उपस्थित होने चाहिए राज्य के विधान मण्डल में उच्च अथवा उच्चतम न्यायाधीश के कार्य के विषय में कोई वाद विवाद न होगा। राज्य की कार्यवाही उसी राज्य की प्रादेशिक भाषा, हिन्दी या अंगरेजी में होगी।

विधान-मण्डल के सभी सदस्यों को संविधान के प्रति निष्ठा (Allegiance) और अपने पद के कर्तव्यों का पालन करने की शपथ लेना पड़ती है। उन्हें वाक् स्वातन्त्र्य का अधिकार और वे सब सुविधाएँ प्राप्त हैं जो कि मसार के अन्य देशों में है। उनका वेतन और भत्ते विधान-मण्डल, विधि के द्वारा नियत करेगा। कोई सदस्य अपने पद का त्याग करने के लिए अपने हस्ताक्षरों का प्रार्थना पत्र अध्यक्ष या सभापति के पास भेजेगा। यदि कोई सदस्य, बिना आज्ञा लिए, सदन की बैठकों से लगातार ६० दिन के लिए अनुपस्थित है, राज्य के किसी वैतनिक पद को स्वीकार

कर लेता है, किसी दूसरे राज्य का नागरिक बन जाता है या पागल अथवा दिवालिया हो जाता है तो उनकी जगह रिक्त घोषित कर दी जायेगी।

विधान प्रक्रिया—कोई भी अधिनियम तब तक विधि नहीं बन सकता जब तक उसे दोनों सदन पारित न कर दें और गवर्नर उसे स्वीकृति न दें। जहाँ जहाँ केवल एक ही सदन हैं वहाँ प्रक्रिया-सम्बन्धी कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। किसी बाहरी हस्तक्षेप के बिना सदन का अपने कार्य-सचालन की प्रक्रिया निश्चित करने का अधिकार है। यह आशा की जाती है कि प्रत्येक विधान सभा वही प्रणाली अपनाएगी जो कि इंग्लैण्ड में प्रचलित है। इसके अनुसार एक विधेयक को पाच अवस्थाओं से अर्थात् प्रथम पठन, द्वितीय पठन, कमिटी स्टेज, रिपोर्ट स्टेज, और तृतीय पठन की अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है। यही प्रणाली १६३५ के ऐक्ट के अन्तर्गत भी अपनाई गई थी। प्रक्रिया की समस्या उस समय सामने आती है जब विधान मण्डल द्विआगारिक हो। केन्द्रीय व्यवस्था के बारे मे हमें यह ज्ञात हो चुका है कि सिद्धान्त में लोकसभा और राज्य परिषद् का समान दर्जा है। कोई भी विधेयक उस समय तक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये नहीं रखा जा सकता जब तक कि एक ही रूप में उसे ससद् के दोनों सदन पारित न कर दें। परन्तु राज्यों में विधानमण्डलों के दोनों सदनो का बराबर का दर्जा स्वीकार नहीं किया गया। वहाँ विधान परिषदों का सभाओं की अपेक्षा, कानून बनाने में, छोटा दर्जा है। पहिली बात—विधान परिषद् में कोई धन विधेयक आरम्भ नहीं किया जा सकता ऐसे विधेयक विधान सभा मे ही प्रारम्भ किये जा सकते हैं। केवल इसी बात से हम विधान-परिषद् को अधीन नहीं कह सकते, यह पद्धति तो प्राय. सभी देशों में इसी प्रकार की है। कहीं भी दूसरे सदन को धन विधेयकों के आरम्भ करने का अधिकार नहीं दिया जाता। दूसरे, सविधान में इस प्रकार का निर्देश है कि विधान सभा से पास होने के बाद एक साधारण विधेयक विधान परिषद् मे जाना चाहिए। यदि ऐसा विधेयक परिषद् द्वारा अस्वीकार कर दिया जाय, या वहाँ तीन महीने के भीतर वह पारित न हो, या ऐसे सशोधनों के साथ पारित हो जिनसे असेम्बली सहमत नही है और दोबारा असेम्बली उस पर विचार कर चुकती है तो वह विधेयक गवर्नर की स्वीकृति के लिए पेश कर दिया जायेगा। दूसरे शब्दों में, साधारण विधेयकों के बारे मे अन्तिम निर्णय विधान सभा को ही सौंप दिया गया है—विधान-परिषद् को उसके समान शक्तियाँ नहीं हैं। यह तो केवल इतना ही कर सकती है कि विधान परिषद् की किसी विधेयक पर पुनर्विचार करने के लिये बाध्य करदें, यह अपने दृष्टिकोण को असेम्बली के ऊपर थोप नहीं सकती। इस प्रकार विधान-परिषद् एक पुनर्विचार करानेवाला और विधेयकों को पारित होने में देरी लगानेवाला सदन है।

केन्द्र में लोकसभा के मुकाबले में राज्य परिषद् की जो स्थिति है, राज्यों में विधान
सभा के मुकाबले में विधान परिषद् की उससे भी कहीं कमजोर स्थिति है। यद्यपि
विधान परिषद् में भी साधारण विधेयकों को आरम्भ किया जा सकता है परन्तु सभी
महत्त्वशाली बिल पहिले असेम्बली में ही रखे जाते हैं।

धनविधेयक सम्बन्धी विशेष प्रक्रिया—कोई विधेयक उस समय धनविधेयक
कहलाता है जबकि उसके द्वारा कोई कर लगाया जाय, रद्द कर दिया जाय या घटाया
जाय या उधार लेने पर नियन्त्रण करने अथवा 'सञ्चित निधि' में रुपया जमा करने या
निकालने इत्यादि से सम्बन्धित हो। इस प्रकार का विधेयक विधान सभा में ही
आरम्भ किया जा सकता है। इसके द्वारा पास किये जाने के पश्चात् इसे विधान
परिषद् के सामने रख दिया जाता है जहाँ से यह १४ दिन के भीतर ही परिषद् की
सिफारिशों के साथ विधान सभा में लौट आना चाहिए। यह सभा की मर्जी है कि वह
इन सिफारिशों को स्वीकार करे या न करे। यदि यह परिषद् भी सिफारिशों को मान
लेती है तो सशोधित विधेयक दोनों सदनों के द्वारा स्वीकृत समझा जाता है। यदि
सभा सशोधनों को स्वीकार करे तो वह विधेयक उसी रूप में दोनों सभाओं द्वारा पारित
समझा जायेगा जिसमें असेम्बली ने उसे भेजा था। तत्पश्चात् विधेयक को राज्यपाल
की स्वीकृति के लिये रख दिया जाता है। इस प्रकार विधान परिषद् को धन विधेयकों
के सम्बन्ध में कोई शक्ति नहीं दी गई। यह तो केवल उनके ऊपर वाद-विवाद कर
सकती है परन्तु सभा के निर्णयों को बदलने, सशोधित करने या रद्द करने का इसे
कोई अधिकार नहीं है। इसी प्रकार साधारण विधेयकों के बारे में भी परिषद् के
सीमित अधिकार हैं।

विधेयकों की स्वीकृति—उपरोक्त रीति द्वारा पारित किये हुए विधेयकों को
अन्त में राज्यपाल की स्वीकृति के लिये प्रस्तुत किया जाता है। राज्यपाल किसी
विधेयक को स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हैं। अथवा उसे राष्ट्रपति के निर्णय के
लिए रख लेते हैं। किसी साधारण विधेयक को गवर्नर महोदय अपने भाषण के
साथ विधानमण्डल को पुनर्विचार के लिये भेज सकते हैं। यह पुनर्विचार केवल गवर्नर
द्वारा उल्लिखित सशोधनों के ऊपर ही किया जायगा दोनों सदन राज्यपाल के सुझावों
पर तो पुनर्विचार तो अवश्य करेंगे परन्तु वे इन सशोधनों को मानने के लिए बाध्य
नहीं हैं। यदि इस बार ये सदन गवर्नर के सुझावों को मानकर या न मानकर विधे-
यक को पारित कर देते हैं, तो गवर्नर उसपर अपनी स्वीकृति देने से इन्कार न
करेंगे। यदि गवर्नर महोदय का यह विचार है कि कोई विधेयक पास किये जाने पर
उच्चन्यायालय की शक्तियों में कमी करेगा तो वह ऐसे विधेयक को राष्ट्रपति की स्वी-
कृति के लिये रोक लेंगे। राष्ट्रपति इसे स्वीकृति दे सकते हैं या इंकार कर सकते हैं।

यदि कोई साधारण विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये रोक लिया गया है तो वे राज्यपाल को इस विषय का आदेश दे सकते हैं कि विधेयक को सदनों में उल्लिखित सशोधनों के ऊपर पुनर्विचार के लिये लौटा दिया जाये। सदनों मे सशोधन के प्रस्तावों पर विचार किया जायेगा। इस बार यदि सशोधनों को मानकर या न मानकर ये सदन विधेयक को पारित कर देते हैं तो फिर इसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये रख दिया जायेगा।

ब्रिटिश सम्राट् को यह अधिकार है कि वे ब्रिटिश ससद् द्वारा पारित किये हुए किसी विधेयक पर स्वीकृति देने से इकार कर सकते हैं। परन्तु वे कभी इस शक्ति का प्रयोग नहीं करते चूकि यह ससद् शासन के सिद्धान्तों के विपरीत है। यह अभी हमें देखना बाकी है कि भारत में राज्यपाल अपनी इस शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करेगे। हम तो केवल इतना ही कह सकते है कि राज्यपाल विधेयकों को बहुत कम दशाओं में अस्वीकृत करेंगे केवल आपात् मे ही ऐसे अवसर आ सकते हैं। सामान्य काल में इस अधिकार के प्रयोग से राजनैतिक गतिरोध उत्पन्न होने का खतरा है।

वित्तीय विषयों मे प्रक्रिया—वित्तीय विषयों के सबध में केन्द्र और राज्यों की मूलरूप से एक प्रकार की प्रक्रिया ही बरती जायेगी। यह राज्यपाल का कर्त्तव्य होगा कि वित्तीय वार्षिक विवरण तैयार कराये जिसमें राज्य की आगामी वर्ष की अनुमानित आय और व्यय का ब्यौरा हो। यह ब्यौरा राज्य के विधान मण्डल के समक्ष रखा जायेगा। अनुमान पत्र में व्यय के बारे में निम्नलिखित बातें स्पष्ट होना चाहिए (1) वे धन राशियाँ जो सचित निधि पर व्यय के रूप मे भारित है (11) और वे अन्य व्यय जिनका सचित निधि पर भारित करने का प्रस्ताव विधान सभा ने स्वीकार कर लिया है। यह जानना आवश्यक है कि कौन सा व्यय सचित निधि पर भारित है और कौन सा नहीं है। सविधान मे सचित निधिपर भारित व्यय की निम्नलिखित मदों का उल्लेख है —

(क) राज्यपाल की उपलब्धियाँ और भत्ते तथा उनके पद से सबन्धित अन्य व्यय,

(ख) विधान सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के, विधान परिषद् के सभापति और उप सभापति के वेतन और भत्ते,

(ग) ऐसे ऋण भार जिनका दायित्व राज्य पर है।

(घ) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन और भत्ते विषयक व्यय।

(ङ) किसी न्यायालय या म यस्थ न्यायाधिकरण के निर्णय, आज्ञप्ति* या पचाट + के भुगतान के लिये अपेक्षित कोई राशियाँ।

---

* Degree

+ Award

(च) और कोई अन्य व्यय जो संविधान या संसद् द्वारा इस श्रेणी में रखा जाये।

इस प्रकार के भारित व्यय पर विधान मण्डल में वाद विवाद तो हो सकता है परन्तु उस पर मत गणना नहीं कराई जाती। और सभी खर्च मतदेय (Votable) है। दूसरी श्रेणी में आने वाले अनुमान अर्थात् जिनके ऊपर विधानमण्डल की स्वीकृति ली जाती है विधान सभा के समक्ष अनुदानों की मांग के रूप में पेश किये जाते हैं। वाद विवाद के पश्चात् विधान सभा किसी मांग को स्वीकार कर सकती है उसे कम करके स्वीकार कर सकती है या बिल्कुल अस्वीकार कर सकती है। परन्तु वह इस व्यय में वृद्धि नहीं कर सकती और न इसे एक मद से दूसरी मद में बदल सकती है। अनुदान की कोई मांग तब तक नहीं रखी जा सकती जब तक राज्यपाल इस विषय की सिफारिश न करें। इसका यह अभिप्राय है कि विधानमण्डल के साधारण सदस्यों को नये खर्च का प्रस्ताव रखने की आज्ञा नहीं है, यह तो केवल सरकार का ही अधिकार है।

विधान-सभा की स्वीकृत मांगों के आधार पर एक विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) तैयार करके सभा के सामने रखा जायेगा। विधानमण्डल का कोई सदन इस विधेयक में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। यह विधेयक एक अन्तिम निर्णय है जिसके अनुसार राज्य की संचित निधि में से रुपया निकाला जा सकता है। यदि विनियोग विधेयक का निश्चित धन राशि से किसी विशेष सेवा के लिए अधिक खर्च की आवश्यकता होती है तो राज्य पाल को अनुपूरक, या अधिकाई अनुदानों का अनुपूरक वित्तीय विवरण (Supplementray Financial Statement) के रूप में रखवाने का अधिकार है।

केन्द्रीय लोक सभा की भांति राज्य की विधान सभा भी लेखानुदान (Votes on Account) प्रत्ययानुदान (Votes on credit) और असाधारण मांग स्वीकार कर सकती है। लेखानुदान एक ऐसा अनुदान है जो कि वित्तीय प्रक्रिया के पूर्ण होने से पहिले ही विधान मण्डल द्वारा दे दिया जाय। यह एक अनुमानित व्यय से सम्बन्धित है जो कि वित्तीय वर्ष के एक भाग के लिये हो। लेखानुदान को स्वीकार करने से विधान मण्डल को यह सुविधा हो जाती है कि वह नय वर्ष के शुरू होने से बाद तक अनुदान की मांगों पर विचार विमर्श और वाद विवाद कर सकता है। पुरानी पद्धति के अनुसार आर्थिक वर्ष के आरम्भ होने से पहिले ही बजट स्वीकार करा लेना पड़ता था। नई प्रणाली को अपनाने से इस बात की आवश्यकता नहीं रही।

प्रत्ययानुदान ऐसी मांगों को पूरा करने के लिए स्वीकार किया जाता है जिन की पहिले कल्पना न की जा सकी थी और जिन का विस्तार पूर्वक वार्षिक विवरण में

उल्लेख नहीं किया गया था। एक असाधारण अनुदान वह होता है जो किसी वित्तीय वर्ष की प्रचलित सेवाओं से सम्बन्ध नहीं रखता।

धन विधेयक—ऐसा विधेयक जो ऐसे मार्गोपाय (Ways and Means) का निश्चय करे जिसके अनुसार आगामी वित्तीय वर्ष में राज्य के व्यय के लिए राजस्व एकत्रित करने का तरीका हो धन विधेयक कहलाता है। यह उन निर्णयों के आधार पर बनाया जाता है जो कि विधान सभा कर और ग्रहण लेने के बारे में करती है। जैसा कि पहिले ही समझाया जा चुका है कि इस विषय में विधान सभा ही अन्तिम निर्णय करती है, परिषद् को ऐसे प्रस्ताव को स्वत बदलने या सशोधित करने की शक्ति नहीं है।

विधान मण्डल के प्रत्येक सदन को अपने कार्य-सचालन के लिए विधायिनी और वित्तीय प्रक्रिया को निश्चित करने का अधिकार है। जब तक नये नियम न बनाए जायें तब तक पुराने नियमों को ही आवश्यक परिवर्तनों के साथ काम में लाया जायेगा। विधान मण्डल की कार्यवाही प्रादेशिक भाषा, हिन्दी या अ`ंजी में होगी। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि हमारे राज्य, उत्तर प्रदेश में सभी कार्यवाही हिन्दी में की जाती है।

राज्यपाल की विधायिनी शक्तियाँ—राज्यपाल की अधिवेशनों को बुलाने उन्हे सम्बोधित करने अभिभाषण भेजने आदि शक्तियो का यथा स्थान वर्णन किया जा चुका है। इन के अतिरिक्त उन्हें अध्यादेश लागू करने का भी अधिकार है। जब विधान मण्डल का अधिवेशन न हो और गवर्नर महोदय को यह विश्वास हो जाये कि परिस्थितियाँ तुरन्त कार्यवाही के लिये बाध्य कर रही हैं तो वे आवश्यक अध्या देश जारी कर सकते हैं। ऐसा अध्यादेश राज्य के विधान मण्डल के समक्ष रखा जाना चाहिए और विधान मण्डल की बैठक शुरू होने से छ सप्ताह के बाद उस का प्रभाव शून्य हो जायेगा। छ सप्ताह से पहिले ही इसे गवर्नर वापस ले सकते हैं या विधान मण्डल के सदस्य अस्वीकार कर सकते है।

यदि किसी अध्यादेश का ऐसे मामले से सम्बन्ध है जिस के बारे में कोई विधेयक राज्य के विधान मण्डल में बिना राष्ट्रपति की अनुमति के आरम्भ नहीं किया जा सकता या जिस को राष्ट्रपति के विचार करने के लिये रोकना आवश्यक है तो ऐसे अध्यादेश के लागू करने से पहिले राज्यपाल को राष्ट्रपति की हिदायतें ले लेना चाहिए।

गवर्नर को अध्यादेश लागू करने की शक्ति आपात का सामना करने के लिये दी हैं। ये अध्यादेश सासद अधिकार के अधीन हैं चूकि उन्हें विधान मण्डल के सामने रखना आवश्यक है।

न्यायपालिका—पहिले पृष्टों में कई बार इस बात का सकेत किया जा चुका है कि हमारे सविधान और दूसरे सघात्मक राज्यों के सविधानों में यह अन्तर है कि यहाँ

दुहरे विधान मण्डल और दुहरी कार्यपालिकाओं के होते हुए भी सारे देश में सम्यक् और सम्बद्ध न्याय व्यवस्था है। इसीलिए हमारे संविधान में राज्य की न्यायपालिका की रचना और शक्तियों का इस प्रकार से उल्लेख नहीं है जैसा कि कार्यपालिका और विधानमण्डल के बारे में।

फिर भी प्रत्येक राज्य में एक सुसंगठित न्यायपालिका है जो इसकी कार्यपालिका और विधान मण्डल से भिन्न और पृथक् है। न्यायपालिका में कई प्रकार के न्यायालय सम्मिलित हैं। सबसे ऊपर हाईकोर्ट और उससे नीचे फौजदारी और दीवानी जिलों की अदालत हैं। दीवानी मामलों के लिए सबसे छोटी मुन्सिफ की अदालत और फौजदारी मुकदमों के लिए तीसरी श्रेणी के मजिस्ट्रेटों के न्यायालय हैं। उनमें से किये जाने वाले मुकदमों के आधार पर न्यायालयों को दीवानी, फौजदारी और माल तीन प्रकार की अदालतों में बाँटा जा सकता है। पहिले हम उच्च न्यायालय और तत्पश्चात् अधीन न्यायालयों का विवेचन करेंगे।

उच्च न्यायालय—संविधान में प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय का निर्देश है। संविधान के आरम्भ से पहिले जो उच्च न्यायालय ब्रिटिश प्रान्तों में स्थित थे वे अब तत्स्थानीय राज्यों के उच्च न्यायालय समझे जायेंगे।

प्रत्येक न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति और उतने अन्य न्यायाधीश जितने गण राज्य के राष्ट्रपति समय समय पर नियुक्त करें, होते हैं। इसलिए प्रत्येक राज्य में उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या भिन्न भिन्न होगी। ऐसी ही व्यवस्था १९३५ ई० के गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट में थी जिसके अनुसार प्रत्येक प्रान्त के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या सपरिषद् सम्राट निश्चित करते थे। इलाहाबाद के हाईकोर्ट में आज कल १५ स्थायी न्यायाधीश हैं, जिन में एक मुख्य न्यायाधिपति भी सम्मिलित है इनके अतिरिक्त ५ अस्थायी न्यायाधीश हैं। १९३५ ई० के एक्ट के अन्तर्गत इनकी कुल संख्या अधिक से अधिक १२ निश्चित थी। पहली अक्तूबर १९४६ को यू० पी० के उच्च न्यायालय में १९ न्यायाधीश थे।

उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति, और सम्बन्धित राज्य के गवर्नर से परामर्श से करेंगे और दूसरे न्यायाधीशों की नियुक्ति में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति का भी परामर्श लेना पड़ेगा। ब्रिटिश शासन काल में इनकी नियुक्ति सपरिषद सम्राट करते थे। वर्तमान व्यवस्था की यही नवीनता है कि अब न्यायाधीशों की नियुक्ति में राष्ट्रपति को न्याय अधिकारी और गवर्नर का सहयोग लेना पड़ेगा। यह परिवर्तन न्यायाधीशों की नियुक्ति में राजनैतिक प्रभाव को रोकने के लिए किया गया है। इसका उद्देश्य न्यायपालिका को स्वाधीनता देने का है, जो कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक

है। इसी ध्येय की ओर लेजाने वाले और भी उपबन्ध हैं। न्यायाधीश ६५ वर्ष तक की अवस्था तक पदासीन रहते हैं। केवल राष्ट्रपति ही दो शर्तों के मातहत उन्हें पदच्युत कर सकते हैं। पहली शर्त यह है कि वह अयोग्य सिद्ध हो जायें, और दूसरी शर्त यह है कि दोनों सदनों ने उनके खिलाफ प्रस्ताव पास करके भेजा हो। इस प्रकार का प्रस्ताव दोनों सदनों में पृथक पृथक उपस्थित होकर मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पारित होना चाहिए। उनकी नौकरियाँ और भत्ते उनके कार्य काल में कम नहीं हो सकते और ये राज्य की संचित निधि पर भारित होंगे। अर्थात् उनके ऊपर विधान मण्डल का मत न लिया जायेगा। राज्य के विधान मंडल में किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के आचार के ऊपर किसी प्रकार का वादविवाद नहीं हो सकता। कानून का राज्यपाल के ऊपर यह पाबन्दी है कि ऐसे पारित विधेयक को जिससे उच्च न्यायालय की शक्ति और प्राधिकार पर कोई उलटा प्रभाव पड़ता हो, राष्ट्रपति के निर्णय के लिये भेजदे। सेवानिवृत्त (Retired) न्यायाधीशों को किसी भी न्यायालय में वकालत करने की आज्ञा नहीं है। इस प्रकार संविधान के निर्माताओं ने सच्चे हृदय से इस बात का प्रयत्न किया है कि न्याय पालिका को एक स्वतन्त्र स्थान और सुरक्षा दिये जायें। नागरिकों के अधिकार और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए एक स्वतन्त्र न्याय पालिका आवश्यक है। संविधान के संरक्षण के लिए भी इसका महान् महत्त्व है।

भारत का कोई भी नागरिक उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनने के योग्य समझा जायेगा यदि वह कम से कम १० वर्ष तक न्याय सम्बन्धी सेवा कर चुका है या कम से कम १० वर्ष तक उच्चन्यायालय का अधिवक्ता रह चुका है। इस प्रकार ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस जिसने पुरानी आई० सी० ऐस० का स्थान लिया है, के सदस्य इस पद पर नियुक्त नहीं हो सकते। १९३५ ई० के ऐक्ट की अपेक्षा इस विधान में यह एक अच्छी बात है कि अब आई० सी० ऐस० के सदस्यों को न्यायाधीश नहीं नियुक्त किया जायेगा। पदत्याग करने के लिए न्यायाधीश को राष्ट्रपति के नाम पर प्रार्थनापत्र देना पड़ेगा। उपरोक्त रीति से राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश को पदच्युत भी कर सकते हैं। मुख्य न्यायाधिपति को ४०००) प्रतिमास और दूसरे न्यायाधीशों को ३५००) प्रतिमास वेतन दिया जायेगा।

उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार—१९३५ ई० के गवर्मेन्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अन्तर्गत उच्च न्यायालयों का क्षेत्राधिकार काफी विस्तृत था, पुराने प्रतिबन्धों को हटा कर और नये अधिकार देकर नये संविधान ने इसके क्षेत्र को और भी अधिक विस्तृत कर दिया। राज्य का सर्वोच्च न्यायालय होने के नाते इसका विशेष काम दीवानी और फौजदारी मुकदमों की अपील सुनना है। केवल बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के उच्च न्यायालयों का ही व्यवहार और दण्ड विषयों में प्राथमिक क्षेत्राधिकार

है। प्राथमिक न्यायालय होने के नाते वे २०००) से अधिक रकम के दीवानी मुकदमों को ले सकते हैं और दण्ड विषयों में वे प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेटों द्वारा भेजे हुए मुकदमों का फैसला कर सकते हैं। इन तीनों न्यायालयों को समुद्र में किये हुए अपराधों के सुनने का भी अधिकार है।

सभी उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार में दीवानी, फौजदारी और वे सभी मुकदमे आते हैं जो इच्छापत्र (Wills), दिवाले, जनपद विवाह (Civil Marriage) और विवाह-विच्छेद से सम्बन्धित हों। १९३५ ई० के ऐक्ट के अन्तर्गत किसी भी उच्च कार्यालय के प्राथमिक क्षेत्राधिकार में राजस्व से सम्बन्धित कोई विषय या इसे इकट्ठा करने के बारे में कोई आदेश शामिल नहीं था। नये संविधान ने यह प्रतिबन्ध हटा दिया है।

प्रत्येक उच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय (Court of Record) है। अधीनस्थ न्यायालयों में इसके निर्णय प्रामाणिक माने जाते हैं। अपने अपमान के लिए यह किसी व्यक्ति पर मुकदमा चलाकर उसे दण्ड दे सकता है। संविधान द्वारा निश्चित मूलाधिकारों के लागू करने के लिए तथा और दूसरे उद्देश्यों से यह बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश (Mandamus) प्रतिषेध (Prohibition) और उत्प्रेषण-लेख आदि लेख जारी कर सकता है। यह संविधान का निर्वाचन (Interpretation) और संरक्षण करता है, और राज्य के विधान-मण्डल के किसी भी अधिनियम का प्रभाव शून्य घोषित कर सकता है यदि वह संविधान के उपबन्धों के विरुद्ध हो। प्रत्येक उच्च न्यायालय अपने पुनर्विचार के क्षेत्राधिकार में सम्मिलित सभी न्यायालयों का अधीक्षण करेगा। वह एक न्यायालय से दूसरे में किसी मुकदमे का बदल सकता है, उन न्यायालयों के लिए कार्यप्रणाली और कार्यवाहियों के नियम बना सकता है, उनकी पुस्तकों और प्रविष्टियों के रखने का ढंग निर्धारित कर सकता है और उन उपलब्धियों का स्थिर कर सकता है जो ऐसे न्यायालय के पदाधिकारियों को तथा इनमें वृत्ति करने वाले न्यायवादों, अधिवक्ताओं और वकीलों को दी जायगी। यदि उच्चन्यायालय का विश्वास है कि उसके अधीन न्यायालय में रुके हुए किसी मामले में इस संविधान के निर्वचन का कोई सारवान विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, जिसका निर्धारित होना मामले को निपटाने के लिए आवश्यक है, तो वह उस मामले को अपने पास मंगा लेगा। *वह या तो मामले को स्वयं निपटा लेगा या उक्त विधि प्रश्न का निर्णय करके उस* मामले को पहिले न्यायालय को लौटा सकेगा। उक्त न्यायालय अगली कार्यवाही उच्च न्यायालय के निर्णय को ध्यान में रखते हुए करेगा।

यह याद रखना चाहिए कि राज्य में उच्च न्यायालय ही सब से बड़ा पुनर्विचारालय है परन्तु यह सर्वोच्च न्यायालय नहीं है। १९३५ ई० के ऐक्ट के अन्तर्गत इसकी अपील

प्रीवी कौंसिल की जुडिशियल कमेटी सुनती थी—दीवानी मुकदमों में १०,०००) से अधिक के मामलों पर या उन मामलों पर अपील हो सकती थी जिनमें विधि का कोई सारवान प्रश्न निहित हो। चूंकि अब भारत एक पूर्ण प्रभुता सम्पन्न गणराज्य है इसलिए यहाँ का सर्वोच्च न्यायालय इसी देश के अन्दर है। अब प्रीवी कौंसिल का अपील सुनने का अधिकार खतम हो गया है। अब दीवानी फौजदारी और दूसरे मुकदमों में उच्च न्यायालय की अपील उच्चतम न्यायालय सुनता है। यह भी कहना आवश्यक है कि संसद विधि के द्वारा एक उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का क्षेत्र दूसरे राज्यों तक बढ़ा सकती है या उसी राज्य तक सीमित कर सकती है।

उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के बारे में एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है। सेना से सम्बन्ध रखने वाले न्यायालय और न्यायाधिकरण इसके क्षेत्राधिकार से बाहर हैं।

अधीन न्यायालय

(क) दण्ड न्यायालय—दण्ड-न्याय (Criminal Justice) के प्रशासन के लिए एक राज्य को बहुत से क्षेत्रों में विभाजित कर लिया जाता है जिन्हें सेशन्स डिवीजन कहते हैं। ये डिवीजन साधारणतया उन जिलों के समरूप हैं जिनमें प्रशासन के सुभीते के लिये राज्य को बाँट लिया जाता है। प्रत्येक सेशन्स विभाग अथवा जिले में एक सेशन्स कोर्ट होती है जो कि उस क्षेत्र में फौजदारी मुकदमों के लिए सब से बड़ा न्यायालय होता है। सरकार इस न्यायालय के 'सेशन्स जज' की नियुक्ति कर सकती है। सैशन्स कोर्ट के प्रारम्भिक और पुनर्विचार—दोनों प्रकार के अधिकार हैं। वह सब फौजदारी के मुकदमे जो नीचे की अदालतें सुन नहीं सकतीं इसके पास भेज दिये जाते हैं। इसका विधि द्वारा निर्धारित बड़े से बड़ा दण्ड देने का अधिकार है। इसके प्रत्येक मृत्यु-दण्ड के निर्णय पर उच्च न्यायालय का प्रमाणीकरण आवश्यक है। सैशन्स कोर्ट में इस के अधीन दण्ड न्यायालयों के निर्णयों के खिलाफ अपीलें आती हैं।

सेशन्स कोर्ट के अधीन जिले के मजिस्ट्रेटों के न्यायालय होते हैं। यह तीन श्रेणी के होते हैं। एक प्रथम श्रेणी के दण्डाधीश (Magistrate) को दो वर्ष तक की सजा और १०००) तक जुर्माना करने का हक है। यदि जिलाधीश से लिखित आज्ञा मिल जाये तो वह निचली अदालतों की अपील सुन सकता है। दूसरी श्रेणी के दण्डाधीश ६ मास तक की सजा और २००) तक जुर्माना कर सकते हैं। तीसरी श्रेणी के दण्डाधीश को १ महीने की जेल और ५०) तक जुर्माना करने की शक्ति दी गई है। दूसरी और तीसरी श्रेणी के दण्डाधीशों को पुनर्विचार का अधिकार नहीं है। प्रत्येक न्यायालय के क्षेत्राधिकार की पराकाष्ठाए नियत होती हैं जिन मामलों के तै करने का इन्हें अधिकार नहीं होता वे सैशन्स कोर्ट को भेज दिये जाते हैं।

प्रत्येक जिले के जिलाधीश का प्रथम श्रेणी के दण्डाधीश की शक्तियाँ प्राप्त होती है। इसी कारण उन्हें डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट भी कहा जाता है। डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की हैसियत से वे दूसरे मजिस्ट्रेटों के काम की देखरेख करते हैं और उनमें कार्य वितरण करते हैं। केवल कुछ निर्धारित विषयों के अतिरिक्त जिलाधीश तथा और दूसरे दण्डाधीश किसी विषय में सैशन्स जज के अधीन नहीं है। प्रेसीडेन्सी टाउन्स (कलकत्ता, बम्बई और मद्रास) मे प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट्स हैं और बड़े बड़े नगरों में नगर दण्डाधीश (City Magistrate) होते हैं जो कि फौजदारी मुकदमों का फैसला करने और सैशन्स कोर्ट तथा हाईकोर्ट का अधिक महत्वपूर्ण मामलों को सौंपने का काम करते हैं।

कई श्रेणी के वैतनिक दण्डाधीशों के साथ अवैतनिक दण्डाधीश भी रखे जाते हैं। उनमें भी प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणियाँ हैं। उनके पास मामूली मुकदमे भेजे जाते हैं और वे "बैंच" के रूप मे अर्थात दो या तीन इकट्ठे बैठकर कार्य करते हैं। उनकी नियुक्ति प्रान्तीय सरकार करती है। प्रान्तीय सरकार किसी भी व्यक्ति को प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी के दण्डाधीशों के अधिकार सौंप सकती है। ऐसा व्यक्ति स्पैशल मजिस्ट्रेट कहलायेगा और प्रेसीडेन्सी नगरों के अतिरिक्त किसी निर्धारित क्षेत्र के फौजदारी मुकदमों को नियत अवधि तक तै करेगा।

(ख) जिले में व्यवहार न्यायालय:—एक जिले मे व्यवहार (Civil) न्यायालय कई श्रेणी के होंगे। उनमें सब से बड़ा जिला न्यायाधीश का न्यायालय है। जिला न्यायाधीश को प्राथमिक और पुनर्विचार दोनों ही प्रकार के अधिकार हैं। प्राथमिक क्षेत्र मे उसके न्यायालय मे बिना किसी आर्थिक मूल्य (Pecuniary Value) के विचार के सब तरह की नालिशें हो सकती हैं। पुनर्विचार क्षेत्र म वह अपने अधीन न्यायालयों से आई अपीलें सुनते हैं और ५०००) से कम मूल्य की नालिशें।

जिला न्यायाधीश के न्यायालय के अधीन सिविल जज और मुन्सिफ के न्यायालय होते हैं। सिविल जज को, बिना किसी धन राशि का विचार किये प्राय सभी मामलों को तै करने का हक है और उसे पुनर्विचार की भी शक्तियाँ हैं। दूसरे शब्दों मे, उसकी शक्ति प्राय जिला न्यायाधीश की शक्तियों के बराबर हैं, जिसके प्रशासन की दृष्टि में, वे अधीन है। उनकी अपील हाईकोर्ट में सुनी जाती हैं। सिविल जज के न्यायालय के नीचे मुन्सिफों के न्यायालय हैं जिनमे ५०००) तक के दीवानी मुकदमों की सुनवाई होती हैं। मुन्सिफ को पुनर्विचार का अधिकार नहीं होता। इन के अतिरिक्त जिले में 'स्माल कॉज कोर्ट' होती हैं। इनमे २५०) तक के मूल्य के मुकदमे दायर होते हैं और यदि राज्य की सरकार की लिखित स्वीकृति प्राप्त हो जाय तो ये १०००) तक के मुकदमे तै कर सकती हैं। प्रेसीडेन्सी टाउनों मे यह मूल्य २०००) नियत किया गया है। स्माल काज कोर्ट को संक्षेपतो-वैधिक विचार (Summary trial) का हक है ताकि मामूली नालिशें जल्दी तै हो जायें और ऋण वसूल करने मे

आसानी हो जाये। यह नियम है कि उनके निर्णयों के खिलाफ केवल विधि प्रश्नों पर ही पुनर्विचार हो सकता है।

जिला न्यायाधीश का न्यायालय सेशन्स कोर्ट से केवल इसी बात में भिन्न है कि पहला व्यवहार न्यायालय है और—दूसरा दण्ड न्यायालय। तथापि उत्तर प्रदेश और कुछ अन्य राज्यों में दोनों का एक ही पदाधिकारी होता है। इसीलिए उसका नाम डिस्ट्रिक्ट और सेशन्स जज है। चूंकि उनमें दीवानी और फौजदारी दोनों ही प्रकार की प्राथमिक और पुनर्विचार सम्बन्धी शक्तियां निहित हैं इसलिए वे जिले के एक मुख्य पदाधिकारी हैं। न्याय सम्बन्धी कृत्यों के साथ-साथ उनके कुछ प्रशासन सम्बन्धी कर्त्तव्य भी हैं। जिले के सभी न्यायालयों पर वे देख रेख और नियन्त्रण रखते हैं। सहायक न्यायाधीशों को वह कुछ मुकदमों का फैसला सौंपते हैं। और नाबालिग और पागलों की सम्पत्ति की देखभाल करते हैं। इस प्रकार डिस्ट्रिक्ट और सैशन्स जज का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण पद है।

१६३५ ई० के ऐक्ट के अनुसार पहिले ऐसी व्यवस्था थी कि जिला मजिस्ट्रेटों और दूसरे मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति प्रान्तीय सरकार बिना हाईकोर्ट और पब्लिक सर्विस कमीशन के परामर्श के ही कर देती थी। नये संविधान में इस व्यवस्था को हटा कर सभी प्रकार की न्यायसम्बन्धी नौकरियों को उच्च न्यायालय के नियन्त्रण में रख छोड़ा है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सैशन्स जज के पद से नीचे वाले सभी दण्ड, न्यायसम्बन्धी पदाधिकारियों की नियुक्ति, बदली इत्यादि का काम कार्य पालिका-अधिकार से लेकर लोक सेवा आयोग और उच्चन्यायालय के हाथ में सौंप दिया गया है।

(ग) आगम न्यायालय—दीवानी और फौजदारी अदालतों के अतिरिक्त जिले में आगम न्यायालय (अदालत माल) भी हैं जो कि राजस्व का अनुमान करने और उघाने से सम्बन्ध रखने वाले मुकद्दमों का फैसला करते हैं। भूमि और लगान से सम्बन्धित मामलों का भी ये तय करते हैं। जिलाधीश (कलक्टर) जिले में राजस्व का मुख्य पदाधिकारी है और उसका न्यायालय मुख्य आगमन्यायालय है। उसके अधीन सहायक जिलाधीश (Deputy Collector) और तहसीलदार के न्यायालय में होते हैं। अधीन न्यायालयों से कलक्टर और इनसे डिवीजन कमिश्नर के पास अपील जाती है। बोर्ड आफ रिवेन्यू राज्य में राजस्व सम्बन्धी सब से बड़ा न्यायालय होता है। पहले यह अपना स्थान बदलता रहता था परन्तु अब इसका भी हैडक्वार्टर इलाहाबाद में स्थित हो गया है।

अध्याय २५

संघ और राज्यों के सम्बन्ध, लोक-सेवा इत्यादि

परिचयात्मक— हमारा संविधान संघात्मक है। संघीय प्रणाली का सार इस बात में निहित है कि बहुत से राज्यों को एक राष्ट्रीय सरकार के अन्तर्गत इस प्रकार मिलाया जाये कि राज्यों और राष्ट्रीय सरकार दोनों का कार्यक्षेत्र एक दूसरे से अलग और प्रत्येक अपने अपने क्षेत्र में स्वाधीन है। सरकार की शक्तियों का केन्द्र और इकाइयों में विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक को अपने अपने नियत विषयों के बारे में कानून बनाने और तत्सम्बन्धी प्रशासन करने का अनन्य अधिकार होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे संविधान के द्वारा सरकार की शक्तियों का तीन सूचियों में बाट दिया गया है। संघ सूची के विषयों पर संसद् ही विधियाँ बना सकती है। राज्य सूची के विषय में राज्यों को ही कानून बनाने का हक है। समवर्ती सूची में सम्मिलित विषयों के बारे में केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान मण्डल दोनों ही विधियाँ बनाएँगे। इन सूचियों का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

राज्य सूची के विषयों पर संसद् के अधिकार— परन्तु हमारे संविधान में ऐसे विशेष अवसरों का उल्लेख है जब कि समस्त भारत या उसके किसी भाग के लिए संसद् को राज्य-सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार मिल जाता है। (अ) २४९ वें अनुच्छेद के अनुसार संसद् राज्य सूची में परिगणित किसी विषय के बारे में विधि बना सकती है यदि राज्य-परिषद् ने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से घोषित किया है कि राष्ट्रीय हित में ऐसा करना आवश्यक है। (ब) २५० वें अनुच्छेद के अनुकूल संसद् को, जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, भारत के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिये राज्य सूची में परिगणित विषयों में से किसी के बारे में विधि बनाने की शक्ति होगी। यह पहिले ही संकेत किया जा चुका है कि संकट काल में हमारी राज्य व्यवस्था संघात्मक के बजाय एकात्मक हो जाती है। (स) अन्तिम बात यह है कि संसद दो या अधिक राज्यों के लिए उनकी सहमति से विधि बना सकती है। इन राज्यों के विधान मण्डल संसद से प्रार्थना कर सकते हैं कि वह विधि द्वारा कुछ मामलों का प्रबन्ध करे। यह भी कहा जा सकता है कि संसद को किसी अन्य देश या देशों के साथ की हुई सन्धि, करार या

सम्मेलन में किये गये किसी निश्चय के परिपालन के लिए भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए कोई भी विधि बनाने की शक्ति है।

प्रशासन सम्बन्ध—संविधान में ऐसे भी कुछ उपबन्ध हैं जिनके अनुसार राज्य की कार्यपालिका शक्ति पर संघ सरकार का प्रभुत्व होगा। २५६ वें अनुच्छेद में यह उल्लिखित है कि प्रत्येक राज्य की कार्य-पालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होगा कि जिससे संसद द्वारा निर्मित विधियों का पालन होता रहे तथा संघ की कार्यपालिका राज्य को ऐसे आदेश दे सकती है जो उस प्रयोजन के लिए आवश्यक हों। इससे अगले अनुच्छेद में यह निश्चित है कि संघ के राष्ट्रपति राज्य की कार्यपालिका को इस आशय का निदेशन दे सकते हैं कि वह संघ के कार्यपालिका के अधिकार में दखल न दे तथा रेलवे, राष्ट्रीय राजपथ और राष्ट्रीय महत्व के संचार-साधनों की रक्षा करने में संघ सरकार का साथ दें। राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि सरकार को या उसके पदाधिकारी को ऐसे किसी विषय सम्बन्धी कृत्य सौंप दें जिन पर संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार हो। ऐसे अवसरों पर राज्य की सरकार या पदाधिकारी राष्ट्रपति के अभिकर्त्ता (Agent) की भांति काय करेंगे।

राज्यों के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए राष्ट्रपति अन्तर्राज्यीय परिषद् (Inte tSate Council) का निर्माण कर सकते हैं। इस परिषद् का काम राज्यों की नीतियों का समन्वय करना, पारस्परिक हित से सम्बद्ध विषयों का अनुसन्धान और चर्चा करना और राज्यों के बीच के आपसी झगड़ों का निपटारा करना होगा। संविधान में उल्लिखित भाग (ख) के राज्यों को सशस्त्र बलों (Armed Forces) के रखने का अधिकार है परन्तु वे केवल संघ के सशस्त्र बलों के ही अभिन्न अंग हैं। यदि कोई राज्य संघ सरकार के नियत निर्देशों का पालन करने में असमर्थ रहता, राष्ट्रपति इस संवैधानिक संकट को दूर करने के लिए आवश्यक कार्यवाही कर सकते हैं।

वित्त सम्बन्ध—उपरोक्त कथन का यह अभिप्राय न समझना चाहिए कि केन्द्रीय संसद् राज्यसूची के विषयों पर प्राय लगातार कानून बनाती रहेगी या राष्ट्रपति राज्य कार्यपालिका के लिए दिन प्रतिदिन निर्देश भेजते रहेंगे। इन उपबन्धों का प्रयोग तो यदा कदा आपात् में ही किया जायगा। साधारणतया राज्यों को विधान और प्रशासन में पूर्ण स्वाधीनता होगी। परन्तु प्रशासी स्वशासन के लिए वित्तीय स्वशासन आवश्यक है। कोई राज्य तब तक पूर्ण स्वशासी नहीं हो सकता जब तक उसके राजस्व एकत्रित करने के अपने स्वतन्त्र साधन न हों। इसलिए प्रत्येक संघात्मक व्यवस्था में इकाइयों और केन्द्रीय सरकार के पृथक-पृथक राजस्व के साधन होते हैं जिनका वे मन चाहा उपयोग कर सकते हैं।

हमारे संविधान के द्वारा भी राजस्व के साधनों को संघ और राज्यों के बीच विभाजित कर दिया गया है। इसमें संघ के लिए एक संचित निधि (Consolidated Fund) का उल्लेख है, जिसमें भारत सरकार द्वारा एकत्रित किया हुआ राजस्व और उधार लिया हुआ ऋण चाहे वह किसी भी रूप में वसूल हुआ हो, शामिल होगा। इसी प्रकार की एक एक संचित निधि भाग (क) और (ख) के राज्यों के लिये होगी। (ग) भाग के राज्य केन्द्र के द्वारा प्रशासित होंगे इसलिये उनके लिये कोई पृथक संचित निधि न होगी।

संघ और राज्यों के राजस्व को बिल्कुल पृथक् पृथक् बाँट दिया जाता यदि यह सम्भव हो सकता कि संघीय सूची में सम्मिलित सभी विषयों की आय संघ की संचित निधि में जमा हो जाती और राज्य विषयों की आय राज्य की निधि में। परन्तु यह विचार कार्यान्वित न हो सका, क्यों कि इस व्यवस्था से राज्यों के सीमित साधन रह जाते।

कुछ ऐसे शुल्क (Duties) हैं, जिन्हें केन्द्र आरोपित (Levy) करता है परन्तु राज्य वसूल करते हैं और कुछ ऐसे दूसरे शुल्क और कर हैं जिनका संघ सरकार द्वारा आरोपण और संग्रहण होता है परन्तु जिन की आय राज्यों के लिए हस्तान्तरित हो जाती है। कुछ ऐसे कर होते हैं जिन्हें भारत सरकार आरोपित और एकत्रित करती है किंतु जो संघ और राज्यों में बाँट दिये जाते हैं। कुछ ऐसे कर एवं शुल्क हैं जिनका भारत सरकार आरोपित और एकत्रित करती है और उनकी माग आय भारत सरकार अपने काम में लाती है। अन्त में कुछ ऐसे शुल्क और कर हैं जिन्हें राज्य अपने ही खर्च के लिए लगाते और इकट्ठा करते हैं। इस प्रकार संघ और राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध में एक तरह की उलझन सी आ गई है। संघ सूची में दिये हुए कुछ शुल्क हैं जो भारत सरकार द्वारा आरोपित किये जाते हैं परन्तु जिन्हें अपने अपने क्षेत्रों में राज्य खुद के लिये इकट्ठा करते हैं। इनमें मुख्य ये हैं—विनिमय पत्र, चैक, इन्स्योरैन्स पालिसी और प्रामिसरी नोट के ऊपर स्टाम्प ड्यूटी और दवाइयों और साबुन इत्यादि के ऊपर आन्त. शुल्क (Excise Duties)।

(२) कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार का शुल्क, कृषि भूमि के अतिरिक्त किसी दूसरी सम्पत्ति पर भूसम्पत्ति कर, रेलवे, समुद्र और वायुमार्ग से जानेवाले सामान, और मुसाफिरों पर सीमा कर, रेलवे वहन और भाड़े, मुद्रा शुल्क को छोड़ कर श्रेष्ठि चत्वर (Stock Exchange) और वायदाबाजार के सौदों पर कर, समाचारपत्रों के क्रय या विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर, ये सब भारत सरकार द्वारा आरोपित और संग्रहीत होते हैं परन्तु इनकी आय राज्यों के लिये हस्तान्तरित कर दी जाती है।

(३) कृषि आय के अतिरिक्त अन्य आयों पर कर भारत सरकार द्वारा आरोपित और संग्रहीत होते हैं और संघ और राज्यों में बाँट लिये जाते हैं। परन्तु आय द्वारा और

दूसरे करों पर जो अधिभार (Surcharge) होगा वह भारत की संचित निधि में शामिल किया जायगा।

(४) जूट, या जूट की बनी वस्तुओं के निर्यात शुल्क से जो आय होगी उसे भारत सरकार ही आरोपित और संगृहीत करेगी और इस आय के बदले आसाम, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल की सरकारों को कुछ भाग सहायक अनुदान के रूप में दिये जायँगे।

(५) संसद् विधि द्वारा यह निर्देश कर सकती है कि कुछ धनराशि सहायक अनुदान के रूप में संघ की संचित निधि से राज्यों को दे दी जाये।

संविधान के आरम्भ होने की तिथि से दो वर्ष के भीतर राष्ट्रपति एक वित्त आयोग की नियुक्ति करेंगे जो कि यह निश्चय करेगा कि संघ और राज्यों के बीच विभिन्न करों की आय को किस प्रकार बाँटा जाय ? किस सिद्धान्त के आधार पर राज्यों को सहायक अनुदान दिये जायें ? या इसी प्रकार के और वित्त सम्बन्धी मामले किस प्रकार तय किये जायें ? भविष्य में वित्त आयोग की नियुक्ति हर पाँचवें साल होती रहेगी। वित्त आयोग में प्रधान और उनके चार सहायक होंगे।

(६) संघ सूची की आय मदों से वसूल होने वाला राजस्व भारत की संचित निधि का भाग होगा। और इसी प्रकार राज्य सूची की शेष मदों से प्राप्त धन उन पृथक् पृथक् राज्य की संचित निधि में शामिल होगा जिनके अधिकृत रूप से उगाहया गया है। बहिः शुल्क (Customs) अफीम, भंग और अन्य नशेवाली औषधों को छोड़ कर अन्य सब वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क, निगमकर, रलवे की आय आदि आदि केन्द्रीय राजस्व के मुख्य-मुख्य स्थान हैं।

भारत सरकार की और एक राज्य की आय साधनों का अनुमान करने के लिए और उन्हें समझने के लिए उदाहरण की सहायता लेना अधिक उपयुक्त है। भारत सरकार का १९५०—५१ के लिए जो अनुमानित ब्यौरा तैयार किया गया है वही सबसे का आधुनिक उदाहरण है जिसे हम निम्नांकित करते हैं—

भारत सरकार के राजस्व का विवरण-पत्र (१९५०-५१)

राजस्व के मुख्य शीर्षक	१९४८—४९ के आँकड़े	दोहराया तखमीना (१९४९-५०)	बजट का तखमीना (१९४९-५०)
१. बहि शुल्क	१,२६,१५,६७,०००	१,२०,४३,००,०००	१,०६,५४,००,०००
२ संघ आबकारी शुल्क	५०,६२,५९,०००	५९,१९,००,०००	७१,५५,००,०००
३ निगम कर	६२,२५,८६,०००	४०,६०,००,०००	३८,१०,००,०००

४. आय कर	७७,७०,६२,०००	६२,६६,००,०००	८०,५०,००,०००
५. अफीम	६२,४०,०००	१,२८,२०,०००	१,५५,४५,०००
६. अन्य मदें	३,८२,४४,०००	४,७०,८७,०00	६ ६६,४३,०००
७. सिंचाई (Net)	३०,०००	४३,०००	४२,०००
८. डाक-तार (Net)	२,३६ ४३,०००	३,७७,४३,०००	४,०३,५६,०००
९. ऋण	१ ६०,५२,०००	१,३२,१०,०००	१,१४,२१,०००
१०. सिविल प्रशासन	७,०४ १६ ०००	७,१७,२६,०००	७,८६,४७,०००
११. चलार्थ और टकसाल	१२ ६३,२५ ०००	९,९९,०९,०००	९,५२,३१,०००
१२. कर्मशाला इत्यादि	१,२९,८२ ०००	१,१२.६६,०००	१,२६,८०,०००
१३. विविध	२,५२ ६०,०००	३,१० ८३,०००	२,७२,९३,०००
१४. असाधारण मदें	१४,३६,६९,०००	१६,०००	१०,००,०००
योग	३,७१,५९ ८५,०००	३,३२.२६,६४,०००	३०,३१,०८,७४,०००

राज्यों के राजस्व के निम्नलिखित मुख्य साधन हैं—निगमकर, भूराजस्व, राज्य की आबकारी, स्टाम्प, वन, कृषि, रजिस्ट्रेशन, मोटर गाड़ियों के ऐक्ट के अधीन प्राप्तियां, दूसरे कर और शुल्क और सब सरकार द्वारा आरोपित कुछ कर और शुल्कों में भाग। १९५०-५१ के लिए अनेक साधनों से अनुमानित उत्तर प्रदेश की आय इस प्रकार है :—

राजस्व के मुख्य शीर्षक	वास्तविक आँकड़े (१९४७-४८)	दोहराया तखमीना (१९४८-४९)	बजट का तखमीना (१९४९-५०)
१. कारपोरेशन कर के अतिरिक्त आय पर दूसरे कर	६,६१,०६,०००	८,९९,०१,०००	९,३३,१५,०००
२. मालगुजारी	६,९१,२८,९७८	६,७७,७३,३००	६,७८,२४,५००
३. राज्य की आबकारी	७,०५,९७,७०७	६,४२,७४,०००	५,९०,३५,१००
४. स्टाम्प	२,१७,६८ ६२९	२,२५,००,०००	२,२०,००,०००
५. वन	१,८२ ८१,९०५	-,१५,९८ ४००	-,-१,४५ ७००
६. रजिस्ट्री	१७,१७,९१७	-५,६४,२००	२२,००,०००
७. मोटर गाड़ियों के ऐक्ट के अधीन प्राप्तियां	३२.२१,६६६	३२,१७,५००	३६,०९,-००
८. दूसरे कर और शुल्क	२,५१,२८,१७०	८,५०,७९,२००	१०,१४,८८,०००
९. सिंचाई शुद्ध प्राप्तियां	१,७४,९८,२६२	१,४७,५४,३००	२,३६,८२,३००
१०. नागरिक प्रशासन	३,५३,४१ १२७	५,४१,४८,५००	६,८०,८८,८००

११. नागरिक निर्माण-कार्य	१४,७६,५७३	३०,६०,६००	४०,१६,३००
१२. बिजली सम्बन्धी योजना	१०,७०,१२६	३१,६००	१२,६४,६००
१३. विविध	६२,६७,७५७	१,७५,३६,६००	२,३१,६८,५००
१४. असाधारण मदें	५,८०,७८,६०१	४,१५,२३,८००	६,०४,५६,६००
१५. ऋण सम्बन्धी आय-व्यय	२२,०३,०९५	२२,५६,७००	२०,२१,७००
१६. केन्द्रीय और राज्य की सरकारों के बीच विविध अनुदान और अंशदान	३०,६०७	१५,०००	१५,०००
योग राजस्व	३८,७४,४८,८४६	४६,०४,२५,२००	५५,७३,४४,१००

सरकारी कर्मचारी—यह एक मानी हुई बात है कि कोई संविधान चाहे कितना ही अच्छा क्यों न बनाया गया हो, अन्ततोगत्वा इसकी सफलता या असफलता उन लोगों की समझ, योग्यता और सच्चाई पर निर्भर होती है जो इसे कार्यान्वित करते हैं। चाहे संविधान कितना ही पूर्ण क्यों न हो, चाहे विधान मण्डल में कितने ही अनुभवी और गुण-सम्पन्न व्यक्ति क्यों न हों, चाहे मन्त्रि मण्डल ईमानदारी और देश-भक्ति का साक्षात प्रतीक ही क्यों न हो, फिर भी यदि एक देश का प्रशासन चलाने वाले अयोग्य और घूसखोर हैं, तो जनता सुखी नहीं रह सकती। जनता में अशान्ति तभी होती है जबकि सरकारी कर्मचारी, जिनके द्वारा समस्त प्रशासन चलता है, अपने उत्तरदायित्व का पालन नहीं करते। यह भी याद रखना चाहिए कि विधान-मण्डल या मन्त्रि मण्डल दोनों में से कोई भी स्वयं प्रशासन नहीं चलाते। पहला तो कानून बनाता है तथा प्रशासन चलाने के लिये धन राशियों की स्वीकृति देता है और दूसरा केवल नीति निर्धारित करके देश की अनेक समस्याओं के बारे में निर्णय करता है। इन निर्णयों की अन्तिम स्वीकृति भी विधान मण्डल के ही ऊपर निर्भर होती है। विधियों तथा नीतियों को वास्तव में कार्यान्वित करने का भार स्थायी कर्मचारियों के कन्धों पर छोड़ दिया जाता है जो कि जनता के सम्पर्क में आते हैं। प्रत्येक देश में प्रशासन का सुसंचालन और उच्चस्तर इन्हीं लोगों की सच्चाई, सच्चरित्रता, योग्यता और प्रशिक्षण पर निर्भर होता है। इसलिए प्रत्येक शासन प्रणाली में सुयोग्य तथा कार्य कुशल व्यक्तियों को सरकारी सेवा में भर्ती करने का प्रश्न होता है। हमारे संविधान में भी इस ओर काफी ध्यान दिया गया है और कर्मचारियों की भर्ती पदावधि, पदवृद्धि आदि की शर्तों के बारे में कई अनुच्छेद हैं।

लोक सेवा-आयोग—सभी लोक तन्त्रात्मक राज्यों में प्रचलित पद्धति के अनुरूप हमारे देश में भी संघ और राज्यों के लिए एक एक लोक सेवा-आयोग होगा। ऐसा भी विधान है कि यदि दो या दो से अधिक राज्यों के विधान का मण्डलप्रत्येक

सदन इस विषय का प्रस्ताव स्वीकृत कर कि उन राज्यों के लिए एक ही सेवा आयोग होना चाहिए तो इस प्रस्ताव का कार्यान्वित किया जा सकता है। संघ लोक सेवा आयोग से भी कोई राज्य अपना कार्य कराने की प्रार्थना कर सकता है।

संघ और राज्यों के लोक सेवा आयोग का प्रधान कर्त्तव्य सेवा में भर्ती के लिए परीक्षाओं का कराना और उनके परिणाम के आधार पर सफल उम्मेदवारों की नियुक्ति की सिफारिश करना है। यह याद रखना चाहिए कि विभिन्न पदों पर नियुक्ति लोक सेवा आयोग स्वयं नहीं करता अपितु यह काम संघ में राष्ट्रपति तथा राज्यों में राज्यपाल और राज्य प्रमुखों का है। लोक सेवा आयोग तो केवल नामों की सिफारिश करता है। इस भांति इसका कृत्य अधिशासी न होकर केवल परामर्श देने का है। चूँकि कर्मचारियों की भर्ती, भर्ती के सिद्धान्त, योग्यताएँ, बदली और पद-वृद्धि के नियम आदि में लोक सेवा आयोग का परामर्श आवश्यक है इसलिए हम उसे सरकारी सेवाओं का संरक्षक कह सकते हैं। स्मरण रहे कि ब्रिटिश-काल में अखिलभारतीय सेवाओं (All India Services) के लिए भर्ती, नियुक्ति, पदवृद्धि इत्यादि की जिम्मेदारी भारत-मन्त्री के ऊपर थी। वह इस विषय में इण्डिया कौंसिल का परामर्श लेते थे। परिगणित, जन-जातियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के लिए जो संरक्षण दिये जायेंगे उनसे लोक-सेवा आयोग का कोई सम्बन्ध नहीं होगा।

संविधान के द्वारा 'आयोग' के सदस्यों की संख्या निर्धारित नहीं की गई है। इन सदस्यों की वास्तविक संख्या और उनकी सेवाओं की शर्तों का निर्णय राष्ट्रपति, राज्यपाल या राज्य प्रमुख के ऊपर ही छोड़ दिया है। नियुक्ति के पश्चात् सदस्यों के वेतन या सुख सुविधाएँ कम नहीं की जा सकता। आयोग में अनुभवी सदस्यों को लाने के लिए यह आवश्यक कर दिया गया है कि उसमें कम से कम आधे सदस्य ऐसे हों जिन्हें कम से कम १० वर्ष का प्रशासन सम्बन्धी अनुभव हो। इनकी नियुक्ति ६ वर्ष के लिए की जाती है। संघ लोक सेवा आयोग के सदस्य अधिक से अधिक ६५ वर्ष की आयु तक और राज्य-सेवा आयोग के सदस्य ६० वर्ष की अवस्था तक पद ग्रहण कर सकते हैं। सदस्यों में निष्पक्षता और ईमानदारी लाने के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया है कि किसी दूसरे आयोग के सदस्य या अध्यक्ष होने के अतिरिक्त लोक सेवा आयोग का कोई सदस्य सरकार की और कोई नौकरी न कर सकेगा। इनके वेतन और भत्ते संघ और राज्यों की संचित निधि पर भारित होते हैं।

संघ या राज्य के लोक सेवा आयोग के बारे में जो नियम राष्ट्रपति या राज्यपाल अथवा राजप्रमुख बनायेंगे उन्हें सम्बन्धित विधान मण्डलों के प्रत्येक सदन के समक्ष विचार के लिए रखा जायेगा। प्रत्येक आयोग का कर्त्तव्य होगा कि आयोग द्वारा

किये गये काम के बारे मे प्रतिवर्ष उस सरकार के प्रमुख—राष्ट्रपति, राज्यपाल या राज प्रमुख को प्रतिवेदन (Report) दें । ऐसे प्रतिवेदन के मिलने पर सरकारी प्रमुख उन मामला के बारे मे जिन में कि आयाग का परामश स्वीकार नहीं किया गया ऐसी अस्वीकृति के लिए कारणों को स्पष्ट करने वाले ज्ञापन (Memorandum) के सहित उस प्रतिवेदन की प्रतिलिपि ससद के प्रत्येक सदन के सामने रखायेंगे। आयोग का परामर्श स्वीकार न करने पर सरकार को अस्वीकृति के कारणो को स्पष्ट करना पड़ेगा। कदाचार, दिवालियेपन, अपने पद के अतिरिक्त कोई और वैतनिक पद स्वीकार करने या मस्तिष्क या शरीर के बेकार होने के कारण राष्ट्रपति, राज्यपाल या राजप्रमुख, आयाग क सदस्यों का पद से हटा सकते है। कदाचार का दोषारोप उच्चतम न्याया लय के पास अनुसधान (Investigation) के लिए भेज दिया जायेगा और उसकी सिफारिश पर ही किसी सदस्य को पद से हटाया जायेगा। इस प्रकार सेवाओं के सरक्षण और लोक सेवा आयाग का स्वाधीन और निष्पक्ष बनाने का पूरा पूरा प्रयास किया गया है।

सेवाएँ—लोक सेवाओं का मोटे रूप से दो विभागों में बाँटा जा सकता है (१) रक्षा बल (२) नागरिक सेवाएँ। सविधान मे देश के रक्षाबलो की भर्ती पदवृद्धि आदि के बारे मे कोई जिकर नही है। यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति सभी सेनाबलो के सर्वोच्च समादेष्टा (Supreme Commander) होने के नाते, इन विषयों का निर्णय करेगे। लोक सेवा आयाग तो केवल असैनिक सेवाओं से ही सम्बन्धित है।

राष्ट्रीय स्वतत्रता प्राप्त करने के साथ साथ देश के सशस्त्र-बलों की दशा में आमूल परिवर्तन हुआ है। ब्रिटिश राज्य काल मे रक्षाबला को दो भागो मे बाँटा गया था। एक भाग में भारतीय सिपाही थ जिनके अफसर अधिकतर अ गरेज होते थ और दूसरे भाग मे अ गरेज सिपाही। भारतीय सिपाही अधिकतर उत्तर के प्रान्तो और रियासतो से छाँट जाते थ और वे भी जनसख्या के एक सकुचित विभाग अर्थात् युद्धप्रिय जातियो मे। जनसख्या के एक बहुत बड़े भाग का सेना से बहिष्कार, उच्च पदो पर पहुचने के अवसरों का न मिलना, 'नेवी' आरटिलरी या वायु सेना मे भारतीयो का न लिया जाना—यह सब बातें पहले महा युद्ध के बाद तक भारतीय सेना की मुख्य विशेषताएं थीं। दूसरे महायुद्ध के दबाव से कुछ अ श तक इन कमियो का दूर किया गया। सेना का बहुत अधिक विस्तार कर दिया गया। और इसमें प्राय सभी जातियों के लोग लिये जाने लगे। जब १६४५ ई० मे युद्ध समाप्त हुआ तो भारतीय सेना मे लगभग एक तिहाई भारतीय अफसर थे। भारत की एक नौसेना और एक वायु सेना बनी और बहुत से भारतीयो ने सेनाओं की प्रौद्योगिक (Technical) शाखाओं में स्थान ग्रहण

किया। आजादी मिलने के बाद यह प्रवाह और भी आगे बढ़ा है। अब एक इत्यादि, योग्य और समझदार नवयुवक देश के सशस्त्रदलों में ऊँचे से ऊँचा पदाधिकारी बन सकता है। इस समय हमारा राष्ट्र एक सुदृढ़ नौसेना और वायु सेना बनाने में संलग्न है।

जैसा कि पहिले ही संकेत किया जा चुका है अनेक सेवाओं की नियुक्तियाँ संघ और राज्य के लोक सेवा आयोगों के परामर्श से होती है। इन सेवाओं को तीन समूहों में विभाजित किया जा सकता है (१) अखिल भारतीय सेवायें। ब्रिटिश राज्य काल में इस प्रकार की सेवाओं की भर्ती और नियन्त्रण भारत मंत्री करते थे। वर्तमान समय में अखिल भारतीय सेवाओं को कायम रखने का उद्देश्य डा० अम्बेदकर के उस भाषण से प्रकट हो जाता है जो उन्होंने संविधान सभा के सामने दिया था। "सभी संघात्मक राज्यों में फेडरल सिविल सर्विस और स्टेट सिविल सर्विस होती हैं। भारतीय संघ के दुहरेशासन में दुहरी सेवा होगी परन्तु एक अपवाद के साथ। यह सर्वमान्य है कि प्रत्येक देश की प्रशासी व्यवस्था में कुछ ऐसी विशेष जगह होती हैं जिन्हें प्रशासन का उच्च स्तर कायम रखने के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। प्रशासन का स्तर उन सेवकों की बुद्धिमता पर निर्भर है जिनकी इन महत्त्वपूर्ण जगहों पर नियुक्ति होती है। संविधान में ऐसा निर्देश है कि राज्यों का अपनी अपनी सेवाओं का संगठित करने का हक उनके पास रहते हुए भी एक अखिल भारतीय लोक सेवा होगी जिसकी भर्ता सारे देशभर में हो सकती है जिनके लिये समान योग्यतायें होंगी, वेतन का एकसा ही माप-दण्ड होगा और केवल उन्हीं के सदस्य समस्त संघ के महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त हो सकेंगे।" परन्तु जबकि १९४७ ई० से पहिले बहुत सी अखिल भारतीय सेवाएं थीं (जैसे—इण्डियन सिविल सर्विस, इण्डियन मैडिकल सर्विस, इण्डियन सर्विस ऑफ इन्जीनियर्स, इण्डियन पुलिस सर्विस) नई व्यवस्था में केवल दो अर्थात् इण्डियन ऐडमिन्स्ट्रेटिव सर्विस और इण्डियन पुलिस सर्विस, होंगी। परन्तु राज्य परिषद् को यह अधिकार दिया गया है कि विधि द्वारा ऐसी नई अखिल भारतीय सेवाओं का जो संघ और राज्यों के लिए उभयनिष्ठ हों, प्रश्रय दे, ऐसी सेवाओं के लिए भर्ता के नियम बनाये और उनकी शर्तों का निर्धारित करे। इस प्रकार का कानून दो तिहाई बहुमत से पारित होना चाहिए।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भविष्य में अखिल भारतीय सेवाओं में भारतीय ही भर्ता हो सकेंगे। अब वे दिन गये बीते हो गए जबकि इनमें सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर विदेशियों को रखा जाता था।

(२) सब सेवाएँ भारत के लोक सेवा आयोग की दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। ब्रिटिश राज्य-काल में इनके स्थान पर फेडरल सर्विस था। इनके लिए तथा

अखिल भारतीय सेवाओं के लिए राष्ट्रपति संघ-लोक सेवा आयोग की सिफारिश से नियुक्तियां करते हैं। सेवकों की पदावधि राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में, इन्हें बिना किसी कारण के पद से नहीं निकाला जा सकता। इन सेवाओं में किसी भी व्यक्ति को न पद च्युत किया जा सकता है और न उसकी पदवी कम की जाती है जब तक कि दोषारोप के विरुद्ध उसे अपनी स्थिति स्पष्ट करने का पूर्ण अवसर न दे दिया जाये और जब तक उसका दोष पूर्ण रूप से सिद्ध न हो जाये।

संघ सेवाओं में भारत सरकार की प्रशासी विभागों से सम्बन्ध रखने वाली अग्रलिखित प्रकार की सेवाएँ हैं :—परराष्ट्र और राजनैतिक विभाग, बहि:शुल्क विभाग, लेखा परीक्षा (Audit) विभाग, वित्त विभाग, डाक और तार, रेलवे, आय कर आदि, भारतीय प्रशासी सेवाओं के सदस्य भी इन विभागों के बड़े से बड़े पदों पर नियुक्त हो सकते हैं।

(३)**राज्य लोक सेवाएं**— सरकारी कर्मचारियों की तीसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जो विभिन्न राज्यों में सेवा करते हों और जिनके ऊपर राज्यपाल का सामान्य नियन्त्रण रहता है। राज्य के लोक सेवा आयोग की सिफारिश पर इनकी नियुक्ति राज्यपाल या राज प्रमुख करते हैं। राज्यपाल या राज प्रमुख के प्रसाद-पर्यन्त ही ये पद धारण करेंगे। ऊपर लिखी बात का यह अर्थ नहीं कि एक राज्य के अधीन सभी पदाधिकारी राज्य की लोक सेवा के सदस्य हैं। ऊँचे और जिम्मेदार पदों का धारण करने वाले व्यक्ति, जैसे डिवीजनल कमिश्नर, डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट, इन्सपक्टर जनरल आफ पुलिस और सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस, भारतीय प्रशासी और पुलिस सेवाओं के सदस्य होते हैं। डिप्टी कलक्टर, सिविल सर्जन, इन्सपेक्टर आफ स्कूल्स, डाइरेक्टर आफ एज्यूकेशन, डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट आफ पुलिस, तहसीलदार आदि के पद राज्य की लोक सेवा के अन्तर्गत आते हैं। संविधान ने सेवाओं को कई श्रेणियों में नहीं बाँटा है परन्तु उन्हें राज्य की उच्च और अधीन सेवाओं में श्रेणी बद्ध किया जा सकता है। डिप्टी कलक्टर, डिस्ट्रिक्ट इन्सपेक्टर आफ स्कूल्स, सिविल और असिस्टेन्ट सर्जन, डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस, सिविल जज, गवर्नमेन्ट स्कूल के हेडमास्टर और प्रिन्सपल वगैरह उच्च श्रेणी में आते हैं, तहसीलदार, सब असिस्टेन्ट सर्जन, असिस्टेन्ट मास्टर, सब इन्सपक्टर आफ पुलिस, ऐक्साइज इन्सपेक्टर इत्यादि निम्न श्रेणी में सम्मिलित किये जा सकते हैं। ये दोनों श्रेणियां वेतन, पद वृद्धि आदि के अनुसार (Scales) में भिन्न भिन्न हैं। निम्न श्रेणी के पदाधिकारियों में से अधिक योग्य और कार्य-कुशल व्यक्तियों की, पद से निवृत्त होने से पहिले, उच्च-श्रेणी के लिए पद-वृद्धि हो सकती है।

अध्याय १६

जिले का प्रशासन

परिचयात्मक—ब्रिटिश भारत मे शासन की प्रणाली साधारणत इस सिद्धान्त पर आधारित है कि पूरे क्षेत्रफल को एक दूसरे से निरन्तर छोटे होते जाने वाले क्षेत्रों में बाँट दिया गया है और इन क्षेत्रों के अफसर क्रम से छोटे होते गये है। प्रान्त, जिसके शासन-सम्बन्धी प्रधान गवनर हैं, अनेक इकाइयो मे विभाजित है, जिन्हे जिला कहते हैं और प्रत्येक जिला जिलाधीश और कलक्टर के अधीन रहता है। प्रत्येक जिला फिर छोटे-छोटे क्षेत्रों मे विभाजित है, जिन्हे तहसील कहते हैं और प्रत्येक तहसील तहसीलदार या मामलातदार के अधीन रहती है। प्रत्येक तहसील मे कई गाव सम्मिलित रहते हैं। प्रत्येक गॉव में पटवारी, नम्बरदार या पाटिल तथा चोकीदार सरकारी कर्मचारी रहते हैं। गाव के अधिकारी तहसील अधिकारियों के अधीन रहते हैं, जो स्वय जिले के कलक्टर के अधीन है। कलक्टर अपने से ऊचे अफसरों—सब प्रान्तो मे कहे जानेवाले डिवीजनल आयुक्त तथा अन्त मे गवनर के अधीन रहते है। प्रत्येक प्रशासनिक क्षेत्र एक अफसर के अधीन है और यह अफसर अपने से अधिक शक्तिवाले अफसर के अधीन है और इस प्रकार शासन के पूरे ढाँचे की तुलना एक पिरामिड से की जा सकती है, जिसके सर्वोच्च स्थान पर सरकार आसीन है। प्रशासन की कर्यान्विति का कार्य बडे अफसरों द्वारा छोटे अफसरो की निरन्तर देख भाल पर निर्भर है। ये बडे अफसर अपना नियन्त्रण अनेक प्रकार से लागू करते है। दफ्तरों का स्तर क्रम से ऊचा होता गया है, और नौकरियों के भी एक से दूसरे मे पद-वृद्धि के साथ अनेक स्तर हैं।*

इस शासन प्रणाली मे जिले का केन्द्रीय तथा धुरीय स्थान है। यह शासन की इकाई या 'शासन के पूरे ढाचे की आधारशिला है'। ब्रिटिश भारत मे विभिन्न क्षेत्रफल तथा जनसख्या के २७७ जिले थे। सब मे छोटा जिला १५०० वर्गमील से थोडा कम था। किन्तु सबसे बडे का क्षेत्रफल ६,००० वर्गमील से भी अधिक था। एक विशेषज्ञ के अनुसार जिले का औसत क्षेत्रफल ४,०७५ वगमील है, एक दूसरे अन्य विशेषज्ञ के अनुसार ४,४३० वर्गमील और औसत जनसख्या दस लाख है।

---

* मार्डन इण्डिया सर जान कमिग द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ७।

जिले के अफसर—प्रत्येक जिले के हेडक्वार्टर पर लगभग प्रत्येक सरकारी विभाग का एक जिला प्रधान रहता है। मेडिकल विभाग के प्रधान के रूप में सिविल सर्जन, पुलिस के प्रधान के रूप में पुलिस कप्तान, न्याय विभाग के प्रधान के रूप में जिला और सेशन जज, पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट के प्रधान के रूप में एग्जीक्यूटिव इञ्जीनियर और इन सब में अधिक महत्वपूर्ण जिलाधीश और कलक्टर है, जिसके जिम्मे लगान वसूल करने तथा जिले में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित रखने का उत्तरदायित्व है। आजकल प्रत्येक जिले के लिए एक इन्सपेक्टर आव स्कूल्स, सप्लाई अफसर, राशनिंग अफसर तथा एक हाउस कण्ट्रोल अफसर भी होता है। प्रत्येक जिले में एक जिला जेल होता है, जो जेल सुपरिण्टेण्डेण्ट के अधीन रहता है। इन जिला अधिकारियों में से प्रत्येक अपने विभाग के प्रान्तीय प्रधान के अधीन रहता है।

जिलाधीश और कलक्टर—जिला विभागों के प्रधानों में जिलाधीश और कलक्टर का स्थान सबसे अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली है। उत्तरदायित्व उसमें असाधारण अंश तक केन्द्रित है। राज्य-शक्ति का वह जिले में प्रमुख प्रतिनिधि था और उसके अधिकांश निवासियों की दृष्टि में वही सरकार है। उसकी ओर लोग केवल अपनी शिकायतों के निराकरण तथा अपने साथ रहनेवालों के अन्याय से रक्षा के लिए ही नहीं देखते, अपितु बाढ़ों, अकालों, तूफानों, टिड्डियों तथा अन्य प्राकृतिक विपत्तियों द्वारा उत्पन्न की हुई मुसीबतों से छुटकारे के लिए भी। गरीब तथा बेपढ़े लोग उसे 'सरकार', 'माई बाप' नामों से सम्बोधन करते रहे हैं। लोगों से सम्पर्क रखने तथा जिले की साधारण दशा से अपने को अवगत रखने के लिए सरकार उस पर तथा उसके अधीन काम करनेवालों के ऊपर निर्भर रहती है। 'अपने जिले में वह प्रान्तीय सरकार की आँखें, कान, मुख तथा हाथ है'।* और उसके सामान्य प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। इस प्रकार वह सरकार तथा ग्रामीण जनता के बीच कड़ी है।

इस पद पर साधारणतः इण्डियन सिविल सर्विस का एक सदस्य आसीन रहता था। कभी कभी प्रान्तीय सिविल सर्विस के सदस्य भी अपनी नौकरी के अन्तिम भाग में इस पद पर आसीन कर दिये जाते हैं। कुछ प्रान्तों, जैसे पंजाब में, वह डिप्टी कमिश्नर कहा जाता है। जैसा कि उसकी उपाधि से प्रदर्शित होता है, उसकी शक्ति दोहरी है। कलक्टर के रूप में वह लगान एकत्रित करनेवाले संगठन का प्रधान है और भूमि तथा लगान सम्बन्धी मामलों से सम्बन्धित होने के साथ-साथ वह किसानों की भलाई से सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओं से भी सम्बन्धित है। वह शराब और अफीम तथा चरस जैसे मादक द्रव्यों के विक्रेताओं को लाईसेन्स देता तथा आबकारी भट्ठियों की भी देख भाल करता है। वह जंगलों तथा गैर-खेतिहर भूमि से लगान

* पार्लमेंड इण्डियन ऐडमिनिस्ट्रेशन पृष्ठ, ३५१

एकत्रित करने के लिए भी उत्तरदायी है। उसे अकाल में सहायता, किसानों को कर्ज, कर्जदार रियासतों की देख भाल, जायदाद के परिवर्तन तथा विभाजन, और रजिस्ट्रेशन की भी देख भाल करनी पड़ती है। रजिस्ट्री करनेवाला विभाग भी उसके आधिपत्य में रहता है। जिले में कोई महामारी फैलने पर उसे इसे दूर करने के ढंग की उपयुक्तता की देख भाल करनी पड़ती है। उसके जिम्मे खजाने की देख भाल भी है और हिसाब की देख भाल तथा बहुमूल्य वस्तुओं की सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी उसी पर है। नगरपालिकाओं (Municipalities), जिला मण्डलियों (Dis trict Boards) तथा ग्राम पंचायतों के सम्बन्ध में भी उसके कुछ अधिकार थे, जो अब बहुत कम कर दिये गये हैं। इस प्रकार उसके कर्त्तव्य बहुमुखी हैं।

जिलाधीश के रूप में भी उसके कार्यपालिका तथा न्यायसम्बन्धी (Executive and Judicial) कर्त्तव्य उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। न्याय अफसर के रूप में उसे प्रथम श्रेणी के दण्डाधीश के अधिकार रहते हैं और वह दो वर्ष की सजा दे सकता है तथा कुछ जुर्माना भी कर सकता है, जो एक हजार रुपयों से अधिक नहीं हो सकता। जिले के थर्ड तथा सेकिंड दर्जे के दण्डाधीशों के निर्णयों के विरुद्ध वह अपील भी स्वीकार कर सकता है। व्यवहार रूप में वह फौजदारी के मामले स्वयं नहीं देखता, बल्कि उन्हें किसी अन्य प्रथम दर्जे के दण्डाधीश के सुपुर्द कर देता है। जिलाधीश के रूप में उसके कार्यपालिका सम्बन्धी कर्त्तव्य कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और इन्हीं में उसका पर्याप्त ध्यान तथा समय व्यतीत होता है। वह जिले के सभी मजिस्ट्रेटों के कार्य का निरीक्षण करता है तथा फौजी न्याय के शासन पर नियन्त्रण रखता है। उसके प्रभाव क्षेत्रों में वह प्रमुखतया शान्ति और व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है। इस कार्य के लिए जिले की सारी पुलिस उसके आदेश तथा नियन्त्रण में रहती है। जिले के सभी पुलिस अफसरों को उसके आदेशों का पालन करना पड़ता है। जिले की शान्ति भंग कर सकनेवाले हिंसात्मक तथा अहिंसात्मक कार्यों जैसे साम्प्रदायिक दंगे, चोरी और डकैती, सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा शान्ति एवं व्यवस्था भंग करनेवाले अन्य कार्यों की रोक-थाम के लिए पुलिस कप्तान को उसकी सहायता करनी पड़ती है। वह जुलूसों तथा जन सभाओं पर प्रतिबन्ध तथा कर्फ्यू आर्डर लागू कर सकता है। अस्त्रशस्त्र रखने के लिए वह आर्म्स ऐक्ट के अनुसार लायसेन्स पर भी नियन्त्रण रखता है। पुलिस कप्तान का यह कर्त्तव्य है कि व्यक्तिगत बातचीत, तथा जिले की शान्ति एवं जुर्म से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण मामलों के सम्बन्ध में विशेष रिपोर्टों द्वारा उसे पूरी जानकारी रहती है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि पुलिस विभाग के आतरिक प्रशासन तथा उसके अनुशासन से जिलाधीश का कोई सम्बन्ध नहीं है। ये चीजें पुलिस कप्तान के एक मात्र अधिकार-क्षेत्र में सम्मिलित हैं। शान्ति तथा सुव्यवस्था की रक्षा के लिए ये

दोनों अफसर एक दूसरे से अधिकतर सहयोग करते है। यहाँ यह जिक्र कर देना उपयुक्त है कि जिलाधीश जेल का महीने मे कम से कम एक बार निरीक्षण करता तथा आनरेरी मजिस्ट्रेटो की नियुक्ति और उपाधि प्रदान इत्यादि के लिए सरकार से लोगों के नामो की सिफारिश करता है।

हालाकि जिलाधीश का जिले के अन्य विभाग प्रधानो के कार्यो से कोई सीधा सम्बन्ध नही है, उनमे से प्रत्येक अपने विभाग के प्रान्तीय प्रधान के नियन्त्रण मे रहकर उसकी देख भाल के लिए स्वतन्त्र है, फिर भी उन्हे अपने विभाग के प्रमुख कार्यों से जिलाधीश को अवगत रखना पड़ता है, क्योंकि सरकारी मशीन की कार्यविधि से उनका कोई-न-कोई सम्बन्ध अवश्य रहता है। जिलाधीश इस प्रकार एक पूरक अफसर के रूप मे कार्य करता है। इस सम्बन्ध मे मांटफोर्ड रिपोर्ट के निर्माताओं के निम्नलिखित विचार दिलचस्प होगे। 'सिंचाई, सड़को तथा इमारतो, खेती, उद्योग धन्धों, कारखाना तथा सहकारी समितियो इत्यादि के प्रबन्ध की भाँति अन्य अनेक कार्य होते है, जिनका अपना सेवक-मण्डल होता है। इन सब पर जिला अफसर का नही, अपितु उनके अपने विभाग प्रधानों का नियन्त्रण रहता है। सरकार को जनता से सम्बन्धित करने वाला इन्हे विभिन्न धागों का समूह माना जा सकता है। लेकिन इन सभी विषयों की नीति पर जिला अफसर का विभिन्न अंशों में प्रभाव पडता है और अपनी सहायता देने तथा आवश्यकता पडने पर किसी विशेष सेवा विभाग तथा जनमत के बीच माध्यम बनने के लिए वह सदा पृष्ठ भूमि मे वर्तमान रहता है'।

जिले के सभी विभाग प्रधानो की अपेक्षा जिलाधीश और कलक्टर जनता के अधिक सम्पर्क मे आता है। जिले के किसी अन्य अधिकारी की अपेक्षा उसके कार्यो का जनता के हितो पर अधिक प्रभाव पड़ता है। इसलिए उसे वर्ष का समुचित भाग कैम्प तथा अपने प्रभाव क्षेत्र के सभी भागो का दौरा करने मे बिताना पड़ता है। दौरा करते समय ही उसे जनता तथा उसकी समस्याओं का सच्चा ज्ञान तथा स्थिति की वास्तविकता से उसका सम्पर्क होता है। कलक्टर के कैम्प जीवन का बहुत बड़ा महत्त्व है उसकी उपेक्षा ठीक नहीं।

जिलाधीश के बहुमुखी कर्तव्यों तथा शक्तियो के ऊपर दिये विवेचन से उसके पद का महत्व स्पष्ट हो जाना चाहिए। सरकार का यह सब से प्रमुख अफसर है, यही वह धुरी है, जिस पर सारा शासन घूमता है। जिला अफसरो की नियुक्ति, नौकरी की शर्तों, तरक्की इत्यादि पर नियन्त्रण रखने के लिए ब्रिटिश सरकार यदि व्यग्र रहती थी तो कोई आश्चर्य नहीं।

कार्यपालिका तथा न्यायिक सम्बन्धी कार्यों की अभिन्नता जिलाधीश और कलक्टर की बड़ी शक्ति तथा प्रतिष्ठा के स्रोतो मे से एक है। जिले की शान्ति तथा व्यवस्था

की स्थापना के लिए उत्तरदायी अफसर के रूप में वह किसी व्यक्ति को जनता की शान्ति के लिए खतरा बताकर गिरफ्तार कर सकता है। जिले के दण्ड-न्याय के शासन पर निगरानी रखने वाले के रूप में वह मुकदमों में दिये गये निर्णय पर प्रभाव डाल सकता है। जेल का निरीक्षण करने वाले के रूप में उसे यह देखने का अधिकार है कि कैदी के साथ कैसा व्यवहार हो रहा है। इस प्रकार वह समन्वित रूप से गिरफ्तार करने वाला, जज तथा जेलर है। जिलाधीश के व्यक्तित्व में कार्यपालिका तथा न्याय सम्बन्धी कार्यों की एकता से राजनैतिक मुकदमों में न्याय एक बहुत कठिनता से प्राप्त होने वाली वस्तु बन गयी है। भारतीय जनमत इन दो प्रकार के कार्यों को एक दूसरे से अलग करने के लिए सगठित रूप में माँग करता चला आ रहा है। सुधार करने के मार्ग में राजनैतिक कारण बाधक बन जाते हैं। किन्तु नये विधान के अनुसार फौजदारी मामले तय करने वाले मजिस्ट्रेट की नियुक्ति, बदली तथा पदवृद्धि कार्यपालिका के हाथों से लेकर हाईकोर्ट के अधिकार में कर दी गयी है और इस प्रकार कार्यपालिका तथा न्यायपालिका सम्बन्धी कार्यों को अलग करने की माँग को पूरा करने का प्रयत्न किया गया है।

जिले के टुकड़े—प्रशासन की सुविधा के लिए प्रत्येक जिला अनेक छोटे छोटे टुकड़ों में विभाजित है जिन्हें उत्तर प्रदेश में तहसील कहते हैं। जिले का कलक्टर और मजिस्ट्रेट इनमें से प्रत्येक टुकड़े का प्रशासन अपने अधीन काम करनेवाले अनेक व्यक्तियों की सहायता से करता है, जिनमें से कुछ जिले के हेडक्वार्टर पर रहते हैं तथा कुछ विभिन्न टुकड़ों के हेडक्वार्टरों पर। इस अधीन रहने वाले टुकड़े का अफसर, या तो प्रान्तीय सिविल सर्विस का सदस्य होता है, जिसे Deputy Collector या इण्डियन सिविल सर्विस में नया भर्ती होने वाला अफसर जिसे असिस्टेण्ट कलक्टर कहते हैं। वह अपने मण्डल का प्रशासन अपने से ठीक ऊपर से जिला-अधिकारी के अधीन रहकर करता है और अपने इलाके में उसी प्रकार के कार्यों की पूर्ति करता है, जैसा कि उससे ऊंचा अधिकारी जिले में। वह जमीन की लगान के प्रशासन की देख भाल करता तथा प्रथम दर्जे के मजिस्ट्रेट की शक्तियों का उपयोग करता है। उसके नीचे तहसील तथा नायब तहसीलदार जैसे अन्य लगान अफसर भी हैं। तहसीलदार सामान्यत द्वितीय दर्जे के मजिस्ट्रेट की शक्तियों का उपयोग करता है। तहसीलदार का अपनी तहसील में वही स्थान है, जो कलक्टर का जिले में। तहसील अनेक परगना में विभाजित रहती हैं, जिनमें से प्रत्येक में एक कानूनगो रहता है। प्रत्येक कानूनगो के नीचे अनेक पटवारी रहते हैं। लगान का सब से छोटा अफसर पटवारी है, जिसके अधिकार-क्षेत्र में कुछ गाँवों का एक समूह रहता है। यही वह आधार निर्मित करता है, जिस पर लगान सम्बन्धी प्रशासन का सारा ढाँचा खड़ा किया जाता है।

प्रशासन की सबसे छोटी इकाई गाव है। भारत की लगभग ७०% जन-संख्या सात लाख गाँवों मे रहती हैं जो समस्त देश मे फैले हुए हैं। प्राचीन काल में गाँवों को पर्याप्त सीमा तक स्थानीय शासन मिला हुआ था। वे स्वायत्त शासन पूर्ण छोटे-छोटे प्रजातन्त्र थ। ब्रिटिश आगमन ने वह सब परिवर्तन कर दिया और आज वे केवल शहरों के लिये जीवित हैं। अपने आप में पूर्ण रहने की उनकी प्राचीन परम्परा बडी शीघ्रता से समाप्त हो रही है और सगठित जीवन के रूप मे उनकी प्रमुख विशेषता अब नहीं रही। ग्राम पञ्चायतों की सहायता से इसे पुनर्जीवित करने के लिये अतीत में प्रयत्न हुए हैं। हमारा फिलहाल सम्बन्ध ग्राम प्रशासन से है। प्रत्येक बड़े गाव का एक प्रमुख होता है जिसे उत्तरप्रदेश मे मुखिया, पजाब में लम्बरदार तथा बम्बई मे पाटिल कहते हैं। वह गाव की जन-सम्बन्धित सभी बातों के लिये उत्तरदायी है। वह गाव की व्यवस्था की देखभाल करता, जमीन का लगान एकत्रित करके जिले के खजाने में जमा करता पुलिस को बदमाशों की उपस्थिति की सूचना देता तथा उन्हें गाँव से बाहर कर देता है। सरकार के सभी आदेश उसी के द्वारा प्रसारित किये जाते है। गाव मे दौरा करने वाले सरकारी अफसरों की आवश्यकताओं की भी वही देखभाल करता है। उसके अतिरिक्त गाँव में पटवारी और चौकीदार भी रहते हैं।

डिवीजनल कमिश्नर—अब तक हम जिले तथा उसके टुकडों तहसील, परगना, गाँव का विवेचन करते रहे। जिले से भी वृहत प्रशासन की एक इकाई है जिस पर ध्यान देना आवश्यक है। अधिकतर राज्य मे, सब मे नहीं, अनेक जिलों का एक ग्रुप बना लिया जाता है जिसे डिवीजन कहते हैं। उत्तर प्रदेश मे छः ६ डिविजन हैं। इनमें से प्रत्येक इण्डियन सिविल सर्विस के एक पुराने अधिकारी के अधीन रहता है जिसे कमिश्नर कहते हैं। वह अपने डिविजन के कलक्टरों के कार्यों की देख भाल करता तथा उनके तथा प्रान्तीय सरकार के बीच सम्पर्क तथा माध्यम की कड़ी का काय करता है। जिले के प्रशासन पर कलक्टरों द्वारा दी हुई योजनाओं के सम्बन्ध मे वह उचित कार्यवाही के लिये सरकार को परामर्श देता है और इस बात की निगरानी भी रखता है कि वे सरकार की नीतियों को व्यवहार रूप में परिणत करते हैं। कुछ प्रान्तों जैसे उत्तर प्रदेश मे वे नगर जिला-मडलियों तथा अन्य स्थानीय सस्थाओं पर नियन्त्रण रखते हैं विशेषत उनके बजट पर। अब उनके अधिकारों मे बडी कमी हो गयी हैं। लगान सम्बन्धी मामलो में जिला कलक्टरों के निर्णयों पर कमिश्नर अपील भी सुनता है देश का जन मत इस पद को जारी रखने के पक्ष में नहीं है और वह इसका विघटन चाहता है। यह भारतीय सिविल सर्विस का बड़ा आकर्षक पद था और भारत मन्त्री की अनुमति के बिना पद विघटित नहीं किया जा सकता था इसके शीघ्र विघटन की अभी कोई आशा नहीं है।

स्थानीय स्वशासन

परिचयात्मक—ग्राम पंचायतों को छोड़कर संविधान में स्थानीय स्वशासी संस्थाओं का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। तथापि, एक देश की शासन व्यवस्था की व मजबूत कड़ियां होती हैं। आज कल कार्यपालिका, विधानमण्डल और न्यायपालिका के साथ उन्हें भी शासन का एक अंग माना जाता है। इस सूची में मामा न्यस. लोकसेवा, सिपाहियों और राजनीतिक दलों को भी शामिल कर लिया जाता है। इसके अतिरिक्त स्थानीय स्वशासन के प्रयोग से ही एक देश सर्व श्रेष्ठ रीति से लोकतन्त्रात्मक प्रणाली को ग्रहण कर पाता है। अतएव यह बहुत आवश्यक प्रतीत होता है कि अपने देश की स्थानीय स्वशासन पद्धति के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहे जायें।

स्थानीय स्वशासन का विकास—कभी कभी यह दावा किया जाता है कि भारत में स्थानीय स्वशासन की स्थापना ब्रिटिश राज्य की देन है। एक प्रकार से यह बात ठीक भी है, इससे पहिले नगरपालिका या जिलामण्डलों की भांति हमारे देश में कोई संस्था न थी। दूसरे दृष्टिकोण से यह दावा सरासर झूठा है। भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों का कथन है कि हमारे देश में बहुत प्राचीन काल से ग्राम पंचायतों के रूप में वास्तविक और शक्ति सम्पन्न स्थानीय स्वशासी संस्थाएं रहती चली आई हैं। सर चार्लस मेटकॉफ ने १८३० ई० में इस प्रकार लिखा है, "ग्राम्य संस्थाएं छोटे-छोटे गणतन्त्र हैं, जिनमें उनकी निजी आवश्यकताओं की सभी वस्तुएं विद्यमान हैं और जो प्राय बाह्य सम्बन्ध से मुक्त (स्वावलम्बी) हैं"। ग्राम्य संस्थाओं के इस संघ ने, जिसमें प्रत्येक (ग्राम्य संस्था) एक छोटा सा राज्य है, भारतीय जनता को, मेरा विचार है, सभी क्रान्तियों और परिवर्तनों में, जिनमें से होकर उसे गुजरना पड़ा है, सुस्थिर रखने में सब से अधिक सहायता प्रदान की है और इससे ही, बहुत कुछ अंश में, भारत की (प्राचीन) खुशहाली, स्वतन्त्रता, अथवा स्वाधीनता को योग दिया है। *

---

* The village communities are little republics having nearly everything they can want within themselves and almost independent of foreign relations .... This union of village communities each one forming a little state in itself

ये ग्राम्य संस्थाएं एक सिद्धान्त पर आश्रित थीं जो आज कल नहीं स्वीकार किया जाता—किसी व्यक्ति के कार्यों या दुष्कृत्यों के लिए पूरी संस्था उत्तरदायी थी। आज कल की संस्थाओं की भांति ये निर्वाचित संस्थाएं न थीं। ब्रिटिश साम्राज्य की छाया के साथ आने वाले नये विचारों और प्रभावों की चोट से अन्य प्राचीन संस्थाओं के साथ साथ उनका भी ह्रास हो गया। हमारी आधुनिक ग्राम पंचायतें, आधुनिक परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए, प्राचीन पद्धति को पुनर्जीवित करने के लिए बनाई गई हैं।

स्थायी स्वशासन एक प्रतिनिधि संगठन, निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी, प्रशासन और कर लगाने की पर्याप्त शक्ति रखने वाला, उत्तरदायित्व के प्रशिक्षण के लिए एक पाठशाला, और एक देश की शासन शृंखला की एक मजबूत कड़ी होने के नाते, भारत में ब्रिटिश राज की देन है और इसका शनैः शनैः विकास हुआ। यह पूर्ण परिपक्व अवस्था का तो कहना ही क्या, इसे यहाँ उतनी भी सफलता नहीं मिली जितनी कि इंगलैण्ड तथा दूसरे देशों में।

भारत में आधुनिक स्थानीय स्वशासन का इतिहास मद्रास के प्रेसीडेन्सी (महा प्रान्तीय) टाउन से प्रारम्भ होता है जहाँ भी १६८७ ई० में एक रायल चार्टर द्वारा एक निगम (Corporation) अंगरेजी टाउन कारपोरेशन के नमूने पर बनाया। इसके पश्चात् बम्बई और कलकत्ता नगरों में भी इस प्रथा के निगम बनाए गये। स्थानीय स्वशासन का प्रयोग बहुत समय तक इन्हीं तीन नगरों तक सीमित रहा। १८४२ ई० में पहली बार इसे बंगाल के दूसरे नगरों तक फैलाने का प्रयास किया गया। उस वर्ष एक अधिनियम इस विचार से पारित किया गया कि किसी जगह के निवासियों को सार्वजनिक स्वास्थ्य और सुविधाओं के लिए रुपया इकट्ठा करने व व्यय करने का अधिकार मिले। बाद में इस ऐक्ट का निरसन (Repeal) कर दिया गया और १८५० में एक और अधिनियम बनाया गया जो कि समस्त ब्रिटिश भारत पर लागू किया गया। अतएव हम कह सकते हैं कि १८५० के ऐक्ट ने नगर क्षेत्रों के लिए नगरपालिकाओं के विकास क्रम के दूसरे युग का श्री गणेश किया।

यह कहा जा सकता है कि स्थानीय स्वशासन का वास्तविक शिलान्यास १८७० ई० में लार्ड मेयो की सरकार के प्रान्तीय वित्त सम्बन्धी एक प्रस्ताव के द्वारा हुआ। इसमें इस आवश्यकता की ओर संकेत किया गया कि शिक्षा, सफाई, औषध, सहायता और

has I conceive contributed more than any other cause and the preservation of the people of India through all the revolutions and changes which they have suffered and is in a high degree conducive to their happiness and to the enjoyment of a great portion of freedom and independence

स्थानीय सार्वजनिक निर्माण कार्यों से सम्बन्ध रखनेवाली निधि का प्रबन्ध और नियन्त्रण स्थानीय संस्थाओं के अधीन रहना चाहिए। अगला कदम लार्ड रिपन ने उठाया। १८७० ई० के प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के सभी प्रयत्नों और उनके परिणामों का सर्वांगीण अध्ययन और विश्लेषण करने के पश्चात् १८८२ ई० में लार्ड रिपन की सरकार ने एक प्रसिद्ध प्रस्ताव पारित किया जिसने स्थानीय मामलों में स्वशासन को पहले से अधिक सहायता दी। इस प्रस्ताव ने स्थानीय मामलों की अनेक शाखाओं में स्थानीय स्वशासन के सिद्धान्त का पक्ष लिया और इसे राजनैतिक और लोकप्रिय शिक्षा का एक माध्यम स्वीकार किया। इसका उद्देश्य लोगों को अपने निजी मामलों का स्वयं प्रबन्ध करने के लिए प्रोत्साहन देना और उन्हें उन सभी विषयों में स्वावलम्बी बनाना था जिनमें सरकारी कर्मचारियों का हस्तक्षेप आवश्यक नहीं। इसने स्थानीय स्वशासन के पहले प्रयत्नों के दोषों को दूर करने की कोशिश की। इनमें पहिले की स्वशासी संस्थाओं का यह दोष था कि वे बहुत अधिक लदी हुई थीं और कर्मचारियों के हस्तक्षेप से यह सफल न हो सकीं।

इन दोषों को दूर करने का कई रीतियों से प्रयत्न किया गया। (i) नये ऐक्ट ने पहिली बार स्थानीय स्वशासन के सिद्धान्त को गांवों तक फैलाया। उस समय तक ग्रामों में किसी प्रकार के स्थानीय बोर्ड न थे, स्थानीय सड़कें, स्कूलों, चिकित्सालयों से सम्बन्धित विधियों का प्रबन्ध जिले के अधिकारी स्थानीय परामर्श शक्ति समिति (Local Consultative Committee) की सलाह से करते थे। इन परामर्श शक्ति समितियों को भंग करके उनके स्थान पर स्थानीय या जिला बोर्ड रखा गया। (ii) दूसरे नगरों में भी स्थानीय स्वशासन के सिद्धान्त का विस्तार किया गया और नगर समितियों को पहले से अधिक स्वाधीनता दे दी गई। (iii) तीसरे, स्थानीय संस्थाओं के ऊपर से सरकारी कर्मचारियों की संख्या बहुत कम कर दी गई। अब इनकी संख्या समिति के सदस्यों की संख्या की एक तिहाई से अधिक न हो सकती थी। (iv) चौथे, इसने इस विषय की सिफारिश की कि एक स्थानीय बोर्ड का अध्यक्ष, प्राय गैर सरकारी होना चाहिये। उस समय तक जिलाधीश ही नगरपालिका और जिलासमितियों का पदेन (Ex-officio) अध्यक्ष होता था। (v) अन्तिम बात, इसने यह सिफारिश की कि प्रान्तीय सरकार को स्थानीय संस्थाओं का अन्दर से बजाय बाहर से नियन्त्रण करना चाहिये।

इस प्रस्ताव के प्रकाशित होने के थोड़े ही समय बाद सभी प्रान्तों में इन सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए लोकल सेल्फ गवर्नमेंट ऐक्ट पास किये गये। परन्तु, अपर्याप्त आर्थिक साधन, लोगों की बेपरवाही, सीमित मताधिकार और सरकारी कर्मचारियों के विस्तृत नियन्त्रण के कारण इस योजना को अधिक सफलता

न मिल सकी। अधिकतर कलक्टर जैसे सरकारी कर्मचारी ही इनके अध्यक्ष नियुक्त किये जाते रहे और बहुत से नगरों में नगरपालिका का कर्त्तव्य केवल इन सरकारी अध्यक्षों के निश्चयों को ज्यों का त्यों स्वीकार करने तक ही सीमित था। इस योजना की असफलता का एक और यह कारण था कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दस वर्षों में ही पृथक साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया। साम्प्रदायिकता का यह सिद्धान्त स्थायी स्वशासन के सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल है, स्थानीय संस्थाओं में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के अपनाने से इनकी असफलता निश्चित हो थी।

स्थानीय स्वशासन के प्रश्न को भारत सरकार ने १९१५ ई० तक नहीं उठाया, जब कि इसने इस विषय का प्रस्ताव पास किया। परन्तु इस से पहिले कि यह प्रस्ताव कार्यान्वित किया जाता, भारत मंत्री ने सर्वधानीय सुधारों की चर्चा शुरू कर दी और १९१८ ई० में भारत सरकार ने दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव किया यह प्रस्ताव इस सिद्धान्त पर आश्रित था कि उत्तरदायी संस्थाएँ तब तक स्थायी जड़ें नहीं पकड़ सकतीं जब तक कि उनका आधार ही विस्तृत न हो जाय। बाद का समझदारी के साथ उपयोग और स्थानीय स्वशासन में आधिशासी शक्तियों का युक्तपूर्ण प्रयोग ही राजनैतिक शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ पाठशालाएं हैं।' पर स्थिति के अनुकूल इस प्रस्ताव ने स्थानीय संस्थाओं को अधिक से अधिक जनता का प्रतिनिधि बनाने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इसने मताधिकार की शर्तों को हलका किया और इन संस्थाओं में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत कर दिया। इस में यह उल्लेख था कि कम से कम तीन चौथाई सदस्य चुनाव से भरे जाएं और दक्ष परामर्श देने के लिए जो चुने सरकारी कर्मचारी मनोनीत किए जाय परन्तु इन्हें मत देने का अधिकार न होना चाहिए। दूसरे नगरपालिकाओं के अध्यक्ष पद पर और जहां कहीं सम्भव हो जिला मण्डलों (District Boards) के अध्यक्ष पद पर सरकारी अधिकारी के बजाय निर्वाचित सदस्य को रख कर इस प्रस्ताव के द्वारा बाह्य नियन्त्रण को कम किया गया। तीसरे अपने कराधिकार में इन संस्थाओं को कर लगाने के अधिक अधिकार मिल गये। चौथे बजट के सम्बन्ध में उन्हें अधिक स्वतन्त्रता मिल गई। इन में से बहुत से सुझाव इस विचार से रखे गए थे कि स्थानीय संस्थाओं के ऊपर से प्रान्तीय सरकार का नियन्त्रण कम हो जाय और उन्हें अधिक शक्तियां मिल जायं। १९१८ ई० के प्रस्ताव के दो और सुझावों की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। एक यह था कि प्रत्येक प्रान्त में एक पृथक स्थानीय स्वशासन का विभाग हो और दूसरा सुझाव ग्रामों में ग्राम पंचायत बना कर सहकारी जीवन विकसित करने से सम्बन्ध रखता था।

इस प्रस्ताव पर तुरन्त ध्यान दिया गया और आगामी दो या तीन वर्षों में बहुत से प्रान्तों में इस आधार पर कानून पास किये गए। १९१९ ई० के सुधारों ने देश में स्थानीय स्वशासी संस्थाओं को विशेष प्रोत्साहन दिया, और प्रान्तों में एक उत्तरदायी मन्त्री के अधीन हस्तान्तरित विषयों के अन्तर्गत स्थानीय स्वायत्त शासन का एक पृथक विभाग बना दिया गया। यह स्मरण रखना चाहिए कि मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के आधारभूत सिद्धान्तों में से एक यह था कि स्थानीय संस्थाओं को जहां तक सम्भव हो मुक्त किया जाये।

सुधारों के अनुसार जो विधान मण्डल बने। उन्होंने बहुत से प्रान्तों में स्थानीय स्वशासन के सुधार और विस्तार के लिए विधान बनाए। उन्होंने मताधिकार का विस्तार किया और बोर्डों में वृद्धि करके उन्हें अधिक शक्तियां दीं। उन्हें सरकारी पदाधिकारियों के नियंत्रण से मुक्त करने और एक व्यापक निर्वाचक जन संख्या के प्रति उत्तरदायी बनाने की कोशिशें की गईं। १९३५ के ऐक्ट के द्वारा स्थायी स्वायत्त शासन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। भारत के स्वतन्त्र होने के बाद स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। हमारे राज्य (उत्तर प्रदेश) में १९४७ के पंचायत राजऐक्ट और १९५० के डिस्ट्रिक्ट और म्युनिस्पल बोर्ड एक्ट के द्वारा गांव और नगर के निवासियों को स्वशासन के अधिक अधिकार मिल गए हैं।

विकास की बहुत धीमी गति के परिणाम-स्वरूप, जिसकी महत्वपूर्ण अवस्थाओं का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है हमारे देश में आज बहुत सी स्थानीय संस्थाएं काम कर रही हैं। तीन प्रेसिडेन्सी टाउनों ने कारपोरेशन (निगम) हैं, बड़े बड़े नगरों में नगर पालिकाएँ हैं छोटे शहरी इलाकों के लिए टाउन कमेटियां और नोटीफाइड एरिया कमेटियां हैं, जिले के लिए जिला मण्डल (District Board) है। इनके अतिरिक्त गांवों के लिए ग्राम पंचायत है। इन में से प्रत्येक का गठन संगठन और कृत्य आगे वर्णन किये हैं।

निगम

प्रेसिडेन्सी टाउनों को छोड़कर बाकी सभी बड़े बड़े नगरों में स्थानीय स्वशासी संस्थाएँ नगरपालिका कहलाती हैं। प्रेसिडेन्सी टाउनों में इसका नाम कारपोरेशन या निगम है। प्रत्येक निगम एक पृथक अधिनियम के अनुसार बनाया गया है और एक निगम के अधिकार और कर्त्तव्य दूसरे निगम के अधिकार और कर्त्तव्यों से भिन्न हैं। एक प्रान्त की सभी नगरपालिकाएं एक ही ऐक्ट के अनुसार बनाई जाती हैं, इसलिए सब के समान अधिकार और कर्तव्य होते हैं। निगम का नगरपालिका से ऊंचा

दर्जा है, इसके सदस्य कौंसिलर और इसके अध्यक्ष मेयर कहलाते हैं। आकार में भी निगम ही बड़ा होता है। बम्बई निगम मे १०६ कौंसिलर हैं और कलकत्ता निगम और लखनऊ की नगरपालिकाओं में तीस चालीस के बीच ही सदस्य होते हैं। हमारे राज्य (उत्तरप्रदेश) की सरकार के सामने एक यह सुझाव है कि लखनऊ, कानपुर जैसे नगरों की कारपोरेशन बना दी जाय।

बम्बई के निगम मे तीन प्रकार के सदस्य हैं—निर्वाचित, मनोनीत और बाहर से मिलाए हुए। निर्वाचित सदस्य उन वोर्डों से चुने जाते है जिन मे नगर को निर्वाचन के लिए विभाजित किया गया है। बम्बई चेम्बर आफ कामर्स, दि इण्डियन मर्चेन्टस चेम्बर, दि मिल ओनर्स ऐसोसियेशन और बम्बई विश्वविद्यालय में से प्रत्येक एक एक प्रतिनिधि भेजता है। कुछों को सरकार मनोनीत करती है और बाकी कुछ निर्वाचित और मनोनीत सदस्यों के बहुमत की सिफारिश पर बाहर से सदस्य मिला लिये जाते हैं। ये कौंसिलर विस्तृत मताधिकार के आधार पर चुने जाते हैं और इनमें विशेष हितों—व्यापार, वाणिज्य, श्रम को विशेष प्रतिनिधित्व दिया जाता है। कौंसलर ही मेयर का चुनाव करते है। पिछले दिनो से बम्बई मे एक परम्परा चली आती है कि हिन्दू, मुस्लिम, पारसी और योरुपियन मे मेयर बारी-बारी से बनाये जाते थे। कलकत्ता की कारपोरेशन स्वय अपने अधिशाली पदाधिकारी (Executive Officer) की नियुक्ति करती है, जब कि बम्बई मे ऐसा नहीं होता। बम्बई निगम की आय लगभग तीन करोड है और कलकत्ता की लगभग दो करोड रुपया।

नगरपालिका

साधारण परिचय—बर्मा को निकाल कर विभाजन के पूर्व ब्रिटिश भारत मे ६८८ नगरपालिकाएं थीं, जिनकी भिन्न भिन्न जनसख्या थी। आमतौर से लगभग १४% नगरनिवासियों को नगरपालिकाओं के लिए मत देने का अधिकार था। सभी नगर पालिकाओं मे निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होता था। निर्वाचित और मनोनीत सदस्यों का पारस्परिक अनुपात प्रत्येक प्रान्त मे भिन्न भिन्न था। बम्बई राज्य मे सब से अधिक नगरपालिकाएं है, चूंकि अन्य प्रान्तों की निस्बत इसकी जन सख्या का अधिक प्रतिशत नगरों में निवास करता है। आसाम मे भारत के राज्यों में, सब से कम नगरपालिकाएं हैं।

आगामी पृष्ठों मे हम उत्तरप्रदश की नगर पालिकाओं के सगठन, शक्तियों और कार्यों पर विचार करेंगे।

सगठन —उत्तर प्रदेश में नगर पालिकाओं का प्रशासन १६१६ ई० के यू० पी० म्यूनिसिपेलटीज ऐक्ट पर आधारित है। यह समय समय पर सशोधित होता रहा है

और इसमें कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन अभी १९५० ई० मे किए गए है। एक अधिसूचना (Notification) के द्वारा राज्य की सरकार किसी भी स्थानीय क्षेत्र का नगरपालिका घोषित और इसकी सीमाए निर्धारित कर सकती है, और किसी भी नगरपालिका के क्षेत्र को घटाबढ़ा सकती है। किसी पहिली अधिसूचना को, जिससे किसी क्षेत्र का नगरपालिका घोषित किया हो, सरकार द्वारा रद किया जा सकता है। १,००,००० से अधिक की जन सख्या होने पर कोई म्यूनसपलिटी 'सिटी' घोषित की जा सकती है।

अभी थोड़े दिन पहिले तक उत्तरप्रदेश मे ८५ नगरपालिए थीं, जिनमे से ११ सिटी (नगर) थ और बाकी मे नान सिटी म्यूनिसपल्टियाँ थी। मेरठ, मथुरा, आगरा, बरेली, मुरादाबाद, कानपुर, इलाहाबाद, बनारस, लखनऊ, फैजाबाद और नैनीताल सिटी थ। पिछले वर्ष २१ नोटीफाइड एरिया और दो टाउन एरिया नान सिटी म्यूनिसपल्टी बना दिए गये। आज कल कुल नगरपालिकाओं की सख्या ११० है। *

जो सशोधन १९१६ ई० क ऐक्ट मे इस वर्ष के शुरू में किये गये, उन्होने इस राज्य की नगरपालिकाओं की रचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये है। सशोधित ऐक्ट के अनुसार केवल उन जगहो को छोड़कर जिन्हे सरकार गजट मे प्रकाशित करे, प्रत्येक नगरपालिका का एक प्रधान होगा जिसका चुनाव सभी मतदाता करग, कम से कम २० और अधिक से अधिक ८० जैसा सरकार निश्चित कर, निर्वाचित सदस्य होगे और कुछ बाहर से मिलाए हुए (काआप्टेड) सदस्य होग, जिनकी सख्या कानपुर, बनारस, आगरा, लखनऊ मे आठ आठ, शेष सिटी म्यूनिसपलिटियो मे छ और नौन सिटी म्यूनिसपलिटियो मे चार चार होगी। बाहर से लिए गए सदस्यो मे से आधी स्त्रियाँ और शेष आधे उन विशेष हितो क प्रतिनिधि होंग, जिन्हे सरकार नियत करे। ऐसा कोई व्यक्ति का आप्ट नही किया जा सकता जो या तो सर्व साधारण चुनावो मे हार चुका हो या जो निर्वाचित होने के योग्य न हो। अब इन बाहर से लिये गए सदस्यो ने वह स्थान ग्रहण किया है जो पहले मनोनीत सदस्यो के लिये नियत था। यह भी ध्यान देने योग्य है कि सशोधन द्वारा प्रत्येक नगरपालिका के सदस्यों की सख्या मे पर्याप्त वृद्धि कर दी गई है। पुराने समय में बडी से बडी नगरपालिका में ३८ सदस्य थ, जबकि नई व्यवस्था मे यह सख्या ८९ तक हो सकती है। छोटी से छोटी नगरपालिका मे २५ सदस्य होंगे (एक प्रधान २० निर्वाचित सदस्य और चार बाहर के लिये गये सदस्य), पुरानी पद्धति के अनुसार यह सख्या ७ निर्धारित थी।

---

* देखिए Govt Report on the Working of Local Self Government in Uttar Pradesh for 1949—50

मसूरी, नैनीताल और हल्दवानी की नगरपालिकाओं का पृथक रीति से संगठन होगा। इनमें से प्रत्येक वार्ड में प्रधान, सरकार द्वारा निश्चित संख्या में निर्वाचित सदस्य और कुछ सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य होंगे। यह आवश्यक नहीं कि इन स्थानों का प्रधान निर्वाचित ही हो। नगरपालिकाओं के संगठन में एक और महत्वपूर्ण यह परिवर्तन किया गया है कि अब पृथक साम्प्रदायिक चुनाव और अल्पसंख्यकों के लिए 'वेटेज' की विषैली पद्धतियों का खत्म कर दिया गया है। भविष्य में हमारी नगरपालिकाओं का संयुक्त निर्वाचन पद्धति से चुनाव होगा, जिसमें मुसलमानों और परिगणित जातियों के लिए उनकी आनुपातिक संख्या के आधार पर जगहें सुरक्षित कर दी जायेंगी।

साधारणतया एक नगरपालिका का चार वर्ष के लिए चुनाव किया जाता है। प्रत्येक चार वर्ष के पश्चात् नगरपालिका के साधारण चुनाव नियत समय पर होते हैं। चुनाव की तिथि का निर्णय सरकार करती है। सरकार को यह भी अधिकार है कि 'बोर्ड' के कार्यकाल की अवधि बढ़ादे और साधारण चुनावों को स्थगित करदे। परन्तु एक बार में एक वर्ष से अधिक ऐसा नहीं किया जा सकता। यदि सरकार का ऐसा विचार हो कि लोकहित के लिए चुनावों का शीघ्र होना आवश्यक है तो वह अवधि समाप्त होने से पहिले भी साधारण चुनावों की घोषणा कर सकती है। किसी एक नगरपालिका का भी कार्य-काल बढ़ाया जा सकता है।

मताधिकार—संशोधन ने मताधिकार में भी आमूल परिवर्तन किया है। पहिले मताधिकार प्राप्त करने के लिए कुछ शर्तों को पूरा करना पड़ता था आयु और निवास की शर्तों के अतिरिक्त किसी स्त्री या पुरुष के लिए एक मतदाता बनने के लिए यह आवश्यक था कि वह या तो ग्रेजुएट हो या कम से कम ३६) वार्षिक किराये के मकान का मालिक या किरायेदार हो अथवा इन्कमटैक्स, या म्युनिसिपल टैक्स देता हो, कम से कम १०) लगान देता हो। अब यह सब उठा करके प्रौढ़ व्यक्तियों को मताधिकार दे दिया है। एक व्यक्ति जिसकी आयु २१ वर्ष या उससे अधिक है और प्राय ६ मास से एक नगर में रह रहा है अपना नाम निर्वाचक नामावली में दर्ज करा सकता है यदि उसके साथ और कोई अयोग्यता नहीं हो। यह स्मरण रहे कि केवल वे लोग ही नगरपालिका के चुनावों में वोट दे सकते हैं जिनके नाम निर्वाचक नामावली में छप गये हों। जो लोग भारत के नागरिक नहीं हैं या जिनको एक मान्य न्यायालय में पागल करार दिया है, या जिनकी एक वर्ष से अधिक जेल हो गई हो या भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) के १०७ या ११० खण्ड के अनुसार जिन्हें सद्व्यवहार की जमानत करनी पड़ी हो, वे सब मत देने के अधिकारी न होंगे। सरकार जेल जाने की निर्योग्यता को दूर कर सकती है और किसी भी दशा में इस प्रकार की निर्योग्यता जेल से मुक्त होने के चार वर्ष बाद न रहेगी।

कोई भी व्यक्ति, स्त्री या पुरुष, जिसका नाम निर्वाचक नामावली में दर्ज है नगरपालिका के चुनावों में खड़ा हो सकता है बशर्ते कि वह—

(I) नगरपालिका, राज्य अथवा संघ की सरकार का वैतनिक सेवक नहीं है।
(II) अवैतनिक दण्डाधीश (मजिस्ट्रेट) मुन्सिफ या असिस्टेण्ट कलक्टर नहीं है।
(III) सरकारी सेवा से बर्खास्त नहीं किया गया है।
(IV) वकालत करने से नहीं रोक दिया गया है।
(V) नगरपालिका के कर या ऋण को नहीं चुका सका है।
(VI) कोढ़ी या दिवालिया नहीं है।

नगरपालिका के कृत्य—यह एक परम्परा है कि स्थानीय संस्थाओं—नगरपालिका और जिला-मण्डल के कामों को अनिवार्य और वैकल्पिक दो भागों में बाँटा जाता है। वे सब कृत्य अनिवार्य कहलाते हैं, जिन्हें इस प्रकार की संस्थाओं को करना पड़ता है और जिनके लिए उन्हें कानूनन अपने बजट में से कुछ खर्च करना होता है। इनके अतिरिक्त वे सब कृत्य वैकल्पिक कहलाते हैं जिन को इन संस्थाओं की स्वेच्छा पर छोड़ दिया जाता है। ये कृत्य प्राप्त धन राशि के अनुसार घटाये बढ़ाए जाते हैं। यदि धन इकट्ठा न हो तो कोई संस्था इस प्रकार के कृत्यों के न करने के कारण दोषी नहीं ठहराई जा सकती।

अनिवार्य कृत्यों में—सार्वजनिक सुरक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सार्वजनिक सुविधाएं और सार्वजनिक शिक्षा शामिल किये जाते हैं। म्यूनिसिपल ऐक्ट में ये कर्तव्य इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत तरतीब से नहीं दिये गये हैं, परन्तु बिना किसी क्रम के ही इनका वर्णन है। यदि इन्हें तीन भागों में बांटा जाय तो इन्हें समझना और अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

(I) सार्वजनिक सुरक्षा से संबन्धित—इस शीर्षक के अन्तर्गत नगरपालिका के कर्तव्यों में सड़कों और सार्वजनिक स्थानों पर रात में रोशनी करना, आग बुझाने के लिए 'फायर ब्रिग्रेडों' का रखना, ईंट चूने के बनाने वाले भट्ठों का, जो स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है नियन्त्रण करना, खतरनाक मकानों को गिराना या हटाना, पागल कुत्तों और जंगली जानवरों का मारना आदि सम्मिलित हैं। 'प्रथम सुरक्षा' (Safety First) *जैसे—सड़कों पर आवागमन' का नियमन, मोटरों और सवारी गाड़ियों के* पगडंडियों का प्रबन्ध, दुर्घटना से बचाने का प्रबन्ध भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। हमारे देश में यह कर्तव्य पुलिस से कराया जाता है, परन्तु विदेशों में नगरपालिकाएं ही ऐसे कर्तव्य करती हैं।

(II) सार्वजनिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित—नगरपालिकाओं द्वारा सार्वजनिक स्वास्थ्यसम्बन्धी जो कृत्य किये जाते हैं उनका बड़ा महत्व है। इसमें सार्वजनिक मार्गों की

सफाई, पखाने और दूसरी गन्दी चीजों को हटाना और उसे बेचना, नालियों का बनवाना और उन्हें ठीक रखना, औषधालयों और चिकित्सालयों को खुलवाना, सड़ने वाली सब्जियों को हटवाना, सार्वजनिक पखाने और पेशाब घरों की सफाई, संक्रामक रोगों की रोक थाम, पीने के पानी का प्रबन्ध, बूचड़खाना की देखभाल आदि शामिल किये जा सकते है।

(III) **सार्वजनिक सुविधाओं से सम्बन्धित**—सार्वजनिक गलियों और स्थानों पर पानी पहुंचाना, सार्वजनिक सड़कों की योजना बनाना और उनकी रक्षा करना, पुलिया और सार्वजनिक बाजारों की देखरेख करना पशुओं के बाड़े बनवाना, जन्म का रजिस्टरों में दर्ज करना, शवों को दफनाने के लिए जगहों को प्राप्त करना, कूड़ा करकट डालने का प्रबन्ध करना और सड़कों का नाम रखना इस श्रेणी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। इसी प्रकार के कृत्यों में तांगे रिक्शावालों को लाइसेन्स देना और शहर में एक जगह से दूसरी जगह तक यातायात का प्रबन्ध करना भी शामिल किए जा सकते हैं। विदेशों में नगरपालिकायें सार्वजनिक सभाओं के लिए सुन्दर और विशाल हाल, नाटकशालाएं, विनोद और क्रीड़ास्थल इत्यादि का भी प्रबन्ध करती हैं। भारत में भी कुछ नगरपालिकाओं ने अपने भवन बनवाए हैं यद्यपि वे इतने विशाल नहीं हैं।

(iv) **सार्वजनिक शिक्षा से सम्बन्धित**—बालकों की शिक्षा के लिए अपने क्षेत्राधिकार में प्राइमरी स्कूलों का स्थापित करना नगरपालिका के सबसे प्रमुख कर्त्तव्यों में से एक है। सरकार ने शहरी हल्कों में शिक्षा का कार्य नगरपालिकाओं के हाथ में दे दिया है।

सार्वजनिक पार्क, बाग, पुस्तकालय, संग्रहालय पागलखाने, हाल, धर्मशाला, विश्रामगृह, गरीबों के घर, डेरी, स्नानागार वाटिका और सार्वजनिक लाभ की अन्य चीजें, सड़कों पर तथा अन्य जगहों में वृक्षारोपण, जनगणना, मकान और भूमि की माप करना, विवाहों के इन्दराज करना, बाढ़ के समय सहायता देना इत्यादि, ट्रामगाड़ी रेलवे या आवागमन के अन्य साधनों का प्रबन्ध करना और मेले तथा नुमाइशों का कराना हमारे देश की नगरपालिकाओं के कुछ और वैकल्पिक कर्त्तव्य हैं।

प्रत्येक नगरपालिका को अनिवार्य कृत्य करने पड़ते हैं और बहुत सी महत्वपूर्ण नगरपालिकाएं अनेक वैकल्पिक कृत्यों का भी पालन करती हैं। परन्तु भारत की कोई भी नगरपालिका उस स्तर को छू भी नहीं सकी है जिस पर कि पाश्चात्य देशों की प्रगतिशील म्यूनिसिपलटियां पहले ही पहुँच चुकी हैं। अभी हमारे देश में नगर पालिकाओं के काय विस्तार के लिए काफी गुन्जाइश है। पाठक के लिए डा० अल्तेकर के उन विचारों का उल्लेख करना रुचिकर होगा जो कि उन्होंने अपनी पुस्तक म्यूनिसिपल

गवर्नमेंट इन कॉन्टीनेंटल यारुप (Municipal Government in Continental Europe)में प्रस्ट किए है। उनका कथन है—' जर्मन विचार के अनुसार नगरपालिका के कृत्यों की कोई सीमा नहीं है सभी की शिक्षा विनोद और क्रीडा, जीविका साधना का प्रशिक्षा, परिवारों के जीवन तथा आध्यात्मिक विकास के लिए, लोगों को भव्य और सुसंस्कृत बनाने के लिए वैयक्तिक, मितव्ययिता के प्रचार के लिए, दुर्घटनाओं से बचाने और अवसरों के बनाने के लिए, औद्योगिक और वाणिज्यिक हितों की रक्षा और सुख सुविधाओं की प्राप्ति करने के लिये जनता के नगर उत्तर दायी होते है।* द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ से पहले उत्तर प्रदेश मे कांग्रेस सरकार ने एक योजना बनाई थी। जिसके अनुसार स्थानीय स्वशासी संस्थाओं का बहुत कुछ कार्य और शक्ति विस्तार हो जाता परन्तु उस योजना के पारस्कृत होने से पूर्व ही उन लोगों को त्यागपत्र देने पड़े। यह योजना दोबारा कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के बनने के पश्चात् फिर उठाई गई। नए संशोधनों के अनुसार अब नगरपालिका के कृत्यों में अभिवृद्धि कर दी गई है। अब ० प्रकार और उद्योग का प्रोत्साहन, नगर निर्माण का आयोजन करना, चलचित्र भवनो का निर्माण करना, सड़कों का नाम बदलना, म्यूनिसिपलटी के कर्मियों की भलाई के लिए केन्द्र खोलना और फिजीकल कल्चर को प्रोत्साहन देना भी नगर पालिका के कर्त्तव्यो मे शामिल है।

अपने कर्त्तव्यों का ठीक प्रकार पालन करने और सार्वजनिक सुरक्षा, स्वास्थ्य और सुविधाओं के लिए नगर पालिकाओं को नियम और उपनियम बनाने का अधिकार है जिन्हे वे सरकार की सहायता मे कार्यान्वित करती है। ये नियम या उपनियम सरकारी विधियो और नियमो के विरुद्ध न होने चाहिए।

नगर पालिका वित्त—अपने अनिवार्य और वैकल्पिक कर्त्तव्यों के पालन के लिए नगर पालिकाओं को कुछ कर लगाने का भी अधिकार है। इन करों में से कुछ प्रत्यक्ष (Direct) और कुछ अप्रत्यक्ष (Indirect) कर होते हैं। पहले अप्रत्यक्ष कर जिनमे से चुंगी मुख्य है अधिक महत्वपूर्ण थे। निम्नलिखित कुछ मुख्य कर हे जिनसे नगर पालिका को विशेष आमदनी होती है। (1) सामान और जानवरों पर जो कि नगर मे लाए जाते हैं, चुंगी, (ii) नगर की परिसीमा मे आने वाली वस्तुओं पर सीमा कर (Terminal Tax) आजकल कुछ नगरो मे चुंगी के बजाय सीमाकर लिया जाता है। (iii) गाड़ियों, जानवरों और सामान लदे हुए कुलिया पर जो कि नगर पालिका की परिसीमा में प्रवेश कर, मह्सूल, उपरोक्त तीनों अप्रत्यक्ष कर है अर्थात् इनका वास्तविक भार उन व्यक्तियों पर नहीं पड़ता है जो वास्तव मे चुंगी देते है। अन्तत

प्रो० के० जी० शाह द्वारा उद्धृत The constitution Functions and Finances of Indian municipalities पृष्ठ संख्या १४१

यह भार उन नागरिकों पर पड़ता है जो सामान खरीदते हैं। (iv) कुछ ऐसे कर होते हैं जो नागरिक उन सेवाओं के उपलक्ष में देते हैं, जो नगरपालिका करती है, जल कर, (Water Tax), भगी कर, पखाना कर और कुछ हद तक गाडियों, जानवरों पर कर इसी श्रेणी में आते है। इन करो को पूर्णतया इस उद्देश्य से लगाया जाता है कि पानी की रसद, और पाखाने तथा सडको की सफाई का खर्च पूरा हो जाये। (v) व्यापार और व्यवसायों पर कर जैसे शक्कर साफ करने वालों पर कर, कपड़े के व्यापारियों पर कर (vi) इमारतों के वार्षिक मूल्य पर और आय पर कर, इमारतो पर लगाए करो मे हाउस टैक्स भी शामिल है। एक व्यक्ति की आय का साधारण मापदण्ड उसके मकान की कीमत से लगाया जाता है। एक हाउस टैक्स के बदले या उसके साथ साथ परिस्थित और सम्पत्ति पर भी कर लगाया जा सकता है। कभी-कभी नगरपालिका व्यापार और व्यवसायो पर आम टैक्स लगा देती है। कुछ नगरपालिकाए यात्रियों पर भी कर लगा देती है। जिन गाडियो पर टैक्स लगाया जाता है, उनमें मोटर गाडी शामिल नहीं है।

करों के अतिरिक्त नगरपालिकाओं की और साधनों से भी आय होती है, जैसे—पाखानों का विक्रय, नालों के पानी का बेचना, नगरपालिका की दुकानों, बाजारों और नजूल भूमि का किराया। स्कूलों की फीस और जुर्माने। म्युनिसिपल व्यापार को भी एक अच्छा साधन बनाया जा सकता है परन्तु यह हमारे देश में प्रचलित नहीं। कुछ नियत उद्देश्यो के लिए राज्य की सरकार भी अपनी विधि मे से नगरपालिकाओ को अनुदान दे सकती है जैसे निर्धारित क्षेत्रो में निशुल्क अनिवार्य शिक्षा के लिए। जब कोई किसी मद पर असाधारण (Non recurring) खर्च करना होता है। तो नगरपालिका सरकार से ऋण ले सकती है, या अपनी ही आय की जमानत पर खुले बाजार से उधार ले सकती है। यह बतलाना आवश्यक है कि चुगी के बदले सीमा कर लगाने के लिए नगरपालिका को पहिले राज्य की सरकार की अनुमति लेनी पडती है। कानपुर के अतिरिक्त शायद ही कोई दूसरी नगरपालिका है जिसने चुगी की जगह सीमा कर लगाया हो।

वार्षिक आय व्यय (बजट) एक विशेष रीति से बनाया जाता है, जिसे राज्य की सरकार निर्धारित करती है। इसके साथ एक सूची इस प्रकार की होनी चाहिए जिसमें इन सब निर्माण कार्यों का और तत्सम्बन्धी उन सब बातो का निश्चित ढग से उल्लेख होना चाहिए जिन्हें नगर पालिका आगामी वर्ष में करना चाहती है। यह किसी स्थानीय समाचार-पत्र या ऐसे पत्र में प्रकाशित होने चाहिए जिससे सरकार इस अभिप्राय के लिए स्वीकार करे।

अब नगरपालिका इस बजट को स्वीकार कर लेती है तो यह जिलाधीश के द्वारा कमिश्नर के पास भेज दिया जाता है और वाटर वर्क्स और नालियों से सम्बन्धित बजट के तत्सम्बन्धी सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग के सुपरिण्टेण्डेण्ट इञ्जीनियर के पास भेज दिये जाते हैं। कुछ विषयों में कमिश्नर को बजट के बदलने का हक है खास तौर से जब कि उनका यह विश्वास हो जाये कि ऋण और आवश्यक बकाया के बारे में उचित प्रबन्ध नहीं है। वह मानव सुरक्षा, स्वास्थ्य और सार्वजनिक शान्ति पर प्रभाव डालने वाले मामलों में भी हस्तक्षेप कर सकता है।

जिन शीर्षकों के अन्तर्गत नगरपालिका आय और व्यय करती है उनका सापेक्ष महत्त्व समझने के लिए मेरठ की नगरपालिका का इस वर्ष का बजट नीचे उद्धृत किया जाता है—

आय के मुख्य स्रोत	रकम
१ चुंगी	१२,००,००
(Share of contonment Board)	—३,८०,०००
२ भूमि तथा मकानों से कर	१.४०,०००
३ साइकिल कर आदि	१६,०००
४ घाडों पर कर	३००
५ पशुओं के बाडे	१,२००
६ घोड़ा गाडियों और तांगा पर कर	३,०००
७ जमीन और मकानों का किराया, तेह बाजारी आदि	२८,४४०
८ पेडों और घास की बिक्री की आय	३,५००
९ खाद की बिक्री	१,४०,०००
१० स्कूलों से फीस इत्यादि	२,० ०
११ दुकानों इत्यादि का किराया	२०,०००
१२ बूचडखाना की फीस	७,५००
१३ पानी की बिक्री से आय	८८,५००
१४ नकल करने की फीस	६००
१५ हुक्कों पर लाइसेन्स फीस	४,५००
१६ कुन्ने इत्यादि की फीस	३,०००
१७ बिजली से आमदनी	१,६६,२६०
१८ सूद इत्यादि	१,०००
१९ सरकार द्वारा प्राप्त लारी टैक्स का हिस्सा	६,१८०
२० जुर्माने इत्याद	१०,०००

२१ सरकारी सहायता	
२२ सरकार से शिक्षा के लिए अनुदान	५०,०००
२३ सण्डास की सफाई की वसूलयाबी	१,२६,०८०
२४ विविध	६,०००
	५०,५००
योग	
	२०,७३,६८०
व्यय के मुख्यशीर्षक	
१ सामान्य प्रशासन	रकम
२ करों को उघाना	५७,५००
३ फायर ब्रिगेड	१,४२,०६०
४ रोशनी	१०,३२८
५ पानी के लिए नल इत्यादि बिछाना	५३,६६८
६ पानी का प्रबन्ध	१५,०००
७ नई नालियों का बनवाना	१,१३,७८२
८ नालियों का प्रबन्ध	३५,०००
९ सफाई	७७,८८२
१० सफाई के औजार इत्यादि	१,३३,२७२
११ सड़क पर पानी छिड़कना	७०,३०४
१२ सफाई के निरीक्षक	१६,२२४
१३ औषधालय और चिकित्सालय	१६,०२८
१४ प्लेग और चेचक की रोकथाम	५६,१८६
१५ टीका लगाना	५,०००
१६ बूचड़खाने	२,४,८३
१७ सार्वजनिक पार्क	४८०८
१८ पशुओं के हस्पताल	१४,१००
१९ सार्वजनिक मार्ग प्रबन्ध	३,०६६
२० इमारतें	१२,०१८
२१ सड़कों का बनाना वगैरह	५०,०००
२२ गोदाम	१,४७,४०८
२३ नई जगह में बिजली लगवाना इत्यादि	३,३००
२४ शिक्षा	२०,०००
२५ स्कूलों की मरम्मत	३,००,०००
२६ शिक्षण संस्थाओं की सहायता	२०,०००
	२०,३३४

२७. पुस्तकालय	३,४००
२८ ऋण चुकाना	४५,४३७
२९. छपाई	१०,००७
३० अदालती खर्चा	५,०००
३१ प्रोवीडेंट फंड	१६,०००
योग	२२,६८,०७१

नगरपालिका के पदाधिकारी

प्रधान—प्रधान नगरपालिका का मुख्य पदाधिकारी है। पुरानी व्यवस्था के अनुसार प्रधान का चुनाव बोर्ड के निर्वाचित सदस्यों द्वारा होता था, परन्तु नए संशोधनों के पश्चात् उसका चुनाव अन्य प्रतिनिधियों की भाँति ही साधारण चुनावों के समय समस्त मतदाताओं के द्वारा किया जाता है। उसका कार्यकाल चार वर्ष है। यदि वह चाहे तो पहले भी त्यागपत्र दे दे। बोर्ड भी उनके विरुद्ध अविश्वास का वोट (Vote of No confidence) पारित कर सकता है। यह अविश्वास का प्रस्ताव राज्य की सरकार के पास भेजा जायगा। तत्पश्चात् सरकार या तो प्रधान को पदत्याग देने का आदेश दे सकती है या उसके परामर्श से बोर्ड को ही भंग कर सकती है।

प्रधान को नगरपालिका के कर्मचारियों को नियुक्त या पदच्युत करने का अधिकार है और वह उनसे सम्बन्धित सभी प्रकार के प्रश्नों—सेवा, वेतन, छुट्टी, भत्ते तथा अन्य सुविधाओं के बारे में निर्णय करता है। बोर्ड के बारे में यदि जिलाधीश या कमिश्नर मांगे तो प्रधान को हिसाब किताब, बोर्ड की कार्यवाहियों की रिपोर्ट, विवरण पत्र आदि भेजने पड़ते हैं। प्रति मास बोर्ड की कम-से कम एक बैठक होती है और ऐसी बैठकों में प्रधान ही अध्यक्ष पद ग्रहण करके निर्धारित नियमों के अनुसार बैठक की कार्यवाही चलाता है। वित्त सम्बन्धी मामलों की देख रेख रखना, बोर्ड के प्रशासन का अधीक्षण करना और तत्सम्बन्धी दोषों का बतलाना भी उसी के कर्त्तव्यों में शामिल हैं। सदस्य प्रधान से बोर्ड-सम्बन्धी कोई भी सूचना माँग सकते हैं। बोर्ड के एक या दो निर्वाचित उपप्रधान भी होते हैं जिनका कर्त्तव्य प्रधान की सहायता करना और उनकी अनुपस्थिति में कार्य करना होता है। ५०,००० या इससे अधिक वार्षिक आय वाली बोर्ड एक विशेष प्रस्ताव के द्वारा एक ऐक्जीक्यूटिव आफीसर की नियुक्ति करती है। इनमें एक एक मैडिकल ऑफिसर आफ हैल्थ भी होता है। इन दो व्यक्तियों की नियुक्ति, वेतन और नौकरी की शर्तों के लिए राज्य की सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ती है। ५०,०००) से कम वार्षिक आय वाली नगर पालिकाओं में एक या अधिक मन्त्री रखे जाते हैं, जिनकी नियुक्ति कमिश्नर की अनुमति पर निर्भर है।

राज्य की सरकार नगरपालिका के लिए यह भी अनिवार्य कर सकती है कि वह अपने यहाँ एक इंजीनियर, एक वाटरवर्क्स इंजीनियर, एक वाटरवर्क्स सुपरिण्टेण्डेण्ट, एक इलेक्ट्रिकल सुपरिण्टेण्डेण्ट, एक सैक्रेटरी और एक सब ओवरसीयर रखे। अपने अधीन विभिन्न विभागों—शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सार्वजनिक निर्माण-कार्य, चुंगी, वाटर वर्क्स इत्यादि के प्रशासन के लिए बोर्ड को बहुत बड़ा स्थायी कर्मचारी वर्ग रखना पड़ता है। स्थायी कर्मचारी वर्ग में शिक्षा अधीक्षक (Superintendent of Education) चुंगी अधीक्षक, मुख्य सफाई निरीक्षक और सफाई निरीक्षक मुख्य-मुख्य हैं।

समितियाँ—कार्य के सुसंचालन और सभी विभागों की साधारण देखभाल और नियन्त्रण के लिए बोर्ड बहुत-सी समितियाँ नियुक्त करती है। इस प्रकार की निम्नलिखित समितियाँ होती हैं—

वित्त समिति, शिक्षा समिति, सार्वजनिक स्वास्थ्य-समिति, सार्वजनिक निर्माण-समिति, चुंगी-समिति और वाटर वर्क्स समिति। प्रत्येक समिति के सदस्यों की संख्या भी बोर्ड ही निर्धारित करता है। मेरठ की नगरपालिका की समितियाँ सात या आठ सदस्यों से बनाई जाती हैं, इनकी एक वर्ष के लिए नियुक्ति की जाती है। प्रत्येक समिति में निर्वाचित सदस्य अपनी समिति के बहुमत से प्रस्ताव स्वीकृत करके बाहर से भी कुछ विशेषज्ञ ले सकते हैं परन्तु इस प्रकार लिए हुए (co opted) सदस्य निर्वाचित सदस्यों की संख्या एक तिहाई से अधिक न होने चाहिए। बोर्ड एक प्रस्ताव के द्वारा समितियों के अध्यक्ष नियत करता है। उपाध्यक्ष की नियुक्ति समिति ही स्वयं कर लेती है। समितियों की बैठक प्रायः एक मास में एक बार होती है। बोर्ड की बैठक भी साधारणतया मास में एक बार ही होती है, कार्यवाही के अनुसार बैठकों को और अधिक शीघ्र बुलाया जा सकता है।

वित्त समिति के निम्नलिखित प्रमुख कर्त्तव्य हैं—

(i) वार्षिक आय व्यय का अनुमान तैयार करना।

(ii) विभिन्न शीर्षकों में स्वीकृत आय-व्ययक के अनुसार व्यय का विभाजन करना।

(iii) बोर्ड के समक्ष रखा जाने से पूर्व मासिक हिसाब किताब का निरीक्षण करना।

(iv) चुंगी के अतिरिक्त और सभी करों के उगाने का निरीक्षण।

(v) इसी का यह भी कर्त्तव्य है कि बजट के विपरीत या बिना उचित अनुमति के कोई खर्च न होने दे।

सार्वजनिक निर्माण समिति के निम्नलिखित मुख्य-मुख्य कर्त्तव्य हैं—

(i) मुनसिपल इंजीनियर के परामर्श से सार्वजनिक निर्माण के लिए निर्धारित निधि में से व्यय करने के प्रस्ताव बनाना।

(ii) सार्वजनिक निर्माण कार्य का निरीक्षण करना और प्रमाण पत्र देना।

(iii) विधेयकों की जाँच पड़ताल करना।

(iv) सार्वजनिक निर्माण कार्यों के ठेकों के लिए टेण्डर (निविदा) माँगना।

(v) यह देखना कि पानी और रोशनी के बारे में ठीक प्रबन्ध है।

(vi) सार्वजनिक निर्माण से सम्बन्ध रखनेवाले सब मामलों में बोर्ड को परामर्श देना।

सार्वजनिक स्वास्थ्य समिति के कर्तव्य इस प्रकार हैं :—

(i) यह देखना कि सफाई से सम्बन्धित सभी नियम, उपनियम और आदेशों का पालन ठीक प्रकार किया जा रहा है,

(ii) गन्दगी दूर करनेवाले कर्मचारी वर्ग की देखरेख।

(iii) कुओं, पाखाना और पाखाने ढोनेवाली गाड़ियों का निरीक्षण करके रिपोर्ट देना।

(iv) जन्म-मृत्यु के रजिस्ट्रेशन की जाँच करना।

(v) टीका लगानेवालों के काम की जाँच करना, और

(vi) सफाई, गन्दगी मिटाने और सार्वजनिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित प्रायः सभी मामलों पर बोर्ड को परामर्श देना।

चुंगी कमेटी के मुख्य कृत्य ये हैं—

(i) कभी-कभी चुंगी घर और मुहर्रिरों के हिसाब किताब की जाँच करना।

(ii) यह देखना कि चोरबाजार (smuggling) और चुंगी अपवंचन (Evasion) के रोकने का उचित प्रबन्ध है।

(iii) चुंगी के सर्वोच्च दफ्तर का निरीक्षण करना।

(iv) इस बात का समाधान करना कि चुंगी के कारण व्यापार नहीं रुक गया है।

सरकारी नियंत्रण—यह मानी हुई बात है कि नगर पालिकाओं के ऊपर कुछ वर्ष पहले कठोर सरकारी नियंत्रण था जिसने उनके विकास की गति को मन्द कर दिया। १९१८ ई० के प्रस्ताव के द्वारा यह माना सर्वथा उचित था कि स्थानीय संस्थाओं से सरकारी नियन्त्रण हटा कर उन्हें स्वयं त्रुटियाँ करके सीखने (Learning by trial&errors) का अवसर दिया जाय। इस प्रस्ताव के अनुसार सरकारी नियंत्रण कुछ कम किया गया और स्थानीय संस्थाओं को स्वप्रबन्ध की अधिक स्वतन्त्रता दी गई। मनोनीत सदस्यों को बहुत कम कर दिया गया और सरकारी चेयरमैन के बजाय गैर सरकारी अध्यक्ष चुने जाने लगे।

परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि स्थानीय संस्थाओं के ऊपर से सरकार नियंत्रण समाप्त हो गया। न यह सम्भव था और न वांछनीय। सार्वजनिक हित का धरोहर होने के नाते सरकार को नगर पालिका तथा दूसरी स्थानीय संस्थाओं पर थोड़ा बहुत नियंत्रण रखने का अधिकार है। संसार के सभी देशों में सरकार को स्वशासी संस्थाओं को देख रेख, निर्देशन और थोड़ा बहुत नियंत्रण करने का हक है। हमें तो यह देखना है कि हमारे राज्य की नगर पालिकाओं के ऊपर किस प्रकार का नियंत्रण है?

जैसा कि हम पहले कह भी चुके हैं—ऐक्जीक्यूटिव अफसर, मेडिकल आफीसर ऑफ हैल्थ तथा नगर पालिका के दूसरे प्रमुख पदाधिकारियों की नियुक्ति राज्य की सरकारी अनुमति से होती है और यही उनकी नौकरियों की शर्त और उपलब्धियों के विषय में निश्चय करती है। छोटे नगरों के बोर्ड का सेक्रेटरी नियुक्त करने में कमिश्नर की अनुमति लेना पड़ता है। इस प्रकार सरकार का बोर्ड पर काफी नियंत्रण रहता है।

यदि किसी समय राज्य की सरकार का यह समाधान हो जावे कि कोई बोर्ड लगातार गलती करते जा रहा है या अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कर रहा है तो, बोर्ड स्पष्टीकरण (explanation) पर विचार करने के बाद सरकार बोर्ड का अपने नियंत्रण में कर सकती है अथवा उसे विलीन (dissolve) कर सकती है। बोर्ड की अधीनता का अवस्था में सरकार किसी भी कर्मचारी को नगर पालिका की शक्तियाँ सौंप सकती है।

तीसर, अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत कमिश्नर और जिलाधीश को अधिकार है कि (क) बोर्ड की अचल सम्पत्ति या किसी कार्य का निरीक्षण करे या कराए (ख) बोर्ड या उसकी किसी समिति की पुस्तक या प्रलेख को मंगा कर उन का निरीक्षण करे, (ग) लिखित आदेश द्वारा बोर्ड, या उसकी समिति से हिसाब किताब, रिपोर्ट कार्यवाही का प्रलेख (document) मंगा ले (घ) बोर्ड या उसकी समितियों के कर्तव्यों के बारे में कोई आदेश उनके विचार विमर्श के लिये भेजे।

चौथे कमिश्नर या जिलाधीश को अपने क्षेत्राधिकार की नगरपालिकाओं और समितियों के प्रस्तावों को कार्यान्वित होने से रोकने का अधिकार है यदि, उनके विचार से, ऐसे प्रस्ताव से जनता (i) जनता या किसी वैध संस्था को असुविधा या परेशानी होने का अन्देशा है, (ii) मानवजीवन, स्वास्थ्य या सुरक्षा का खतरा है, (iii) या जिससे दंगा या झगड़ा होने की सम्भावना है। इस प्रकार के आदेशों को सरकार सपरिवर्तन (modification) अथवा निराकरण कर सकती है।

पाँचवें सरकार किसी नगर पालिका को किसी विशेष कर्तव्य के पालन के लिए

प्राप्य कर सकती है और अपने आदेश को कार्यान्वित कराने की तिथि निश्चित कर सकती है। यदि नियत समय के भीतर बोर्ड ऐसे कर्त्तव्य का पालन करने में असफल रहे तो सरकार उस कार्य को किसी और साधन से करा के बोर्ड से लागत वसूल कर सकती है।

छठे, सकटकाल मे जिलाधीश बोर्ड के किसी कार्य को, जिसका एक-दम होना जनता की सुरक्षा और भलाई के लिये आवश्यक हो, स्वय करा सकते हैं और उसका व्यय बोर्ड से ले सकते हैं। यह पहिले ही उल्लेख आ चुका है कि नगर पालिका के बजट मे भी सरकार आवश्यक परिवर्तन कर सकती है।

नए सशोधन से नगरपालिकाओं को पर्याप्त स्वाधीनता दे दी गई है। पहिले तो उनके ऊपर इतना कठोर नियत्रण था कि कमिश्नरो ने कई अवसरो पर वह खर्च भी अस्वीकार कर दिया जो कि नगरपालिका जन प्रिय नेताओ को अभिनन्दन पत्र देने मे कर देती थी।

कैन्टोन्मेन्ट बोर्ड—मेरठ और बरेली जैसे नगरो मे, जहा कि फौजें रहती है छावनी का क्षेत्र नगर पालिकाओ के क्षेत्राधिकार के बाहर है। इन छावनियो मे रहने वाले नागरिको की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए कैन्टोन्मेन्ट बोर्ड नामक सस्थाएँ हैं। कैन्टोन्मेन्ट बोर्ड का सगठन और इसके कृत्य नगरपालिका के सगठन और कृत्यो के समरूप है परन्तु इनका प्रशासन म्यूनिसिपल ऐक्ट के आधार पर नहीं चलता। छावनियो का प्रशासन भारत सरकार के सेना विभाग के नियत्रण मे चलता है। कैन्टोन्मेन्ट बोर्ड का अध्यक्ष साधारणतया एक उच्च सैनिक अफसर होता है—उदाहरणार्थ ब्रिगेडियर। इन बोर्डो मे मनोनीत सदस्यो की भी काफी अनुपात रहता है।

टाउन एरिया—२० हजार या इससे अधिक जन सख्या वाले नगरो का नगर पालिका का दर्जा दिया जाता है। दस से तीस हजार तक की जन सख्या वाले नगरो को 'टाउन एरिया' कहते है इनका प्रबन्ध करने के लिए टाउन एरिया कमिटिया होती है। सरकार किसी क्षेत्र का 'टाउन ऐरिया' उद्घोषित कर सकती है। टाउन एरिया समिति मे (i) एक निर्वाचित अध्यक्ष (ii) सात से दस तक निर्वाचित सदस्य, परिगणित जातियो का, जिलाधीश द्वारा मनोनीत, एक सदस्य और अल्प सख्यक जाति का प्रतिनिधित्व करने के लिए कभी-कभी (iii) एक और मनोनीत सदस्य—ये सब सम्मिलित होते है। समिति के सदस्यो का कार्यकाल चार वर्ष निर्धारित है। टाउनएरिया समिति के प्राय उसी प्रकार के कर्त्तव्य है जैसे कि नगर पालिका के परन्तु इनकी व्याप्ति (scope) सकुचित है। इस समिति को अपने क्षेत्र की स्वच्छता, रोशनी, सडकों, पानी के प्रबन्ध,

सार्वजनिक स्वास्थ्य, और प्राथमिक शिक्षा की देख रेख करनी पड़ती है। इसकी आय प्रधानत गृह कर, भूमिकर, सम्पत्ति और परिस्थितियों पर कर, खत्तों की बेच, नजूल भूमि किराये तथा जिला मण्डली (District Board) और सरकार के अनुदानों म होती है। जिलाधीश का टाऊन एरिया पर अधिक नियन्त्रण होता है।

नोटीफाईड एरिया—पाच से दस हजार जनसख्या वाले नगरो का सरकार नोटीफाइड एरया घोषित कर सकती है और इसका स्थानीय प्रशासन एक नोटीफाइड एरया कमेटी के ऊपर छोड सकती है। इन समिति मे एक अध्यक्ष, कुछ स्थानीय जनता के चुने हुए सदस्य, और कुछ सरकार के मनोनीत सदस्य होगे। यह समिति उसी प्रकार के कर्तव्यो का पालन करती है जैसे कि टाउन एरिया समिति। इसकी आय के भी उसी प्रकार के स्रोत हैं।

किसी क्षेत्र के एक टाउन एरिया या नोटीफाइड एरिया होने के लिए एक बाजार और कस्बा होने की आवश्यकता है—पूर्णतया ग्रामीण क्षेत्रो को यह दर्जा नहीं मिलता। नगरपालिका, टाउन और नोटीफाइड एरया मे दर्जे का अन्तर है। पहिले क्षेत्रो में अधिक स्वशासन दिया गया है और वहाँ अधिक कर लगाये जा सकते हैं।

जिला बोर्ड

परिचयात्मक —ग्रामीण क्षेत्रो के स्थानीय स्वशासन का भार (अन्य स्थानीय सस्थाओ के साथ साथ) जिला मण्डली के ऊपर निर्भर है। जिस प्रकार नगरो के लिए नगरपालिकाए हैं, उसी प्रकार ग्राम-क्षेत्रो के लिए जिला मण्डलिया (District Board) है। * नगरपालिकाओं की भाँति जिला मण्डलियाँ लोगो की शिक्षा, सफाई, सार्वजनिक स्वास्थ्य और इसी प्रकार की अन्य सुविधाओ का प्रबन्ध करती हैं। साधारणतया एक जिला बोर्ड का क्षेत्र प्रकार एक जिले की प्रशासी सीमाओ के समरूप ही होता है। किसी किसी राज्य ने सब डिस्ट्रिक्ट या तालुका बोर्ड है। मद्रास के महाप्रान्त (Presidencey) मे यूनियन बोर्ड है। ग्रामीण क्षेत्रो के लिए स्थानीय स्वशासन की प्रणाली भिन्न भिन्न राज्यो मे भिन्न भिन्न प्रकार की है। जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है किसी राज्य में सब डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और कुछ अन्य राज्यो मे और भी छोटी 'यूनियन बोर्ड' नामक मण्डलियाँ है प्राय सभी जगह जिलाबोर्डो का अध्यक्ष निर्वाचित व्यक्ति होता है। मण्डलियाँ,ग्राम पचायतों का सगठन भी भिन्न भिन्न राज्यो मे भिन्न भिन्न प्रकार का है।

---

* ग्राम पचायतो का वर्णन आगे किया जाएगा।

आगामी पृष्ठों में हम उत्तर प्रदेश की जिला मण्डलियों का सगठन शक्तियों और कृत्यों का उल्लेख करेंगे। यह मण्डलियाँ १९२२ ई० के यू० पी० डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ऐक्ट के अनुसार बनाई गयी हैं। इस ऐक्ट में समय समय पर अनेक सशोधन होते रहे हैं।

जिला बोर्ड का सगठन'—उपरोक्त अधिनियम में ऐसा विधान है कि उत्तर प्रदेश के प्रत्येक जिले के लिए, उसी के नाम से, एक डिस्ट्रिक्ट बोर्ड होगा। इस बोर्ड का केन्द्र भी जिले के हेड क्वार्टर में या उसी के निकट होगा। रामपुर, टेहरी, गढवाल और बनारस की रियासतों के हमारे राज्य (state) में मिलने से पूर्व इसमें कुल ४८ जिला बोर्ड थे। प्रत्येक बोर्ड (मण्डली) में सरकार द्वारा निर्धारित की हुई सख्या में निर्वाचित सदस्य होते हैं, इनके अतिरिक्त एक अध्यक्ष और ऐसे कुछ अन्य सदस्य होते हैं, जिन्हें निर्वाचित सदस्यों ने बाहर से लिया हो। किसी भी मण्डली में निर्वाचित सदस्य तीन से कम और अस्सी से अधिक नहीं होते, १९४८ ई० के सशोधन के पूर्व यह सख्या कम-से-कम १५ और अधिक-से अधिक ४० निर्धारित थी। पुरानी प्रणाली के अनुसार सरकार एक मण्डली में अधिक से अधिक तीन सदस्यों का नाम निर्देशन कर सकती थी, जिसमें से एक स्त्री होती थी। नये सशोधन ने इस प्रणाली का सर्वान्त करके प्रत्येक बोर्ड को बाहर से सदस्य मिलाने (को आप्ट करने) का अवसर दिया है। इस प्रकार से मिले हुए सदस्य निर्वाचित सदस्यों के दसवें भाग से अधिक नहीं बढ़ सकते। इन (co opted) सदस्यों ने प्राचीन समय के मनोनीत सदस्यों का स्थानापन्न लिया है। दूसरे शब्दों में, बड़ी से-बड़ी मण्डली में ९१ सदस्य हो सकते हैं—८० निर्वाचित, १० बाहर से लिये हुए और एक अध्यक्ष। छोटे से छोटे बोर्ड में २४ सदस्य होंगे। मेरठ, इलाहाबाद, बस्ती, आजमगढ और गोंडा की मण्डलियों में सब से अधिक सदस्य हैं और देहरादून और पीलीभीत में सब से कम।

सदस्यों की सख्या में अभिवृद्धि करने के साथ-साथ नये सशोधनों ने बोर्ड की रचना में और भी कई आमूल परिवर्तन किये हैं। अब पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन-पद्धति को उठा दिया गया है और उसके स्थान पर परिगणित जातियों और मुसलमानों की, कुछ शर्तों के साथ, जगह सुरक्षित करके सयुक्त निर्वाचन प्रणाली को प्रश्रय दिया गया है। सीटों को केवल उन्हीं निर्वाचन क्षेत्रों में सुरक्षित किया जायगा, जिनमें सरकार आज्ञा दे। मुसलमान और परिगणित जातियों के लिए उसी अनुपात से सीटें सुरक्षित की जायेंगी, जिसमें कि पिछली जनगणना के अनुसार उपरोक्त जातियाँ किसी जिले के ग्राम्य क्षेत्रों में रहती थीं। जो जगह किसी जाति विशेष के लिए सुरक्षित नहीं होगी उनके लिए किसी भी जाति या सम्प्रदाय का व्यक्ति खड़ा हो सकता

है। ऐक्ट में इस प्रकार का भी उपबन्ध है कि यदि कोई व्यक्ति कई क्षेत्रों से चुन लिया जाय तो उसे एक से अधिक सीट न मिलेगी।

मतदाताओं की योग्यतायें—१९४८ ई० के संशोधन के अनुसार इस राज्य के ऐसे नागरिकों को अपने अपने जिले के बोर्ड के प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार होगा जो कि उत्तर प्रदेश की विधान सभा (Legislative Assembly) के लिए मतदाता स्वीकार किये जाए। दूसरे शब्दों में, भविष्य में प्रत्येक जिला मण्डली के लिए प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर चुनाव हुआ करेंगे। अब पुरानी योग्यताएँ, जो कि सम्पत्ति, लगान आदि पर आधारित थीं, हटा दी गई। पिछले चुनावों में यह नई प्रणाली प्रयोग न की जा सकी क्योंकि उस समय तक नया संविधान प्रवर्त्तन में ही न आया था।

उपरोक्त साधारण नियम के होते हुए भी किसी व्यक्ति का निम्नांकित दशाओं में मतदाताओं के रजिस्टर से नाम न चढ़ सकेगा

(i) यदि किसी दण्ड न्यायालय में किसी अपराध के उपलक्ष में उसे छः महीने से अधिक की सजा दी गई, और उसे क्षमा न किया गया हो, अथवा जिसे काटे पाँच वर्ष न बीत चुके हो, या

(ii) यदि किसी चुनाव में गड़बड़ी या अवैध कार्यवाही करने के कारण उसे निर्वाचन के अयोग्य घोषित कर दिया गया हो।

यह सदैव याद रखना चाहिए कि कोई व्यक्ति तब तक मत देने का अधिकारी नहीं है जब तक कि उस का नाम मतदाताओं की सूची में नहीं चढ़ाया जाता। यह प्रत्येक प्रौढ़ नागरिक का कर्त्तव्य है कि मतदाताओं की सूची तैयार होते समय वह इस बात को मालूम कर ले कि उसका नाम मतदाताओं की सूची में सम्मिलित किया गया है अथवा नहीं। किसी निर्वाचन क्षेत्र में स्थायी रूप से रहने पर ही कोई व्यक्ति मतदाताओं की नामावली में अपना नाम चढ़वाने का अधिकारी है। यदि कोई व्यक्ति दो या अधिक निर्वाचन क्षेत्रों में निवास करता है तो उसे केवल एक जगह ही मत देने का अधिकार प्राप्त होगा। प्रत्येक मतदाता को उतनी वोट देने का अधिकार है जितने सदस्य उस निर्वाचन क्षेत्र से चुने जायें।

उम्मेदवार के लिए योग्यताएँ—निम्नांकित निर्योग्यताओं को छोड़ कर कोई भी व्यक्ति जिस का मतदाताओं की सूची में नाम चढ़ा हुआ है अपने निर्वाचन क्षेत्र से या जिले के किसी अन्य निर्वाचन क्षेत्र से सदस्यता के लिए खड़ा हो सकता है। केवल लिंग (sex) के आधार पर किसी व्यक्ति को अयोग्य न समझा जायेगा।

कोई व्यक्ति जिला बोर्ड की सदस्यता के लिए खड़ा न हो सकेगा यदि —

(क) उसे सरकारी नौकरी से वियुक्त (Dismiss) कर दिया गया है, और दावारा नौकरी करने से रोक दिया गया है,

(ख) किसी निर्धारित अधिकारी (Competent Autohrity) द्वारा किसी न्यायालय मे वकालत करने से रोक दिया गया है,

-(ग) वार्ड के अधीन उसने कोई लाभ की जगह (place of profit)' स्वीकार कर ली है,

(घ) वह सरकारी नोकर है, अथवा

(ङ) प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उस का बोर्ड के करार (contract) या नौकरी मे कोई हित निहित है,

(च) वह अगरेजी या राज्य की किसी एक प्रादेशिक भाषा का पढने लिखने के अयोग्य है, अथवा

(छ) एक वर्ष म तलब की जाने वाली रकम से उस पर अधिक बकाया है।

उपरोक्त (क) और (ख) निर्योग्यताएँ निधारित अधिकारी (Prescribed Authority) के आदश स हटाई भी जा सकती है। कोई व्यक्ति एक से अधिक जिला मण्डलियों का सदस्य नहीं बन सकता। यदि एक से अधिक मण्डलियों के लिए उस का निर्वाचन हा गया है ता वह स्वेच्छा म किसी एक ही बोर्ड का सदस्य रह सकता है।

अवधि —जिला मण्डली के चुनाव एक बार में चार वर्ष के लिए हाने निश्चित हैं। पिछले साधारण चुनाव के पश्चात् प्रत्येक जिला बार्ड के सदस्यों का एक साथ ही निर्वाचन कराया जायेगा। परन्तु राज्य की सरकार को किसी बोर्ड या बोर्डो के कार्य काल को बढाने का अधिकार है, और साधारण चुनावो का एक बार मे यह अधिक से अधिक एक वर्ष के लिए स्थगित (postpone) कर सकती है। चुनाव की तिथि सरकार गजट म प्रकाशित करती है।

सदस्यों का अपनयन —अध्यक्ष के अतिरिक्त बार्ड का कोई अन्य सदस्य अध्यक्ष के द्वारा (Through the President) निर्धारित अधिकारी का अपने पद से त्याग पत्र द सकता है। यदि कोई सदस्य लगातार तीन महीने तक अथवा बिना सन्तोषप्रद स्पष्टीकरण (Satisfactory explanation) के लगातार तीन बैठकों मे उपस्थित न हो ता सरकार उसे पद से निकाल सकती है। दण्ड न्यायालय से छः मास से अधिक का कारावास हाने, या दण्ड प्रक्रिया-संहिता (criminal-procedure code) की (१०९) या (११०) धारा के अनुसार जमानत रखने; प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे बोर्ड के किसी करार अथवा व्यापार मे स्वार्थ रखने,

स्थायी रूप से जिले से अपना निवास छोड़ने या अपने पद का अनुचित उपयोग करने पर भी किसी सदस्य का सदस्यता छोड़नी पड़ेगी।

बोर्ड के पदाधिकारी—प्रत्येक जिला बोर्ड में बहुत से पदाधिकारी होते हैं—कुछ वैतनिक और कुछ अवैतनिक। बोर्ड के (paid officials) वैतनिक पदाधिकारियों में मन्त्री, इन्जीनियर, टैक्स आफीसर, डिस्ट्रिक्ट मैडीकल आफीसर आफ हैल्थ गिनाये जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त इसके कार्य सचालन के लिए और भी अनेक कर्मचारी रखे जाते हैं। स्कूलों के डिप्टी इन्स्पेक्टर और सब डिप्टी इन्स्पेक्टर बोर्ड की शिक्षा समिति को शिक्षा सम्बन्धी कार्यवाहियों पर परामर्श देते हैं।

जिला बोर्ड का अध्यक्ष—अध्यक्ष बोर्ड का सबसे प्रमुख पदाधिकारी है। पुरानी प्रणाली के अनुसार उसे बोर्ड के सदस्य चुनते थे। इस प्रणाली का यह दोष था कि बोर्ड मे दलबन्दी और षड्यन्त्रों को प्रश्रय मिलता था। १९४८ ई० के सशोधन ने इस दोष को दूर करने के लिए अध्यक्ष के निर्वाचन के ढग को ही बदल दिया है। अब पूरे जिले के मतदाता अध्यक्ष को सीधे चुन लेते हैं। कोई व्यक्ति बोर्ड की सदस्यता और अध्यक्षता के लिए एक साथ खड़ा नहीं हो सकता। बोर्ड के सदस्य की योग्यता रखने वाला कोई भी व्यक्ति अध्यक्ष पद के लिए खड़ा हो सकता है यदि उसकी आयु ३० वर्ष या इससे अधिक है और बशर्ते कि वह अवैतनिक दण्डाधीश (Honrary Magistrate), आनरेरी असिस्टेन्ट कलक्टर, बोर्ड का कोई नौकर या पदाधिकारी अथवा सरकारी सेवक नहीं है। कोई अध्यक्ष दोबारा भी इसी पद के लिए उठ सकता है। परन्तु दो बार लगातार अध्यक्ष रहने के बाद कोई व्यक्ति बिना सरकार की अनुमति के तीसरी बार इसी पद के लिए नहीं चुना जा सकता। सरकार को इस प्रकार की अनुमति देने या न देने के कारणों को स्पष्ट करना पड़ेगा। अध्यक्ष का चुनाव बोर्ड के कार्य-काल तक, अर्थात् चार वर्ष के लिए होता है, और अपने उत्तराधिकारी के निर्वाचित होते ही उसकी अवधि समाप्त हो जाती है। अपनी इच्छा से वह कभी भी त्याग पत्र दे सकता है। बोर्ड को भी उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित करने का अधिकार है। जब अध्यक्ष के खिलाफ अविश्वास का प्रस्ताव पारित होकर राज्य की सरकार के पास जाये तो उसे तीन दिन के भीतर त्याग-पत्र दे देना चाहिए, अथवा युक्ति पूर्ण कारणों के साथ सरकार से बोर्ड को विघटित (Dissolve) करने की प्रार्थना करना चाहिए। सरकार अध्यक्ष का त्याग पत्र माँग सकती है अथवा बोर्ड का विघटन कर सकती है। पहली दशा मे अध्यक्ष को तीन दिन मे त्याग-पत्र दे देना चाहिए अन्यथा उसे पद से हटा दिया जायगा। यदि उसे त्याग-पत्र देने पर बाध्य किया गया है तो वह फिर चुनाव के लिए खड़ा हो सकता है। संक्षेप में, जनता द्वारा निर्वाचित अध्यक्ष और

जनता द्वारा चुने हुए बोर्ड के बीच गतिरोध (Deadlock) की अवस्था में जनता द्वारा ही उनका फैसला कराया जाता है।

बोर्ड के सदस्य अपने ही बीच से एक सदस्य को एक विशेष प्रस्ताव के द्वारा उपाध्यक्ष चुन लेते हैं। यह चुनाव केवल एक वर्ष की अवधि के लिए किया जाता है परन्तु कोई सदस्य दाबारा भी उपाध्यक्ष चुना जा सकता है। यदि एक के बजाय दो उपाध्यक्ष चुन लिये जाते हैं तो एक को बड़ा (Senior) और दूसरे को छोटा (Junior) उपाध्यक्ष कहेंगे।

जिला-मण्डली की रचना की पुरानी और नई पद्धति पर तुलनात्मक दृष्टि डालते हुए हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक संशोधना ने—पृथक निर्वाचन प्रणाली का अन्त, प्रौढ मताधिकार और अध्यक्ष का सीधा (Direct) निर्वाचन, ये तीन मुख्य परिवर्तन किये हैं। इन सुधारों से राज्य में स्वायत्तशासी संस्थाओं के विकास में पर्याप्त योग मिलेगा।

अध्यक्ष के अधिकार और कर्त्तव्य—जिला मण्डली के अध्यक्ष के निम्न लिखित अधिकार और कर्त्तव्य हैं—

(i) बोर्ड द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार बोर्ड के नौकरों की सेवा, वेतन, भत्ते, छुट्टी और कुछ सुविधाओं से सम्बन्धित प्रश्नों को तै करना।

(ii) बोर्ड की बैठकें बुलाना, अध्यक्षता करना और उनकी कार्यवाही चलाना, अशासी समिति की बैठकों में अध्यक्षता ग्रहण करना।

(iii) बोर्ड के वित्त और प्रशासन की देख रेख करना और तत्सम्बन्धी कमियों को बताना।

(iv) बोर्ड की कार्यवाहियों की रिपोर्ट, हिसाब किताब का चिट्ठा तथा इसी प्रकार के अन्य प्रलेख तैयार कराना और बाह्य अधिकारियों के मँगाने पर प्रस्तुत करना तथा

(v) ऐक्ट के अनुसार और वे सब का ' करना जो समय-समय पर सौंप जाये। अध्यक्ष का यह भी एक कर्त्तव्य है कि जिला बोर्ड के प्रशासन से सम्बन्धित आंकड़े और सूचना तैयार कराये। वह अपनी शक्तियाँ उपाध्यक्षों को भी सौंप सकता है।

जिला-मण्डली के कृत्य—जिला-मण्डली और नगरपालिका के कृत्य लगभग एक से ही है, अन्तर केवल इतना है कि पहली ग्रामीण परिस्थितियों का ध्यान रखती है और दूसरी नगर का। जिला बोर्ड के कृत्यों को भी अनिवार्य और वैकल्पिक दो भागों में बाँटा जा सकता है। ऐक्ट के अनुसार बोर्ड को निम्नांकित विषयों का प्रबन्ध अनिवार्य-रूप से करना होता है —

(१) सार्वजनिक सडकों और पुलों का बनवाना, मरम्मत कराना और उनकी रक्षा करना एवं यातायात की सुविधाएं बढाना।

(२) सार्वजनिक सडकों और स्थलों पर वृक्षारोपण और उनकी रक्षा करना।

(३) औषधालय, प्रसूति-केन्द्र, बाल चिकित्सालय इत्यादि का स्थापित करना, सरक्षण करना और प्रबन्ध करना।

(४) स्कूल और पुस्तकालय खुलवाना, उन्हे सहायता देना उनका निरीक्षण कराना, अध्यापकों के प्रशिक्षण और विद्यार्थियों की छात्रवृत्तियों का प्रबन्ध करना आदि।

(५) शरीर निर्माण (Physical culture) और गृह उद्योग धन्धों के केन्द्र खोलकर इन्हें प्रोत्साहन देना,

(६) सार्वजनिक कुए, तालाब, नहरे, बाँध, नालियां आदि का बनवाना तथा अन्य साधनों से पानी का प्रबन्ध करना,

(७) भयानक मकानों और भवनों को गिराना,

(८) अकाल रोकने वाले साधनों का प्रबन्ध करना और अकाल पीड़ितों की सहायता करना,

(९) पशु शालाएँ बनवाना और उनका प्रबन्ध करना।

(१०) सार्वजनिक नावों का प्रबन्ध करना,

(११) पडाव, सराय आदि का नियन्त्रण करना,

(१२) मेलों, कृषिप्रदर्शनी, और उद्योग प्रदर्शनी का लगवाना, पशुओं की नसल बढाना, इनके उपचार का प्रबन्ध करना, और कृषि और उद्योग को प्रोत्साहन देना

(१३) सार्वजनिक वैक्तिक, धर्मार्थ दान का प्रबन्ध करना

(१४) टीका लगवाने, सफाई और रोगों की रोक थाम करने का इन्तजाम करना,

(१५) पीने के स्वच्छ पानी का प्रबन्ध करना,

(१६) बोर्ड की सम्पत्ति को सुरक्षा करना और उसकी अभिवृद्धि करना,

(१७) ऐसे प्रलेख और विवरण पत्र तैयार करना जो राज्य की सरकार के समक्ष भेजने पडे,

(१८) खतरनाक, और ग्लानि पूर्ण व्यापार व्यवसायों को रोक देना,

(१९) रोग-निवारण, सफाई, कृषि, उद्योग और नसल सुधारने के बारे में ज्ञान प्रसार करना,

निम्नलिखित कुछ वैकल्पिक विषय है जिन पर बोर्ड स्वेच्छा से काम करेगा,

(१) नई सार्वजनिक सड़कों का बनवाना और उनके लिए भूमि का प्रदान (Acquire) करना।

(२) जन्म व मृत्यु का हिसाब रखना।

(३) पाठशाला के अतिरिक्त अन्य साधनों से शिक्षा का प्रचार करना—जैसे प्रौढ़-शिक्षा-स्कूल, और सचल पुस्तकालयों का प्रबन्ध।

(४) जनगणना करना।

(५) ट्रामवे, रेलवे और आवागमन के अन्य साधनों का बनवाना अथवा उनकी सहायता करना।

(६) छोटे-मोटे सिंचाई के साधनों को जुटाना।

(७) नदियों तथा पानी के अन्य स्रोतों को गन्दा होने से बचाना, आदि आदि।

यह खेद का विषय है कि अभी तक उत्तरप्रदेश की जिला मंडलियों ने वैकल्पिक विषयों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है।

वित्त—अपने अनिवार्य और वैकल्पिककर्त्तव्यों का पालन करने के लिए जिला-मंडली को धन की आवश्यकता पड़ती है। इन कार्यों के लिये राज्य की सरकार वार्षिक सहायता अनुदान देती है, इसके अतिरिक्त अपने व्यय की पूर्ति के लिए बोर्ड को स्थानीय कर और टैक्स लगाने का अधिकार है। यह कर व्यक्तियों पर सम्पत्ति और परिस्थितियों के विचार से लगाया जाता है। किसी व्यक्ति पर कर या रेट उस समय लगाया जाएगा जब कि वह कम से कम छः महीने उस जिले में रह चुका हो या व्यापार कर चुका हो, इसके अतिरिक्त उसकी कम से कम २००) वार्षिक आय होनी चाहिये। टैक्स की दर कुल करदेय आय (Taxable Income) पर चार पाई फी रुपये से अधिक नहीं रखी जा सकती। उपकर (अबवाब) किसानों या भूमि धरों से सीधा सरकार द्वारा उघा लिया जाता है और बाद में उसे जिला मंडली को दे दिया जाता है। गाड़ियों एवं नावों के मार्गशुल्क (Toll) और दुकानों, पुलों, बाजारों, पशु शालाओं, बोर्ड की सम्पत्ति—जैसे सड़क के वृक्षों के फलों, शिक्षा शुल्क, मेलों इत्यादि से भी बोर्ड कुछ रुपया इकट्ठा कर लेती है। नीचे मेरठ की जिला बोर्ड की आय के विभिन्न स्रोतों की तालिका दी जाती है। यह आँकड़े १९५०-५१ के बजट से उद्धृत किये जाते हैं :—

आय के मुख्य स्रोत	वास्तविक आय विगत वर्ष सन् ४८-४९	आगामी वर्ष का अनुमान सन् ५०-५१
सरकारी अनुदान		४४६२८७
शिक्षा	४२४५३५	
(क) स्थायी	८८८४	
(ख) अस्थायी		

स्थायी शफाखाने	५२३२	४५००
अबवाव	४४८८६१	५८६००
कर (हैसियत जायदाद)	१६०१११	२०००००
पशुशाला	२५८८३	३००००
पुलों से आय	११००	२५००
शिक्षा शुल्क	६०८४५	१४५५००
सूद अमानत	२६१	२६१
अन्य आय (अस्थायी)	३४८७	५००
शफाखाने इन्सानी		
और देशी इलाज आदि	८७६३	६५१०
शफाखाने पशु	४६५५	६११०
मेलों का आय	१५४०३३	१७८०००
सम्पत्ति से आय	५६६१	६१८०
कृषि एव वृक्ष आदि	२१६७७	३६०००
ब्याज	११२५	१०००
असाधारण और कर्ज	११४५५	५००

इन्हीं वर्षों का मेरठ के जिला बोर्ड का व्यय भी निम्नांकित है —

व्यय की मदें	विगत वर्ष का वास्तविक (१६४८–४६)	अनुमानित (१६५०–५१)
वसूलयाबी तथा		
साधारण प्रशासन	१२७८५८	१३१५००
पशु-शालाए	२५४८०	४७०००
शिक्षा	२५३३१	२५२००
बालकों के मिडिल स्कूल	६१०८०	१४०१५४
साधारण प्रायमिक पाठशालाए	३६६०१५	५७७६१६
इस्लामिया पाठशालाए	१६५७२	०११६
हरिजन पाठशालाए	२१६२१	३६३३६
ऐंग्लो कन्या पाठशालाओं		
की सहायता	२६२२१	४४४७४

व्यय की मदें—	विगत वर्ष का वास्तविक (१९४८—४९)	अनुमानित (१९५०—५१)
		८६५४९९
बालकों की अनिवार्य शिक्षा	५४८१११	२८७३८२
	१६५००१	९२५००
विविध	३५१३६	७९५०
	६००	५३२५०
शिक्षा दस्तकारी	५३९२७	५३२५०
मेडिकल चिकित्सा (अँगरेज़ी)	२५५९३	५००५०
देशी इलाज	१९८६६	२९४७०
स्वास्थ्य रक्षा	२०४२२	५९८००
टीके इत्यादि	२७१७६	१७४०००
पशुचिकित्सा	१५२०८२	२००००
मेले और प्रदर्शनी	१२९३७	३४१८०
कृषि और वृक्ष	२६१९९	
सार्वजनिक निर्माण (कर्मचारी वर्ग)		
मरम्मत		१४२०००
सड़क और	४१५०९	५०२७८१
दूसरे काम	१९३१६	१०७००
नये काम	५९८८	१५००
प्रौढ़ शिक्षा	१८३५५	६४३५०
वापसी	४४१७४	५००
नियुक्तियाँ	५००	
असाधारण और ऋण		

बाह्य हस्तक्षेप—जैसा कि पहिले ही बतलाया जा चुका है कोई भी सरकारी पदाधिकारी या नौकर बोर्ड का सदस्य नहीं हो सकता। परन्तु जिले के कुछ अधिकारियों को राज्य की सरकार ने बोर्ड की बैठकों में सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान कर दिया है। जैसे—जिलाधीश डिस्ट्रिक्ट मेडीकल आफीसर आफ हैल्थ, सिविल वैटरनरी विभाग के सुपरिन्टेन्डेन्ट और डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट। सरकार निर्धारित अधिकारियों को जिला बोर्ड के सम्बन्ध मे और भी अधिकार दे सकती है—

जैसे—

(१) इन्सपैक्टर जनरल आफ सिविल हॉस्पिटल और सिविल सर्जन को जिले में बोर्ड के औषधालयों और चिकित्सालयों के निरीक्षण का अधिकार।

(२) डाइरेक्टर और असिस्टेन्ट डाइरेक्टर आफ पब्लिक हैल्थ को जिले के सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग की देखरेख करने का अधिकार।

(३) चीफ इंजीनियर, सुपरिन्टेंडिंग इंजीनियर, ऐक्जीक्यूटिव इंजीनियर और डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर को सार्वजनिक निर्माण विभाग के निरीक्षण का अधिकार।

(४) शिक्षा के डाइरेक्टर और डिप्टी डाइरेक्टर, इन्स्पेक्टर और असिस्टेन्ट-इन्स्पैक्टर को शिक्षण-संस्थाओं की जाँच करने का अधिकार है।

इसी प्रकार राजस्व, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सार्वजनिक निर्माण, शिक्षा विभागों के अन्य निर्धारित अधिकारियों को भी बोर्ड के कामों में कुछ हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया जा सकता है।

बोर्ड की समितियाँ—नगरपालिका की भाँति जिला मण्डली को भी अपने अपने कार्य के सचालन के लिए अनेक समितियों की सहायता लेनी पड़ती है। इन समितियों में सब से प्रमुख प्रशासी (Executive) और शिक्षा-समितियाँ हैं। कुछ मण्डलियों में सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए पृथक एक समिति होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक तहसील के लिए एक एक तहसीली कमेटी होती है।

प्रशासी समिति—यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समिति होती है। १६४८ ई० के सशोधन ने ही पहली बार इस समिति का आयोजन किया है। इस समिति में अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, अन्य समितियों के अध्यक्ष और बोर्ड के सदस्यों द्वारा तीन और चुने हुए सदस्य सम्मिलित किये जाते हैं। बोर्ड का सेक्रेटरी इस का पदेन (Ex-officio) मन्त्री और बोर्ड का अध्यक्ष इसका पदेन अध्यक्ष होता है। प्रशासी समिति निम्नलिखित शक्तियों का प्रयोग करती है—

(i) किसी सदस्य का पारितोषण (Rumuneration) नियत करना।

(ii) किसी सदस्य के विरुद्ध नालिश करना।

(iii) किसी समिति से हिसाब किताब मांगना।

(iv) तहसील-समितियों को अधिकार और कर्त्तव्यों का सौंपना,

(v) तहसील-समितियों के लिए निधियाँ नियत करना।

(vi) बोर्ड के किसी सेवक, अधिकारी या समिति को करार (Contracts) की स्वीकृति देने के अधिकार देना।

(vii) किसी व्यक्ति को करार निष्पादन (Execution of Contract) की शक्ति प्रदान करना।

(viii) अनिवार्य कर्मचारी वर्ग के अतिरिक्त अन्य कर्मचारियों की सख्या और उनका वेतन नियत करना।

(ix) दूसरी स्थानीय संस्थाओं के साथ सहयोग करना।

(x) सार्वजनिक सड़कों का रुख बदलना या उन्हें बन्द करना।

(xi) कर-सम्बन्धी प्रस्तावों का तैयार करना।

(xii) राज्य की सरकार का वान्छित स्पष्टी करण (explanation) देना।

(xiii) शुल्क निर्धारित करना।

(xiv) बोर्ड को सौंपी गई सम्पत्ति का प्रबन्ध और नियन्त्रण करना।

इसके अतिरिक्त, प्रशासी समिति को बोर्ड स्वेच्छा से और भी शक्तिया सौंप सकती है। यही समिति वे सब कृत्य भी करती जिन्हें अब से पहिले वित्त समिति किया करती थी। दूसरे शब्दो मे, प्रशासी समिति ने १६४८ के सशोधन से पूर्व की वित्त समिति का स्थानापन्न किया है। उस समय वित्त समिति का प्रमुख कर्त्तव्य आगामी वर्ष के लिए आय व्यय के अनुमान और प्रचलित वर्ष के वास्तविक खर्च और अनुमानित रसीदों का विवरण तैयार करना था। यह कृत्य अब प्रशासी समिति द्वारा कराया जायेगा।

प्रशासी समिति का तैयार किया हुआ बजट बोर्ड के सामने रखा जाता है। विचार विमर्श के पश्चात् बोर्ड तक प्रस्ताव द्वारा बजट को सशोधित या पारित कर सकता है अथवा इसे बिल्कुल अस्वीकार कर सकता है। अस्वीकृत होने की दशा में प्रशासी समिति को दोबारा बजट बनाना पड़ेगा, यदि इस बार भी बोर्ड बजट को अस्वीकार कर देता तो यह बजट राज्य की सरकार के पास इसी अवस्था मे भेज दिया जायेगा। सरकार इसमे किसी प्रकार का भी परिवर्तन कर सकती है। प्रत्येक जिला मण्डली को अपना बजट और बाद मे किये हुए परिवर्तन सरकार को या सरकार द्वारा निर्धारित अधिकारी को भेजने पडते हैं। सरकार बजट को स्वीकार कर सकती है या कुछ मदों पर सशोधन करने के लिए इसे लौटा सकती है।

शिक्षा समिति–शिक्षा समिति में प्राय १२ सदस्य होते हैं जिनमें से ८ का निर्वाचन बोर्ड के सदस्यों में से होता है और शेष चार को बाहर से लिया जाता है। इन चार सदस्यों में से दो ऐसे सरकारी अधिकारी हो सकते हैं जो निरीक्षक के अतिरिक्त शिक्षा विभाग के कर्मचारी हो। समिति अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के चुनाव में अपने ही सदस्यों में से करेगी। प्रतिबन्ध यह है कि सरकार का वैतनिक सेवक प्रध्यक्ष पद पर न चुना जायेगा। इस का कार्य-काल केवल एक वर्ष नियत है।

इस समिति का मत्री डिप्टी इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स होता है। जिले के स्कूलों के निरीक्षक या निरीक्षका को समिति की बैठकों में भाग लेने और सदस्यों को शिक्षा के सम्बन्ध में सम्बोधित (Address) करने का अधिकार प्राप्त है। यदि शिक्षा समिति अपना कार्यवहन सुचारु रूप से न करे तो बोर्ड एक विशेष प्रस्ताव के द्वारा सरकार से उसे विघटित (dissolve) करने की प्रार्थना कर सकता है। बोर्ड की ओर से शिक्षा-समिति जिले के स्कूलों का प्रबन्ध और प्रशासन सब अध्यापकों की

नियुक्ति, बदली इत्यादि करती है। समिति का अध्यक्ष समिति की कार्यवाही का विवरण बोर्ड के समक्ष प्रस्तुत करता है।

तहसील समितियाँ—तहसील के प्रशासन में सहायता के लिए बोर्ड तहसील समितियों की नियुक्ति करती है। एक तहसील समिति में वे सभी सदस्य सम्मिलित होते हैं, जो उसी तहसील से चुने गये हों। इस के अतिरिक्त तहसील समिति में और भी सदस्य बोर्ड के द्वारा मनोनीत किये जा सकते हैं। तहसील समिति के वह अधिकार और कर्त्तव्य होंगे जो बोर्ड उसके लिये हस्ताक्षित करे। बोर्ड ही इस प्रकार की समितियों के लिए कोष निर्धारित करता है।

ग्राम पंचायतें

परिचयात्मक—हमारे देश में स्थानीय स्वशासी संस्थाओं को उतनी सफलता न मिल सकी जितनी कि इंगलैंड और अन्य प्रजातन्त्रात्मक देशों में। नगरपालिका और जिला मण्डली की असफलता के कारणों पर हम बाद में विचार करेंगे। पहिले हम ग्राम पंचायतों का विवेचन करना चाहते हैं जिन का हमारे देश में बहुत पुराना इतिहास है। कहा जाता है कि एक समय था जब कि पंचायतें हमारे समाज के सुसंगठित भवन की आधार शिलाएं थीं। एक लेखक ने पंचायतों को प्राचीन भारत की महानता का कारण बताया है। ब्रिटिश साम्राज्य की छाया में ये फूल फल न सकीं। अपने प्राचीन रूप से न सही, किन्तु किसी न किसी रूप में ब्रिटिश राज्य काल में भी इन्हें जैसे तैसे जीवित रखने का प्रयास किया गया। हमारे नवीन संविधान में भी इन गणतन्त्रात्मक इकाइयों के पुनर्संगठन का निर्देश है। ★

उत्तर प्रदेश में गाँवों में पंचायत राज स्थापित करने के लिए १६५० में एक ऐक्ट बनाया गया। इस ऐक्ट का प्रमुख दोष यह था कि ग्राम पंचायतों के प्रतिनिधि जनता से निर्वाचित होने के बजाय सरकारी पदाधिकारी द्वारा नियुक्त होते थे। कलक्टर की ओर से तहसीलदार ही पंचों का नाम निर्देशन कर देता था। दूसरे पंचायतों के कुछ अधिकार भी न थे। सरकारी कठोर नियन्त्रण के कारण वे वास्तविक लोकतन्त्रात्मक इकाइयां न बन सकीं। १६३७ ई० में जनप्रिय कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बना तो हमारे प्रतिनिधियों ने ग्राम्य जीवन में फिर से स्फूर्ति लाने के लिए १६२० ई० द्वारा के पंचायत राज ऐक्ट की काया पलट करनी चाही। वे लोग एक नया अधिनियम बनाने की कल्पना ही कर रहे थे कि उन्हें त्याग पत्र देने पड़े। इसके बाद फिर कुछ दिन के लिए ग्रामों की उन्नति का स्वप्न भग्नप्राय हो गया। दोबारा पद ग्रहण करते ही हमारे राज्य की सरकार ने फिर अपने विचार को पूरा करने का प्रयत्न किया, फलस्वरूप १६४७ ई० का गाव पंचायत राज ऐक्ट बनाया गया।

★ देखिए भारत का संविधान अनुच्छेद (४०)

१९४७ ई० का गाँव पंचायत राज ऐक्ट—यह ऐक्ट १९५० ई० के ऐक्ट से बिल्कुल भिन्न है। इस का उद्देश्य ग्रामों में स्वायत्त शासन का बड़े पैमाने पर प्रयोग करना है। यह लोगों में सहकारिता और स्वाभिमान की भावना भरना चाहती है। हमारे देश में स्वायत्त शासन की ओर इतना क्रान्तिकारी कदम नहीं उठाया गया था। यह १९४७ई० के ऐक्ट के समान संकुचित और संकीर्ण नहीं है। १९२० ई० के ऐक्ट में प्रत्येक गाँव में प्रौढ मताधिकार के आधार पर प्रतिनिधि संस्थाओं की कल्पना भी न थी। १९४७ ई० के ऐक्ट के अनुसार नगर पालिका, टाउन, एरिया नोटीफाइड एरिया आदि शाहरी हलकों को छोड़ कर छोटे बड़े गावों के लिए ग्राम पंचायत और पंचायती अदालतों का विधान है। नए अधिनियम के अनुसार ग्राम्य स्वशासन से सम्बन्धित तीन संस्थाएं होंगी—गाँव सभा, ग्रामपंचायत और पंचायती अदालत। नीचे इन तीनों का अलग-अलग विश्लेषण किया जायगा।

(१) गाँव सभा—१९४७ ई० के गाँव पंचायत राज ऐक्ट के अनुसार १००० या इससे अधिक जनसंख्या वाले गाँव की एक गाँव सभा बनादी जायेगी। जिन गाँवों में इससे कम जनसंख्या है उन्हें पास—पड़ोस के गाँवों के साथ मिलाकर गाँव सभा बना दी जायेगी। यदि किसी गाँव की ऐसी स्थिति है कि तीन मील से अधिक दूरी के कारण उसे किसी अन्य गाँव के साथ मिलाने में कठिनाई होगी तो उसे अपनी पृथक गाँव सभा बनाने की आज्ञा मिल सकती है और ऐसी विशेष परिस्थिति में उस की जन-संख्या का कोई विचार न रखा जायेगा।

गाँव-सभा में अपने क्षेत्र के निवासी सभी प्रौढ स्त्री पुरुष सम्मिलित होंगे। केवल २१ वर्ष से कम आयु का, पागल, दिवालिया, कोढी सरकारी नौकर, फौजदारी मुक-दमे में सजायाफ्ता, आदि होने के कारण ही किसी व्यक्ति को उसके क्षेत्र की गाँव सभा का सदस्य होने से रोका जा सकता है।

गाँव-सभा की वर्ष में कम से-कम दो बैठकें होंगी—एक रबी की फसल कटने के बाद और दूसरी खरीफ की फसल कटने के बाद। गाँव सभा के सदस्यों के एक पाँचवें भाग से अधिक सदस्य बीच में भी सभा की असाधारण बैठक बुलवा सकते हैं। ग्राम पंचायत का चुनाव करते समय गाँव सभा के सदस्य अपने प्रधान और उपप्रधान का भी सीधा चुनाव (Direct Election) करते है। ये पदाधिकारी तीन वर्ष के लिए चुने जाते हैं। इन्हें कार्य काल के बीच में भी कम से-कम दो तिहाई सदस्यों के बहुमत से पदच्युत किया जा सकता है। सभा की बैठकों में प्रधान ही सभापतित्व ग्रहण करते हैं।

खरीफ की फसल कटने के बाद गाँव सभा आगामी वर्ष का आय-व्ययक पारित करती है और रबी की बैठक में प्रचलित वर्ष के हिसाब किताब की जाँच-पड़ताल

करती है। सभा प्रधान द्वारा प्रस्तुत की हुई ग्राम पचायत की कार्यवाही पर भी विचार विमर्श करती है। इन बैठकों में प्रस्ताव रखे जा सकते हैं और पचायत (Executive) के कार्य के बारे में प्रश्न पूछे जा सकते है। सभा का काम एक ऐसा रजिस्टर भी तैयार करना है जिसमे सभी प्रौढ मतदाताओं की सूची हो।

अपनी कार्यकारिणी को गाँव-सभा स्वय चुनती है जिसे ग्राम पचायत कहा जाता है। ग्रामपचायत के सगठन, अधिकार और कर्तव्यों का उल्लेख निम्नांकित है —

ग्राम पचायत —गाव सभा क क्षेत्र मे कुल जनसख्या के अनुपात से गाव पचायत मे कम या अधिक प्रतिनिधि चुने जा सकते है। एक पचायत मे प्रधान और उपप्रधान के अतिरिक्त कम से कम ३० और अधिक से अधिक ५० सदस्य हो सकते हैं। गाव सभा क सभापति और उपसभापति ग्राम पचायत के भी प्रधान और उप-प्रधान होते हैं।

ग्राम पचायत अपनी छोटी छोटी समितिया बना लेती है जिनमे निर्धारित सख्या में बाहर से भी सदस्य मिलाए जा सकते हैं। पचायत का वास्तविक प्रशासन सम्बन्धी कार्य यही समितिया करती है। ग्राम पचायत की एक मास मे कम से कम एक बैठक होना आवश्यक है।

एक ग्राम पचायत को निम्नलिखित प्रकार के काय करने पडते हैं :—

(क) अपने क्षेत्राधिकार की गलियों को बनवाना, मरम्मत, सफाई, रोशनी आदि कराना।

(ख) रोगों का उपचार करना और सफाई रखना।

(ग) सक्रामक रोगों से बचाव रखना।

(घ) गाँव सभा के भवन और सपत्ति की रक्षा करना।

(ङ) जन्म, मृत्यु, विवाह आदि का रजिस्टर बनाना।

(च) मरघट और श्मशाना का प्रबन्ध करना।

(छ) छोटे-छोटे मेले, हाटों का प्रबन्ध करना।

(ज) लडके लडकियों की शिक्षा का प्रबन्ध करना।

(झ) चरागाहों का प्रबन्ध और रक्षा करना।

(ञ) सार्वजनिक कुएँ, बावडी, तालाब इत्यादि का बनवाना और उनकी रक्षा करना, पीने के पानी का प्रबध करना।

(ट) कृषि, वाणिज्य, उद्योग का विकास करना, आग बुझाना।

(ठ) प्रसूतगृह और बालकों की भलाई का प्रबन्ध करना।

(ड) जन गणना और पशु गणना का हिसाब रखना।

(ढ) खत्तों का खुदवाना और खाद का प्रबन्ध करना।

(ण) विधि द्वारा निश्चित और कृत्यों का पालन करना।

इनके अतिरिक्त ग्राम पचायत के और भी अनेक कर्त्तव्य हैं उन सब को गिनाने की आवश्यकता नहीं। केवल यह कह देना काफी है कि ग्राम्य जीवन के सर्वांगीण विकास का भार पचायतों के ऊपर है। स्थानीय आवश्यकता की सभी चीजों पर उसी का नियंत्रण है। वह अपने कार्यों को पूरा करके सरकार का भी हाथ बँटा सकती है। उदाहरणार्थ जो पचायतें अच्छे ढग से काम करेंगी उन्हें सरकार लगान उगाने का काम भी सौंप सकती है। पशुओं की उन्नति, जमीन की उन्नति आदि के लिए पचायतें सब कुछ कर सकती हैं। सुरक्षा के लिए वे स्वय सेवक दल बना सकती हैं। सहकारिता का विकास, अच्छे बीजों का जमा रखना, अकाल रक्षा, पुस्तकालयों का आयोजन, मेल-जोल का बढाना, रेडियो इत्यादि का प्रबन्ध करना, ग्रामीण जनता की भौतिक और अध्यात्मिक उन्नति करना, पचायतों के कुछ और नैमित्तिक कर्त्तव्य हैं।

इन सब अधिकार और कर्त्तव्यों के अतिरिक्त एक और नई बात यह है कि सरकारी नौकरों के बुरे व्यवहार के विरुद्ध भी पचायत शिकायत कर सकती है पटवारी, पतराल, सरकारी चपरासी, सिपाही और टीका लगाने वालों के खिलाफ जो शिकायत ग्राम पचायतें करेंगी उस पर विशेषतया ध्यान दिया जायेगा।

पचायत के कार्य में सहायता देने के लिए पचायत की ओर से वैतनिक सेक्रेटरी रखे गये हैं।। इनके अतिरिक्त पचायत और भी छोटे छोटे कर्मचारी रख सकती है। परन्तु इसके लिए उसे निर्धारित अधिकारी (पचायत अफसर) की अनुमति लेनी पडती है।

गाँव कोष—अपने विविध कर्तव्यों का सुचारु रूप से पालन करने के लिए गाँव पचायत को धन की आवश्यकता पडती है। इसलिए इसे एक गाँव कोष रखने का अधिकार दिया गया है। इस कोष में गाँव पचायत की आय जमा होगी गाँव पचायत की आय के साधन निम्नांकित हैं :—

(i) सरकारी अनुदान।
(ii) ऐक्ट के अधीन लगाए हुए कर और शुल्क।
(iii) पचायती अदालतों की आय का बटवारा।
(iv) खाद गोबर, कूडा करकट आदि की बिक्री।
(v) मृतक जानवरों की हड्डियों से आय।
(vii) पचायत की सम्पत्ति पर सूद, किराया आदि।
(viii) दान या उधार।
(ix) मेले हाटों आदि का शुल्क।

(x) ठेके और व्यापार व्यवसायों पर की आय।

(ix) और भी जिन वैध तरीकों से आय हो सके।

गाँव पचायत को एक रुपये लगान पर एक आना तक कर वसूल करने का अधिकार है। इसी प्रकार व्यापार और पेशों पर भी कर लगाने के लिए निर्धारित नियम हैं जिनका पचायत उल्लघन नहीं कर सकती। गाव पचायत को तोला, कूजड़ों, शकर साफ करने वालों और किराये पर गाड़ी चलाने वालो से लाइसेन्स की फीस उघाने का भी अधिकार है।

इन सब आयों का लेखा गाँव पचायत को गाँव सभा की बैठकों में पेश करना होगा। गाँव कोष में रुपया जमा करने और रुपया निकालने के भी निर्धारित नियम हैं जिनमें जाने की आवश्यकता नहीं।

पचायती अदालत—गाँव वालों का छोटे-छोटे झगड़ों पर बेकार का खर्च और कठिनाई बचाने के लिए पचायत राज मे पचायती अदालत की स्थापना का विधान है। ये पचायती अदालतें कम से कम तीन और अधिक से अधिक पाँच गाँव सभाओं के ऊपर एक एक होगी। इस प्रकार एक जिले मे अनेक पचायती अदालत होंगी।

एक पचायती अदालत के अन्तर्गत जितनी गाँव सभाएँ होती हैं वे पाँच-पाँच पच चुनकर भेजती है। इस प्रकार एक पचायती अदालत मे कम से कम १५ और अधिक से अधिक २५ सदस्य हो सकते हैं। पचायती अदालतों के सदस्यों की कम से कम ३० वर्ष आयु होनी चाहिए और उन्हें हिन्दी का साधारण ज्ञान होना आवश्यक है। इन सब का ३ वर्ष के लिए चुनाव होता है। पद ग्रहण करते ही यह लोग निर्धारित ढग से शपथ लेते हैं। एक पचायती मण्डल (circle) के सभी पच मिलकर बहुमत से अपने सरपच का निर्वाचन करते हैं। सरपच का इस योग्य होना चाहिए कि वह अदालती कार्यवाही को लिख सके। पचायती अदालत के सामने आने वाले प्रत्येक अभियोग के तै करने के लिए सरपच पाच पचों का एक बैंच बनाता है। इनमें से कम से कम एक पच ऐसा होना चाहिए जो कार्यवाही लिख सके। बैंच के बनाने के कुछ निर्धारित नियम हैं जिन्हें बतलाना आवश्यक नहीं है।

प्रत्येक नालिश के लिए पचायत की कुछ फीस नियत है। यह शुल्क उस मामले के मूल्य पर निर्भर है। यह अदालत—फौजदारी, दीवानी और माल—तीनों प्रकार के ही छोटे-छोटे मुकदमे तै कर सकती है। इसके फौजदारी के क्षेत्राधिकार में कुछ Cattle Tresspass Act, कुछ D B. Primary Education Act, कुछ Public Gambling Act और कुछ Indian penal code (भारतीय दण्ड-संहिता) के अभियोग सम्मिलित हैं। दीवानी मामलों में ये अदालतें १००) तक के मूल्य के मुकदमे ले सकती हैं;

परन्तु सरकार द्वारा किसी न्यायालय का क्षेत्राधिकार ५००) तक के मूल्य के मुकदमों तक बढाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त २००) तक का हैसियत के माल के मुकदमे पचायती न्यायालयों को सौंप दिये जायेंगे। पचायती अदालतों के सामने मुकदमे सुने जाने की बहुत ही सुगम और सरल रीति अपनाई गई है। इन अदालतों के सामने वकील पेश नहा किये जायेंगे। कोरी वैधता के बजाय इन अदालतो में सर्वमान्य न्याय पर अधिक ध्यान दिया जायेगा।

पचायती अदालत केवल जुर्माने ही कर सकती है। इनको शारीरिक दण्ड या कारागार की सजा देने का अधिकार नहीं है। किसी भी अवस्था मे इस अदालत का १००) से अधिक जुर्माना करने की शक्ति नहीं है, केवल सरकार ही इस अधिकार को बढा सकती है। जिन विषयों मे सजा देना आवश्यक प्रतात हो, उन्हें पचायत के एस० डी० ओ० की अदालत मे भेज देना चाहिए। जिन विषयों मे पचायत को निर्णय करने का अधिकार है, उनकी अपील किसी बडी अदालत में नहीं हो सकती।

बाह्य नियन्त्रण—ऐक्ट के अनुसार राज्य की सरकार को गॉव सभा, ग्राम-पचायत और पचायती अदालत पर नियन्त्रण का अधिकार है। यह नियन्त्रण कई प्रकार से प्रयोग किया जाता है। इन सभाओं, पचायतों और अदालतों का निरीक्षण करने के लिए सरकार ने पचायत निरीक्षक (Panchayat Inspectors) रख छोड़े है, जिनके ऊपर पचायत अफसर और पचायत डाइरेक्टर क्रमश रखे गये हैं। अपने अभिकर्ताओं (Agents) के द्वारा सरकार इन सस्थाओं के कार्य की देख-भाल करती है। सरकार प्रशासन और वित्त-सम्बन्धी पुस्तक, प्रलेख आदि की इनकी कार्यवाही के विषय मे प्रतिवेदन मगा सकती है। उसे किसी भी सभा, पचायत या अदालत के विघटित (Dissolve) करने का हक है। गाँव-सभा या पचायती अदालत का बजट तभी लागू हो सकेगा, जब कि उस पर निर्धारित अधिकारी (पचायत निरीक्षक) के हस्ताक्षर हों।

नये ऐक्ट के विषय में कुछ विचार—१५ अगस्त १९४७ ई० को उत्तर-प्रदेश मे ३४७५५ पचायत और ८२२५ पचायती अदालतो ने कार्यारम्भ किया। ये सस्थाएं लगभग ५ करोड चालीस हजार ग्रामीण जनता का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस प्रकार जनता के हाथों में एकदम इतने बड़े पैमाने पर सत्ता का हस्तान्तरण किया गया है, जिसका अब तक देश मे कोई उदाहरण नहा है। पिछले चुनाव, ऐक्ट के अनुसार सयुक्त निर्वाचन और प्रौढ मताधिकार के आधार पर किये गये। अल्पसख्यकों के लिए स्थान सुरक्षित थे। इन चुनावों में ग्रामीण जनता ने बड़ा ही उत्साह प्रदर्शित किया। लोगों मे नई राजनैतिक चेतना दिखाई पड रही

थी। इस निर्वाचनों मे स्त्रियों ने भी पर्याप्त अभिरुचि दिखाई और उनमें से लगभग एक हजार को कई पदों पर चुना गया। इन सस्थाओ के निर्वाचित प्रतिनिधियों—सदस्य, प्रधान और उपप्रधाना की सख्या १३,०६,७०३ थी।

पचायतों के ठीक प्रकार निर्देशन और पथ प्रदर्शन करने के लिए ५०० पचायत राज निरीक्षको की नियुक्ति की गई। इन लोगो को लखनऊ मे पन्द्रह दिन की कडी ट्रेनिंग (प्रशिक्षण) दी गई। आठ हजार से अधिक सेक्रेटरियों का भी अलग-अलग जिला मे सरपचों के साथ प्रशिक्षित किया गया। सरकार ने २८,७८,७५०) रुपये सेक्रेटरियों की नियुक्ति के खर्च के लिए और ५०,१३,५५०) रुपये गाँव सभाओं की सहायता के लिए रख दिया।

पचायतों ने रोग, गन्दगी, निरक्षरता को दूर करने में बडा काम किया और सरकार की उपज बढाने (Grow More Food) और जमींदारी-उन्मूलन निधि (Zamindari Abolition Fund) के प्रचार मे विशेष सहायता की। ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि अब एक लहर सी आने लगी और पचायतें अधिकाधिक अपने उत्तरदायित्व के बारे मे सचेत हो रही हैं और वे ग्रामो की उन्नति मे सलग्न हैं।

सरकार ने २०७ आदर्श पचायत बनाई, एक तहसील में एक के हिसाब से। प्रत्येक जिले मे आदर्श पचायतो के निदर्शन क लिए सरकारी और गैर सरकारी व्यक्तियों की एक एक समिति बनाई गई। एक १६ मदो की योजना बनाई गई जिनमे राष्ट्रीय कार्यवाही के सभी पहलू थे। यह आशा की जाती है कि ये आदर्श पचायतें अपने आस पास के गावों के लिए नमूने का काम करेंगी। मुकद्दमेबाजी कम करने मे भी पचायती अदालतो ने बडा महत्वपूर्ण कार्य किया। समाचार है कि अब पचायती अदालतें ग्रामीण लोगों मे बहुत लोक प्रिय होती जा रहा हैं।

हमारो नई गाँव सभाएँ और उनसे सम्बन्धित सस्थाऍ केवल उत्तर प्रदेश के लिए ही नहा, अपितु समस्त भारत के लिए गौरव का विषय बननेवाली हैं। वे राष्ट्र की आशाओ की प्रतीक हैं। इतने बडे पैमाने पर उनकी स्थापना प्रजातन्त्र का सबसे बडा प्रयोग है जिसने, वास्तव मे शक्ति का विकेन्द्रीकरण करके लोकतन्त्र के एक नए युग को प्रश्रय दिया है। ये स्थानीय सस्थाएँ ही प्रशासन और नेतृत्व के सच्चे प्रशिक्षण चेत्र हैं। यद्यपि अभी हाल में ही १५ अगस्त १६४६ ई० से इन्होंने कार्यारम्भ किया है फिर अनेक कठिनाइयो के होते हुए भी उन्हे अपूर्व सफलता मिली है। हमे आशा है कि इन पचायतो क द्वारा ही गाधी जी का स्वराज्य और रचनात्मक कार्य क्रम का स्वप्न पूरा हो सकेगा।

स्थानीय स्वशासन के प्रयोग की असफलता के कारण।—जब कोई व्यक्ति यह कहे कि भारत में बीते युग में स्थानीय स्वायत्तशासी संस्थाओं के प्रयोग में सफलता नहीं मिली है तो इसका यह अभिप्राय न समझना चाहिए कि यह प्रयोग पूर्णतया असफल रहा है। ऐसा विचार करना सत्य और तथ्य के विरुद्ध होगा। जब से १६१६ ई० के सुधारों के अनुसार स्वायत्त शासन एक मन्त्री के आधीन हस्तान्तरित विषय बना तभी से नगर पालिका और जिला मण्डलियों ने काफी विकास किया है। चुनावों में काफी धमाधमी रहती रही है और उनमें कांग्रेस के भाग लेने के कारण जनता ने भी विशेष अभिरुचि दिखाई है। इनमें देश भक्त, स्वार्थ-रहित व्यक्तियों ने भी भाग लिया। प्रयाग (इलाहाबाद) के लोग उन सेवाओं का नहीं भुला सकते जो प० जवाहरलाल नेहरू ने वहां की नगर पालिका के अध्यक्ष बन कर की थी। इसी प्रकार अहमदाबाद के लोग सरदार वल्लभ भाई पटेल की सेवाओं को याद रखेंगे। परन्तु कांग्रेस के इन संस्थाओं से हाथ खींचने ही इनका प्रशासन उसी पुरानी 'गिर्दाब' में पड़ गया। इसलिए जब कभी इन स्थानीय संस्थाओं का जिक्र आए तो इनकी असफलता को सापेक्ष रूप में ही लेना चाहिये। हमारे देश में इन संस्थाओं का उतना विकास न हो सका जितना कि इसी प्रकार की संस्थाओं का पाश्चात्य देशों में।

इस तुलनात्मक, सापेक्ष असफलता के कारण ढूँढने में पूर्व यह आवश्यक है कि हम यह जान लें कि यह असफलता किस प्रकार की है। लेखक के विचार से स्थानीय संस्थाओं की असफलता इस तथ्य में निहित है कि अनिवार्य विषयों में इन्होंने विशेष अभिरुचि नहीं दिखाई है। अभी तक अनिवार्य शिक्षा, रोगों की रोक-थाम, सफाई का विशेषतया ग्राम्य क्षेत्रों में कोई उत्साहवर्द्धक कार्य नहीं किया गया। गांव में कच्ची सड़कों की बहुत बुरी दशा है। सभी स्थानीय स्वशासी संस्थाओं में घूस का बोल-बाला है। कुछ नगर पालिकाओं को छोड़कर सभी म्यूनिस्पैलिटियों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों ने वैकल्पिक विषयों को अलग उठाकर रख दिया है। उदाहरणार्थ—यातायात के साधनों को उन्नत करने का कोई कदम नहीं उठाया गया। जिला मण्डलियाँ इस ओर विशेषतः पिछड़ी हुई हैं। छोटे छोटे सिंचाई के साधनों और उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन देने का काफी अवसर था परन्तु इस ओर ध्यान ही नहीं दिया गया।

इन सबका एक कारण पिछले दिनों का सरकार का रुख भी रहा है। सरकार ने इनको कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया। परन्तु सरकार पर ही सारा दोष आरोपित करना पक्षपात पूर्ण होगा। इन संस्थाओं की असफलता का सबसे प्रमुख कारण लोगों में, और खास तौर से प्रतिनिधियों में, जानपद चेतना (Civic Consciousness) का अभाव है। अभी हम स्वार्थों के ऊपर सामाजिक हितों को

तरजीह देना नहीं सीख पाये हैं। निर्वाचन के समय मतदाताओं को जानपद कर्त्तव्य (Civic Duty) के बजाय जाति, धर्म और कुटुम्ब के विचारों का अधिक ध्यान रहता है। नगरों के बजाय गावों पर यह बात और भी अधिक सत्य सिद्ध होती है। गावों के दलों से जिला बोर्ड के चुनाव में कोई भी थोड़ा प्रभावशाली व्यक्ति बाजी मार जाता है।

पिछले दिनों की पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली भी स्थानीय संस्थाओं के विकास में अत्याधिक बाधक रही है। इसके कारण पदों की नियुक्ति में भी साम्प्रदायिक संकीर्ण भाव ही काम करते थे। अब इस विषैली पद्धति का समान्त कर दिया गया है परन्तु कुछ दिनों इसका प्रभाव बना रहेगा। स्थानीय स्वशासी संस्थाओं में उस समय तक कोई विकास न होगा जब तक इनके अधीन सेवाओं पर नियुक्ति के लिए योग्यता का कोई मापदण्ड न होगा। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि इन संस्थाओं के प्रतिनिधियों में कुछ विशेष गुणों का होना आवश्यक है। अब स पहले प्राय. स्वार्थी लोग ही इनमें चुने जाने की आशा रखते थे। प्रतिनिधियों के लिए किसी प्रकार की योग्यता का भी सुझाव रखा जा सकता है। ग्रेजुएट न सही, कम से कम दसवा पास करना तो इनमें चुने जाने की योग्यता निश्चित की ही जा सकती है।

पहिले इन स्थानीय संस्थाओं के लिए निर्वाचन बहुत थोड़े व्यक्ति करते थे जिसके कारण 'प्रभावशाली' व्यक्ति आसानी से योग्य व्यक्ति को चुनाव म हरा सकते थे। अब प्राढ मताधिकार के कारण यह दोष दूर हो गया है।

स्थानीय स्वशासी संस्थाएँ एक और कारण स भी अधिक सफल न हो सकीं—इन संस्थाओं के साधन बहुत ही सीमित रहे हैं। यदि हम इन संस्थाओं से अनेक सुख सुविधाओं की आशा करते हैं तो हमे इनको उतने ही अधिक साधन और अधिकार भी देने चाहिएँ।

अन्तिम बात यह कि ये संस्थाए भारत के लिए नई-नई थी और इन्हे पाश्चात्य प्रणाली पर ढालने का प्रयत्न किया गया। भारतीय जनता तो प्राचीन काल स और ही प्रकार की स्थानीय संस्थाओं से परिचित थी। यदि इन संस्थाओं को अधिक सफल बनाना है तो इनमें राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुकूल थोड़े परिवर्तन आवश्यक है।

उपरोक्त बातों को दृष्टिगत रखकर हमारे राज्य की सरकार ने नगर पालिकाओं और जिला मण्डलियोंमें संशोधन किये हैं। आशा है कि भविष्य में राष्ट्रीय सरकार की छत्र छाया में ये संस्थाए अधिक फलफूल सकेंगी

अध्याय १८

देशी रियासतें

परिचयात्मक—हालाँकि आज भारतीय रियासतों की स्थिति उनके पुराने रूप में नहीं है और उनकी स्वतन्त्र स्थिति तथा अधिक संख्या से उत्पन्न हुई गम्भीर समस्याओं का निराकरण अच्छी प्रकार तथा संतोषप्रद ढंग से हो गया है, फिर भी उनका कुछ वर्णन किये बिना भारतीय नागरिक जीवन तथा प्रशासन का हमारा निरीक्षण अपूर्ण रहेगा।

हालाँकि भारत संसार की स्वच्छतम् भौगोलिक इकाइयों में से एक था और उसके निवासी एक ही सांस्कृतिक परम्परा तथा रक्त एवं भावनाओं के एक ही बन्धन से बन्धे हुए हैं, फिर भी ब्रिटिश-युग में वह राजनैतिक दृष्टि से एक तथा अविभाज्य न था। राजनैतिक दृष्टि से वह चार निश्चित भागों—ब्रिटिश भारत, फ्रांसीसी भारत, पुर्तगाली भारत, तथा किसी अधिक उपयुक्त नाम की अनुपस्थिति में भारतीय भारत कहा जाता था—में विभाजित किया जा सकता था। इनमें से फ्रांसीसी भारत सबसे छोटा था और इसके टुकड़े एक दूसरे से दूर दूर पड़े हुए थे। भारत तथा फ्रान्सीसी सरकार के बीच चल रही वार्ता के कारण फ्रान्स सरकार ने अपने उपनिवेशों के लोगों को मतगणना द्वारा यह निश्चित करने का अधिकार दे दिया है कि वे भारतीय संघ में सम्मिलित होना चाहते या फ्रान्सीसी साम्राज्य में बने रहना चाहते हैं। चन्द्रनगर के निवासियों ने तो भारत में सम्मिलित होने का निश्चय कर भी लिया है। भारत के पुर्तगाली स्वदेशों के, जिनका क्षेत्रफल लगभग १६३० वर्ग मील है[1] सम्बन्ध में पुर्तगाल सरकार से अभी कोई ऐसा समझौता नहीं हुआ है जो इस उद्देश्य से वार्ता चल रही है। ब्रिटिश भारत तथा भारतीय रियासतें अन्य एक ही उभरनिष्ठ राज-सत्ता—भारत संघ—के भाग हैं। उनका राजनैतिक अलगाव अब समाप्त हो गया है।

रियासतों की समस्या—कैबिनेट मिशन-योजना तथा जून ३, १६४७ की घोषणानुसार ब्रिटिश भारत की सरकार की भारतीय रियासतों के ऊपर सार्वभौम-सत्ता Paramountcy समाप्त हो गयी। सब सरकार से समझौता करके भारतीय रियासतें अपने भविष्य निर्णय के लिये स्वतन्त्र छोड़ दी गयीं। ब्रिटिश शक्ति के हट जाने तथा उसके स्थान की रिक्तता के कारण भारतीय रियासतों के कुछ शासकों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित करने का निश्चय कर लिया। सरकार की इच्छा अपने को सार्व

भौम-सत्ता (Paramount Powers) घोषित करने की न थी, फिर भी यह किसी रियासत को स्वतन्त्र बनने की स्वीकृति नहीं दे सकती थी। ऐसा करना इतिहास द्वारा सिखाये पाठ को एकदम भुला देना था। सरदार पटेल के शब्दों में, इतिहास की यह शिक्षा है कि राजनैतिक दृष्टि से देश की अनेक टुकड़ों में विभाजित दशा तथा अपना एक संयुक्त मोर्चा न बना सकने के कारण ही भारत को आक्रमणकारियों की एक के बाद दूसरी लहर के सामने झुकना पड़ा। अपने पारस्परिक वैमनस्य, आन्तरिक झगड़ों तथा विद्वेष के कारण ही अतीत में हमारा पतन हुआ और विदेशी सत्ता का हमें कई बार शिकार बनना पड़ा। हम उन त्रुटियों तथा जालों में फिर नहीं पड़ सकते।'

भारतीय रियासतों की भौगोलिक तथा राजनैतिक स्थिति ना शेष भारत से उनकी स्वतन्त्रता के विरुद्ध पड़ती है। मानचित्र की ओर एक दृष्टि डालने से ही यह स्पष्ट हो जायगा कि कोचीन, ट्रावनकोर तथा काठियावाड़ के जलडमरूमध्य तथा कच्छ के द्वीप की कुछ रियासतों को छोड़कर भारतीय रियासतें 'भारत की रीढ़' पर स्थित एक दूसरे से भूमि द्वारा परिवेष्टित क्षेत्रों की शृंखला हैं। भारत से अलग रहकर वे आयात-निर्यात् द्वारा व्यापार नहीं कर सकतीं। इस प्रकार उनकी स्थिति भारत के साथ उनके सर्वांगीण सहयोग को आवश्यक तथा लाभप्रद बना देती है। ५ जुलाई १९४७ को स्थापित तथा सरदार पटेल की अध्यक्षता में रहकर 'राज्य-मन्त्रिमण्डल' द्वारा भारतीय रियासतों की समस्या के हल के ढंग को भली प्रकार समझने के लिये यह तथ्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

दूसरी कठिन तथा उलझी समस्या रियासतों की अत्यधिक संख्या तथा जनसंख्या, वार्षिक आय इत्यादि के सम्बन्ध में उनकी अत्यधिक भिन्नता द्वारा उत्पन्न हुई। भारतीय रियासतों पर ब्रिटिश भारत की सरकार द्वारा प्रकाशित ज्ञापन (Memorandum) में उनकी सम्पूर्ण संख्या ६०१ है। बटलर कमेटी रिपोर्ट में यह संख्या ५६२ है। सर बारनर ली ने अपनी 'नेटिव स्टेट्स ऑफ इण्डिया' में ६७३ रियासतें बतायी हैं। उनकी वास्तविक संख्या ५६२ है। ६०१ या ६७३ यह कोई महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं है। अपने मतलब के लिये यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उनकी यह संख्या बहुत अधिक थी। ब्रिटिश युग में स्वतन्त्र या अर्ध-स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त रियासतों की इतनी बड़ी संख्या को नये ढाँचे में फिर बैठाना सचमुच बड़ी गम्भीर समस्या थी। सरदार पटेल के योग्य तथा दूरदर्शी पथ प्रदर्शन द्वारा राज्य मन्त्रिमण्डल ने समस्या का अच्छी प्रकार से मुकाबला किया और उसे प्रशंसनीय ढंग से हल किया। समस्या के हल करने के ढंग के वर्णन से पहले पाठक का ध्यान स्थिति की कुछ विशेषताओं के प्रति आकर्षित करना आवश्यक है। रियासतों की केवल संख्या ही अत्यधिक न थी, उनमें क्षेत्रफल इत्यादि में भी बड़ा अन्तर था। इन रियासतों में एक और हैदराबाद की विशाल रियासत है जिसका क्षेत्रफल ८२,७०० वर्ग मील, जनसंख्या १ करोड़

६६ लाख और सालाना वसूली लगभग १० करोड़ है। तथा दूसरी ओर काठियावाड़ की रियासत है जिसका क्षेत्रफल कुछ एकड़, जनसख्या २७ तथा सालाना वसूली ८० रुपये थी। लगभग ६०० रियासतों में से केवल तीन के क्षेत्रफल ५०,००० वर्गमील से ऊपर, केवल चार का १०,००० और २०,००० वर्गमील के भीतर, नौ का १०,००० वर्गमील से कम, ६६ का १००० वर्गमील से कम, १२१ का १०० वर्गमील से कम तथा १६८ का १० वर्गमील से कम था।

काठियावाड़ में २८३ रियासतें थीं जिनमें नौ बड़ी थीं, शेष २७४ की सालाना कुल की वसूली १ करोड़ ३५ लाख रुपये थी। इस पूरे धन से २७४ शासक-परिवारों का भरण-पोषण तथा २७४ अलग अलग अर्ध-स्वतन्त्र रियासतों पर प्रशासन किया था। इन २८३ रियासतों का कुल क्षेत्रफल लगभग ३२,००० वर्गमील तथा उनकी कुल जन-सख्या ४ लाख थी। इस प्रकार काठियावाड़ के लोगों के लिये (बड़ी रियासतों को छोड़ कर) प्रत्येक २५ वर्ग मील या जन-सख्या के प्रत्येक ५०० के लिये एक अलग रियासत बन जाती है। १७१ छोटी रियासतों की वार्षिक वसूली जोड़ दिये जाने पर कुल सख्या ६५०,००० रुपये होती है जिनमें से प्रत्येक की वार्षिक औसत वसूली ३,८१२ रुपये पड़ती है। इसी थोड़े धन से इन रियासतों के प्रशासन तथा अन्य महत्वपूर्ण कार्यों की पूर्ति की आशा की जाती है। ये आँकड़े बहुत महत्वपूर्ण हैं, इन से थोड़े क्षेत्रफल की अत्यधिक रियासतों की उपस्थिति से उत्पन्न हुई कठिनाई का पता इतनी स्पष्टता से चलता है जितना शब्दों द्वारा सम्भव नहीं। सक्षेप में, रियासतों के विस्तार की कमी उनके प्रशासन की गड़बड़ी आर्थिक रूप से पिछड़ी स्थिति तथा उनकी प्राकृतिक शक्तियों के विकास की उपेक्षा का कारण बनी।

रियासतों के प्रशासन की एक दूसरी विशेषता का भी जिक्र आवश्यक है। उनमें से प्रत्येक में छोटी या बड़ी—स्वेच्छाचारी शासन प्रचलित था और अपनी स्वेच्छाचारिता तथा स्थिति तक के लिये राजा अपनी सार्वभौम-सत्ता (Paramount power) पर निर्भर रहता था। और को छोड़ कर किसी भी रियासत में लोकतन्त्र प्रचलित नहीं था जो उनमें से कुछ ने व्यवस्थापक सभाओं या कौंसिलों को बहुत सीमित शक्तियों के साथ प्रचलित किया था। १६१६ के ऐक्ट के अनुसार केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के ढग पर ही उनका निर्माण हुआ था। लोकतन्त्रात्मक सस्थाओं की अनुपस्थिति तथा रियासतों के शासकों के सार्वभौम सत्ता (paramount power) पर निर्भर रहने का बड़ा विनाशकारी परिणाम हुआ। इसके कारण शक्ति तथा उत्तरदायित्व एक दूसरे से अलग हो गये। सार्वभौम सत्ता (para mountcy) ने राजाओं की सुरक्षा की गारन्टी तो अवश्य देदी कि लेकिन इसने रियासतों की जनता के प्रति अच्छी सरकार के उत्तरदायित्व की व्यवस्था नहीं की। ब्रिटिश सरकार पर निर्भरता द्वारा उत्पन्न की हुई सुरक्षा

की भावना ने उन्हें अच्छी सरकार के निर्माण की प्रेरणा, जो विद्रोह तथा राज्यावरोहण के भय द्वारा बराबर मिलती रहती है, से वञ्चित रक्खा यदि वे विजयी बल पूर्वक खाया लेने वाले कंजूस, लापरवाह तथा उत्तरदायित्वहीन शासक बन गये तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? बाहरी सत्ता से दबे रहने के कारण आम वर्गों ने भी आत्मसम्मान की भावना खो दी और अपने शासकों की भांति वे भी अधिक बन गये। भारत सरकार के सामने रियासतों के प्रशासन का स्तर ऊँचा करने तथा शोषण की उस व्यवस्था के सुधार करने की समस्या थी जिसमें रियासतों की जनता कहा रही थी।

छोटी-छोटी रियासतों की अत्यधिक संख्या से उत्पन्न समस्या को एकीकरण तथा शक्ति एवं उत्तरदायित्व के अन्तर से उत्पन्न हुई उस प्रकार के लोकतन्त्रात्मक सरकार की स्थापना से हल करने का प्रयत्न किया गया जैसी नये बनने वाले प्रान्तों में है। इन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है।

एकीकरण.—भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले भी देश मे यह एक ज़ोरदार भावना थी कि छोटी-छोटी रियासतों की उपस्थिति राजनीतिक दृष्टि से अनावश्यक तथा आर्थिक दृष्टि से अव्यवहारिक थी। उन्हें अक्सर उन सामन्त युगीन स्मृद्धि-चिन्हों के रूप मे प्रदर्शित किया जाता जिनका विनाश आवश्यक था। राज्य प्रजा सम्मेलन के १६३६ ई० के लुधियाना अधिवेशन मे एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें छोटी छोटी रियासतों के उनसे लगे हुए प्रान्तों से एकीकरण तथा अन्य रियासतों के बड़ी प्रशासकी इकाइयो के रूप मे संगठन की मांग की गयी। ऐसा ही प्रस्ताव 1946. तथा 1947. के सम्मेलन में भी पास किया गया। इस प्रस्ताव को कार्य रूप में परिणत करने में रियासतो की जनता असहाय थी और ब्रिटिश सरकार इसको व्यवहृत करने के लिये उत्सुक नहीं थी क्योंकि भारतीय राजनीति के शतरंज बोर्ड पर उनका प्यादो के रूप में उपयोग करने की उसकी नीति के यह विरुद्ध पड़ता था। इण्डिया आफिस के सरकार का पक्ष लेनेवाले मिस्टर रशब्रुक के शब्दों में यह नीति सबसे अच्छी प्रकार व्यक्त की जा सकती है। उन्होंने इस प्रकार लिखाः 'सारे भारत को छा लेने वाली इन सामन्तवादी रियासतों की स्थिति बड़ी ही रक्षात्मक है। ऐसे भूमि-क्षेत्रों में जहाँ विद्रोह की सम्भावना हो सकती है यह मैत्री पूर्ण फौजी दस्तों का विशाल जाल फैला देने के सदृश है। देशी रियासतो के इस शक्तिशाली तथा स्वामिभक्त जाल के कारण अंग्रेजों के विरुद्ध किसी भी सार्वजनिक विद्रोह का सारे भारत में फैल जाना कठिन बन जायगा।

कुछ समय पश्चात् १६४६ में क्राउन के प्रतिनिधि की हैसियत से लार्ड वेवल ने अपनी एकीकरण की योजना लोगों के सामने रक्खी जिसके अनुसार छोटी-छोटी रियासतो का अपने पड़ोस की उन बड़ी रियासतो से एकीकरण हो जायगा जिनके साथ ये भौगोलिक, आर्थिक तथा राजनीतिक रूप से सम्बन्धित थीं। यह योजना ७८०० वर्गमील तथा आठ लाख से भी ऊपर जन-संख्या पर लागू होती।

सरकारी विज्ञप्ति के निम्नलिखित अंशों का पठन-पाठक के लिय लाभप्रद होगा। सैकड़ो छोटी-छोटी इकाइयों की उपस्थिति से उत्पन्न होने वाली जटिल राजनैतिक तथा प्रशासन सम्बन्धी समस्याओं पर क्राउन के प्रतिनिधियों ने बहुत दिनों से बड़ा गौर किया है। उनके व्यक्तिगत प्राकृतिक स्रोतों की कमजोरी तथा पड़ोसी के साथ सहकारिता के प्रति उनकी साधारण अनिच्छा के कारण भौगोलिक, प्रशासन सम्बन्धी तथा आर्थिक दृष्टि से इतने अधिक परिमाण में टुकड़े हो गये हैं जितने देश मे अन्यत्र और कहीं नहीं। इन इकाइयों की अत्यधिक सख्या होने के कारण सालाना वसूली ·· ··ताल्लुकदारों तथा हिस्सेदारों की व्यक्तिगत आवश्यक्ताओं की बड़ी कठिनता से पूर्ति कर पाती है और इसी लिये प्रजा के हितो मे व्यय किया हुआ धन भी बहुत ही अधिक सीमित रहता है निरीक्षण से यह भली भांति निश्चित हो गया है कि वर्तमान व्यवस्था में बिना कोई महत्वपूर्ण सुधार किये ग्राम्य-क्षेत्रों का किसी भी प्रकार का इच्छित विकास या किसी भी प्रकार की वास्तविक उन्नति असम्भव है। इस गद्यखण्ड मे जिन रियासतो की ओर सकेत है वे काठियावाड में था। इसमें दी हुई एकीकरण की योजना की सचमुच आवश्यक्ता थी लेकिन लोगों पर यह जिस प्रकार से लागू की गयी उसे न प्रजा ने पसन्द किया न शासकों ने। जो चीज बिल्कुल ही न की जा सकती थी या जो ढग से की गयी थी उसे सरदार पटेल को अपने अद्वितीय तथा सफल ढग से पूरा करना था। रियासतों के एकीकरण की योजना ने सरदार पटेल के कुशल हाथों में जो रूप ग्रहण किया उसका विस्तृत वर्णन आवश्यक नहीं हैं, केवल इतना कहना उपयुक्त होगा कि इस नाजुक तथा जटिल समस्या के उनके गाधीवादी निराकरण का कांग्रेस, रियासतों की जनता तथा शासकों सभी ने प्रशंसा की। रियासतों की प्रजा का उनमें विश्वास था क्यों की यह उन्हें अपना मित्र एवं उद्धारकर्त्ता समझती थी। शासकों को भी यह ज्ञात था कि महात्मा गाधी का अनुयायी होने के कारण सरदार पटेल की यह धारणा थी कि शासकों को हटाने की आवश्यकता नहीं, उनको यह विश्वास था कि अपने सगत अधिकारों तथा हितों की रक्षा के लिए सरदार पटेल पर भरोसा किया जा सकता था। सरदार पटेल को इस प्रकार सहायता मिली क्यों कि प्रशासकों तथा प्रशासितों के बीच वह सतुलन स्थिर रख सकें और उन दानों को यह विश्वास दिला सकते थे कि उनमें किसी के भी सगत अधिकारों की बलि न होती।

प्रशासन का एक उचित स्तर रखने तथा लोगों की आवश्यक सेवा करने में असफल छोटी रियासत या तो अपने पड़ोस में मिलादी गया या उनको मिला कर बड़ी इकाइयों का निर्माण कर दिया गया। गुजरात की अधिकतर तथा दक्षिण की कुल रियासतें बम्बई में तथा मद्रास प्रेसिडेन्सी की रियासतें मद्रास के साथ सम्मिलित कर दी गयीं उसी प्रकार मध्यभारत, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश की रियासतें भी इन प्रान्तों में

क्रम से मिला दी गयीं। काठियावाड़ की रियासतों को सौराष्ट्र संघ, पूर्वी पंजाब की रियासतों को पटियाला तथा पूर्वी पंजाब राज्य संघ, शिमला पहाड़ी की रियासतों को हिमाचल प्रदेश, इन्दौर,, ग्वालियर तथा अन्य मालव रियासतों को मध्य भारत तथा बुन्देलखण्ड की रियासतों को विन्ध्य प्रदेश में परिवर्तन कर दिया गया। रियासतों का सब से बड़ा संघ राजस्थान है। हैदराबाद, मैसूर, जम्मू और काश्मीर अपनी अलग अलग इकाई बनने के लिये काफी बड़ी रियासतें थीं। भोपाल, त्रिपुरा तथा कुछ अन्य रियासतों का न तो पड़ोसी प्रान्तों के साथ एकीकरण हुआ है और न वे किसी की इकाई के रूप में सगठित हैं। वे केन्द्र द्वारा शासित रियासतों में हैं और पहली अनुसूची (Schedule) के भाग (ग) में सम्मिलित हैं।

एकीकरण का यह कार्यक्रम सरदार पटेल द्वारा रियासतों में की हुई रक्तहीन क्रान्ति का एक पहलू है। दूसरा तथा इससे अधिक महत्वपूर्ण पहलू नये बने संघों के प्रशासन का लोकतन्त्रीकरण है। अंग्रेजी सार्वभौम सत्ता (Paramountcy) की समाप्ति के पहले केवल कुछ ही रियासतों में प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाएं रहीं। अलग स्थिति वाली प्रत्येक रियासत तथा रियासतों के प्रत्येक संघ में अब उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो गयी है। पुराने सामन्तशाही शासन का स्थान जन प्रिय सरकार ने लिया है। भारतीय संघ की सभी इकाइयों में आज लगभग एक ही शासन की एक ही प्रणाली है।

विश्व इतिहास में जिसकी समता कठिनाई से मिलेगी ऐसी इस 'रक्तहीन क्रान्ति', संगठन तथा लोकतन्त्रीकरण का बहुत कुछ श्रेय उन राजाओं पर है जिन्होंने एक ओर अपने तथा भारत सरकार के बीच तथा दूसरी ओर अपने तथा अपनी प्रजा के बीच नवीन यथा तर्कसंगत सम्बन्ध की आवश्यकता समझी। उन्होंने अपना अन्य भारतीय संघ के साथ सम्मिलित करने तथा अपनी प्राचीन एवं परम्परागत शासन प्रणाली को बदलने का निश्चय किया। इस सम्बन्ध में स्वयं सरदार पटेल के शब्द उद्धृत करना उपयुक्त होगा। १९४८ की जनवरी के अन्त में अपने एक वक्तव्य में उन्होंने कहा 'देश के एक तिहाई भाग की इस रक्तहीन क्रान्ति के लिये मैं जनता को पर्याप्त श्रेय देता हूँ लेकिन इस स्थिति के निर्माण में शासकों ने हमारे तथा जनता के साथ जिस ढंग से सहयोग किया है उसकी मैं बहुत प्रशंसा करता हूँ। मुझ से अधिक और किसी को भी इस बात का ज्ञान नहीं कि उनके स्वेच्छा पूर्ण सहयोग तथा उनकी प्रसुप्त किन्तु देश की स्वतन्त्रता के साथ अभी-अभी विकसित होने वाली देश भक्ति के बिना इन सब की प्राप्ति असम्भव थी।'

राज्य संघों की शासन प्रणाली—जैसाकि पाठक को स्पष्ट हो गया होगा कि

पुरानी रियासतों में से बड़ी तथा छोटी रियासतों के एकीकरण से, निर्मित नये सब पहली अनुसूची के भाग 'ख' में रक्खे गये हैं। जहाँ तक शासन प्रणाली का सम्बन्ध है वह पहली अनुसूची के भाग 'क' मे गिनायी गयी रियासतों के ही अनुरुप है। भाग 'अ' के रियासतों के कार्य पालिका, व्यवस्थापिका, तथा न्याय से सम्बन्ध रखने वाले उपबन्ध (Provision) भाग 'ख' भी रियासतों पर भी लागू होते हैं।

राजप्रमुख का वही स्थान है जो अन्य प्रान्तों मे गवर्नरों का। कार्यपालिका सम्बन्धी शक्ति राजप्रमुख जो गवर्नर के स्थान पर हो उसकी सहायता के लिये एक मंत्रि परिषद का विधान है। विधान मंडल में राजप्रमुख तथा एक सदन (House) रहेगा, केवल मैसूर में दो सदन होंगे। इन रियासतो मे चूंकि जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था में अधिक दिन से नहीं है इसलिये संविधान की प्रारम्भ से दस वर्षों के लिये कार्य पालिका को संघ की सरकार के निरीक्षण में रखना उचित समझा गया है।

इति शुभम

चुनी पुस्तक-सूची (Select Bibliography)

एन्डरसन, जी०	अवर कान्स्टीट्यूशन
बोस, एस० एस०	डेवलप्मेंट आफ इंडियन पालिटी
बेनर्जी डी० एन०	दि वर्किंग कान्स्टीट्यूशन आफ इंडिया
हार्ने एफ० ए०	दि इंडियन कान्स्टीट्यूशन
केला पुत्र	दि पालिटीकल सिस्टम आफ ब्रिटिश इंडिया
लोहरी एण्ड बेनर्जी	दि वर्किंग आध डायार्की इन इण्डिया
पालेएड एम० आर०	दि इण्डियन कान्स्टीट्यूशन,-ए सव
राम शकर प्रसाद	इण्डियन एड्मिनिस्ट्रेशन
सिंह गुरुमुख निहाल	इण्डिया, सोशल एण्ड पर्सनल
समू टी० बी०	लेण्ड मार्कस इन इण्डियन कान्स्टी ट्यूशनल
सप्रे	एण्ड नेशनल डीवैलेपमेंट
	इण्डियन कान्स्टी ट्यूशन
	आथ आफ इण्डियन कान्स्टी ट्यूशन एण्ड एड्मिनिस्ट्रेशन
एरोरे एफ० सी०	दि न्यू कान्स्टी ट्यूशन आफ इण्डिया
इल्बर्ट	दि न्यू कान्स्टी ट्यूशन आफ इण्डिया
एडी एण्ड लेटन	दि न्यू कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया
जोशी जी० एन०	दि न्यू कान्स्टी ट्यूशन आफ इण्डिया
खान एस० ए०	इण्डिया फेडरेशन
मसानी एण्ड चिन्तामणि	दि इण्डियन कान्स्टी ट्यूशन ऐट वर्क
शाह के० टी०	प्राविंशी पल ऐटानमी
शाह के० टी०	फीडरल स्ट्रक्चर
गुरमुख निहाल सिंह	इण्डियन स्टेटस
पानीकर	इण्डियन स्टैटस रीलेशन्स आफ
	इण्डियन स्टेट्स आफ विद दी गवनमेंट आफ इण्डिया
रघुबीर सिंह शास्त्री	इण्डियन स्टेटस एण्ड दि न्यू रिजिम
कमिंग	दि इण्डियन स्टेटस
एलिसन	पोलिटीकल इण्डिया
इण्डियन ईयर बुक	इण्डिया

पृष्ठ ३०५ से पृष्ठ ४८६ तक रामाधार द्वारा नया हिन्दुस्तान प्रेस दिल्ली में मुद्रित